आर्थिक विकास के सिद्धान्त

मूल लेखक
डब्ल्यू० आर्थर ल्यूईस



राजकमल प्रकाशन

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली



प्रथम संस्करण
जुलाई, १९६२





मूल्य
१२ रुपये



मुद्रक

प्रस्तावना

श्री ल्यूईस की पुस्तक इस विषय पर मौलिक विचार प्रकट करने के लिए नहीं लिखी गई इसका उद्देश्य तो आर्थिक विकास के अध्ययन के लिए उचित रूप रेखा प्रस्तुत करना भर है। विद्वान् लेखक को यह पुस्तक लिखने की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि आर्थिक विकास के सिद्धान्तों में एक बार फिर दिलचस्पी ली जाने लगी है। पिछली एक शताब्दी से आर्थिक विकास पर कोई व्यापक ग्रन्थ सामने नहीं आया। इस विषय पर अन्तिम बड़ा ग्रन्थ जॉन स्टुअर्ट मिल का "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' १८४८ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद अर्थशास्त्रियों ने इतने व्यापक विषय पर कोई एक ग्रन्थ लिखना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं समझा और आगे चलकर तो उन्होंने इस विषय के कई अंग अपनी क्षमता से परे समझकर छोड़ ही दिए। श्री ल्यूईस की पुस्तक आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति उनकी अदम्य जिज्ञासा की द्योतक तो है ही, साथ ही यह वर्तमान नीति-निर्धारकों की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने का एक विशिष्ट प्रयत्न भी है।

जिज्ञासा और व्यावहारिक आवश्यकता की जिस मिली-जुली भावना से प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी गई है उसी से पुस्तक का स्वरूप भी निर्धारित हुआ है। जिज्ञासा की शान्ति के लिए मानव इतिहास की प्रक्रियाओं के दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता होती है जब कि व्यावहारिक आवश्यकताओं को देखते हुए कर्तव्य निर्देश करनेवाली पुस्तक लिखी जानी चाहिए। चूंकि लेखक को दोनों पहलुओं में एकसी दिलचस्पी है अतः उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे न तो केवल दर्शनशास्त्र में रुचि रखने वाले सन्तुष्ट होंगे और न ही उनका भला होगा जो यह चाहते हैं कि उन्हें बस यह बता दिया जाए कि आगे क्या करना है। हर पुस्तक अन्ततः उसके लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है जिसमें लेखक के व्यक्तित्व की समस्त विभिन्नताएं समाविष्ट रहती हैं।

इस पुस्तक का अनुवाद मेरे लिए एक चुनौती थी। इतने गम्भीर विषय पर श्री ल्यूईस जैसे बड़े लेखक के बारीक विचारों और जटिल तर्कों को सुबोध

भाषा में यथातथ्य प्रस्तुत कर देना आसान काम न था। अनुकरण के लिए मेरे सामने कोई उदाहरण भी न थे, क्योंकि अर्थशास्त्र के ऊंचे दर्जे के ग्रन्थों के अच्छे अनुवाद अभी तक सामने नहीं आए। ऐसी स्थिति में मुझे साहस का ही सबल था। सफलता-असफलता की चिन्ता छोड़कर मैं पुस्तक का भावानुवाद करता चला गया हूँ। सहज अभिव्यक्ति के प्रवाह में मैंने इस्तेमाल, शामिल, बेहतर, आबादी, गुंजाइश, खास आदि उर्दू के शब्द और पेटेंट, एक्ट, सप्लाई सोसाइटी आदि अंग्रेजी के शब्दों का अबाध प्रयोग किया है। शास्त्रीय और तकनीकी विषयों के अनुवाद की कोई सर्वमान्य शैली अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हुई है, इसलिए मुझे आशा है कि शुद्धतावादी अनुवादक इसे भी एक प्रयोग के रूप में लेंगे।

पारिभाषिक शब्दों के चयन में मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि मैं भारत सरकार की अर्थशास्त्र विषयक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने वाली विशेषज्ञ समिति से शुरू से ही सम्बन्धित रहा हूँ। मैंने भरसक उक्त समिति द्वारा अनुमोदित शब्द ही इस्तेमाल किए हैं। हाँ, भाषा और अभिव्यक्ति की आवश्यकताओं को देखते हुए उनके रूप में कहीं-कहीं हेर-फेर कर दिया है; जहाँ पहले से अनुमोदित शब्द नहीं मिला वहाँ निस्संकोच नया शब्द गढ़ लिया है। पुस्तक के अन्त में एक व्यापक शब्दावली दे दी गई है जिससे हिन्दी माध्यम अपनाने वालों को सुविधा होगी।

आशा है प्रस्तुत अनुवाद से अर्थशास्त्र के उच्च अध्ययन में हिन्दी के प्रवेश को बल मिलेगा।

नई दिल्ली,
जुलाई, १९६२

—भवानीदत्त पंड्या

विषय-सूची

अध्याय १

परिचय

प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि इस पुस्तक की विषय वस्तु है। मैंने जो कुछ लिखा है वह इन शब्दों की यथातथ्य परिभाषाओं पर निर्भर नहीं है, फिर भी इन शब्दों के अर्थों पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

१ परिभाषाएं

पहली बात जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है, यह है कि हमारी विषय-वस्तु वृद्धि अथवा विकास है, न कि वितरण। हो सकता है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर भी अधिकांश जनता गरीब होती चली जाए। हमें वृद्धि और उत्पादन के वितरण के आपसी सम्बन्ध पर विचार तो करना होगा लेकिन हमारा मुख्य विषय वृद्धि है न कि वितरण।

दूसरे, हमारा सरोकार मुख्यतः उत्पादन से है न कि उपभोग से। वृद्धि के साथ साथ उपभोग में गिरावट भी आ सकती है जिसका कारण बचत में बढ़ोतरी या सरकार द्वारा अपने काम के लिए उत्पादन के अधिकाधिक भाग का उपयोग हो सकता है। यों तो हमें निश्चय ही उत्पादन, उपभोग, बचत और सरकारी क्रिया-कलापों के आपसी सम्बन्ध की चर्चा करनी होगी, लेकिन हम इनका विचार उपभोग में वृद्धि की दृष्टि से न करके उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से करेंगे।

उत्पादन की परिभाषा करने का काम हम राष्ट्रीय आय के सिद्धान्त का निर्धारण करने वालों पर छोड़ते हैं। एक वर्ष के उत्पादन से तुलना करते समय सूचनांक सम्बन्धी कई कठिन समस्याएं सामने आती हैं। एक कठिन समस्या तो यह है कि उत्पादन किसको समझा जाए और किसको नहीं और उत्पादन की लागत से क्या मतलब है, क्या खुदरा वितरण या विज्ञापन या यातायात पर बढ़ते हुए खर्च का उत्पादन में वृद्धि माना जा सकता है अथवा यह केवल बढ़ती हुई विशेषज्ञता की लागत है? जो काम पहले उपभोक्ता खुद कर लेता था (जैसे कपड़े सिलना) वही काम अगर अब कारखानों में होने लगे तो क्या इसे उत्पादन में वृद्धि माना जा सकता है? हम इन समस्याओं का उल्लेख इसलिए कर रहे हैं ताकि सिद्धान्तवादी

समीक्षक यह न कह सकें कि हमें इनके बारे में पता ही नहीं था। वैसे, हमें इन समस्याओं का समाधान नहीं खोजना है, चूँकि हमारा उद्देश्य उत्पादन मापना नहीं है बल्कि वृद्धि पर विचार करना है। इस पुस्तक की दृष्टि से वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की कोई भी सरल परिभाषा काम दे जाएगी।

हाँ, यह परिभाषा वस्तुओं और सेवाओं के बारे में होनी चाहिए—'आर्थिक' के रूढ़िवादी अर्थों में 'आर्थिक' उत्पादन को लेकर—उसका सम्बन्ध कल्याण, सन्तुष्टि या सुख-जैसे किसी प्रत्यय से नहीं होना चाहिए। हो सकता है कि अधिक वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार करने की प्रक्रिया में किसी व्यक्ति का सुख बढ़ने की अपेक्षा घट रहा हो। व्यक्तियों के साथ ऐसा अक्सर हो जाता है और यही समूहों के साथ भी हो सकता है। यह पुस्तक इस विषय पर प्रबन्ध नहीं है कि लोगों को अधिक वस्तुओं और सेवाओं की इच्छा रखनी चाहिए अथवा नहीं, इसका उद्देश्य तो केवल उन प्रक्रियाओं का अध्ययन करना है जिनसे अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध होती हैं। लेखक का विश्वास है कि अधिक वस्तुओं और सेवाओं का होना अच्छी बात है, लेकिन पुस्तक का विश्लेषण इस विश्वास पर आधारित नहीं है। इस बात पर ज़ोर देने के लिए कि वर्तमान पुस्तक वृद्धि के बारे में है, न कि उत्पादन की वाञ्छनीयता के बारे में, मैंने पुस्तक के अन्त में वाञ्छनीयता पर अपने विचार एक परिशिष्ट के रूप में दे दिए हैं।

हमें उत्पादन और प्रतिव्यक्ति उत्पादन के अन्तर को भी स्पष्ट करना है। जनसंख्या और कुल उत्पादन के सम्बन्ध का विवेचन स्पष्ट रूप से हमारी विषय-वस्तु में शामिल है। वैसे हम केवल प्रति व्यक्ति उत्पादन पर ही विचार नहीं करेंगे चूँकि हमें काम के प्रत्येक घण्टे का उत्पादन भी देखना है जो प्रति व्यक्ति उत्पादन से भिन्न हो सकता है, अगर लोग काम के घण्टे कम या अधिक कर दें या काम पर लगे लोगों की संख्या में कमी-बेशी हो जाए। हम इन सभी मुद्दों पर विचार करेंगे।

हमारे विश्लेषण की इकाई 'समूह' है। अधिकतर हम एक राष्ट्र को एक समूह मानते हैं—सांख्यिकी के विशिष्ट अर्थों में समूह से हमारा तात्पर्य उस इकाई से है जिसके क्रियाकलापों के बारे में विदेश व्यापार के आँकड़े अलग से प्रकाशित किये जाते हैं या जिसकी जन-गणना अलग से की जाती है। यह एक सुविधाजनक परिभाषा है जिसके अनुसार समूह का अर्थ लगभग उन व्यक्तियों के समूह से है जिनका शासन प्रबन्ध किसी एक सरकार के हाथ में होता है। यहाँ शासन प्रबन्ध का उल्लेख करते समय हम उपनिवेशी सरकारों, संघ सरकारों और 'विश्व' सरकार के विभिन्न प्रकारों के अन्तर को स्पष्ट करने के पचड़े में नहीं पड़ेंगे। वैसे, हमारे विश्लेषण का अधिकांश अन्य प्रकार के समूह, जैसे कहीं अन्य-सरकारों के समूह और कहीं-कहीं प्रादेशिक समूहों पर भी उतना ही लागू होगा।

अन्त में यह भी कह दें कि हम अक्सर संक्षिप्त शब्दावली का प्रयोग करेंगे। 'प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि' पुस्तक में बार-बार लिखने की दृष्टि से एक लम्बा वाक्यांश है। हम अधिकतर केवल 'वृद्धि' या 'उत्पादन' शब्दों का ही प्रयोग करेंगे या विभिन्नता के लिए यदाकदा 'उन्नति' या 'विकास' भी कहेंगे। संक्षिप्त शब्द चाहे जो भी प्रयोग किया जाय, लेकिन जब तक विशिष्ट रूप से कुल उत्पादन का उल्लेख न हो या संदर्भ में ऐसा अर्थ न लगता हो, सब जगह 'प्रति व्यक्ति' उत्पादन ही समझना चाहिए।

२. निरूपण पद्धति

प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि एक ओर तो उपलब्ध प्राकृतिक साधनों पर निर्भर है और दूसरी ओर मानव व्यवहार पर। इस पुस्तक में मुख्यतया मानव व्यवहार पर ही विचार किया गया है, प्राकृतिक साधनों की चर्चा उसी सीमा तक की गई है जहाँ तक उसका प्रभाव मानव व्यवहार पर पड़ता है। यह सही है कि प्राकृतिक साधनों के अभाव में प्रति व्यक्ति उत्पादन में अधिक वृद्धि नहीं हो सकती और भिन्न भिन्न देशों के पास जितना धन है उसमें अन्तर का अधिकांश प्राकृतिक साधनों की उपलब्ध मात्रा की कमी बेशी के कारण है। लेकिन साथ ही उन देशों के विकास के स्तरों में भी बड़ा अन्तर पाया जाता है जिनके पास लगभग समान प्राकृतिक साधन हैं, इसीलिए यह जानना आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न मानव व्यवहारों का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मानव व्यवहार का विश्लेषण कई स्तरों पर करना होगा, चूँकि विकास के कुछ तो तात्कालिक कारण हैं और कुछ इन कारणों के भी कारण हैं। तात्कालिक कारण मुख्यतः तीन हैं। पहला मितोपयोग का प्रयत्न है, चाहे वह उत्पादन की लागत कम करने के रूप में हो या उतने ही प्रयत्न और साधनों से पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन करने के रूप में हो। मितोपयोग का यह प्रयत्न कई रूपों में प्रकट होता है, मुख्यकर प्रयोग में, जोखिम उठाने में, व्यावसायिक या भौगोलिक गतिशीलता और विशेषज्ञता में। मितोपयोग की इच्छा न होने से या रूढ़ि अथवा संस्थाओं के इसे व्यक्त करने में बाधक होने के कारण यदि मितोपयोग के लिए प्रयत्न न किया जाए तो आर्थिक विकास नहीं होगा। दूसरी बात ज्ञान में वृद्धि और उसकी प्रयुक्ति है। यह प्रक्रिया सारे मानव इतिहास में होती आई है, लेकिन पिछली शताब्दियों में उत्पादन जिस तेजी से बढ़ा है उसका प्रत्यक्ष कारण ज्ञान का त्वरित संचय और उत्पादन में उसकी प्रयुक्ति है। विकास का तीसरा कारण पूंजी और दूसरे साधनों की प्रति व्यक्ति मात्रा में वृद्धि है। प्रत्यय की दृष्टि से ये तीनों तात्कालिक कारण अलग-अलग दिखाई देते हैं लेकिन व्यवहार में अक्सर ये मिले रहते हैं।

विश्लेषण के दूसरे चरण में हम इन तात्कालिक कारणों के मूल में जाकर

यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि ये कारण किसी समाज में कम और किसी में बहुत अधिक क्रियाशील क्यों होते हैं, इसी प्रकार इतिहास के कुछ कालों में इनकी सक्रियता अधिक और दूसरे कालों में कम क्यों होती है? वृद्धि में सहयोग देने वाले ये तत्व किन पर्यावरणों में अधिक पनपते हैं? विश्लेषण का यह चरण कई हिस्सों में बँटा है। पहले हमें यह देखना होगा कि वे संस्थान कौन-से हैं जो विकास के अनुकूल हैं और वे कौनसे हैं जो प्रयत्न, नवीन प्रक्रिया या पूंजीनिवेश में बाधक हैं। इसके बाद हम विश्वासों का अध्ययन करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि क्या कारण है जो किसी राष्ट्र में वृद्धि के प्रतिकूल संस्थानों की अपेक्षा उसके अनुकूल संस्थान ही अधिक स्थापित होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर हमें तब मिलता है जब हम विभिन्न समाजों द्वारा आराम, सुरक्षा समानता, भाईचारे या धार्मिक मुक्ति आदि अभौतिक सन्तोषों को दिये गए महत्त्व की तुलना में इन्हीं समाजों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं को दिये गए महत्त्व का अध्ययन करते हैं। हमें यह भी मालूम करना आवश्यक है कि आध्यात्मिक और भौतिक मूल्यों में यदि कोई संघर्ष है तो कितना है और जीने की सही विधि से सम्बन्धित विशिष्ट विचार निर्धारित करने में संस्थाओं का कितना योग है। प्रकृति और पर्यावरण सम्बन्धी बातों का विवेचन इसमें भी सूक्ष्म है। कुछ लोग वृद्धि के अनुकूल विश्वासों पर क्यों चलते हैं और दूसरे लोग उसके प्रतिकूल क्यों चलते हैं? क्या विश्वासों और संस्थानों के भेद जातिगत या भौगोलिक है, अथवा यह केवल ऐतिहासिक संयोग ही है?

ये सभी प्रश्न अनुकूलता से सम्बन्धित हैं। इनके माध्यम से हम यह जानना चाहेंगे कि वे संस्थान या विश्वास या पर्यावरण कौनसे हैं जो आर्थिक विकास के अनुकूल हैं? लेकिन हमें इनके क्रमिक विकास पर भी विचार करना है। विश्वास और संस्थान किस प्रकार बदलते हैं? विकास की अनुकूल या प्रतिकूल दिशाओं में इनके बदलने की प्रक्रिया क्या है? स्वयं विकास की इन कारणों पर क्या प्रतिक्रिया होती है? क्या विकास संचयशील है—संचयशील से हमारा तात्पर्य है कि क्या एक बार उसके शुरू होने पर विश्वास और संस्थान अपने-आप इसकी प्रगति के अनुकूल होते चले जाते हैं, या विकास स्वयं अपनी गति में बाधक होता है, अर्थात् क्या विकास के चरण आगे बढ़ते ही ऐसे विश्वास और संस्थान जन्म लेने लगते हैं जो वृद्धि को रोकते हों या उसकी गति को धीमा करते हों? क्या मानवीय प्रवृत्तियों और संस्थानों में भिन्न भिन्न शताब्दियों में ऐसा उलट-फेर होता है जिससे विकास की प्रक्रिया कभी आगे बढ़ती है तो कभी पीछे चली जाती है?

विश्लेषण का यह क्षेत्र जो हमने चुना है अक्सर समाज-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में विभाजित माना जाता है। लेकिन इस प्रकार का विभाजन जब

भी किया गया उसका कोई फल नहीं निकला। शायद इसी विषय-विभाजन के आधार पर विकास के तात्कालिक कारणों की जांच करने की आशा अर्थशास्त्रियों से की गई हो, लेकिन उन्होंने इस ओर कभी-कभी ही ध्यान दिया है। अर्थशास्त्रियों के अध्ययन का विषय विशेषज्ञता और पूंजी रहा है। उन्होंने गतिशीलता, आविष्कार और जोखिम उठाने की प्रवृत्ति के महत्व पर भी जोर दिया है और मितोपयोग की इच्छा से सम्बन्धित तर्कों का सावधानी से और ढंग से विश्लेषण किया है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने संस्थानों के अध्ययन करने का प्रयास किया है, विशेषकर १६वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने लगान, ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार या मिश्रित पूंजी, कम्पनी सम्बन्धी कानून के उल्लेख किये हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अर्थशास्त्रियों ने इन विषयों में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया और यहाँ तक अधिकारपूर्वक कहा जाने लगा कि इन विषयों पर विचार करना अर्थ-शास्त्रियों के लिए उचित नहीं है, यह सारा क्षेत्र समाज-शास्त्रियों, इतिहास-कारों, विश्वासों का अध्ययन करने वालों, विधिवेत्ताओं, जीव विज्ञानियों या भूगोल-शास्त्रियों का है। लेकिन उन सबने इन विषयों पर केवल एक नजर ही डाली है और यहाँ-वहाँ इनके सम्बन्ध में एकाध बात कह दी है। ऐसा लगता है कि आर्थिक संस्थानों का अध्ययन समाज शास्त्रियों ने अर्थ शास्त्रियों पर छोड़ दिया और अर्थ-शास्त्रियों ने यह विषय समाज शास्त्रियों पर छोड़ रखा है। ऐसी स्थिति में जबकि सामान्य प्रवृत्ति इस क्षेत्र को दूसरों पर छोड़ देने की है, यदि मैं इस विषय का सामान्य सर्वेक्षण करने का प्रयत्न करूं तो मेरे साहस पर किसी को ईर्ष्या नहीं होगी। बल्कि अगर मैं इसके तत्त्वों और सम्भावनाओं का अच्छा चित्र भी प्रस्तुत कर सका तो शायद भविष्य में लोग इस पर और काम करेंगे।

अनुकूलता-सम्बन्धी प्रश्न अमिक विकास के प्रश्नों से अधिक सरल हैं। यह इसलिए है कि अर्थशास्त्र या गणित के सिद्धान्तों की भांति अनुकूलता के प्रश्न भी सरल उदाहरणों के आधार पर परिणाम निकालकर हल किये जा सकते हैं। जैसे एक या दो सरल सामान्य निष्कर्षों के आधार पर यह कहना मुश्किल नहीं है कि कुछ अन्य विश्वासों और संस्थानों की अपेक्षा दूसरी रूढ़ियाँ और संस्थान विकास में अधिक सहायक क्यों होते हैं। ये सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार के हैं जैसे पूंजीनिवेश की प्रवृत्ति तब अधिक होती है जब व्यक्ति अधिक वस्तुएँ प्राप्त करना चाहते हैं, या अगर उन्हें पता होता है कि उनके द्वारा बचाई धन-राशि सामान्य सम्पत्ति करार नहीं दी जाएगी और पूंजीनिवेश के बदले मिलने वाले लाभ का उपभोग वे स्वयं कर सकेंगे या उन्हें सहयोगी साधनों को खरीदने या किराये पर लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। ऐसी समस्याओं का, जो आंकड़ों के रूप में रखी जा सकती हों, अर्थात् जिन पर गणनीय विधि से

विचार किया जा सकता हो, अर्थशास्त्री सदा ही निगमन-रीति से अध्ययन करते रहे हैं। विकासों और संस्थाओं की विकास के प्रति अनुकूलता गणित के अध्ययन का विषय नहीं है और यही कारण है कि हम पिछले कुछ वर्षों में इन मुद्दों पर विचार करने से कतराते रहे हैं। फिर भी निगमन रीति प्रयोग में लाई जा सकती है और उपयोगी भी है।

पिछले कुछ वर्षों में आर्थिक सिद्धान्तवादियों ने जो अच्छे ग्रंथ लिखे हैं उनमें अधिकांश आर्थिक विकास के स्थायित्व पर हैं। पूंजीवादी संस्थान और आदतों को आधार बनाकर अर्थशास्त्रियों ने गणितीय माडल बनाए हैं जो सीलन करते हैं या एक सीमा की दिशा में गणितीय रीति से बढ़ते हैं या अन्ततोगत्वा विकास में दीर्घकालीन गिरावट की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। ये परिणाम बचत प्रवृत्ति, जन्मदर या पूंजीनिवेश सम्बन्धी निर्णयों के निर्धारक जैसे मामलों के बारे में विभिन्न गुणकों या प्राचलों के मध्य विभिन्न सम्बन्धों को मानकर प्राप्त किए जाते हैं। इस प्रकार के गणितीय प्रयत्नों के बाद अब आंकड़ों का आधार लेकर यह जानने की कोशिश हो रही है कि अमरीका और दूसरे उन्नत देशों की अर्थ-व्यवस्था के हाल के अनुभवों के साथ किन सम्बन्धों और गुणकों का सर्वाधिक मेल है। यह कार्य मुख्यतया क्रमिक विकास की अपेक्षा अनुकूलता के क्षेत्र में आता है। इसके माध्यम से हमें यह जानकारी होती है कि सम्बन्ध और प्रवृत्तियाँ क्या हैं और वे किस सीमा तक स्थायी विकास के अनुकूल हैं, इससे हमें यह पता नहीं चलता कि गुणकों का वर्तमान रूप ऐसा क्यों है या वे समय पाकर बदलते क्यों हैं। हाँ, ये परिणाम अल्पकालीन विश्लेषण के अनिवार्य साधन अवश्य हैं। इनका प्रयोग हम उस समय करते हैं जब किसी समूह विशेष के ऐसे अल्पकालीन इतिहास की जाँच करनी होती है जिसमें आधारभूत संस्थानों और प्रवृत्तियों में हुए परिवर्तन नगण्य माने जा सकते हैं। लेकिन अगर हमें प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों का दीर्घकालीन अध्ययन करना हो या समूहों और देशों के बीच पाए जाने वाले भेदों के कारण मालूम करने हों तो अधिकतर वर्तमान काल के आर्थिक सिद्धान्तों की सीमाओं से आगे जाना होगा।

संस्थानों के विकास के प्रति अनुकूलता का विश्लेषण करते समय निगमन रीति का आश्रय लेने में पक्षपात का भय है जिससे बचना होगा। हम सभी में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि जिस समाज से हम परिचित हैं वहाँ जो बातें प्रचलित होती हैं उन्हीं को बाकी सब समाजों में भी प्रचलित मान लेते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण व्यष्टिवाद और विकास का सम्बन्ध है। पश्चिम के पूंजीवादी समाजों में लोग बाकी दूसरे समाजों की अपेक्षा थोड़े ही सामाजिक दायित्वों को मान्यता देते हैं और इसीलिए हम स्वभावतः यह मान लेते हैं कि मनुष्य मितोपयोग के लिए प्रयत्न उस स्थिति में अधिक करता है जब उसे

सकता है। हर अनुभवी समाजशास्त्री जानता है कि हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमाओं को देखते हुए इन प्रश्नों का हल खोजना निश्चित रूप से असम्भव है, शायद आगे भी कभी सम्भव नहीं होगा। वह तो इतने से ही सन्तुष्ट हो जाएगा कि इस पुस्तक में इन प्रश्नों की संक्षिप्त रूपरेखा बना दी जाए। हम संस्थाओं और आर्थिक विकास की परस्पर अनुकूलता के विषय में बहुत-कुछ कह सकते हैं और प्रवृत्तियों और संस्थाओं के सम्बन्धों के बारे में भी थोड़ा-कुछ कहा जा सकता है, लेकिन जब हम स्वयं प्रवृत्तियों की व्याख्या करने बैठते हैं और यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे किस प्रकार उत्पन्न होती हैं और क्यों बदलती हैं, तो थोड़ी बहुत दूर में ही मानव-इतिहास का हमारा ज्ञान जवाब दे जाता है।

अनुकूलता के प्रश्नों की अपेक्षा आर्थिक विकास के प्रश्नों का समाधान और भी कठिन है क्योंकि यहाँ निगमन रीति से और भी कम सहायता मिल पाती है। यह समझने के लिए कि कोई घटना कैसे और क्यों होती है हमें तथ्यों का सहारा लेना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक सामग्री का आगमन-रीति से उपयोग करना चाहिए।

हर अर्थशास्त्री एक ऐसी स्थिति से गुजरता है जहाँ उसे आर्थिक सिद्धान्त का निगमन आधार असन्तोषजनक मालूम देता है और वह महसूस करता है कि इतिहास के तथ्यों का अध्ययन करने से आर्थिक प्रक्रियाओं को और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। भावना अपने-आपमें सही है, लेकिन इससे प्रेरणा पाकर इतिहास के तथ्यों को समझने के गम्भीर प्रयत्न शायद ही कभी किये जाते हैं। कारण यह है कि इतिहास के तथ्य ठीक-ठीक रूप में बहुत ही थोड़े मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले तो बहुत ही थोड़े देश ऐसे हैं और उनके भी हाल ही के कुछ जमाने ऐसे हैं जिनके बारे में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जहाँ सामग्री काफ़ी है वहाँ भी हम घटनाओं के बारे में ठीक-ठीक नहीं जानते। दूसरी बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिद्धान्तवादी जो 'तथ्य' चाहता है वह यह नहीं है कि घटनाएं क्या थीं, वह तो यह जानना चाहता है कि अमुक घटनाएँ क्यों घटीं, और इतिहास में यह उल्लेख भले ही मिल जाए कि घटनाएँ क्या थीं, पर इस पर शायद ही कभी प्रकाश डाला जाता है कि वे घटनाएं क्यों घटीं। घटनाओं के कारणों के विषय में तत्कालीन लोगों के अपने विचार कहीं-कहीं लिखे मिलते हैं। लेकिन उन अधिकांश घटनाओं के बारे में जिनमें अर्थशास्त्रियों को दिलचस्पी होती है (मुख्यकर संस्थाओं और विश्वासों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन के बारे में), इतिहास के उस काल के लेखकों को अक्सर यह पता ही नहीं होता कि इस प्रकार की घटनाएं या परिवर्तन हो भी रहे हैं, और इसीलिए ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों के बारे में जो कुछ लिखा मिलता है उस पर पूरा विश्वास नहीं कर लेना चाहिए।

इस प्रकार इतिहास में हमें तथ्य नहीं मिलते बल्कि एक काल-विशेष में क्या हुआ और क्यों हुआ, इस बारे में इतिहासकारों के मत मिलते हैं। कुछ निश्चित अपवादों को छोड़कर इतिहासकारों द्वारा दिये गए घटनाओं के विवरण काफी विश्वसनीय हैं। चूंकि ऐतिहासिक प्रमाणों की छानबीन करने में इतिहासकार कुशल होते हैं, लेकिन कोई घटना क्यों घटी इसके बारे में इतिहासकार जो मत प्रकट करते हैं वे सामाजिक कारणता के सम्बन्ध में उनके व्यक्तिगत सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं। वर्णन के लिए तथ्य चुनते समय वे किसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं और किसे नहीं, यह भी उनकी व्यक्तिगत धारणाओं पर आधारित होता है। अधिकांश आर्थिक इतिहासकार आर्थिक घटनाओं को प्रस्तुत करते समय उन्हीं आर्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं जो पुस्तक लिखते समय प्रचलित होते हैं (इससे भी गई बीती स्थिति वह है जबकि वे उन सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं जो उन दिनों प्रचलित थे जब वे स्नातकपूर्व कक्षा में आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर रहे थे)। जब भी कोई नया आर्थिक सिद्धान्त निकलता है तो उसके प्रकाश में इतिहास को फिर से लिखने के लिए इतिहास सम्बन्धी अनेक नये लेख लिखे जाते हैं। किसी घटना के बारे में अच्छे इतिहासकार का मत और उसे जो तथ्य मिले हैं वे किस प्राक्कल्पना के अनुकूल हैं, इस बारे में उसकी राय सदा उपयोगी है और उन्हें जानना अनिवार्य है। लेकिन यह अवश्य है कि सामाजिक सिद्धान्तवादी जब ऐतिहासिक तथ्यों की ओर आकर्षित होता है तो उसके अध्ययन का तरीका रसायनी या जीव विज्ञानी के तरीकों से बिलकुल भिन्न होता है।

हमारी कठिनाइयाँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। अगर यह भी सही सही पता हो कि घटना क्या थी, तब भी इन तथ्यों के आधार पर सामाजिक सिद्धान्त निर्धारित करना आसान नहीं। हर ऐतिहासिक घटना के कई सहायक कारण होते हैं। उस घटना की कई बार पुनरावृत्ति हो सकती है, लेकिन कारणों का योग अक्सर भिन्न होता है, क्योंकि इतिहास की ज्यों-की-त्यों पुनरावृत्ति नहीं हो सकती—ऐसा न हो सकने का एक कारण यह भी है कि बाद वाली घटना के साथ पिछली अनुरूप घटना की अपेक्षा अधिक इतिहास जुड़ा होता है। इसलिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौनसे कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जिन घटनाओं का अध्ययन हमें करना है उन्हें मापना अगर सम्भव हो तो हम सांख्यिकी विधि से ऐसा समीकरण तैयार कर सकते हैं जिसमें हर कारण का विशिष्ट महत्त्वांक (गुणांक) निर्धारित किया गया हो। अगर हम ऐसी घटनाओं का अध्ययन कर रहे हैं जो मापी नहीं जा सकतीं तो हमारे पास व्यक्तिगत निर्णय के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। मानव-मस्तिष्क की सीमाएँ हमारे काम को और अधिक कठिन बना देती हैं।

कोई एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न कालों और भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास का बढ़िया जानकार नहीं हो सकता—अगर ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह उपलब्ध भी हों तब भी किसी एक व्यक्ति के लिए उन सबका ज्ञान रखना सम्भव नहीं है। कोई यह नहीं कह सकता कि उनका सिद्धान्त इतनी काफ़ी घटनाओं की तुलना पर आधारित है कि उनके सामान्य निष्कर्षों पर सन्देह नहीं किया जा सकता। न कोई यह कह सकता है कि उन्होंने जो तथ्य लिये हैं वे सब सही हैं और उनके निष्कर्ष उन घटनाओं की कसौटी पर भी सफल सिद्ध नहीं किये जा सकते जो इसी प्रकार की हैं लेकिन जिन पर उन्होंने विचार नहीं किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि समाज के आर्थिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त इतनी सचाई से कभी प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हैं जितनी सचाई से रसायन-शास्त्र या जीव विज्ञान के सिद्धान्त पेश किए जा सकते हैं, क्योंकि ये बार-बार प्रयोग करके परखे जा सकते हैं। यह अन्तर सम्भवतः केवल मात्रा का है क्योंकि प्रकृति विज्ञानों के भी वे सिद्धान्त जो अनुमानों पर अधिक आधारित हैं, नये तथ्यों की खोज होने पर झूठे पड़ जाते हैं। लेकिन इतिहास के तथ्यों की सचाई इतनी सन्दिग्ध होती है कि दोहराए जा सकने वाले प्रयोगों के तथ्यों से और इनमें बड़ा अन्तर है, यहाँ तक कि इन सिद्धान्तों को एक-दूसरे प्रकार का सिद्धान्त कहना ही उपयुक्त होगा।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम सामाजिक परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न करना ही छोड़ दें। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु है और यह उसकी प्रकृति के विरुद्ध है कि वह सोचना छोड़ दे। हमें दरअसल अपने सिद्धान्तों को परम सत्य नहीं मानना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि इतिहास के अध्ययन पर आधारित कोई भी प्राक्कल्पना पूरी तरह सच्ची नहीं हो सकती।

आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की रचना दो स्तरों पर आरम्भ होती है। निम्न स्तर पर हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि कुछ बातों में परिवर्तन किस प्रकार और क्यों होता है, ऊपर के स्तर पर हम भविष्य के बारे में पूर्वानुमान करते हैं। पहले स्तर का सम्बन्ध मुख्यतः सामाजिक सिद्धान्तवादियों से है, लेकिन दूसरे स्तर का अध्ययन करते समय सबसे अधिक जोश आता है, पर साथ ही गलतियाँ भी खूब होती हैं।

निम्न स्तर पर सामाजिक सिद्धान्तवादी महत्त्वपूर्ण चरों की जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करता है और यह पता लगाता है कि एक ही समय में और कालक्रम में इन चरों के परस्पर सम्बन्ध क्या हैं? ऊपर के स्तर पर उसे यह बताना होता है कि इन सभी चरों में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे, बस यही कठिनाई है जिसके कारण भविष्यवाणी करना असम्भव हो जाता है।

अधिकांश भविष्यवाणियाँ पद्धति चातुर्य से अधिक और कुछ नहीं होतीं।

हम कहते हैं कि हमारा निष्कर्ष 'क' से 'ह' चरों के व्यवहार पर निर्भर है, अगर यह मान लिया जाए कि 'क' से 'छ' तक के चर स्थायी रहेंगे, और 'ज' से 'द' तक के चरों में किसी विशेष प्रकार के परिवर्तन होंगे तो हम भविष्यवाणी कर सकते हैं कि परिणाम अमुक अमुक होंगे। क्या होगा, इसकी भविष्यवाणी करने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि सारे चर किस प्रकार व्यवहार करेंगे, हमें यह मालूम होना चाहिए कि निकट-भविष्य में युद्ध होने वाला है अथवा नहीं, या भूकम्प या इन्फ्लुएंजा का प्रकोप होने वाला है अथवा नहीं, या नाज़ुक समय में किसी प्रभावशाली व्यक्ति का जन्म अथवा मृत्यु होने वाली है या नहीं, या और ऐसी ही हजारों बातें, जो घटनाक्रम को प्रभावित करती हों, हमें पता होनी चाहिए। इनमें से बहुत-सी बातें पहले से नहीं जानी जा सकती, अगर इन्हें पहले से जानना सम्भव भी होता तो किसी एक व्यक्ति का मस्तिष्क ऐसे समीकरण तैयार नहीं कर सकता जिसमें भविष्य को निर्धारित करने वाले सभी चरों को शामिल कर लिये गए हों। इसीलिए हम 'अगर' 'तब' जोड़कर कुछ अधूरी भविष्यवाणियाँ ही कर सकते हैं। आर्थिक गतिविज्ञान की कुछ समस्याओं को हल करने समय प्रयोग किए जाने वाले अंतर-समीकरण, या जन-संख्या और प्रभागत उत्पत्तिह्रास से चलकर गतिरोध तक के आर्थिक विकास का विश्लेषण करने वाला रिकार्डो का सिद्धान्त, या पश्चिमी पूँजीवाद में सास्थानिक-विकास सम्बन्धी शम्पीटर के अनुमान ऐसी ही भविष्यवाणियों के उदाहरण हैं। इन पद्धतिवादुओं को अक्सर आवश्यकता से अधिक प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, चूंकि लेखक या तो खुद नहीं समझते या दूसरों को यह समझाने में असफल रहते हैं कि ये अटकलबाजियाँ किन कल्पनाओं पर आधारित हैं। भविष्य के सम्बन्ध में उनके पूर्वानुमान भी सही नहीं होते, चूंकि या तो गुणांक गलत होते हैं, या वे बदल गए होते हैं, या चूंकि चरों के परस्पर सम्बन्ध गलत होते हैं या वे बदल गए होते हैं, या चूंकि नये चर, जिन्हें पहले नगण्य समझा गया था, बाद को महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। अगर ये अटकल-बाज़ियाँ गलत निकलें तो कोई शर्म की बात नहीं है, चूंकि जब हम यह जान लेंगे कि हमारी प्राक्कल्पनाएँ अपर्याप्त क्यों हैं तभी हम सामाजिक परिवर्तन के प्रकार और उसके कारणों को अधिक सचाई के साथ समझने की आशा कर सकेंगे।

सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार होते हैं इसका विवेचन वर्तमान पुस्तक में काफी प्रात्म विस्तार के साथ किया गया है, लेकिन भविष्य में इन परिवर्तनों की क्या दशा होगी यह बताने समय हमें अपनी बात पर न के बराबर विश्वास रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में कुछ सुप्रतिष्ठित सामान्य निष्कर्ष हैं जिनका सम्बन्ध इस प्रकार की बातों से है, जैसे नवीन प्रक्रिया अधिकतर किन

लोगों के हाथ में होती है, अनुकरण कौन लोग करते हैं, परिवर्तन का प्रतिरोध कहाँ-कहाँ होना है या विकास की तर्कयुक्त प्रक्रिया क्या होती है, आदि-आदि। लगता है ये सामान्य निष्कर्ष संसार के सभी देशों में लागू होते हैं, चूँकि दो हजार साल पहले सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रिया थी, बहुत-कुछ वैसी ही आज भी है, और विकास के विभिन्न चरणों में होने पर भी अधिकांश समाजों में यह प्रक्रिया लगभग एक-सी है। यही कारण है कि इन मामलों पर लिखते समय हम सारे मानव-इतिहास को आधार मान सकते हैं और ऐसा करते समय हमें सामाजिक संगठन के भिन्न-भिन्न चरणों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाने की आवश्यकता नहीं होगी। यहाँ हमारी स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी अनुकूलता की समस्याओं पर चर्चा करते समय होती है। सम्पत्ति या परिश्रम या सन्तानोत्पत्ति के बारे में मानवीय प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न समाजों में इतनी समानता अवश्य है कि हम मानव-व्यवहार के कुछ सामान्य नियम निश्चित कर सकते हैं। हम यह बता सकते हैं कि अगर परिवर्तन हुए तो वे किस प्रकार के होंगे; हाँ, हम यह नहीं बता सकते कि परिवर्तन कौन-कौनसे होंगे।

निरूपण-पद्धति के बारे में इस परिचयात्मक विवरण से हमें यह जानने में आसानी होगी कि आर्थिक विकास-क्रम के अन्य विश्लेषणों की तुलना में प्रस्तुत पुस्तक के विश्लेषण का ढंग अलग क्यों है। हमारी मान्यता है कि हम यह नहीं बता सकते कि किसी विशिष्ट सामाजिक पद्धति का विकास किस प्रकार होगा और इसीलिए रिकार्डो, मार्क्स, टायनबी, हेनसेन या शम्पीटर की भाँति हम समाज के क्रमिक विकास के नियमों के बारे में कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं कर सकते। हमारी मान्यता है कि आदिम अवस्था से सामन्तवाद और फिर विनिमय-व्यवस्था के विकास-चरण ऐसे नहीं हैं जिनसे होकर गुजरना हर समाज को आवश्यक है और इसीलिए हम कॉम्टे, मार्क्स, हर्बर्टस्पेंसर या वेबर का भी अनुकरण नहीं कर सकते। हमारे अनुमान तो विश्लेषण के इस साधारण स्तर पर आधारित हैं कि धनी देशों ने विकास करते समय जो परिवर्तन अनुभव किये वही सम्भवतः निर्धन देश भी करेंगे, यदि इन देशों का विकास हुआ। कुछ प्रश्नों का उत्तर हम पर्याप्त आत्म-विश्वास के साथ दे सकते हैं, उदाहरण के लिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि खेती के काम में जनसंख्या का जितना भाग इस समय लगा है उसका अनुपात कम होता जाएगा, या स्थिति-सम्बन्धों का स्थान संविदा-सम्बन्ध लेते चले जाएँगे। बहुत-सी दूसरी बातों का हमारे पास विश्वसनीय उत्तर नहीं है, जैसे कि हम यह नहीं कह सकते कि रहन-सहन का स्तर बढ़ने के साथ-साथ जन्म-दर गिरती चली जाएगी, या कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप युद्ध अवश्यम्भावी है। पुस्तक के अधिकांश

से उन्नतिशील देशों में हुए परिवर्तनों का लेखा दिया गया है, और यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि विकसित देशों का अनुसरण करते समय वर्तमान अविकसित देशों में भी ऐसे ही परिवर्तन होंगे अथवा नहीं। उन्नति की चरम अवस्था को पहुँचे हुए देशों के बारे में हम यह नहीं कह सकते कि उनका भविष्य क्या होगा, चूँकि हमारी मान्यता है कि ऐसा कोई अकाट्य नियम ज्ञात नहीं है और न उसे जानने के हमारे पास उपाय हैं जिनके ऊपर मानव जाति का भविष्य निर्भर माना जा सके।

३ विन्यास

आर्थिक विकास की किसी पुस्तक का विन्यास लेखक अपनी इच्छानुसार निर्धारित कर सकता है, चूँकि जिन विषयों का अध्ययन इसमें शामिल है वे एक-दूसरे से इतनी निकटता से सम्बन्धित हैं कि लेखक किसी विषय से आरम्भ कर सकता है। यह पुस्तक मितोपयोग के प्रयत्न की चर्चा से आरम्भ की गई है जिसके साथ उन विश्वासों और संस्थानों का भी अध्ययन किया गया है जिनके कारण मितोपयोग का प्रयत्न कम या अधिक होता है। इसके पश्चात् विकास-कार्य में ज्ञान के योग पर विचार किया गया है, और उन प्रक्रियाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनसे ज्ञान के संचय और उसके विस्तार में सहायता मिलती है। प्रति व्यक्ति साधनों का अध्ययन पूँजी के अध्याय से आरम्भ किया गया है जिसके बाद एक अध्याय जनसंख्या पर है। इसके बाद स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बारी आती है। चूँकि भिन्न भिन्न स्थानों के लोगों को उपलब्ध साधनों के भिन्न भिन्न होने का परिणाम ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। आर्थिक विकास में सरकार का योग कोई स्वतन्त्र विषय नहीं है। इसका सम्बन्ध दरअसल उपर्युक्त सभी अध्यायों से है, लेकिन सरकारी योगदान के महत्त्व को देखते हुए इस पर एक अलग से अध्याय लिखना ही सुविधाजनक समझा गया है। हर अध्याय में विषय के प्रतिपादन का ढंग एक-जैसा है, विकास के प्रति अनुकूलता की दृष्टि से हमें आर्थिक सम्बन्धों, संस्थानों और विश्वासों में दिलचस्पी है, और क्रमिक विकास की दृष्टि से हम यह जानना चाहते हैं कि परिवर्तन क्यों होते हैं, किस प्रकार होते हैं और भविष्य में होने वाली घटनाओं के बारे में कोई पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं अथवा नहीं।

आर्थिक विकास के विभिन्न कारणों के रूप में अपनी विषय वस्तु का विभाजन कर लेने के साथ ही हमें समय समय पर इन कारणों के आपसी सम्बन्धों पर भी जोर देना होगा। विकास की किसी एक दिशा में प्रगति होने के साथ उसकी अन्य दिशाएँ भी आगे बढ़ती हैं। मान लीजिए, विदेशों से अधिक पूँजी उपलब्ध हुई तो इसका आशय यह भी बहुत सम्भव है कि प्रौद्योगिकी में नयी-नयी बातों का समावेश होगा और सम्भवतः संस्थाओं और

मानव प्रवृत्तियों पर भी इसका प्रभाव पड़ता। अगर ज्ञान के क्षेत्र में कोई नयी खोज होती है तो उसके फलस्वरूप पूंजीनिवेश में वृद्धि होती है और तदनुसार संस्थान भी प्रभावित होते हैं। यदि संस्थान शिथिल कर दिए जाएँ तो मानव-प्रयत्न घट जाते हैं और उत्पादन में ज्ञान और पूँजी की प्रयुक्ति अधिक होने लगती है। सामाजिक परिवर्तन स्वभाव में संचयी होते हैं जिसके कारण विकास के विभिन्न पहलू एक-दूसरे को बल प्रदान करते हैं।

इन अन्तर्संबन्धों के बावजूद इस बात पर जोर देने का चलन है कि कोई एक पहलू अन्य सभी से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, आदमस्मिथ और अनेक उदार अर्थशास्त्री यह समझते थे कि आर्थिक विकास के लिए सबसे आवश्यक वस्तु सही संस्थानों का होना है, यदि संस्थान अनुकूल हों तो प्रयत्न के लिए इच्छा या ज्ञान के संचय या पूँजी के संचय की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, चूंकि ये सब तो मानव की सहज प्रतिक्रियाएँ हैं जिन पर दोषपूर्ण संस्थानों द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। दूसरी ओर माल्थस का विचार था कि अविकसित देशों की सबसे बड़ी कठिनाई मांग की कमी है, इसे आज की तकनीकी भाषा में 'आराम की अपेक्षा आय का हीनमूल्यन' कहेंगे और अब भी अनेक लोग इस विचार के समर्थक हैं। एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जिसके अनुसार विकास की सबसे बड़ी बाधा प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर है, इसका एक उदाहरण राष्ट्रपति ट्रूमन का अविकसित देशों के लिए तैयार किया गया कार्यक्रम है, जिसके मूल में यही धारणा थी कि कम विकसित देशों को विकसित देशों से मुख्यतया तकनीकी सहायता ही दी जानी चाहिए। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि पूँजी न होने से ही विकास रुकता है। उनका कहना है कि यदि पूंजी उपलब्ध की जा सके तो नवीन प्रौद्योगिक विधियाँ भी लागू की जा सकती हैं, और आर्थिक विकास की प्रक्रिया में व सभी संस्थान, जो विकास के प्रतिकूल होते हैं, खुद बदल जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। इन सबके बाद एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो सारा महत्त्व प्राकृतिक साधनों को ही देता है। इनके विचार में प्रत्येक देश को उसके प्राकृतिक साधनों को देखते हुए जितनी पूँजी या जो संस्थान अपेक्षित होते हैं वे उस देश को अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं। इन विभिन्न मतों के अनुरूप 'कम विकसित' के अर्थ भी अनेक हो गए हैं। किसी की दृष्टि में वह देश कम विकसित है जिसकी प्रौद्योगिकी अन्य देशों की तुलना में पिछड़ी हुई है, कोई उस देश को कम विकसित मानते हैं जिसके संस्थान पूँजी-निवेश के अधिक प्रतिकूल हों, कुछ लोग उन देशों को कम विकसित कहते हैं जिनकी प्रति व्यक्ति पूँजी संसार के अन्य भागों, जैसे पश्चिमी यूरोप, में कम है, या जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादन कम है या जहाँ के मूल्यवान प्राकृतिक साधनों (खनिज, जल, मिट्टी) का उपयोग अभी आरम्भ नहीं किया गया है। सम्भव है कि कोई देश इन

अर्थों में से अन्य की अपेक्षा किसी एक अर्थ में अधिक अविकसित हो, लेकिन व्यवहार में ये सब अर्थ इतने निकट रूप से सम्बन्धित हैं कि किसी देश को अन्य अर्थों की बजाय किसी एक अर्थ में कम विकसित कह देने पर सामान्यतः किसी को कोई आपत्ति नहीं होती।

यह अवश्य सही है कि किसी विशेष स्थान पर किसी विशेष समय में विकास के लिए कोई एक बाधा अन्य सभी बाधाओं से अधिक बलवती सिद्ध होती है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि विकास की गति किसी एक दिशा में ही सबसे अधिक शिथिल हो, या यह भी सम्भव है कि विकास की अनेक समस्याओं में से किसी एक समस्या को पहले हल करना आसान मालूम होता हो। उदाहरण के लिए, कुछ ऐसे देश हो सकते हैं जहाँ विकास के मार्ग में इस समय सबसे बड़ी बाधा संस्थान हैं (जैसे घटिया सरकार या भूमिधारण के दोषपूर्ण नियम)। इन देशों में अगर संस्थानों में उचित परिवर्तन कर दिये जाएँ तो ज्ञान और पूँजी में वृद्धि की आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। ऐसे भी देश हो सकते हैं जहाँ प्रचलित संस्थान आर्थिक विकास में बाधक नहीं हैं लेकिन जहाँ की सबसे मुख्य समस्या पूँजी की कमी है। ऐसे भी देश हैं जहाँ विकास की दिशा में सर्वांश अच्छा काम यह हो सकता है कि किसानों को रासायनिक खाद और अच्छे बीज के रूप में नयी प्रौद्योगिकी से परिचित कराया जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि कभी कभी अन्य समस्याओं को छोड़कर किसी एक समस्या पर ध्यान केन्द्रित करना अच्छा रहता है। वैसे यह एक अस्थायी उपाय ही है, चूँकि अगर आप एक गतिरोध दूर कर देंगे तो दूसरे गतिरोध उभरकर सामने आने लगेंगे। अगर किसान नये बीज और रासायनिक खादों का उपयोग करने लगें तो इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न अतिरिक्त फ़सलों का व्यापार करने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी, अगर पूँजी उपलब्ध हो जाती है तो बन्धक और दूसरे पूँजीनिवेश-सम्बन्धी कानूनों में उचित परिवर्तन करने होंगे, अगर संस्थान भी अनुकूल बना दिये जाएँ तो विकास में बाधक कोई और तत्व उठ खड़ा होगा। इस प्रकार, सुधारक किसी एक दिशा में कार्य आरम्भ करते हुए भी इस बात का ध्यान रखें कि अगर उसे पूरी तरह सफल होना है तो जिस पहलू को उसने सबसे अधिक महत्त्व दिया है उसके अलावा भी ऐसी अनेक दिशाएँ होंगी जिनमें परिवर्तन अपेक्षित होगा।

इस पुस्तक में विकास के विभिन्न कारणों को केवल विश्लेषण की दृष्टि से ही अलग किया गया है। चूँकि ये कारण परस्पर सबद्ध हैं, इसलिए पुस्तक को ठीक-ठीक समझने के लिए वह पूरी ही पढ़नी चाहिए, हर वाक्य, पैराग्राफ़ या अध्याय में जो कुछ कहा गया है वह शेष पुस्तक में कही गई बातों को मानकर ही लिखा गया है, और यदि उसे अपने संदर्भ से अलग कर दिया जाए तो सम्भव

है कि उसके अर्थ गलत हो जाएँ। कुछ ऐसे विषय हैं जैसे कि धर्म, जिनकी चर्चा कई अध्यायों में होगी और हर बार उनका अध्ययन आर्थिक विकास के भिन्न भिन्न पहलू के संदर्भ में किया जाएगा। अविभाज्य विषय का विभाजित करने में थोड़ा भ्रम होना अवश्यम्भावी है। हमने पुस्तक के कलेवर में अक्सर अन्यान्य संदर्भ दिए हैं ताकि भ्रम की गुंजाइश कम-से-कम रह जाए लेकिन अगर पाठक किसी एक समस्या पर पूरे विचार जानना चाहें तो उन्हें पुस्तक के अन्त में दिए गए सूचक की सहायता लेनी चाहिए।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक संदर्भ-टिप्पणी दी गई है जिसमें उस अध्याय में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनमें से कुछ के बारे में संदर्भ-ग्रन्थ बताए गए हैं। इन टिप्पणियों का उद्देश्य तत्सम्बन्धी समूचे साहित्य का सर्वेक्षण नहीं है, इनमें केवल उन्हीं ग्रंथों के नाम दिए गए हैं जिनसे विद्यार्थी को विशेष सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इस पहली टिप्पणी में हम आर्थिक विकास, इतिहास दर्शन और विशिष्ट देशों के अध्ययन पर लिखी गई सामान्य पुस्तकों के नामोल्लेख करेंगे।

संदर्भ टिप्पणी

१८वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों में आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति बड़ी दिलचस्पी थी और उस शताब्दी में जितने ग्रंथ प्रकाशित हुए उनमें से लगभग सभी में वर्तमान पुस्तक की सारी विषय-वस्तु का विवेचन किया गया है। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस विषय पर विचार करने की परंपरा समाप्त हो गई। जॉन स्टुअर्ट मिल की **प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी** (अर्थशास्त्र के सिद्धान्त), लंदन, १८४८, इस परम्परा की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक थी, और आज भी पठनीय है। फ्रैडरिक लिस्ट इतना बड़ा लेखक नहीं था, टैरिफ-सम्बन्धी समस्याओं पर उसके विचार उदार थे, लेकिन उसकी पुस्तकों का अध्ययन इसलिए बड़ी दिलचस्पी का है क्योंकि जर्मन और अमरीकी विचारधाराओं पर लिस्ट का काफी प्रभाव पड़ा था, इसकी पुस्तक **दी नेशनल सिस्टम ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी** (अर्थशास्त्र की राष्ट्रीय प्रणाली), लंदन, १६०६, (पहले जर्मन भाषा में १८४४ में प्रकाशित हुई) पढ़नी चाहिए। कार्ल मार्क्स भी संस्थापक अर्थशास्त्रियों की परम्परा में थे, उन्होंने बहुत लिखा है, लेकिन अर्थशास्त्र सम्बन्धी उनकी पुस्तकें केवल विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। सुबोध ज्ञान के लिए एक आधुनिक मार्क्सवादी पी० एम० स्वीजी की **दी थ्योरी ऑफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट** (पूँजीवादी विकास का सिद्धान्त), न्यूयार्क, १६४०, पढ़ी जा सकती है।

बीसवीं शताब्दी का एकमात्र अर्थशास्त्री, जिसने आर्थिक विकास के सामान्य सर्वेक्षण का कुछ काम किया, जे० ए० शुम्पीटर था, उनकी पुस्तक **सोशलिज्म, कैपिटलिज्म एंड डेमोक्रेसी** (समाजवाद, पूँजीवाद और प्रजातन्त्र), न्यूयार्क,

१९४२ देखिए। उनकी **दी थ्योरी ऑफ इकॉनामिक डेवलपमेंट** (आर्थिक विकास का सिद्धान्त), कैम्ब्रिज, १९३४ जो पहले १९१२ में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुई थी, पुस्तक के शीर्षक को देखते हुए थोड़े से विषयों का ही विश्लेषण प्रस्तुत करती है। बी० एस० कर्स्टीड का **दी थ्योरी ऑफ इकॉनामिक चेन्ज** (आर्थिक परिवर्तन का सिद्धान्त), मान्ट्रीयल, १९४८ भी विषय का आंशिक अध्ययन है। भारतीय समस्याओं में दिलचस्पी रखने वालों को बी० दत्त के **दी इकॉनामिक्स ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन** (औद्योगीकरण का अर्थशास्त्र) कलकत्ता १९५२, में बहुत अच्छा वर्णन मिलेगा। डब्लू० डब्लू० रोस्टो की **दी प्रोसेस ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ** (आर्थिक विकास की प्रक्रिया), आक्सफोर्ड १९५३ पद्धति के अध्ययन की दृष्टि से काफी दिलचस्प है। एस०एच० फ्रैंकेल की **दी इकॉनामिक इम्पैक्ट ऑन अंडरडेवलप्ड कन्ट्रीज** (कम विकसित देशों पर आर्थिक आघात), आक्सफोर्ड, १९५२, का आधा राष्ट्रीय आय की परिभाषा और माप से संबंधित है और बाकी आधे में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि पूंजी-रचना से ही आर्थिक विकास होना निश्चित नहीं माना जा सकता। संक्षिप्त परिचय के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की **मेजर्स फॉर दी इकॉनामिक डेवलपमेंट ऑफ अंडरडेवलप्ड कन्ट्रीज** (कम विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए उपाय) न्यूयार्क, १९५१, देखिए।

बीसवीं शताब्दी में अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा इतिहासकारों ने इन विषयों पर अधिक ध्यान दिया है। ए० जे० टॉयनबी की **ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री** (इतिहास का अध्ययन), लंदन, १९३४-९, सामान्य पाठक की समझ से परे है, लेकिन डी० सी० सोमरवेल ने **टॉयनबीज स्टडी ऑफ हिस्ट्री** (टायनबी का इतिहास का अध्ययन), लंदन १९४६, में एक ही पुस्तक में बड़ी खूबी के साथ टॉयनबी की पुस्तक का सार प्रस्तुत कर दिया है। टॉयनबी के काम के प्रति इतिहासकारों के सामान्य वैर के बावजूद सोमरवेल द्वारा प्रस्तुत सार पढ़ने योग्य है। दूसरा बड़ा ऐतिहासिक सिद्धान्तवादी पी० सोरोकिन है, जिसके विशाल कार्य को एफ० आर० कोवैल ने **हिस्ट्री, सिविलाइजेशन एंड कल्चर** (इतिहास, सभ्यता और संस्कृति), लंदन, १९५२, नामक अपनी पुस्तक में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। सिद्धान्त के प्रति इतिहासकारों के रुख का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आर० जी० कॉलिंगवुड की **दी आइडिया ऑफ हिस्ट्री** (इतिहास का विचार), आक्सफोर्ड १९४६, देखिए। कार्ल पॉपर ने भी ऐतिहासिक सिद्धान्तों और भविष्यवाणियों की चर्चा अपनी पुस्तक **दी ओपिन सोसाइटी एंड इट्स ऐनीमीज** (खुला समाज और उसके शत्रु), लंदन, १९४५, में की है। एम० जिन्सबर्ग की **दी आइडिया ऑफ प्रोग्रेस** (प्रगति का विचार), लंदन, १९५३, भी देखिए।

आर्थिक इतिहास के क्षेत्र में जितना अध्ययन किया जाए उतना ही अच्छा है। पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास पर अनेक प्रामाणिक

पुस्तकें हैं। सोवियत रूस के विषय में भी कुछ जानकारी रखनी चाहिए। इसके बारे में सर्वाधिक विश्वसनीय ग्रांकड़े ए० बर्गसन की पुस्तक **सोवियत इकॉनामिक ग्रोथ** (सोवियत आर्थिक विकास), इवान्स्टन १९५३ में उपलब्ध हैं। जापान का अच्छा परिचय प्राप्त करने के लिए ई० एच० नार्मन की पुस्तक **जापान्स एमरजेंस एज ए मॉडर्न स्टेट** (आधुनिक राज्य के रूप में जापान का उद्भव), न्यूयार्क, १९४०, और जी० सी० एलन की **ए शॉर्ट इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ जापान** (जापान का संक्षिप्त आर्थिक इतिहास), लंदन, १९४६, पढ़नी चाहिए। अगर हम ग्रीस और रोम के उत्थान और पतन को समझ सकें तो इस पुस्तक में उठाई गई सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। हालांकि इस विषय पर बहुत साहित्य मिलता है, लेकिन दुर्भाग्य से उसकी प्रामाणिकता अभी तक बड़ी संदिग्ध है। इस विषय पर आज तक जितने ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनमें से सर्वश्रेष्ठ **कैम्ब्रिज एन्शेंट हिस्ट्री** (कैम्ब्रिज प्राचीन इतिहास), लंदन, विभिन्न तिथियों को प्रकाशित ग्रंथमाला के संबंधित खण्ड हैं। एम० रोस्टोवजेफ का 'प्राचीन संसार का पतन और उसकी आर्थिक व्याख्या' भी पढ़ना चाहिए जो **इकॉनामिक हिस्ट्री रिव्यू** (आर्थिक इतिहास समीक्षा), खण्ड दो, १९३० में प्रकाशित हुआ है।

आदिम जातियों के संस्थानों का भी थोड़ा-सा परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए सी० डी० फोर्ड की **हैबिटेट, इकॉनमी एंड सोसाइटी** (प्राकृतिक वास, अर्थ व्यवस्था और समाज), लंदन, १९३४, आर० डब्लू० फर्थ की **प्रिमिटिव पोलिनेशियन इकॉनामी** (पोलिनेशिया की आदिम अर्थव्यवस्था), लंदन, १९३९, एम० जे० हर्सकोविट्स की **दी इकॉनामिक लाइफ ऑफ प्रिमिटिव पीपुल्स** (आदिम लोगों का आर्थिक जीवन), न्यूयार्क, १९४०, और, बी० मालिनोवस्की की **आर्गॉनोट्स ऑफ दी वेस्टर्न पैसिफिक** (पश्चिम प्रशांत के आर्गॉनोट) लंदन १९२२, पढ़नी चाहिए।

धार्मिक या जातीय समूह) में भी मौजूद हैं और एक ही देश में इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में भी मानव व्यवहार बहुत बदलता रहा है। इन भेदों के तीन अलग अलग कारण हैं। पहला तो यह कि लोग आर्थिक पदार्थों का और उनको प्राप्त करने में किए जाने वाले प्रयत्नों का सापेक्षिक मूल्य अलग अलग आंकते हैं। दूसरा कारण यह है कि कहीं आर्थिक अवसर कम हैं और कहीं अधिक और तीसरा अन्तिम कारण संस्थाओं से सम्बन्धित है जो कि हर समाज में एक विशिष्ट सीमा तक आर्थिक प्रयत्नों को बढ़ावा देती हैं। यह बढ़ावा या तो इन प्रयत्नों की बाधाओं को दूर करने के रूप में हो सकता है या व्यक्ति को उसके प्रयत्नों के फल का उपभोग करने देने की गारंटी के रूप में भी हो सकता है। किसी देश में दूसरे देशों की अपेक्षा आर्थिक प्रयत्न कम किए जाते हैं। यह अधिकतर संस्थानिक दोषों का ही परिणाम है और आर्थिक विकास में वृद्धि करने के इच्छुक समाज-सुधारक प्रचार या कानून का आश्रय लेकर इन संस्थानों में उपयुक्त परिवर्तन करते हैं। वैसे, प्रयत्न की इच्छा कम-अधिक होने के शुद्ध मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं और हम सबसे पहले इन्हीं का विश्लेषण करेंगे। यह कहना अनावश्यक है कि प्रवृत्तियां और संस्थान एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, हम उन्हें केवल विश्लेषण की दृष्टि से अलग मान रहे हैं।

जब हम कहते हैं कि एक विशिष्ट समूह पदार्थों की अपेक्षा उन्हें प्राप्त करने के लिए अपेक्षित प्रयत्न को अधिक महत्त्व देता है तो हमारा ध्यान दो कारणों की ओर जाता है—या तो वह समूह पदार्थों और सेवाओं को अधिक महत्त्व नहीं देता और या उन्हें प्राप्त करने के लिए जितना प्रयत्न आवश्यक है उसे करने के लिए वे मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार नहीं होते। प्रथम कारण के अन्तर्गत वस्तुओं को जो कम महत्त्व मिलता है वह यतित्व के कारण हो सकता है, या अन्य कामों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने से हो सकता है, या सीमित आकांक्षाएं भी इसके लिए जिम्मेदार हो सकती हैं। द्वितीय कारण के अन्तर्गत हमें यह ध्यान रखना होगा कि आर्थिक प्रयत्न में केवल काम ही नहीं बल्कि गतिशीलता और उद्यम आदि अवसरों को खोजने और उनका उपयोग करने के सभी तरीके शामिल हैं। अब हम एक-एक करके इन सभी मामलों के प्रति मानव प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे :

१. पदार्थों के लिए आकांक्षा

(क) यतित्व—यतित्व के निमित्त यह मानते हैं कि अपने अन्य साथियों की अपेक्षा कम वस्तुओं का उपभोग करना एक विशेष गुण है। कई प्रकार से यह सिद्ध किया जाता है कि जीने की सर्वश्रेष्ठ विधि यही है। पहले तो कुछ नियम ऐसे हैं जिनमें मनुष्य को अपनी समस्त प्राकृतिक इच्छाओं, जैसे भोजन, यौन-भावना, आराम और दूसरे सुखों पर संयम रखने के महत्त्व पर जोर दिया गया है; ये

नियम आत्मिक उन्नति के लिए उपवास और दूसरे कष्टों को (बढ़ावा) देते हैं। यतित्व का दूसरा जोर इस बात पर है कि मनुष्य का जितना समय आर्थिक प्रयत्नों में खर्च होता है, वह भी ध्यान या धार्मिक क्रियाओं को दिया जाना चाहिए, वैसे सभी धर्मों का यह दृष्टिकोण नहीं है—किसी-किसी धर्म में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जितना महत्त्व प्रार्थना को दिया गया है उतना ही कर्म को भी प्राप्त है, और ऐसे धर्मों के अनुसार कर्म भी आत्मा की उन्नति का एक साधन है। यतित्व के नियमों का तीसरा जोर इस बात पर है कि आर्थिक प्रयत्न के दौरान मनुष्य अपने अन्य साथियों से संघर्ष करता है, जिससे बचने का उपाय यही है कि लाभमात्रें अधिक न बढ़ाई जाएँ और आर्थिक आवश्यकताएँ जितनी कम की जा सकें अच्छा है।

अधिकांश धर्मों में पुरोहितों, पेशेवर धर्मावलम्बियों, धर्मरक्षकों और उनके प्रचारकों से जिन आचार-विचारों के पालन की आशा की जाती है वे सामान्य गृहस्थ के आचार-विचारों से भिन्न होते हैं। पुरोहितों से आमतौर पर यही आशा की जाती है कि वे निर्धनों की तरह रहें। वैसे यह सिद्धान्त रूप में भी सब जगह निर्धारित नहीं है। उदाहरण के लिए अमरीका में प्रचलित कुछ धर्म ऐसे हैं जिनमें पुरोहितों से अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक यतित्व के पालन की आशा नहीं की जाती। जिन धर्मों के सिद्धान्तों में पुरोहितों के लिए अलग आचार-विचार निश्चित हैं वहाँ भी व्यवहार में कुछ और ही पाया जाता है। जैसे, बहुत से पूजाघरों में, जहाँ कि पुरोहितों से आदर्श यतित्व का पालन करने की आशा की जाती है वहाँ भी मदिरा, खान-पान और ऐशो आराम की ज़िन्दगी का ही आचरण देखने को मिलता है। सिद्धान्त और व्यवहार का यह भेद वहाँ अधिक देखने को मिलता है जहाँ पुरोहित और पूजा-स्थल में भेद किया जाता है। मगर नियम पूजा-स्थलों में धन-संग्रह होने देने के विपरीत नहीं हैं—और शायद ही ऐसा कोई धर्म हो जिसमें उसके पूजा-स्थल में धन-संचय को बुरा माना गया हो—तो फिर पुरोहितों से यह आशा करना व्यर्थ है कि वे पूजा-स्थल के धन का प्रबन्ध करते समय स्वयं उसका बिलकुल उपयोग नहीं करेंगे।

पुरोहितों और साधारण गृहस्थों के लिए अलग-अलग नियम होने पर भी यह सम्भव नहीं है कि इनके आचार-विचार एक-दूसरे से अप्रभावित रहें। चूंकि पुरोहितों का जीवन पवित्रता का प्रतीक समझा जाता है और साधारण गृहस्थों-जन किसी-न-किसी रूप में उसके अनुकरण का प्रयत्न करते ही हैं। वैसे यतित्व के मामले में आम आदमी से इतनी ही अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर, या निर्दिष्ट दिनों में, या निर्दिष्ट कालों में यतित्व के विभिन्न रूपों (विशेष-कर उपवासों) पर आचरण करेंगे। यतित्व के इन निर्धारित कालों के साथ ही त्योहार या भोज के दिन भी जुड़े होते हैं जब कि धर्माचरण करने वाले इन लोगों

को भिन्न-भिन्न प्रकार से सामाजिक आकर्षणों में लिप्त होने के अवसर दिये जाते हैं। मूलतः इन उपवासों और उत्सवों का सम्बन्ध खेती के मौसमों से है, फल तैयार होने के पहले वाले काल में जबकि अनाज का अभाव होता है उन दिनों उपवास रखे जाते हैं और फसल कट जाने के बाद ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए भोज दिये जाते हैं।

संसार में केवल वही देश ऐसे हैं जहां हिन्दुत्व और बौद्ध धर्म का प्रभाव है, जिनमें साधारण गृहस्थ से भी यतित्व के आदर्शों पर आचरण करने के लिए ज़ोर दिया जाता है लेकिन शायद इन देशों में भी ये आदर्श आम आदमी के व्यवहार को प्रभावित नहीं करते। हाँ, यह हो सकता है कि ऐसे देशों में कुछ लोग, जो व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करते, वे भी पुरोहितों वाली वृत्ति करने लगते हैं, लेकिन ऐसा सभी जगह नहीं होता। यह सम्भव है कि व्यवसाय-वृत्ति छोड़कर पुरोहितों का काम करने वालों की संख्या किसी धर्म में अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक हो, और इस प्रकार अनेक व्यक्ति, जो कि आर्थिक कार्यों में लगते, वे पुरोहित का काम करने लगें। यह भी हो सकता है कि गृहस्थों द्वारा जो धन पूंजी के रूप में रखा जाता वह पुरोहितों की इस बड़ी संख्या के भरण-पोषण में लग जाता हो। लेकिन यदि ऐसा है तो यह उन स्थानों पर धर्म के अधिक प्रभाव और पुरोहितों की ज़िन्दगी में आकर्षण होने से है। किसी धर्म में पूजा करने के लिए पेशेवर व्यक्तियों को बड़ी संख्या में आकर्षित करने की शक्ति दूसरी बात है, और उस धर्म में यतित्व के गुणों पर कितना ज़ोर दिया जाता है यह अलग चीज़ है। एक-दूसरे से पृथक् सत्रहवीं शताब्दी के स्पेन और आज के तिब्बत के बारे में यह आरोप लगाया जाता है कि उनके आर्थिक पिछड़ेपन का कारण वहाँ पुरोहितों की अधिकता है, लेकिन इस आरोप का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि पूंजी-निर्माण के लिए उपलब्ध साधनों की मात्रा किन बातों पर आधारित है, सामान्य गृहस्थ के व्यवहार पर यतित्व के प्रभाव से इस आरोप का सम्बन्ध नहीं है।

यह आसानी से कहा जा सकता है कि सामान्य गृहस्थ के व्यवहार पर यतित्व का बहुत थोड़ा प्रभाव होता है। संसार के किसी भी देश में आम लोग अपने जीवन का स्तर बढ़ाने के लिए अवसरों का उपयोग करने में इसलिए नहीं हिचकते कि अपने वर्तमान रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने से उनकी आत्मा कलुषित हो जाएगी। यह बात दूसरी है कि वे प्रयत्न करना न चाहते हों, लेकिन यह बिलकुल अलग बात है जिस पर कि हम बाद में विचार करेंगे। अगर बिना प्रयत्न किये ही उपभोग करने के लिए आर्थिक वस्तुएँ मिल जाएँ तो शायद बहुत ही थोड़े ऐसे सामान्य जीव मिलेंगे जो मुक्ति में बाधक समझकर उनके उपभोग से इन्कार कर दें। इसी प्रकार यदि भाग्य या वर्षा के निशानों को

अच्छी उपज देने वाले बीज या रासायनिक खाद दिये जाएँ तो धार्मिक दृष्टि से उन्हें खेती के काम में इन वस्तुओं का प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं होगी, और अच्छी खेती से प्राप्त लाभ का उपभोग करना भी धर्म विरुद्ध नहीं समझा जाएगा। यह तो हो सकता है कि किसी धर्म में कुछ निर्दिष्ट पेशों या धन्धों में जीवन-निर्वाह करने का निषेध हो—इस पर हम बाद में विचार करेंगे—लेकिन ऐसा किसी धर्म में नहीं है कि अगर पाप किये बग़ैर जीवन का स्तर ऊँचा किया जा सके तो भी उसका निषेध किया जाए।

(ख) धन और सामाजिक हैसियत—अधिकांश समुदायों में पतित्व के प्रति आकर्षण की अपेक्षा धन के प्रति आकर्षण अधिक पाया जाता है चाहे उसका उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना हो या सामाजिक हैसियत बढ़ाना हो।

लोग आमतौर से ऐसी वस्तुओं का उपभोग करना पसन्द करते हैं जो सामान्य पहुँच के बाहर होती हैं। इस धुन में कई बार तो मनुष्य ऐसी चीज़ें प्राप्त करने की इच्छा करता है जिनका वह उपभोग भी नहीं कर पाता। बहुत से लोगों के पास ऐसी चीज़ें रहती हैं जिनका उनके लिए कोई उपयोग नहीं है लेकिन जो केवल उनकी हैसियत बढ़ाने की दृष्टि से लायी गई हैं—साहित्य में ऐसे उदाहरणों की भरमार है, जैसे उन घरों में पियानो मौजूद बताया गया है जिनका एक भी आदमी पियानो बजाना नहीं जानता, ऐसे लखपतियों का उल्लेख है जिनमें भावुकता नाम को भी नहीं है लेकिन उनकी अपनी निजी चित्रवीथियाँ हैं, मांस, या दूध के लिए नहीं बल्कि कबीले में अपनी प्रतिष्ठा के प्रदर्शन के लिए अनेक व्यक्तियों द्वारा मवेशी पाले जाने की भी चर्चा की गई है, दिखा-दिखाकर बरबाद करने या बिगाड़ने के लिए वस्तुएँ ले आई जाती थीं, और इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं जहाँ व्यक्तिगत उपभोग के बजाय केवल प्रदर्शन के लिए पदार्थ इकट्ठे करने की कोशिश की जाती थी। इस प्रकार के प्रदर्शन अधिकतर वे लोग करते हैं जो निचले सामाजिक वर्ग से ऊपर के वर्ग में आ रहे होते हैं और जिन्हें अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की साख बिठानी होती है। औद्योगिक देशों में हाल ही में धनी बने हुए लोग इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रदर्शन अधिक करते हैं। उपनिवेशी देशों में, जहाँ कि शासक-वर्ग की जाति शासितों से भिन्न होती है, अक्सर देखा जाता है कि मध्यम और उच्च वर्ग के लोग ऐसी वस्तुओं का बहुतायत से उपयोग करते हैं जिनसे उनकी विशिष्टता मालूम पड़े। इस प्रकार वे यह दिखाना चाहते हैं कि उनकी राष्ट्रीयता के लोगों में भी उतनी ही महानता है जितनी कि उनके शासकों में है और वे शासक वर्ग से किसी बात में कम नहीं हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर वे शासक-वर्ग के लोगों जितने बड़े-बड़े मकान बनवाते हैं, उतनी ही बड़ी गाड़ियाँ रखते हैं और वैसी ही शानदार दावतें देते हैं। इस प्रकार के दिखावे में शासित वर्ग के लोग भारी कर्जों में डूब जाते हैं

और जिस धन को बचाकर वे पूंजी के रूप में प्रयोग करके अपने देश को आर्थिक रूप से मजबूत बना सकते थे वह धन व्यर्थ बह जाता है।

कुछ लोग सत्ता प्राप्त करने के लिए भी धन की आकांक्षा करते हैं—चाहे यह सत्ता रिश्वत देने की सामर्थ्य के रूप में हो या राजनीतिक अधिकार, कर्मचारियों पर अधिकार या अन्य प्रकार के अधिकारों के रूप में हो।

वैसे, सत्ता या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए धन-संचय ही सबसे सरल साधन नहीं है। आधुनिक पूंजीवादी समाजों में कोई भी अमीर व्यक्ति बड़े-से-बड़े सामाजिक महत्त्व वाले लोगों में उठ-बैठ सकता है। लेकिन अन्य अनेक समुदायों में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए हिन्दू समाज में पुरोहितों को ही सबसे अधिक सम्मान मिलता है, इसी प्रकार चीन में भी पहले सबसे अधिक आदर का पात्र विद्वान ही समझा जाता था। कहीं-कहीं सबसे अधिक प्रतिष्ठा योद्धा को मिलती है या कहीं ऊँचे परिवार में जन्म लेने वाले ही ऊँची नजर से देखे जाते हैं। जिस देश में जिस प्रकार के लोगों को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त होगा वहाँ के उद्यमी युवक उसी प्रकार के अनुरूप पेशे अपनाएंगे, चाहे वह पेशा युद्ध-सम्बन्धी हो, शिकार हो, धार्मिक हो या दफ्तर की नौकरी हो। वे आर्थिक काम-धन्धों में तभी लगना पसंद करेंगे अगर उन्हें यह निश्चय हो कि आर्थिक क्षेत्र के सफल व्यक्तियों को सर्वाधिक सम्मान मिलेगा। सोवियत संघ के आरम्भिक दिनों में आर्थिक संगठनकर्ताओं को नगण्य समझा जाता था, वहाँ पार्टी के व्यक्ति को या मजदूर संघ के कार्यकर्ता को या वैज्ञानिकों को ही ऊँचा समझते थे, कारखाने का मैनेजर सीधा समझा जाता था। आज बात बिलकुल दूसरी है। सफल मैनेजर बहुत ऊँचा वेतन पाता है, उसे आवास और मनोरंजन की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, अब उसे अपने कारखाने के मजदूरों से दबकर नहीं रहना पड़ता और वह बड़े-से-बड़े सामाजिक सम्मान वाले लोगों के साथ उठ-बैठ सकता है।

एक कारण तो यह है जिसके आधार पर हम यह सकते हैं कि कुछ देशों में दूसरों की अपेक्षा धन के प्रति आकांक्षा अधिक पायी जाती है, और धन के प्रति जितना आकर्षण होगा उसे प्राप्त करने का उतना ही प्रयत्न किया जाएगा। वैसे, धन के प्रति आकांक्षा में मात्रा के भेद ही पाए जाते हैं अन्यथा संसार के हर देश में धनी लोगों को आदर और प्रतिष्ठा मिलती ही है। कहीं-कहीं धन संचय करने वालों को तत्काल प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती बल्कि उनसे अगली पीढ़ी को समाज में सम्मान मिल पाता है। फिर भी धन-संचय के प्रयत्न की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अन्य साधनों से सदा ही स्पर्धा रहती है और समाज के बुद्धिमान और उद्यमी युवकों का कितना अनुपात आर्थिक क्रियाओं में लगता है, यह इस पर निर्भर है कि उस

समाज में धन-सचय और दूसरी सामाजिक क्रियाओं को कितना कितना महत्त्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए कुछ लोगों का विश्वास है कि इगलैंड की अपेक्षा अमेरिका में धनी लोगों का सम्मान अधिक है और बर्मा में धनी लोगों को इगलैंड में भी कम प्रतिष्ठा मिलती है। इन्हीं लोगों का यह भी कथन है कि जिस देश का आर्थिक विकास जितना अधिक हो चुका होगा वहाँ धन की प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्तियों के अधिकाश सफल और असफल विश्लेषणों में यह जानने की कोशिश की गई है कि क्रान्ति के ठीक पहले वहां ऊंचे घरान के लोगों विद्वानों और सैनिक-वर्ग की अपेक्षा व्यापारिक वर्ग को कितनी प्रतिष्ठा मिली हुई थी। उदाहरण के लिए, चीन और जापान की तुलना करते समय कहा जाता है कि इन देशों में व्यापारिक वर्ग को प्राप्त प्रतिष्ठा में अन्तर था इसीलिए पिछले कई सौ सालों में इन देशों का आर्थिक इतिहास भी इतना भिन्न रहा है। इसी प्रकार के उदाहरण ऐलिजाबेथ के जमाने का इगलैंड और स्पेन हैं। स्पेन में व्यापारियों को ऊँची नजर से नहीं देखा जाता था, इसलिए सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में स्पेन आर्थिक अवसरों का उपयोग करने में नितान्त असफल रहा।

एक समय ऐसा भी था जब अक्सर यह कह दिया जाता था कि पश्चिम के देशों में धनी लोगों को जो ऊँचा सम्मान प्राप्त है वह सुधार और प्रति सुधार के दिनों ईसाई धर्म में हुए परिवर्तनों के कारण है। यह बहुत कुछ सही है कि मध्य युग में ईसाई धर्म ने व्यापारिक काम में लगे हुए लोगों को बहुत धिक्कारा था, और यदि कोई व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा या अपने परिवार को ऊँचा उठाने के लिए धनी बनने की इच्छा करता था तो उसे पापी की सजा दी जाती थी। बारहवीं शताब्दी के लगभग जबकि समुद्र-व्यापार बढ़ना शुरू हुआ तो धन का महत्त्व समझा जाने लगा, और अब तो धन सचय के अवसरों को बढ़ाने का बड़ा महत्त्व माना जाता है। जैसे-जैसे धन बढ़ता गया उसका सम्मान भी बढ़ता चला गया, और सुधार के युग से बहुत पहले ही ईसाई धर्मशास्त्री अपने उपदेशों में इस प्रकार के परिवर्तन करने लग गए थे जिनसे यह प्रचार किया जा सके कि व्यापार और सूदखोरी आवश्यक रूप से पाप कर्म नहीं है। पन्द्रहवीं शताब्दी में, जबकि सुधार का युग आरम्भ हुआ धर्मोपदेश बहुत कुछ इसके अनुकूल हो चुके थे। धार्मिक परिवर्तन और आर्थिक परिवर्तन के परस्पर सम्बन्ध का यह एक दिलचस्प उदाहरण है जिसके बारे में हम अध्याय ३ (खड ४ [ख]) में विस्तार से विचार करेंगे। चूंकि धर्म में आर्थिक परिवर्तन का प्रतिबिम्ब मिलता है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक प्रवृत्तियाँ केवल धार्मिक बातों पर ही निर्भर हैं। दूसरी ओर, अधिक नहीं तो केवल इसी कारण कि धार्मिक

परिवर्तन होने में समय लगता है, यह कहा जा सकता है कि धार्मिक विश्वासों का आर्थिक व्यवहार पर सदा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

लगभग हरेक समाज में धन, प्रतिष्ठा और सत्ता का आपस में निकट सम्बन्ध है। हाँ, इस बात को लेकर मौलिक अन्तर पाए जाते हैं कि धनी लोग अपने धन का क्या उपयोग करते हैं, और किस साधन से प्राप्त धन को अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। पूर्व पूँजीवादी समाजों में धनी लोग अपना पैसा अनुत्पादक कामों में खर्च करते हैं जबकि पूँजीवादी समाजों में धन उत्पादक कामों में लगा दिया जाता है। आर्थिक गतिरोध वाले समाजों में और आर्थिक रूप से विकसित समाजों में आय की असमानता के विषय में अधिक अन्तर नहीं पाए जाते, लेकिन आर्थिक विकास की गति में इस बात से बड़ा फर्क पड़ता है कि धनी लोग अपनी आमदनी नौकर-चाकर रखने में और स्मारक बनाने में खर्च करते हैं या सिंचाई के साधन, खानों या और दूसरी उत्पादक क्रियाओं में लगाते हैं। किसी देश का धनी या निर्धन होना आय की असमानता या धनी लोगों को प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा इसी पर अधिक निर्भर है कि वहाँ के लोगों की उत्पादक कामों में पूँजी-निवेश-सम्बन्धी आदतें कैसी हैं। इसी प्रकार, धनियों को प्राप्त प्रतिष्ठा का यह भेद अधिक महत्त्वपूर्ण है कि देश में उन लोगों को अधिक सम्मान मिलता है जिन्होंने धन खुद कमाया है या जिनका धन उत्पादक कामों में लगा है, अथवा उन लोगों को अधिक प्रतिष्ठा मिली हुई है जिनके धनी होने का कारण भूस्वामित्व या उत्तराधिकार में मिली जमीन है। अधिकांश समाजों में जमींदारों का वर्ग अभिजात माना जाता है और यह केवल थोड़े-से ही समाजों में देखने को मिलता है कि वहाँ व्यापारिक काम-काज से पैसा कमाकर धनी बने हुए लोग उतने ही आदर के अधिकारी होते हों जितना कि वे लोग जिनकी आमदनी का जरिया जमीन है—इस प्रकार की मान्यता केवल उन्हीं देशों में स्थापित हो सकी है जहाँ काफ़ी आर्थिक विकास हो चुका है। दरअसल किसी समाज के जीवन में वह समय अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता जबकि वहाँ धन की प्रतिष्ठा होने लगती है बल्कि वह मोड़ अधिक बड़ी चीज़ है जबकि वहाँ उत्पादक कामों में लगा धन और उससे प्राप्त आय को ऊँची नजर से देखा जाने लगता है।

उत्पादक कामों में पूँजी-निवेश की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होने के बहुत से कारण हैं जिन पर हम अध्याय ५ (खण्ड २ [ख]) में विस्तार से चर्चा करेंगे। इन कारणों में से राष्ट्रीय आकांक्षा का भी कम महत्त्व नहीं है। वे देश, जो सैनिक दृष्टि से अधिक मज़बूत बनना चाहते हैं, या जो स्वतन्त्र बनना चाहते हैं, या जो उपनिवेश बनाने या दूसरे देशों को जीतने के इच्छुक हैं, अक्सर आर्थिक रूप से मज़बूत बनने की कोशिश करते हैं, चूँकि यह युद्ध के लिए तो आवश्यक है ही। आज भी कई देशों में ऐसी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पाई जाती हैं। उपनिवेशी देश,

या वे देश जो पहले उपनिवेश थे, बड़ी लगन से आर्थिक विकास के कारणों की जाँच में लगे हैं और आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार कर रहे हैं, चूंकि कुछ तो वे अपने देशवासियों के रहन सहन का स्तर ऊँचा करना चाहते हैं, और कुछ उन्हें अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ानी है। सोवियत रूस में विस्तार के बड़े-बड़े कार्यक्रमों को अंजाम देने में वहाँ की जनता ने अपार कष्ट सहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन में भी उत्पादकता के महत्त्व पर जोर दिया जा रहा है, चूंकि यह देश भी प्रथम श्रेणी की शक्ति के रूप में अपनी स्थिति बनाए रखना चाहता है। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आकांक्षाएं बढ़ रही हैं, धन के प्रति प्रवृत्तियों में एक देश और दूसरे देश के बीच पाए जाने वाले अन्तर भी समाप्त होते जा रहे हैं, और आर्थिक प्रगति की सम्भावनाओं पर जो अध्ययन किए जा रहे हैं उनके अप्रत्याशित परिणामों के फलस्वरूप ये अन्तर और भी जल्दी लुप्त हो जाएँगे।

(ख) **आकांक्षाओं की सीमा**—हमने अबतक यहाँ प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि व्यवहार में धर्म आर्थिक प्रयत्न में बाधक नहीं होता, और यह भी कहा है कि चाहे निजी उपभोग के लिए या प्रतिष्ठा और सत्ता प्राप्त करने के लिए, अधिकतर लोग धन की आकांक्षा रखते हैं, यद्यपि यह भी सही है कि भिन्न-भिन्न समाजों में अन्य प्रकार की उपलब्धियों की अपेक्षा धन को दिए जाने वाले सम्मान में अन्तर पाया जाता है। अब हम पदार्थों के लिए मनुष्य की आकांक्षा को सीमित करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात पर विचार करेंगे। इसे आकांक्षाओं की सीमा के नाम से पुकारा जा सकता है।

यहाँ हम कहना यह चाहते हैं कि व्यक्ति की आवश्यकता इसलिए सीमित होती है कि वह थोड़ी-सी चीज़ों के बारे में ही जानता है, और उन्हीं का उपभोग कर सकता है। आकांक्षाओं की यह सीमा भिन्न भिन्न समाजों में अलग-अलग है और यह स्थूल पूंजी के संचय, संचित सांस्कृतिक थाती, आदतों और निषेधों और लोगों के अज्ञान पर निर्भर होती है।

स्थूल पूंजी से हमारा तात्पर्य स्थूल पर्यावरण से है जो किन्हीं विशेष चीज़ों के उपभोग के लिए आवश्यक होता है। इसका सम्बन्ध प्रकृति से भी है और मानव-चातुर्य से भी। उदाहरण के लिए जिन लोगों के आसपास पानी नहीं है उन्हें नावों की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। ध्रुव प्रदेशों में आइसक्रीम कोई नहीं माँगता, न विषुवत-रेखीय देशों में समूर की आवश्यकता होती है। जिन लोगों के मकान छोटे और अंधेरे हैं वे फर्नीचर की आवश्यकता प्रकट नहीं करते। बिजली की चीज़ें—ग्रामोफोन, धुलाई की मशीनें, टोस्टर, बिजली की झाड़—वहाँ इस्तेमाल नहीं की जा सकतीं जहाँ बिजली उपलब्ध नहीं है। जिस देश में सड़कें ही नहीं हैं वहाँ कारें किस प्रकार चलाई जाएंगी? कहने का अर्थ यह है कि अधिकांश निर्धन देशों के पास संचित स्थूल पूंजी इतनी नहीं होती कि

वहाँ के लोग अनेक प्रकार की चीज़ों की माँग कर सकें। हर आदमी का घर छोटा-सा होता है जिसमें न बिजली होती है, न गैस और न जल-व्यवस्था। अन्य प्रकार की पूंजी का भी इसी प्रकार अभाव होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति केवल थोड़ी-सी ही चीज़ें खरीद और इस्तेमाल कर सकता है।

सांस्कृतिक थाती से हमारा आशय किसी समाज द्वारा संचित ज्ञान की पृष्ठभूमि से है। उदाहरण के लिए बिना पढ़े लिखे आदमी को अखबार-किताबों, या ऐसी ही और दूसरी चीज़ों की ज़रूरत नहीं होती जिनका आनन्द पढ़े-लिखे लोग ही ले सकते हैं। अगर किसी देश की संस्कृति संगीत की दृष्टि से समृद्ध नहीं है तो वहाँ बाजों की माँग थोड़ी होगी, और न वहाँ संगीत के कार्यक्रम ही अधिक आयोजित किए जाते होंगे। इसी प्रकार थियेटर, सिनेमा, खेल के लिए स्टेडियम, नृत्य के लिए हाल और दूसरी ऐसी चीज़ें लोगों की संस्कृति के स्वरूप पर निर्भर होती हैं।

तीसरे, आदतें और निषेध भी आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित करते हैं। गरीब लोगों में आमदनी का दो-तिहाई या इससे भी अधिक खाने व कपड़े पर खर्च हो जाता है। लेकिन यही खर्च ऐसे हैं जिन पर सामाजिक परम्पराओं का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है इसीलिए लोगों की खुराक में उन्नति करना मुश्किल होता है, विशेषकर तब जबकि कुछ ऐसे सुधार करने हों जिनके अन्तर्गत नये प्रकार की चीज़ें खाने को कहा जाए या कुछ चीज़ों को नये तरीके से बनाने पर ज़ोर दिया जाए। इसी प्रकार आमतौर से पसन्द न किए जाने वाले पहनावे का प्रचलन भी थोड़ा ही हो पाता है।

अज्ञान के कारण भी आवश्यकताएँ सीमित रह जाती हैं। स्थूल पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और आदतों तथा निषेधों की सीमाओं के बावजूद अनेक पदार्थ ऐसे बच रहते हैं जिनके बारे में अगर लोगों को पता हो तो वे उन्हें खरीदना चाहेंगे और उन्हें खरीदने के लिए प्रयत्न करेंगे। लेकिन जानकारी धीमे-धीमे बढ़ती है।

कुछ कारण हैं जिनसे पिछड़े हुए समाजों में लोग बहुत कम काम करते हैं, और ऊँची मजदूरी का प्रलोभन देने के बावजूद वे नये नये काम हाथ में लेने को तैयार नहीं होते। इन नये कामों के प्रति उन्हें इसलिए आकर्षण नहीं होता चूँकि वे यह नहीं जानते कि अपनी बढ़ी हुई आमदनी का किस प्रकार उपयोग करेंगे। अगर शास्त्रीय भाषा में कहें तो अपनी बढ़ी हुई आमदनी को खर्च करके उन्हें जो वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी उनकी सीमान्त तुष्टि थोड़ी ही होगी। यही कारण है कि पाश्चात्य देशवासियों की तुलना में पिछड़े हुए देशों के लोग अपनी बढ़ती हुई आमदनी को गलत तरीके से खर्च कर देते हैं। ये लोग उस प्रकार पैसा खर्च नहीं करते जिस प्रकार एक पाश्चात्य देशवासी करता है। ये उन नयी-नयी चीज़ों

को खरीदने की कोशिश नहीं करेंगे जो उनके पास पहले नहीं थी, बल्कि पहले जो चीज़ें इनके पास थीं उन्हीं की मात्राएं और बढ़ा लेंगे—शराब अधिक पिएंगे बीवियां अधिक रखेंगे और कपड़ों पर अधिक खर्च कर देंगे।

अगर आवश्यकताएं सीमित हों तो यह स्वाभाविक है कि प्रति घंटा पारिश्रमिक बढ़ने के साथ-साथ लोग काम के घंटे कम कर देंगे। इसके विपरीत अगर आवश्यकताएं बढ़ाई जा सकती हों तो सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रति घंटा पारिश्रमिक बढ़ने पर लोग और अधिक घंटे काम करना आरम्भ कर देंगे। मांग की लोच पर विचार करते समय हम अल्पकालीन लोच और दीर्घकालीन लोच में भेद करना होगा। अल्पकाल के सन्दर्भ में मनुष्य की अपने रहन सहन के स्तर के बारे में एक धारणा बनी होती है और वह उसी स्तर को कायम रखना चाहता है। उसके वर्ग का यह स्तर परम्परा से निर्धारित होता है। यदि कमाई बढ़ जाए तो उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया काम कम करने की होती है और अगर कमाई घट जाए तो उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया अधिक काम करने की होती है। हां दीर्घकाल में उसके रहन-सहन का स्तर घट-बढ़ सकता है। अगर उसे अधिक काम करने में कष्ट अनुभव होता होगा तो वह अपना स्तर नीचा करके काम के घंटे कम कर देगा। अगर उसे परिश्रम कम पड़ता होगा तो वह अपने रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाएगा, और फिर अधिक समय तक काम करने लगेगा। कारण यह है कि रहन सहन का स्तर ही परम्परा से निर्धारित नहीं होता बल्कि काम के घंटे भी परम्परा से नियत होते हैं। काम के घंटों में काफी परिवर्तन कर लेने पर भी तात्कालिक परिणाम के रूप में रहन-सहन का स्तर न तो गिरता है और न ऊंचा उठता है, लेकिन दीर्घकाल में स्तर काफी बदल जाता है और काम के घंटे फिर किसी परम्परा के अनुसार हो जाते हैं।

आदिम समाजों में यदि आमदनी परम्परागत स्तर से अधिक बढ़ जाए तो उसका उपभोग अधिक उन्नत समाजों की भांति नहीं किया जा सकता क्योंकि आदिम समाज में धन के सम्भावित उपयोग भी सीमित होते हैं। वहां ऐसी चीज़ों की मांग हो सकती है जिनसे आदमी की मेहनत बचे, जैसे साइकिलों से पैदल चलने की मेहनत बचती है, बन्दूक के ज़रिये भोजन या रक्षा के लिए जंगली जानवरों को मारने में आसानी होती है, तालाबों में पानी इकट्ठा कर देना भी सुविधाजनक होता है। बढ़ी हुई आमदनी के बल पर अपने साथियों की अपेक्षा अधिक सत्ता हथियाई जा सकती है—ऊंचे पदों के लिए चुनाव जीत कर, रिश्वत देकर, दास खरीदकर या ब्याज पर रुपया उठाकर। इसके अलावा प्रदर्शन के लिए भी चीज़ें खरीदी जा सकती हैं, बड़ी-बड़ी दावतें दी जा सकती हैं, अधिक बीवियां रखी जा सकती हैं, अधिक कपड़े या ज़ेवर खरीदे जा सकते

हैं बड़-बड़े मकबरे बनवाए जा सकते हैं या विनाश के कारनामों से आमोद-प्रमोद करके अपने साथियों को प्रभावित किया जा सकता है। विनाश के इन कारनामों में अपनी ही चीजें बरबाद कर देना भी शामिल है (जैसे पोलिनेशिया में मछली पकड़ने की नावें नष्ट कर दी जाती थीं)। कुछ समय के लिए बेकार की नयी-नयी चीजों की माग भी हो सकती है जिनका उद्देश्य कौतूहल शान्त करना भी हो सकता है और प्रदर्शन भी। ये प्रवृत्तियाँ हर समाज में पाई जाती हैं, भले ही वे विकास की किसी भी अवस्था में हों। आदिम और उन्नत समाजों में एक अन्तर तो यह है कि उन्नत समाजों में बढ़ी हुई आमदनी से खरीदी गई नयी-नयी वस्तुओं का उपभोग सही रूप में किया जा सकता है, न कि प्रदर्शन की भावना से या सत्ता हथियाने या काम कम करने की दृष्टि से। आदिम और उन्नत समाजों में दूसरा भेद यह होता है कि जो समाज जितना ही अधिक उन्नत होगा वहाँ उतने ही अधिक प्रकार की वस्तुएँ उपभोग के लिए उपलब्ध होंगी।

जैसे-जैसे स्थूल उपस्कर बढ़ते जाते हैं, संस्कृति जटिल होती जाती है, परम्पराओं का नियन्त्रण घटता जाता है, और वस्तुओं के बारे में जानकारी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आवश्यकताओं में भी विस्तार होता जाता है। इनमें से अन्तिम बात आवश्यकताओं के विस्तार की कुंजी के समान है चूंकि नयी वस्तुओं की जानकारी होने पर ही परम्पराएँ ध्वस्त होती हैं और स्थूल पर्यावरण बदलते हैं। अतः यह समझने के लिए कि आवश्यकताएँ अधिक लचीली किस प्रकार हो जाती हैं, हम यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि नयी चीजों के बारे में जानकारी किस प्रकार बढ़ती है।

जानकारी अनुकरण से बढ़ती है। कभी-कभी नयी चीजें केवल आग्रह करने से ही बिक जाती हैं। घर को नये सिरे से सजाने वाला या दूसरे देश से नयी-नयी वस्तुएँ लाने वाला विदेशी यह कहकर चीजें बेचने का प्रयत्न कर सकता है कि उन्हें एक बार आज़मा कर देखा जाए, लेकिन ये चीजें लोकप्रिय तब तक नहीं हो सकतीं जब तक कि लोग दूसरों को इनका उपयोग करते हुए न देख लें। ये दूसरे लोग अक्सर वे होते हैं जिनकी हैसियत समाज में अपेक्षाकृत ऊँची होती है जिसके कारण लोग उनका अनुकरण करना पसन्द करते हैं। इसके अपवाद भी हैं, *टेलीविज़न का प्रचार हर जगह ऊँची हैसियत वालों की अपेक्षा* सामान्य लोगों में अधिक हुआ है। लेकिन आम नियम यही है कि नयी चीजों का प्रयोग पहले उच्च वर्ग करता है—चूंकि एक तो वह पहले पहल उनका खर्च बरदाश्त कर सकते हैं और दूसरे, सामाजिक परम्पराएँ भी उनके लिए बाधक नहीं होतीं—और बाद में यही चीजें निम्नवर्ग के लोग इस्तेमाल करने लगते हैं।

इस प्रकार, विस्तार की गति, अन्य बातों के साथ-साथ उच्च और निम्नवर्ग के सम्बन्धों पर भी निर्भर है। यहाँ हमें देखना होगा कि दोनों वर्ग के लोग मिल जुलकर रहते हैं, ताकि गरीब लोग यह जान सकें कि अमीर किन वस्तुओं का उपभोग कर रहे हैं, अथवा अमीर लोग शहर या देश के किसी अलग हिस्से में रहते हैं, और अपने आराम का समय निजी क्लबों और दूसरे स्थानों में गुजारते हैं और दूसरे वर्ग के लोगों से मिलना पसन्द नहीं करते। यह इस पर भी निर्भर है कि अमीर लोग गरीबों को अपनी नकल करने के लिए बढ़ावा देते हैं अथवा नहीं, या कि ऐसे नियम अथवा प्रथाएँ तो नहीं बनी हुई जिनके कारण गरीबों को उन चीजों का उपभोग करने में बाधा पड़ती हो जो अमीर लोग इस्तेमाल करते हैं। यह सामाजिक गतिशीलता की मात्रा पर भी निर्भर है क्योंकि अगर लोगों को समाज के निम्नवर्ग से उच्च वर्ग में जाना सरल होगा तो ऊँचे वर्गों में जाने वाले लोग अमीरों के प्रयोग में आने वाली चीजों का उपभोग करके यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि समाज में उनका सम्मान बढ़ रहा है। समाज के अन्दर प्रजातन्त्र की भावना जितनी ही अधिक होगी यानी सामाजिक स्तर पर लोग जितने ही अधिक घुल-मिलकर रहते होंगे, उपभोग के रूप में आवश्यकताएँ भी उतनी ही अधिक लचीली बन जाएँगी।

अन्य कठिनाइयों की अपेक्षा जानकारी में वृद्धि ही इस बात के लिए अधिक जिम्मेदार है कि भिन्न-भिन्न समाजों में नयी चीजों का प्रचार किस गति से बढ़ता है। आदिम समाजों में नयी चीजों के बारे में अज्ञान की अपेक्षा शायद उपकरण की कमी और निरक्षरता-जैसे सांस्कृतिक दारिद्र्य के कारण ही आवश्यकताएँ सीमित रहती हैं। यह बात उन दिनों नहीं थी जबकि आदिम समाजों के देश विदेशियों के सम्पर्क में नहीं आ पाए थे। अब तो विदेशी लोग उन्हीं के बीच ऐसे ऊँचे और ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले भौतिक स्तर का जीवन बिताते हैं कि उनकी देखादेखी वहाँ के आदिवासी भी अधिक आमदनी खर्च करने के तरीके निकाल सकते हैं, बशर्ते कि उनके मकान छोटे न हों और उनके घरों में बिजली, गैस और पानी की व्यवस्था हो। उनकी बढ़ी हुई आमदनी का अधिकांश अच्छे मकान बनवाने और फर्नीचर खरीदने पर खर्च हो जाता है। दूसरी ओर, इंग्लैंड-जैसे देश में निम्नवर्ग की आकांक्षाओं की सीमा अपने से बेहतर लोगों का अनुकरण न करने की भावना से नियन्त्रित होती है, वे अमीरों द्वारा इस्तेमाल में आने वाली चीजों से टेलीफोन, कार, शोफर या कीमती कपड़ों को प्राप्त करने की परवाह ही नहीं करते। इस उदासीनता का कारण यह है कि उन देशों में जहाँ की सामाजिक (राजनीतिक नहीं) परम्पराएँ अप्रजातान्त्रिक होती हैं, वहाँ का निम्नवर्ग अपने जीवन के भौतिक स्तर से सन्तुष्ट रहता है। इसके विपरीत अमरीका के निम्नवर्ग की भावना

उलटी पाई जाती है।

यह तो मनुष्यों की धन के प्रति प्रवृत्ति की बात रही। अब हम धन प्राप्त करने के लिए अपेक्षित प्रयत्न के प्रति मानव-प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। बात यह है कि प्रयत्न को लेकर लोगों की प्रवृत्तियाँ भिन्न होंगी तो धन के प्रति एक-सी प्रवृत्ति होने पर भी लोग उसकी प्राप्ति के लिए एक-जैसा प्रयत्न नहीं करेंगे।

२. प्रयत्न का मूल्य

इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य धन के अलावा और वस्तुओं को भी महत्त्व देते हैं। वे आराम को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, आपस के मधुर सम्बन्धों को भी कायम रखना पसन्द करते हैं जो कि धन के प्रति बुरी तरह पीछे पड़ जाने से बिगड़ सकते हैं। उनके लिए अपने मित्रों और सम्बन्धियों का साथ भी मूल्यवान होता है जिसे अच्छे आर्थिक अवसरों की खोज में बाहर चले जाने के कारण छोड़ना पड़ सकता है, और उनके मन में इस प्रकार की कल्पनाएँ भी होती हैं जिनके कारण वे सभी सम्भव अवसरों का पूरा-पूरा फायदा नहीं उठा पाते।

(क) **काम के प्रति प्रवृत्ति**—पहले हम काम के प्रति प्रवृत्ति पर विचार करेंगे। पदार्थों की एक-सी आकांक्षा होने पर भी सरल काम की अपेक्षा कठिन काम को करने की प्रवृत्ति लोगों में कम होती है। यह वस्तुपरक भी है और विषयपरक भी।

वस्तुपरक दृष्टिकोण से कोई काम तब अधिक दुष्कर माना जाएगा जबकि उससे एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा अधिक थकान अनुभव हो। इस थकान का कारण यह भी हो सकता है कि उस व्यक्ति का शारीरिक गठन, या स्वास्थ्य,या पर्यावरण दूसरे व्यक्ति से भिन्न है। विषयपरक दृष्टि से काम तब अधिक दुष्कर कहा जाएगा जबकि उसे करने वाले के जीवन का दृष्टिकोण ही काम करने के विरुद्ध हो।

शारीरिक गठन भिन्न भिन्न जातियों में, और एक ही जाति के भिन्न-भिन्न लोगों की अलग अलग होती है। उदाहरण के लिए, नीग्रो दासों को स्वाधीनता देने के बाद जब भारत के लोग वेस्ट इण्डीज ले जाये गए तो बागान के मालिकों ने भारतीयों को काम की नियमितता के मामले में तो पसन्द किया, लेकिन जहाँ तक शारीरिक शक्ति का सवाल था वहाँ नीग्रो ही बेहतर माने गए। यह ठीक ठीक कहना मुश्किल है कि शारीरिक गठन का अन्तर खुराक या पर्यावरण पर कहाँ तक निर्भर है, और जीवात्मक आनुवंशिकता से इसका सम्बन्ध कितना है। कुछ भी हो, उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि काम करने की इच्छा और शारीरिक

शक्ति में अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

अधिकांश अविकसित देशों के निवासियों के जल्दी थक जाने का मुख्य कारण शायद पौष्टिक आहार की कमी और दुर्बल बना देने वाली लम्बी बीमारियाँ हैं। कार्य-कारण के इस चक्र से छुटकारा पाना मुश्किल होता है, चूँकि पोषाहार की कमी और बीमारी से उत्पादकता घटती है और उत्पादकता घटने से ही पोषाहार में कमी और बीमारियों का भय पैदा होता है। ऐसी परिस्थितियों में काम करने वाली अधिकांश पूंजीवादी फर्मों का अनुभव है कि अपने कर्मचारियों के भोजन और स्वास्थ्य का ध्यान रखने से फर्मों को लाभ होता है। केन्द्रीय अफ्रीका में खान खोदने का काम करने वाली कुछ फर्में नए लोगों को खान में भेजने से पहले कुछ दिन तक अच्छी खुराक खिलाती हैं। खान खोदने वाली फर्मों के अलावा और भी बहुत सी फर्में ऐसी हैं जो सन्तुलित राशन मुफ्त देती हैं या दोपहर का खाना बाँटती हैं या अपने कर्मचारियों को उम्दा खुराक देने की दृष्टि से भोजन पर होने वाले उनके खर्च में, और नहीं तो अपनी ओर से कुछ रकम ही दान करती हैं। इसी प्रकार, मुफ्त इलाज और मजदूरों के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरण जुटाने से भी उत्पादकता बढ़ती है। अमरीका और इंगलैंड जैसे उन्नत औद्योगिक देशों में भी बहुत सी फर्में दोपहर का खाना सस्ती दरों पर देना लाभप्रद समझती हैं। जिन फर्मों में महिला कर्मचारियों की संख्या अधिक होती है वहाँ इस बात का खास ध्यान रखा जाता है, चूँकि महिलाओं के बारे में लोगों का कहना है कि उनमें अपने बच्चों के ऊपर खर्च करने के लिए या अपने कपड़ों या दूसरी चीजों का इन्तज़ाम करने के लिए अपने खाने के खर्च में कटौती करने की प्रवृत्ति होती है।

जिस पर्यावरण में आदमी काम करता है उसका असर भी काम से पैदा होने वाली थकान पर पड़ता है। उदाहरण के लिए अधिक ठण्डे और अधिक गरम स्थान में रहना कष्टकर है, सामान्य आर्द्रता-सहित ६०° फारेनहाइट और ७५° फारेनहाइट तापक्रमों के बीच शरीर सबसे अच्छी तरह काम करता है। इसी कारण काम की दृष्टि से उष्ण कटिबन्धों की तुलना में शीतोष्ण कटिबन्ध अच्छे रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक-पद्धति के विद्यार्थी भी इस बात पर जोर देते हैं कि उचित रोशनी, हवा और ताजगी, बीच बीच में आराम करने के लिए समय, बैठने की उचित व्यवस्था, अनावश्यक हरकतों से बचाव, और सुखद परिस्थितियों का उत्पादकता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि काम करते समय के साथी अनुकूल न हों तब भी काम में थकान अधिक मालूम होती है और काम करने में आनन्द भी नहीं आता, इस विषय पर भी अब उद्योग-मनोविज्ञानी विचार करने लगे हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ

धर्म को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है, चूँकि धर्म से भी आत्मा अनुशासित होती है और इसके अलावा हर व्यक्ति का यह नैतिक कर्तव्य भी है कि ईश्वर से मिली प्रतिभा और साधनों का अपने साथियों की भलाई में अधिकाधिक उपयोग करे। फिर भी, आर्थिक मामलों में धर्म का महत्त्व कितना है यह कहना अक्सर कठिन होता है। इस कठिनाई का पहला कारण, जिस पर हम पहले भी प्रकाश डाल चुके हैं यह है कि विभिन्न धर्मों में पुरोहितों और सामान्य गृहस्थों के आचार-विचार भिन्न-भिन्न निर्धारित किए गए हैं। यदि किसी धर्म में पुरोहितों के लिए पूजा-पाठ का विधान हो और आम लोगों के लिए कर्म में प्रवृत्त रहने की आज्ञा हो, और प्रायः यही विधान होता है, तो उस समुदाय के आर्थिक प्रयत्नों पर दुष्प्रभाव केवल तभी पड़ेगा यदि अधिकतर लोग पुरोहितों का जीवन अपनाने लग जाएँ। ऐसे ही धर्म गृहस्थी लोगों को ध्यान-पूजा करने पर जोर देता हो और आर्थिक काम-धन्धों को हेय बताता हो, तब भी यह अनुमान लगाना मुश्किल ही है कि उन धर्मोपदेशों का प्रभाव कितना है, चूँकि धर्मसम्मत न होने पर भी बहुत से लोग धन-संचय में अवसरों का लाभ उठाने से नहीं चूकते। इसमें भी आगे एक सूक्ष्म प्रश्न यह है कि कोई समुदाय किसी निवृत्ति-प्रधान धर्म को ग्रहण क्यों कर लेता है। समुदाय के जीवनयापन के तरीके जैसे होते हैं उन्हीं के अनुरूप धर्मोपदेश भी ढाल लिये जाते हैं, इसलिए यह कहना कि धर्म की ओर से प्रोत्साहन न होने के कारण ही लोग मेहनत नहीं करते, ठीक नहीं माना जा सकता, यह भी हो सकता है कि समाज का पर्यावरण और सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी हों कि जिनसे कठिन परिश्रम का महत्त्व गिर गया हो, और इसी कारण धर्म की ओर से काम करने पर जोर न दिया जाता हो।

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि वे परिस्थितियाँ क्या हैं जिन पर काम की प्रवृत्ति का कम-अधिक होना निर्भर है। कुछ लोग जीवात्मक भेदों की बात करते हैं, काम के रुचिकर न होने या उत्साह न होने की बात भी कही जाती है और समुदाय के सामाजिक ढाँचे को भी इसके लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। इन कारणों का विश्लेषण करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिन परिस्थितियों के कारण काम के प्रति कोई प्रवृत्ति पैदा होती है उनमें और उत्पन्न प्रवृत्ति के बीच काल का व्यवधान होता है। कहने का अर्थ यह है कि अगर हम यह जानना चाहें कि किसी समुदाय में प्रचलित रिवाजों के कारण क्या हैं तो हमें उस समुदाय की वर्तमान जीवात्मक रचना, या सामाजिक ढाँचे, या किसी ऐसी ही बात पर ध्यान न देकर शताब्दियों या हजारों वर्ष की उन परिस्थितियों का विश्लेषण करना

चाहिए जबकि उस समाज की परम्पराओं का निर्माण किया जा रहा था।

पहले हम जीवात्मक कारण पर विचार कर लें। कुछ लोगों में दूसरों की अपेक्षा ऊर्जा या काम करने का स्वभाव अधिक होता है। ये गुण जीवात्मक आनुवंशिकता की देन हैं जिनका पर्यावरण में सम्बन्ध नहीं है। लाखों लोग ऐसे हैं जो निश्चित रूप से यह मानते हैं कि कुछ जातियों या देशों में दूसरों की अपेक्षा जीवात्मक दृष्टि से उद्योगी व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। ऐसे भी लोग लाखों हैं जिनके अनुसार जीवात्मक दृष्टि से उद्योगी व्यक्तियों या काहिल लोगों का वितरण जातियों के अनुसार नहीं पाया जाता और इस प्रकार के जो अन्तर देखने में आते हैं वे लोगों के स्थूल पर्यावरण और सांस्कृतिक परम्परा पर ही आधारित हैं।

संसार के वैज्ञानिकों में से अधिकांश का कहना है कि जातिगत जीवात्मकता और मानव-प्रवृत्तियों का कोई प्रामाणिक सम्बन्ध नहीं है। पर प्रमाण उपलब्ध न होते हुए भी यदि हम सीमित स्थानों की जाँच करें तो कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित कर सकते हैं जिनमें सचाई मालूम पड़ती है। जैसे अगर किसी देश में बार-बार आपत्तियाँ या ऐसे कष्ट उपस्थित होते हों जिनके कारण केवल जीवात्मक रूप से सशक्त लोग ही जिन्दा बच पाते हों और बाकी सब नष्ट हो जाते हों, तो यह कहा जा सकता है कि ऊर्जा की दृष्टि से इस समुदाय की जीवात्मक आनुवंशिकता निरन्तर सुधरती चली जाएगी। लेकिन इसमें भी कठिनाई यह है कि हम उन परिस्थितियों की परिभाषा निश्चित नहीं कर सकते जिनमें कि जीवित बचे हुए और मृत लोगों की संख्या का अन्तर जीवात्मक आनुवंशिकता से प्राप्त ऊर्जा पर निर्भर होता है, अधिकांश संकटों में लोगों के जिन्दा बच रहने का समान श्रेय उनकी शिक्षा, चतुराई और भाग्य को भी होता है। एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार उस देश के लोग अधिक ऊर्जावान होते हैं जहाँ आप्रवासी बसते हैं जबकि उस देश के लोगों में कम ऊर्जा होती है जो बहुत दिनों से बसा हुआ है (वैसे तो सभी देशों में लोग बाहर से आकर ही बसे हैं)। चूँकि आप्रवासी जिन लोगों को अपने पीछे छोड़ आते हैं उनकी अपेक्षा अधिक उद्यमी होते हैं और चूँकि एक देश से दूसरे देश तक पहुँचने में और वहाँ जाकर बसने में जो कष्ट होते हैं उनके दौरान इनके कमजोर लोग अधिकतर समाप्त हो जाते हैं। लेकिन यह निश्चय करना मुश्किल है कि जो लोग एक देश से दूसरे देश में जाकर सफलता से बस जाते हैं उनकी सामर्थ्य का मुख्य स्रोत जीवात्मक सम्पन्नता ही है। यह तो ठीक है कि इन लोगों में पीछे छोड़कर आये हुए अपने साथियों की या जिन लोगों के बीच जाकर ये बसते हैं उनकी अपेक्षा शक्ति अधिक होती है, लेकिन इसका कारण यह भी माना जा सकता है कि इन लोगों

पर अपेक्षाकृत अधिक कष्ट पड़ते हैं और उनका सामना करने के लिए इन्हें अपेक्षाकृत अधिक शौर्य से काम लेना पड़ता है।

समूह की प्रवृत्तियों के भेदों में जीवात्मक कारणों का योग न तो स्वीकार किया जा सकता है और न हम उसे अस्वीकार कर सकते हैं। यह तो हम निश्चित रूप से कहेंगे कि एक जाति दूसरी जाति से श्रेष्ठ नहीं होती, चूँकि किसी एक जाति के सारे लोग दूसरी जाति के सब लोगों से अच्छा काम करके नहीं दिखा सकते। जहाँ तक विभिन्न समूहों के बीच अच्छे साधारण और घटिया लोगों के वितरण का प्रश्न है, हम इस समय कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। इसीलिए समूहों के अन्तरों को समझते समय हम केवल स्थूल और सांस्कृतिक पर्यावरण के भेदों का ही आश्रय लेंगे।

अब हम काम की अरोचकता पर विचार करेंगे। हम पहले ही लिख चुके हैं कि काम स्वयं भी दुष्कर हो सकता है, या काम करने वाले की शारीरिक स्थिति के कारण भी दुष्कर मालूम दे सकता है या यह भी हो सकता है कि जिस स्थूल या सामाजिक पर्यावरण में वह काम किया जाता हो वे अनुकूल न हों। हम पहले ही लिख चुके हैं कि ऐसी परिस्थितियों में लोग काम कम करते हैं। लेकिन हम सुखद या कष्टकर परिस्थितियों में किये गए काम की मात्रा के स्थान पर यह जानना चाहें कि इन अलग-अलग परिस्थितियों में काम के प्रति प्रवृत्ति किस-किस प्रकार की पैदा होती है तो हमें उत्तर बिलकुल उलटा मिलेगा। अगर काम अरुचिकर होगा तो लोगों के अन्दर यह भावना पैदा होगी कि जिन्दा रहने-भर के लिए काम राती-बेराती करना ही है, चूँकि जो लोग ऐसा नहीं कर पाएँगे वे जीवित नहीं रह सकेंगे। ऐसी परिस्थितियों में माता-पिता अपनी सन्तान को यह सिखाने लगते हैं कि कर्म पुण्य रूप है और कर्म, कर्म के लिए करना चाहिए भले ही वह अरुचिकर हो। यह परम्परा परिस्थितियाँ बदल जाने के बाद भी कायम रह सकती है और काम की अरोचकता समाप्त हो जाने के बावजूद लोग पहले-जैसी दृढ़ भावना के साथ ही काम करते रह सकते हैं।

लगभग यही कुछ उन कामों के बारे में कहा जा सकता है जो अपेक्षाकृत अनुत्पादक हैं, जैसे, उन देशों में, जहाँ जीवनयापन सरल है, काम करना पुण्य कार्य नहीं समझा जाता, चूँकि मनुष्यों की यह आदत है कि वे जो चीज अनिवार्य है उसे ही पुण्य रूप मानते हैं। दूसरी ओर, जिन देशों में जीवनयापन अत्यन्त कठिन है वहाँ भी लोगों के अन्दर प्रयत्न करने का उत्साह नहीं होता। इन दोनों परिस्थितियों के बीच वाले देशों में जहाँ जीवन कठिन तो है पर बहुत कठिन नहीं है, वहाँ कर्म की पूजा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ उचित प्रयत्न करके अच्छे नतीजे में रहा जा सकता

है, परन्तु बिना इतना प्रयत्न किये जीवित रहना ही मुश्किल है, वहां कर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। जीवन-यापन में कठिनाई अधिक आबादी, जमीन की मामूली उर्वरता, बार-बार पड़ने वाले सूखे, या तूफानों, या और दूसरे दुर्भाग्यों के कारण पैदा हो सकती है। ऐसे देशों में बच्चों को कर्म के प्रति पूजा-भाव रखना सिखाया जाता है और उन लोगों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जो मेहनत न कर सकने के कारण निर्धन बने रहे। ये बच्चे अपनी सन्तानों में भी यही संस्कार छोड़कर जाते हैं।

पर्यावरण पर आधारित जितने भी समाधान हैं उनमें इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि प्रवृत्तियां स्थायी क्यों नहीं होतीं, एक ही देश में भिन्न-भिन्न कालों में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियां देखने में आती हैं। प्रवृत्तियों में अन्तर के ऐतिहासिक कारण भी हैं और पर्यावरण-सम्बन्धी कारण भी। अर्थात् अगर हम पर्यावरण-सम्बन्धी कारणों पर विचार कर रहे हों तो हमें यह भी देखना चाहिए कि प्रवृत्तियों के जिन भेदों पर हम प्रकाश डालना चाहते हैं उनके लिए उत्तरदायी पर्यावरण कब और क्यों बदले। जिन समाधानों के अनुसार प्रवृत्तियों में अन्तर जलवायु भिन्न होने के कारण पाया जाता है उनकी सचाई तो और भी संदिग्ध है, चूंकि एक ही देश में इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में प्रवृत्तियां एक-दूसरे से काफी भिन्न पाई जाती हैं; इसीलिए इस प्रकार के समाधान देने वाले लोग रोम साम्राज्य की अवनति का कारण बताते समय वहां जलवायु में हुए परिवर्तन की भी चर्चा करते हैं। डटकर काम करने की परम्पराओं का पर्यावरणमूलक समाधान देने वाले अधिकतर यह कहते हैं कि इस प्रकार की परम्पराएं समुदाय को ऐतिहासिक आघात लगने पर जन्म लेती हैं। ये आघात लोगों को अधिक-से-अधिक सहन-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए बाध्य करते हैं, जैसे युद्ध में पराजय, दुर्भिक्ष, या बड़े पैमाने पर प्रवास के कष्टों को सहने के लिए लोगों के अन्दर एकदम विकट साहस का संचार होता है। वैसे, ऐतिहासिक संकट के कारण ही लोगों के अन्दर दृढ़ इच्छा-शक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है, चूंकि यदि हम इस बात को सही मान लें तो यह केवल संयोग की बात रह जाएगी कि कष्ट पड़ने पर कुछ समुदाय निराश और निरुत्साहित हो जाते हैं, और कुछ समुदायों में साहस और प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है।

एक अन्य प्रकार का समाधान देने वाले लोग कार्य के प्रति समुदाय की प्रवृत्ति का सम्बन्ध उनके उच्च-वर्ग के व्यवहार से जोड़ते हैं। इस समाधान के अनुसार उन समुदायों के लोग काम को अधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं जहां कि अमीर लोग काहिल का जीवन व्यतीत करने के स्थान पर परम्परा से ही काम करने के आदी होते हैं। चूंकि मनुष्य अपने से बेहतर

सामाजिक स्थिति के लोगों का अनुकरण करते हैं, इसलिए यदि उच्च वर्ग के लोग काम करना बुरा समझते हों तो उनसे नीचे की स्थिति वाले भी कम-से-कम काम करना चाहेंगे। उदाहरण के लिए, अमरीका के दास समुदायों में बागान के मालिक अपना अधिकतर समय शिकार या मौज-मस्ती में खर्च करते थे, और वहाँ दूरस्थ स्वामित्व का बोलबाला था। परिणाम यह है कि आज भी वहाँ मध्य और श्रमिक-वर्ग के लोग काम की अपेक्षा पैसा बर्बाद करने में ही अधिक आनन्द लेते हैं शायद इनके बारे में यह कहना गलत न होगा कि उन्होंने वंश-परम्परा से यह विचार गाँठ बाँध लिया है कि काम केवल दासों के लिए ही है। यह अन्तर समतावादी और असमतावादी समाजों का नहीं है बल्कि उन समाजों का है जहाँ अमीर लोग काम करते हैं और जहाँ वे काहिली की जिन्दगी बिताते हैं। उदाहरण के लिए अमरीका में, चाहे आदत से मजबूर होकर ही सही, अमीर लोग भी अक्सर काम करते हैं जबकि इंग्लैंड में बहुत दिन से यह परम्परा रही है, जो कि अब लगभग समाप्त है कि अमीर लोगों के लिए अनुकरणीय जीवन शिकार खेलने, गोली चलाने का अभ्यास करने और मछलियाँ पकड़ने का ही है। यह बात नहीं है कि अमरीकी श्रमिक ब्रिटिश श्रमिक की अपेक्षा अधिक घण्टे काम करता है—असल में काम तो वह कम ही घण्टे करता है—लेकिन इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि अमरीकी श्रमिक जब काम करता है तो डटकर करता है। कुछ लोग इस अन्तर को काम के प्रति प्रवृत्तियों के अन्तर का परिणाम मानते हैं और उनके अनुसार ये इस पर निर्भर हैं कि सम्पन्न लोगों से अपना समय किस प्रकार व्यतीत करने की आशा की जाती है। इस तुलना में हमने जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं वे सब विवादग्रस्त हैं, लेकिन इनसे तर्क को समझने में सहायता मिलती है।

कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा काम करने से अधिक कतराया क्यों करते हैं इसके चाहे जो कारण हों, लेकिन यह असत्य नहीं है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और समूहों में काम के प्रति प्रवृत्ति में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर काम के घण्टों के रूप में ही प्रकट नहीं होता बल्कि काम की बढ़ती हुई उत्पादकता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में भी दिखाई देता है। व्यवहार में, प्रति घण्टा काम का उत्पादन बढ़ा देने का दीर्घकालीन प्रभाव सदा यही होता है कि काम के घण्टे कम हो जाते हैं। (सिद्धान्त की दृष्टि से काम के घण्टे घट भी सकते हैं और बढ़ भी सकते हैं।) यह हम औद्योगिक देशों की तुलना करके भी देख सकते हैं। काम के घण्टे सबसे कम उस देश में पाए जाते हैं जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादकता सबसे अधिक होती है। एक ही देश के आँकड़ों की परस्पर तुलना करके भी यह देखा जा सकता है कि पारिश्रमिक बढ़ने के साथ-साथ काम के घण्टे कम होते चले जाते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया

है। चूंकि आराम भी ऐसी चीज है जिससे जीवन में सुख मिलता है, इसलिए मनुष्य बढ़ी हुई उपादकता का कुछ अंश अन्य चीज़ों पर व्यय करते हैं और कुछ आराम पर। इसके अलावा आनन्दोपभोग की दृष्टि से आराम और आर्थिक पदार्थ एक-दूसरे के पूरक हैं चूंकि जैसे जैसे व्यक्ति के पास धन बढ़ता जाता है वह अधिक आराम करने की ओर आकर्षित होता जाता है। दीर्घ-काल में आप देखेंगे कि अनुकूल परिस्थितियों की अपेक्षा मजदूरी कम मिलने की हालत में लोग अधिक मेहनत से काम करते हैं बशर्ते कि उनकी वास्तविक कमाई इतनी काफी हो कि उससे अच्छा स्वास्थ्य और उत्पादन-शक्ति कायम रखी जा सके। इस मामले में भिन्न भिन्न समूहों में जो अन्तर पाए जाते हैं वे एक ओर तो धन के प्रति उनकी आकांक्षा की तीव्रता पर निर्भर हैं और दूसरी ओर आराम के प्रति आकांक्षा की तीव्रता पर।

जब पश्चिमी देशों के उद्यमकर्ता पहले-पहल आदिम दशा में पहुँचे तो उन्हें श्रमिक मिलने में बड़ी कठिनाई अनुभव हुई। वहाँ के निवासी अपने परम्परागत स्तरों से सन्तुष्ट थे, और उन्हें अधिक आमदनी का लालच देकर काम पर लगाना सम्भव न था। इसलिए ज़ोर-ज़बरदस्ती करना आवश्यक समझा गया। दास खरीद लिए गए, या दूर के देशों से करारबद्ध मजदूर लाए गए। आदिवासियों पर ऊँचे ऊँचे कर लगाए गए ताकि वे अपनी अकर्मण्यता त्यागने पर मजबूर हो जाएँ। इन करों की अदायगी केवल नकद द्रव्य देकर की जा सकती थी और यह धन किसी विदेशी के मातहत काम करके ही पैदा करना होता था। इन आदिवासियों को व्यापारिक फ़सलें उगाने से रोका गया, उनकी जमीनें भी छीन ली गईं और उनके सरदारों को मजबूर किया गया कि वे अपने कबीले के युवकों को खानों या बागान में काम करने के लिए भेजें। ये ज़बरदस्तियाँ (दासता को छोड़कर) यूरोपीय शक्तियों द्वारा शासित किसी-न किसी अफ्रीकी उपनिवेश में आज भी लागू हैं हालाँकि अब उनकी पहले जितनी आवश्यकता नहीं समझी जाती। अब आदिवासी स्वयं विदेशियों के रहन-सहन का अनुकरण करते हैं। अफ्रीका के निवासियों की आवश्यकताएँ नित-नई बढ़ रही हैं, और अब वे जबरदस्ती किये बिना ही काम करने को तत्पर रहते हैं।

हर देश का शासक-वर्ग अक्सर यह चाहता है कि लोग लगातार जम-कर काम करें, उदाहरण के लिए, प्रति सप्ताह औसतन चालीस घण्टे या इससे भी अधिक काम करें। पूंजीपति और मालिक चाहते हैं कि जनसंख्या कठिन परिश्रम करे, चूँकि मजदूरों की बहुतायत होगी तो उनकी औद्योगिक आकां-क्षाएँ सरलता से पूरी हो जाएँगी, और उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ उन्हें लाभ भी अधिक होगा। सरकारें भी, चाहे वे प्रजातान्त्रिक हों या सत्तावादी,

अनुदार हों या शान्तिवादी सभी यह चाहती हैं कि लोग मेहनत करें चूंकि उत्पादन बढ़ने के साथ साथ कर भी अधिक प्राप्त होते हैं। सरकारों को सदा ही अधिक राजस्व की आवश्यकता होती है भले ही उनके उद्देश्य 'प्रजातान्त्रिक' हों, जैसे शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, सचार और दूसरी सार्वजनिक सेवाओं म सुधार या अधिक सैनिक-शक्ति सचित करने के 'साम्राज्यवादी' या प्रतिसाम्राज्यवादी' मनसूबे हों या राजनीतिज्ञों की जेबें भरने के भ्रष्टाचारपूर्ण इरादे ही हों। ('शान्तिवादी' सरकारों के साथ होता यह है कि लोग उन्हें इसलिए निर्वाचित करते हैं कि उनको श्रमिकों की कम घण्टे काम करने की इच्छा के प्रति सहानुभूति होती है, लेकिन सत्ता की जड़ें मजबूत होते ही ये सरकारें लोगों से काम के घण्टे बढ़ाने और जमकर मेहनत करने की अपील करने लगती हैं।) मानवतावादी, जिन्हें इन मामलों में कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी नहीं होती, अक्सर इस भावना का समर्थन करते हैं कि लोगों को अधिक श्रम करना ही उचित है, चूंकि वे निर्धनता और उसके परिणामों से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि लोगों के रहन-सहन का एक उचित स्तर कायम किया जाए।

वैसे, अधिक घण्टे काम करने की इच्छा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्त नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि कम काम करने की अपेक्षा अधिक काम करने की दशा में ही लोगों के रहन सहन का स्तर अधिक ऊंचा रहेगा—शर्त यह है कि वे इतना अधिक काम न करने लगें कि उनकी उत्पादन-शक्ति ही कम हो जाए—लेकिन यह निश्चित नहीं है कि रहन-सहन का स्तर तेजी के साथ ऊंचा होगा। हमारे विचार का विषय उत्पादन की निरपेक्ष मात्रा ही नहीं है बल्कि उसकी वृद्धि की दर है। काम के घण्टों में छोटे-मोटे परिवर्तनों की बात छोड़ दें तो उत्पादन अक्सर इसलिए नहीं बढ़ता कि लोग अधिक मेहनत से काम करने लगते हैं, बल्कि इस कारण बढ़ता है कि लोगों की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है, वे ज्ञान और पूंजी की मात्राएं बढ़ा देते हैं और विशेषज्ञता, व्यापार और पूंजी-निवेश के अनुकूल अवसरों का उपयोग अधिक करने लगते हैं।

लोगों के काम का स्तर चाहे जो हो लेकिन उत्पादकता बढ़ाने के अवसर सदा विद्यमान रहते हैं। यह सही है कि इन अवसरों में से कुछ नियमित प्रयत्न की इच्छा पर निर्भर हैं, उदाहरण के लिए फैक्टरी का काम ठीक ढंग से चले, इसके लिए मजदूरों की नियमित उपस्थिति और नियमित घण्टे काम करना आवश्यक है। अन्य प्रकार के अवसर श्रमिकों के अनाग्रह पर भी निर्भर हैं—जैसे कि वे रात को, या सप्ताहान्त पालियों में, या बुलाने पर कभी भी काम करने के लिए कितने तत्पर हैं। यह अवसर इस बात पर निर्भर नहीं है कि हर आदमी सप्ताह में कुल कितने घण्टे काम करने के लिए तैयार है, हर

व्यक्ति काम के कुछ घण्टे पहले से निश्चित कर लेने के साथ ही नियमितता और अनाग्रह का भी पालन कर सकता है। अधिक उत्पादन के कुछ अवसर नष्ट भी हो जाते हैं, क्योंकि कुछ ऐसे उद्योग चालू ही नहीं हो पाते जिनमें काम के अपेक्षित तरीके को लोग पसन्द नहीं करते लेकिन वे उन उद्योगों में बड़ी उत्पादन शक्ति के साथ काम करने हैं जहाँ काम के तरीके उनके अधिक अनुकूल होते हैं।

आर्थिक विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि लोग अन्तर्विवेक से काम करने के लिए इच्छुक हों लेकिन यह बात अधिक घण्टे काम करने की इच्छा से भिन्न है। आदमी को जो भी काम करना हो उसे पूरे ध्यान के साथ करने के लिए तैयार रहना चाहिए उसे अपनी पूरी योग्यता के साथ और ठीक ढंग से काम करना चाहिए और समय पर काम आरम्भ करके समय पर ही उसे समाप्त कर देना चाहिए। दुख की बात है कि कुछ समुदायों में जहाँ लोग अपने वायदों को पूरी तरह निभाने का अधिक महत्त्व नहीं देते, वहाँ काम करने वालों में उपर्युक्त गुणों का अभाव पाया जाता है। आदिम समाजों में इसका कारण यह होता है कि लोगों को नयी-नयी आदतें डालनी होती हैं जो शुरू में उन्हें अजीब लगती हैं। जहाँ के लोग खेतों में, घड़ियों की मदद के बिना, अपनी गति से काम करने के आदी होते हैं, वहाँ यदि वे काम पर समय से या नियमित रूप से न पहुँच सकें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ लोग भाईचारे और हैसियत पर आधारित सम्बन्धों के आदी हो चुकते हैं, वहाँ वे शुद्ध आर्थिक सम्बन्धों को निभाने में कठिनाई अनुभव करते हैं, और ऐसे समुदायों को सामान्य नैतिकता के साथ नये संविदाजनक सम्बन्ध निबाहने की आदत डालने में दो या तीन पीढ़ियाँ लग जाती हैं। अधिक उन्नत समाजों में समुदाय आन्तरिक विभेदों का शिकार हो सकता है 'मालिक वर्ग' 'कर्मचारी वर्ग' को घृणा की दृष्टि से देखे, या विक्रेताओं और खरीदारों के सम्बन्ध बिगड़े हुए हों तो संविदा के दूसरे पक्षों के प्रति नैतिक जिम्मेदारी की भावना समाप्त हो जाती है। जिन समाजों में प्रतियोगिता की भावना अधिक होती है वहाँ समय पाकर ये कमियाँ दूर हो जाती हैं। जो लोग सबसे अधिक अन्तर्विवेक से काम करते हैं वे लोग (अन्य बातें समान हों तो) अपने से कम गुण वाले साथियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध होते हैं, और उनका अनुकरण करते-करते समाज में नयी नैतिक परम्पराएँ मजबूती से स्थापित हो जाती हैं। लेकिन समाजों में प्रतियोगिता की भावना सदा ही नहीं पाई जाती, और उसे बढ़ावा देने वाली शक्तियाँ भी मन्दगामी हो सकती हैं।

एक तर्क यह भी है कि लम्बे घण्टों तक काम करने के इच्छुक व्यक्ति ही उपलब्ध अवसरों का उपयोग करने को तत्पर पाए जाते हैं, चूँकि जो लोग

अधिक घण्टे काम करने का कष्ट नही उठा सकते वे सबसे अधिक लाभदायक अवसरो को ढूँढने का भी कष्ट नही उठाएँगे, और न नियमित रूप से और अन्तर्विवेक से काम ही कर सकेंगे। वैसे इस तर्क मे अधिक सार नहीं है। कई ऐसे लोग, जो अपने साथियो की अपेक्षा कम घण्टे काम करने का दृढ निश्चय किये रहते है सर्वाधिक लाभप्रद अवसरो की खोजने मे बडे कुशाग्र होते है। उदाहरण के लिए, शीतोष्ण देशो के औद्योगिक कर्मचारी जितने घण्टे काम कर सकते है उष्ण देशो के किसान उतनी मेहनत नहीं कर सकते, लेकिन इसके बावजूद व अच्छे बीज या रासायनिक खाद, या अधिक लाभदायक फसलें उगाने के अवसरो का पूरा उपयोग कर सकते है। पहले यह भ्रम था कि गोल्ड कोस्ट का किसान ससार का सबसे काहिल किसान है, लेकिन उसने थोडे ही समय मे गुजारे लायक उत्पादन के स्तर से बढकर ससार के सबसे बडे कोको उद्योग की स्थापना कर दिखाई। इसी प्रकार युगाण्डा या इण्डोनेशिया के किसानो ने भी क्रमश कपास और रबर की खेती मे बडे उत्साह से उन्नति की है। कहना तो यह चाहिए कि जो व्यक्ति जितना ही कम काम करना पसन्द करता है वह अपने काम के घण्टे कम-से-कम कायम रखने के लिए ऐसे भी अवसरो को खोजने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है जिनसे कि उसे सर्वाधिक लाभ होने की आशा हो। लेकिन यह विचार भी उतना ही भ्रमपूर्ण है। अधिक घण्टो तक काम करने और सर्वाधिक लाभप्रद अवसरो को खोजने की तत्परताओं मे, सीधा या उल्टा, किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है।

तो, हम यह देख ही चुके है कि उत्पादकता बढने के साथ-साथ लोग काम के घण्टे कम कर देते है। यदि उन्हे पदार्थों की अपेक्षा आराम की तलब बहुत अधिक हो तो, चरम परिस्थितियो मे, जितनी तेजी से उत्पादकता बढती है उतनी तेजी से ही काम के घण्टे कम होते जाते है। जो लोग ऐसी स्थिति मे है उनके रहन-सहन का स्तर उत्पादकता बढने पर भी वही-का-वही रहता है। फिर भी विकास के लक्षण बढते रहेगे। विकास की परिभाषा करते समय हमने कहा है कि प्रति श्रम घण्टा उत्पादन की मात्रा बढना विकास का द्योतक है। यही युक्तियुक्त परिभाषा है। यदि लोग अपनी बढी हुई उत्पादकता को अधिक वस्तुएँ खरीदने की अपेक्षा अधिक आराम पर खर्च कर देते है तो यह नहीं कहा जा सकता कि समाज का आर्थिक विकास नही हो रहा।

उद्योगशीलता और आर्थिक विकास मे यदि कोई सह-सम्बन्ध है तो उसका पता लोगो के अन्दर उत्पादक पूंजी-निवेश की बढती हुई योग्यता या इच्छा से ही चल सकता है। जो लोग अधिक परिश्रमी है उनकी आमदनी कम मेहनत करने वालो की अपेक्षा अधिक होते हुए भी उनके पास उसके उपभोग के लिए

समय कम होता है, इसीलिए वे पूंजी-निवेश अधिक कर सकते हैं। यही काफी नहीं है कि उनके अन्दर धन बचाने की इच्छा अधिक होनी चाहिए। यदि किसान सोना या जेवर खरीदने के लिए धन बचाते हैं तो इससे आर्थिक विकास में सहायता नहीं मिलती। इसी प्रकार यदि वे और जमीन खरीदने के लिए धन बचाते हैं तो इससे कृषि उत्पादन में वृद्धि न होकर केवल भूमि की कीमत और उसके स्वामित्व में परिवर्तन होता है। विकास के लिए सबसे आवश्यक चीज़ उत्पादक पूंजी का निर्माण है जिसका अनिवार्य सम्बन्ध न तो काम करने की इच्छा से है और न बचाने की इच्छा से। वास्तव में इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिलते कि कठिन परिश्रम और उत्पादक पूंजीनिवेश साथ-साथ चलते हैं, उदाहरण के लिए सैकड़ों साल से चीनियों के बारे में यह मशहूर है कि वे संसार के सबसे परिश्रमी लोग हैं, लेकिन यूरोप की अपेक्षा आबादी में वृद्धि की दर कम होने पर भी चीन में आर्थिक विकास नहीं हो सका। यदि हमारे सामने साथ-साथ रहने वाली दो जातियों के उदाहरण आते हैं, जिनमें से एक जाति दूसरी की अपेक्षा अधिक उद्योगशील होने के कारण अधिक सम्पन्न होती है, तो सावधानी से जांच करने पर वास्तविक अन्तर यही पता चलता है कि वह जाति दूसरी की अपेक्षा उत्पादक पूंजी-निर्माण में अधिक तन्मयता के साथ लगी है। आर्थिक विकास के लिए कठिन परिश्रम और पूंजी-निर्माण का योग सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन जहां कठिन परिश्रम के बिना पूंजी-निर्माण से ही उत्पादन में काफ़ी वृद्धि की जा सकती है वहां पूंजी-निर्माण के बिना अकेला कठिन परिश्रम विकास में कोई अधिक सहायता नहीं दे सकता।

अवसरों को ढूंढने और उनसे लाभ उठाने की इच्छा का और उत्पादक पूंजी-निवेश का सम्बन्ध काम के घण्टों से नहीं है। हां इसका सम्बन्ध उपलब्ध अवसरों के बारे में मनुष्य द्वारा किये गए विचार की तीव्रता से अवश्य है और अधिक सोचना काफी हानिकारक है, चूंकि उससे स्नायु उत्तेजित हो जाते हैं। व्यवसायियों को अक्सर पेट के जख्म का रोग हो जाता है, जिसका कारण लम्बे घण्टों तक काम करना नहीं है बल्कि अपने काम के बारे में अधिक सोच-विचार करना ही है। थोड़ा-सा पैसा बचाने या कुछ और अधिक कमाने के उपाय व्यवसायियों को सोचने ही पड़ते हैं और चिन्तन की इस प्रक्रिया में बड़ी स्नायविक ऊर्जा खर्च होती है। वैसे, यह विचारणीय प्रश्न है कि चिन्तन वाञ्छनीय है अथवा नहीं, अर्थात् क्या यह उचित है कि मनुष्य आर्थिक अवसरों के बारे में सदा गम्भीरतापूर्वक सोचता रहे और भौतिक उन्नति करता रहे, या कि श्रेयस्कर यही है कि इन सब बातों की विशेष चिन्ता न की जाए और निर्धनता कायम रखी जाए। कुछ समाजों में आर्थिक विकास स्वयं में ही लाभ-प्रद माना जाता है, और वहां के युवक जीवन में उन्नति करने के लिए प्रोत्साह

प्रयत्न करते हैं, जबकि दूसरे समाजों में लोग और बातों पर ध्यान देना पसन्द करते हैं—युद्ध करने पर, कलाओं पर, या सिर्फ बातचीत और दूसरे आमोद-प्रमोदों का उपभोग करने पर।

यह तो सही है कि अगर कोई व्यक्ति उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करना उपयोगी समझता है तो वह इसमें सफल भी हो सकता है लेकिन ऐसा शायद ही कहीं पाया जाता हो कि किसी समुदाय के अधिकतर लोग आर्थिक अवसरों के प्रति भली प्रकार जागरूक हों, और आर्थिक विकास के लिए तो यह आवश्यक भी नहीं है कि अधिकांश जनता उसके प्रति प्रवृत्त हो। आर्थिक विकास के लिए तो कम थोड़े-से व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जो काम को शुरू करने के इच्छुक हों एक बार वे सफलतापूर्वक शुभारम्भ कर दें तो फिर दूसरे लोग बिना अधिक सोचे-विचारे उनका अनुकरण करने लगते हैं, बशर्ते कि जाति-बिरादरी या धर्म इसमें बाधक न हो। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास जागरूक मनुष्य पर निर्भर है। हाँ, अगुओं की संख्या जितनी अधिक होगी और उन्हें अपना चातुर्य दिखाने के लिए जितना अधिक क्षेत्र मिलेगा, उतनी ही जल्दी समुदाय का आर्थिक विकास होगा, और समाज में पाए जाने वाले विशेष अन्तर इन अगुओं की संख्या और उन्हें उपलब्ध कार्यक्षेत्र के ही परिणाम होते हैं।

(ख) **साहस की भावना**—जो लोग आर्थिक कौशल दिखाने के इच्छुक होते हैं उन्हें समाज कितना अवसर देता है, इसका विश्लेषण हम अगले अध्याय में करेंगे, इस अध्याय में अभी हमें आर्थिक चातुर्य के प्रति व्यक्ति की इच्छा पर ही चर्चा जारी रखनी है। व्यक्ति की इच्छा कई रूपों में प्रकट होती है जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण रूपों पर विचार कर लेना चाहिए। परम्परा और निषेधों से अपने को मुक्त रखकर काम करने की इच्छा जोखिम उठाने की इच्छा और एक स्थान से दूसरे स्थान पर आजादी के साथ आने-जाने की इच्छा ही इसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप हैं।

परम्परा और निषेध कई प्रकार से मनुष्य का अवसरों का उपयोग करने से रोकते हैं। उदाहरण के लिए ये साधनों के उपयोग में बाधक हो सकते हैं। पवित्र गाय के प्रति हिन्दू की प्रवृत्ति इसका सर्वविदित उदाहरण है, हिन्दू लोग बेकार जन्तु की गायों को भी नहीं मारते और न उनकी सन्तानोत्पत्ति रोकते हैं और इन लोगों में पशुओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि उन्हें पालना किसान के लिए दूभर हो जाता है। इसी प्रकार, पश्चिम के समुदायों में भी एक पूर्वाग्रह बना हुआ है जिसके कारण वे मनुष्य के मल-मूत्र को खेतों में खाद के तौर पर इस्तेमाल नहीं कर सकते, और फलस्वरूप मिट्टी से प्राप्त अनेक मूल्यवान खनिज पदार्थ अनिवार्य समुद्र के गर्भ में चले जाते हैं।

हर समुदाय में इस प्रकार के पूर्वाग्रह मौजूद हैं जिनके कारण वे अपने उन साधनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते जिन्हें पाकर दूसरे लोग खुश होंगे, लेकिन कुछ समाजों में ये निषेध अन्य समाजों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं।

आर्थिक विकास में इस समय सबसे अधिक बाधक शायद पशु-धन के प्रति लोगों के पूर्वाग्रह हैं। दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था के अनेक परिणामों के बारे में अगले अध्याय में जो कुछ कहा गया है उसे मानते हुए भी ऐसा लगता है कि सभी जगह के किसान अपनी आर्थिक दशा सुधारने के इच्छुक हैं और उन सभी नयी प्रक्रियाओं को जिनसे उनकी दशा में सुधार हो सकता है आसानी से अपनाने के लिए तैयार रहते हैं। वे बड़ी खुशी से नए बीज या रासायनिक खाद या सिंचाई की नयी सुविधाओं के कारण प्राप्त पानी, या अधिक आय देने वाली व्यापारिक फसलों को उगाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह विचार अतिरंजित भ्रम ही है कि आर्थिक बातों को ठीक से न समझने के कारण किसान आर्थिक विकास में बाधक होते हैं, किसान तो लगभग सभी जगह एक अर्जनशील वर्ग है। लेकिन पशु-धन के बारे में किसानों के प्रति व्यक्त किया गया उक्त विचार बहुत-कुछ सही है। एशिया और अफ्रीका दोनों में किसानों के कुछ समुदाय ऐसे हैं जिनका पशु धन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण नहीं है, वे काम लेने और मांस और दूध का उपयोग करने की दृष्टि से पशुओं का पूरा-पूरा फायदा नहीं उठा पाते और अनेक बेकार पशु पाले रहते हैं जिसके कारण वे धीरे-धीरे आर्थिक रूप से बरबाद हो जाते हैं। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह बहुत बुरा है, चूँकि आर्थिक विकास बहुत कुछ खेती की उन्नति पर आश्रित है और अधिकांशतः पशु-पालन और कृषि के आदर्श संयोग पर ही निर्भर होता है।

दूसरी महत्त्व की चीज पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित निषेध हैं। इनमें से मुख्य स्त्रियों द्वारा किये जा सकने वाले काम के प्रकार [अध्याय ३, खण्ड २ (ख)] और सन्तति निग्रह [अध्याय ६, खण्ड १ (क)] हैं। सौभाग्य से ये पूर्वाग्रह आर्थिक विकास की प्रक्रिया में स्वयं नष्ट हो जाते हैं लेकिन आर्थिक विकास के आरम्भिक चरणों में इनके कारण रहन-सहन का स्तर काफी गिरा हुआ रह सकता है। पशु-धन और परिवार के बारे में पूर्वाग्रह निर्धनता कायम रखने की दिशा में धर्म की सबसे हानिकारक देन हैं।

काम करने के कुछ परम्परागत तरीके भी होते हैं जिनका पालन सामाजिक अस्वीकृति के भय के कारण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए कुछ देशों में खेती के काम-काज पुरोहितों द्वारा निर्धारित है, जो अपनी गुप्त विद्याओं द्वारा यह बताते हैं कि कोई फसल कब और कहाँ और किस प्रकार बोनी है, खेती की सफलता के लिए इनसे धार्मिक कृत्य कराना भी आवश्यक माना

जाता है। सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ धर्म के इस नियन्त्रण को प्रौद्योगिकी समाप्त कर देती है लेकिन और दूसरे बाधक सदा इसका स्थान लेने का प्रयत्न करते हैं। मध्य-युग की श्रेणियों द्वारा काम की तकनीकों का नियमन वैज्ञानिक उन्नति में बाधक धार्मिक कट्टरता से भिन्न नहीं है श्रेणियों का यह नियमन आज भी जारी है। सरकार भी तकनीकों को नियमित करने की इच्छुक होती है जिसके उदाहरण सत्रहवीं शताब्दी में कोलबर्ट के आदेशों और लाइसेंसों के उद्गारों में समान रूप से मिलते हैं। आजादी के साथ काम करने की और सब दिशाओं में प्रयोग करने की इच्छा को मुक्त क्षेत्र मिलना पूरी तरह सम्भव नहीं है, लेकिन व्यक्तिगत प्रयोग को आजादी देने में कुछ समाज दूसरों की अपेक्षा अधिक आगे होते हैं।

धन्धों को लेकर भी लोगों में पूर्वाग्रह पाया जाता है। मध्ययुग की शुरूआत के धर्मशास्त्री समझते थे कि सौदागर का पेशा ईसाई धर्म के प्रतिकूल है, और सूद पर रुपया उठाने को तो वे निश्चित ही पाप-कर्म मानते थे। उनकी उक्तियों का व्यावहारिक परिणाम क्या हुआ यह कहना मुश्किल है बाद में नगरों के विकास के साथ-साथ लाभदायक व्यापार की सुविधाएँ जैसे-जैसे बढ़ती गईं धर्मशास्त्रियों के विचार नरम पड़ते गए। सोलहवीं शताब्दी में इसी प्रकार की दुर्भावना (यद्यपि इसके कारण दूसरे थे) स्पेन के अभिजात-वर्ग में थी, जो व्यापार को बड़ी नीची दृष्टि से देखते थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसी भावना के कारण स्पेन नये संसार (अमेरिका) में अपने स्वामित्व और आगमन पहुँच का पूरा फायदा न उठा सका, महारानी एलिजाबेथ और उसके सरदारों में इस प्रकार के कोई पूर्वाग्रह थे भी तो वे व्यापारिक उपक्रमों में निश्चय ही कभी बाधक नहीं बने। हर समुदाय में कुछ धन्धे दूसरों की अपेक्षा निचले दरजे के माने जाते हैं। इन निचले धन्धों को करने के लिए अक्सर विशाल निम्न-वर्ग मौजूद होता है। कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसी हो जाती हैं कि आर्थिक विकास के बड़े अवसर केवल ये ही काम प्रदान करते हैं, और तब इन पूर्वाग्रहों के कारण विकास रुक जाता है। उदाहरण के लिए, यह इंगलैंड का दुर्भाग्य है। यदि कुछ लोगों की राय में वहाँ कोयले की खान में काम करना सामाजिक दृष्टि से नीचा माना जाता है या यदि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिक 'शुद्ध अनुसन्धान में लगे वैज्ञानिकों की अपेक्षा नीचे स्तर के माने जाते हैं, या विश्वविद्यालयों से ऑनर्स की उपाधि प्राप्त स्नातक व्यावसायिक नौकरियाँ करना पसन्द नहीं करते। चूँकि एक समुदाय के पूर्वाग्रह दूसरे से भिन्न होते हैं इसलिए जो काम एक समुदाय करना पसन्द नहीं करता, उसे दूसरे लोग खुशी से अपना लेते हैं। जैसे नीग्रो जाति के वेस्ट इंडियन स्वतन्त्र पेशों का प्रतिष्ठा-

अनेक मानते हैं, इसी कारण भारतीय और चीनी केन्द्र दक्षिण व्यापार पर अधिकाधिक नियंत्रण करते चले जा रहे हैं।

स्वयं धन्धों में ही कुछ इस तरह के काम होते हैं जिनके बारे में लोगों को पूर्वाग्रह होते हैं। उदाहरण के लिए कम विकसित देशों के इंजीनियरों के बारे में अक्सर यह शिकायत की जाती है कि वे अपने हाथ गन्दे करने वाले काम करना पसन्द नहीं करते इसी प्रकार प्रशासनिक पदों पर लगे लोग अपने हाथ में एक कुर्सी उठाना भी बुरा मानते हैं। यह विचारधारा कि हाथ का काम समाज के निम्नतर के लोगों को ही करना चाहिए अक्सर उन समुदायों में अधिक जोर पकड़ लेता है जहाँ जाति या समाज की प्रतिष्ठाओं का सम्मान अधिक किया जाता है। इसका मौलिक कारण सम्भवतः अधिक आबादी है। अधिक आबादी वाले देशों में इस प्रकार की परम्परा स्थापित हो जाती है कि गरीब लोगों को काम देना अमीरों का नैतिक कर्तव्य है, और इसलिए अगर ऊँची हैसियत के लोग हाथ का काम करते हैं तो उनकी प्रतिष्ठा केवल इसी कारण कम नहीं हो जाती कि इससे उनकी जाति नीची दिखायी देती है, बल्कि उनको नीच जाति वालों का काम न करने देना ऐब और हृदय-हीन भी समझा जाता है, या इससे यह भी प्रकट होता है कि जितने प्रतिष्ठा-वान और धनी वे दीखना चाहते हैं उतने दरअसल हैं नहीं। इस प्रकार की परम्पराएँ स्थायी रूप से अधिक जनसंख्या वाले समुदायों में ठीक रहती हैं, लेकिन अधिक गतिशील समाजों में व्यष्टिवाद और स्वयंसेवा की जो विचार-धारा पाई जाती है उसके साथ इन परम्पराओं का मेल नहीं बैठता।

लोगों में अपरिचितों के साथ आर्थिक सम्बन्ध रखने की इच्छा भी अलग-अलग होती है। साथ ही कौन अपरिचित है और कौन नहीं, इसे लेकर भी धारणाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने रिश्तेदारों, या अपने जाति-भाइयों, या अपने गाँव के लोगों, या अपने देश, या लिंग, या जाति, या धर्म, या राजनीतिक दल वालों के साथ ही व्यापार करना पसन्द करे तो उसके आर्थिक अवसर कम हो जाते हैं, इस प्रकार के प्रतिबन्ध चाहे जिस रूप में विद्यमान हों उनका यही प्रभाव होता है, ये सम्भवतः आर्थिक सम्बन्धों के अव्यक्तिक दृष्टिकोण के भेदों से सम्बन्धित हैं। आधुनिक पूँजीवादी समुदायों में संविदा का मूल आधार कोमल और भिन्न होती है, और भाई-चारे या व्यक्तिगत गुणों, भलाई या दूसरे पक्ष के साखवान होने का कोई विचार नहीं किया जाता, लेकिन दूसरे अधिकांश समुदायों में संविदा अधिक-तर व्यक्तिगत सम्बन्ध ही समझा जाता है जो कि सौदे से सम्बन्धित बातों की बजाय व्यक्तिगत बन्धनों पर अधिक आधारित होता है। आधुनिक समाजों में भी अनेक व्यवसाय-सम्बन्धों में व्यक्तिगत भावना समाविष्ट होती है, कुछ

संविदाएँ इस प्रकार की होती हैं कि उन्हें केवल उन व्यक्तियों के साथ करना अच्छा रहता है जिनके बारे में यह भरोसा हो कि वे ईमानदारी के साथ और बिना धोखा दिये काम पूरा कर देंगे। कभी-कभी विशेष व्यक्तिगत सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए बदले में दूसरों को भी ऐसी ही विशेष व्यक्तिगत सुविधाएँ देना आवश्यक होता है (विशेषकर अपूर्णतया संगठित बाजारों में जहाँ कि सप्लाई और माँग का सन्तुलन सदा नहीं बना रहता) और आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से परस्पर संरक्षण प्रदान करने के लिए कभी-कभी अपने सम्बन्धियों, अपनी जाति, लिंग या अपने किसी दूसरे प्रकार के समूह को सहायता देनी होती है। इन मामलों के अलावा जिनमें कि व्यवसाय में व्यक्तिगत भावना का समावेश सम्मिलित करने वाले के लिए आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होता है, बाकी सब जगह व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्यादातर मनुष्य की भावना या पूर्वाग्रह के कारण ही बनता है। भाईचारे या राजनीति या धर्म या अन्य किसी भी कारण से इस भावना का समावेश हो लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि अव्यक्तिगत आर्थिक सम्बन्धों के बल पर आर्थिक विकास के अवसरों का उपयोग अधिक किया जा सकता है।

अब हम एक ऐसी बात पर विचार करेंगे जिसकी चर्चा से गुजरे जमाने को याद करने वाले लोग बड़ा दुख अनुभव करते हैं। अधिकांश आदिम समाज हैसियत पर टिके हैं। इन समाजों में मनुष्यों को जो अधिकार प्राप्त होते हैं या जो आशाएँ होती हैं, वे समुदाय में उनकी हैसियत पर निर्भर होती हैं, न कि बाजार में उनके प्रतियोगितात्मक काम पर। इसलिए जब लोग अपनी सेवाएँ इन्हें अर्पित करने के स्थान पर उन्हें अधिकतम मूल्य देने वाले व्यक्ति को बेचने लगते हैं, या जिन चीजों पर उनका परम्परा से अधिकार होता है वे बाजार में पहुँचने लगती हैं, तो वे व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित पुरानी रीतियों और सम्बन्धों के विनष्ट होने के विरोध में विद्रोह करने लगते हैं, और पुरानी प्रथाओं के स्थान पर जो नयी बातें सामने आ रही होती हैं उन्हें लालच और आदर की कमी बताते हैं। हर समाज में हैसियत के स्थान पर संविदा की स्थापना क्रान्तिकारी प्रक्रिया होती है। आचरण के पुराने मूल्य समाप्त हो जाते हैं, और नयी परम्पराओं की जड़ें जमने और उनके समादृत होने तक नैतिक अर्थों में भी समुदाय बिगड़ी हुई स्थिति में रहता है। इससे केवल आर्थिक सम्बन्धों पर ही प्रभाव नहीं पड़ता, आर्थिक मामलों में हैसियत की भावना का लोप होने के साथ-साथ राजनीतिक संगठनों और परिवारों में भी हैसियत के पुराने विचार ढह जाते हैं और इसके साथ-साथ हैसियत के पुराने अधिकारों के रक्षक धार्मिक उपदेशों, अर्थात् स्वयं धर्म को, चुनौती मिल जाती है। इसके बाद समुदाय की एकता तभी फिर से स्थापित हो

पाती है जबकि नये संविदात्मक दृष्टिकोण के आधार पर भाईचारे और राजनीतिक व्यवस्थाओं की परम्पराएँ बन चुकती हैं और नयी व्यवस्थाओं को स्वीकृति देने के लिए धर्म में या नैतिक आचार-संहिता में नये विचारों का समावेश या पुराने विचारों में आवश्यक सुधार हो जाता है। पश्चिमी यूरोप में इस प्रक्रिया के परिणाम निकलने में बहुत दिन लगे। सामाजिक संविदा के विचार पर आधारित नये राजनीतिक दर्शन के स्थापित होने में और उद्बोधन और प्राधिकार पर आधारित धर्म को संविदात्मक दृष्टिकोण में सम बिठाने में काफी समय लगा। अभी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाई। दरअसल बीसवीं शताब्दी में फिर कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ देखने में आई हैं जो विभिन्न वर्गों में कर्तव्य और अधिकार निर्धारित करने वाले कानून बनाकर, और कानून द्वारा निर्धारित विधि के अतिरिक्त अन्य तरीकों से नौकरी, किरायेदारी, किराया खरीद, या बिक्री के संविदाएँ करने की आजादी पर अंकुश लगाकर संविदा के स्थान पर हैसियत की भावना को फिर से महत्त्व दे रही हैं। कम विकसित देश अभी इस चक्र के आरम्भिक चरणों में ही हैं। कुछ अफ्रीकी समाजों में राजनीतिक और वैवाहिक प्रणालियों को संविदात्मक आधार दिया जा चुका है। लेकिन, पश्चिमी संसार को छोड़कर, अधिकांश समुदायों में अव्यक्तिक आर्थिक सम्बन्धों को अपनाते समय उन लोगों की चुनौती का प्रतिरोध अवश्य करना होगा जिनकी हैसियत पर इससे आँच आती है। या, विचारों में एक आम क्रान्ति हो जाए तो भी संविदात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं।

साहस की भावना का दूसरा पहलू, जिसे कुछ लोग पसन्द नहीं करते, आर्थिक जीवन में प्रतियोगिता का प्रभाव है। मनुष्य की सभी क्रियाओं में प्रतियोगिता की भावना मौजूद रहती है, लोग खेल में अपना कौशल दिखाने में, या शिकार, या यौन आकर्षण या गायन, या और दूसरी बातों में अपने को दूसरों से अच्छा सिद्ध करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं, और राजनीतिक सत्ता के लिए, या धार्मिक या सामाजिक नेतृत्व आदि के लिए संघर्ष बड़ा ही कटु, हृदयहीन और असीम होता है। वैसे, प्रतियोगिता करते समय सदा ही आचरण के कुछ नियमों का पालन करना होता है—जैसे कि राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष पर आचार-संहिता का नियंत्रण होता है—और हमेशा कुछ ऐसे लोग रहते हैं जो प्रतियोगिता की भावना को आत्मा की उन्नति के लिए घातक समझते हैं, और इसीलिए इसे जहाँ तक हो सके दबाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के विचार अन्य क्षेत्रों की भाँति आर्थिक जीवन की प्रतियोगिता पर भी लागू होते हैं।

गुजारे की अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ कि विशेषज्ञता या व्यापार बहुत थोड़ा

होता है, वहाँ आर्थिक प्रतियोगिता की अधिक गुंजाइश नहीं होती, लेकिन बाजार की अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगिता हर क्षेत्र में पाई जाती है भले ही एकाधिकारी उससे बचने का कितना ही प्रयत्न करें, चूंकि खरीदार को हमेशा ही अपना पैसा किसी और चीज पर खर्च करने की थोड़ी-बहुत आजादी रहती है। विक्रेताओं के न चाहने पर भी जब तक खरीदारों को चाहे जिस विक्रेता से सामान लेने की छूट रहती है तब तक प्रतियोगिता अवश्य चलती है—यदि एक उद्योग के सारे ही विक्रेता मिल जाएँ तो खरीदार की इस छूट पर अंकुश लग जाता है लेकिन वह अंकुश भी खरीदार की स्वतन्त्रता को तब तक समाप्त नहीं कर सकता जब तक कि दूसरे उद्योगों (जैसे, टेलीविजन और सिनेमा) द्वारा प्रतियोगिता चलती रहती है। इसके अतिरिक्त अगर कुछ विक्रेता बढ़िया किस्म का माल देकर या कीमत कम लेकर, या विज्ञापन, या केवल बेईमानी करके ही बाजार के अधिकांश पर नियंत्रण करना चाहते हों तो प्रतियोगिता और भी उग्र हो जाती है। प्रतियोगिता से किसी-न-किसी को तो आघात पहुँचता ही है। उदाहरण के लिए फैक्टरी का मजदूर, जो सामान्य से अधिक उत्पादन दिखाता है, अपने दूसरे साथियों के लिए हानिकारक है चूंकि इससे बाकी लोगों की कार्य-शिथिलता प्रकट होती है, या मालिक इस व्यक्ति के काम को देखकर उत्पादन की सामान्य मात्रा बढ़ाना चाहता है, अथवा इस व्यक्ति के अधिक काम कर लेने से दूसरों के पास काम कम रह जाता है, ये परिणाम अवश्यम्भावी नहीं हैं लेकिन कुछ परिस्थितियों में पैदा हो सकते हैं। इसी प्रकार, एक उद्योग के अन्तर्गत यदि कोई फर्म अकेले ही बाजार के अधिक भाग पर नियंत्रण करना चाहती है तो उससे दूसरा को कठिनाई होती है, और कुछ का दिवाला भी निकल सकता है। अण्डे तोड़े बगैर आमलेट बनाया भी तो नहीं जा सकता।

कुछ समाजों में असमर्थ के पतन पर कोई आँसू नहीं बहाता। अमरीका, रूस और जापान (अन्य बातों में एक-दूसरे से बहुत भिन्न) जैसे देशों में जमी हुई आशाओं को उखाड़ फेंकने में निर्दयता से काम लिया जाता है, और पिछली दशाब्दियों में इन देशों के आर्थिक विकास की जो अपेक्षाकृत तीव्र गति रही है उसमें इस भावना के योग से इन्कार नहीं किया जा सकता। कुछ अन्य देशों में आशाओं को बुरी तरह कुचलना अच्छा नहीं समझा जाता, बहुत अधिक विरोध या बहुत अधिक काम करके अपने प्रतियोगी को भारी नुकसान पहुँचाना बुरी चीज समझी जाती है। अगले अध्याय में प्रयत्न पर सामाजिक बाधाओं का अध्ययन करते समय हम इस विषय पर और अधिक विचार करना होगा, यहाँ तो हमने इस बात का संकेत भर कर दिया है कि प्रतियोगिता के सामने मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ में कितना अन्तर है।

साहस की भावना का दूसरा पहलू जोखिम के प्रति प्रवृत्ति है। जोखिम उठाने की इच्छा मनुष्य की प्रकृति, उसकी सामर्थ्य और उसकी परम्परा पर निर्भर होती है। समूहों की प्रवृत्तियों के भेद पर विचार करते समय हम व्यक्तिगत प्रकृति को छोड़ देना होगा। सम्भव है कि भिन्न-भिन्न समूहों के लोगों में जीवात्मक आनुवंशिकता से जोखिम उठाने की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न हो, लेकिन इसके बारे में भी हम इतना अधिक कुछ नहीं कह सकते जो विभिन्न समूहों में उद्योगशीलता पर जीवात्मक आनुवंशिकता के प्रभाव के बारे में पहले कह आए हैं।

जिस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति जितनी ही मजबूत होती है जोखिम उठाने की सामर्थ्य भी उसमें उतनी ही अधिक पाई जाती है। उदाहरण के लिए इस बात की परवाह किए बिना कि सूखा या बाढ़ या दूसरे कृषि-जन्य जोखिम पैदा होने की स्थिति में परिणाम क्या होगा एक धनवान किसान बड़े पैमाने पर नए बीजों का उपयोग करके देख सकता है लेकिन वे किसान जो गुजारे-भर के लिए कमा पाते हैं उन बीजों का प्रयोग छोड़ने के लिए बड़ी मुश्किल से तैयार होते हैं जिनके बारे में उन्हें विश्वास होता है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति पैदा हो, इन बीजों से औसतन कितनी ही कम सही लेकिन कुछ-न-कुछ पैदावार अवश्य हो जाएगी। ये लोग नये बीज इस्तेमाल करने का जोखिम उठा ही नहीं सकते, चूँकि इससे औसत पैदावार चाहे जितनी बढ़ने की आशा हो लेकिन किसान को यह भय बना रहेगा कि अगर एक साल परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गईं तो उसे अकाल का सामना करना पड़ेगा। दूसरी ओर, अत्यन्त निर्धन लोग, जिनके पास खो बैठने के लिए कुछ है ही नहीं, उन लोगों की अपेक्षा अधिक साहसी सिद्ध होते हैं जो कुछ अच्छी आर्थिक स्थिति में होते हैं और जिन्हें असफलता की स्थिति में हानि होने का भय रहता है। उदाहरण के लिए, अगर यह अफवाह फैल जाए कि सौ मील दूर पर सोना पाया गया है तो उन लोगों की अपेक्षा, जो कि थोड़ा-बहुत कमा रहे हैं और जिन्हें सोना न मिलने की दशा में वापस लौटने पर फिर काम मिलने का निश्चय नहीं है, वे लोग जोखिम उठाकर जाने के लिए अधिक तत्पर होंगे जो फिलहाल बेकार हैं। इस प्रकार, जोखिम उठाने की भावना बीच की सामर्थ्य वालों की तुलना में काफ़ी पैसे वाले, या आर्थिक स्थिति से अत्यन्त असुरक्षित समुदायों में अधिक पाई जाती है।

परम्पराओं के भेद शायद इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। वर्तमान शताब्दी के इंग्लैंड के स्कूलों में भाषण दिवस के वक्ता इस बात पर जोर देते हुए सुनाई पड़ते हैं कि स्नातकों को अधिक सुरक्षित धन्धों में न जाकर अपने अन्दर साहस की भावना उत्पन्न करनी चाहिए, वे अपनी बात की पुष्टि के

लिए ड्रेक और एलिज़ाबेथ काल के लोगों और विक्टोरिया-युग के शानदार कारनामों का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार के भाषण मध्ययुगीन इंग्लैंड में नहीं किये जाते थे, और मास्को या श्याम में आज भी सुनने को नहीं मिलेंगे। जो बात काम के बारे में है वही साहस पर भी लागू होती है, कुछ देशों में युवकों को सिखाया जाता है कि यह पुण्य रूप है लेकिन दूसरे देशों में इस पर ज़ोर नहीं दिया जाता। परम्पराओं में अन्तर क्यों होता है यह बताना भी उतना ही कठिन है। शायद वे देश जो बड़े कठिन धन्धों से जीवन-निर्वाह कर पाते हैं दूसरे देशों की अपेक्षा जोखिम लेने से कम घबराते हैं। लेकिन सभी धन्धे कठिन हैं, वर्षा अनिश्चित होने के कारण भारत के किसान का जीवन उतना ही कठिन है जितना कि मछली पकड़ने या विदेशी व्यापार में लगे व्यक्तियों का होता है। परम्पराएँ जन्म चाहे जैसे लें, लेकिन वे अपनी पुष्टि स्वयं ही करती हैं, अर्थात् जिन देशों में सफलतापूर्वक जोखिम उठाने वाले लोगों के अनेक उल्लेख मिलते हैं वहाँ दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा आत्मविश्वास की भावना अधिक बलवती पाई जाती है।

विकासशील अर्थ-व्यवस्था में जोखिम उठाने की भावना का एक विशेष महत्वपूर्ण पहलू मनुष्य का अपना धन्धा बदल देने की तत्परता है। पूरी तरह हैसियत पर आधारित अर्थ-व्यवस्था में जाति-प्रथा के कारण हर आदमी वहीं काम करने के लिए विवश होता है जो उसके जन्म के समय में और उसके पिता के जन्म के समय से उसके घर में होता आया है (खेती का काम करने की छूट हर जाति के लोगों को रहती है), और जिन समाजों में जाति को मान्यता नहीं भी मिली होती वहाँ भी तीव्र पारिवारिक भावना, या माता पिता के प्रति भाव के कारण सन्तान अधिकतर ऐसे धन्धों में लगी रहती है जिनके लिए उनमें कोई प्रतिभा नहीं होती या जिन धन्धों के अन्तर्गत बनी चीज़ों की माँग अपेक्षया कम हो रही होती है। पारिवारिक भावना के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि जिस काम के लिए आदमी को प्रशिक्षण मिला हो उसके प्रति उसे विशेष आकर्षण हो, और वह उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ के धन्धे को अपनाने के लिए भी छोड़ना न चाहे। ये भी ऐसी चीज़ें हैं जिनके बारे में भिन्न-भिन्न समुदायों की परम्पराएँ अलग-अलग होती हैं, कुछ में यह निश्चित माना जाता है कि हर आदमी जीवन-पर्यन्त एक ही काम, यथासम्भव अपने पैतृक व्यवसाय को ही, करता रहेगा, जबकि दूसरे समाजों में साहस की भावना बढ़ाने पर बल दिया जाता है।

यदि धन्धा बदलने के कारण आदमी को अपना घर छोड़कर कहीं दूर जाकर रहना पड़े तो वह उसके लिए आसानी से तैयार नहीं होता। लेकिन विकास के लिए सदा ही इस प्रकार की गतिशीलता आवश्यक होती है, कम बड़े

हुए जिलों में नये-नये साधनों की खोज होती है, या पुराने जिलों के साधनों का उपयोग शुरू कर दिया जाता है, या मांग अथवा सप्लाई में कुछ परिवर्तन होने से ज्ञात साधनों के मूल्य बदल जाते हैं। आजकल कुछ सरकारें लोगों को काम के स्थान पर ले जाने की बजाय जहां लोग हैं उन्हें वहीं काम उपलब्ध करने का प्रयत्न करती हैं, और आर्थिक दृष्टि से इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि नये उद्योग पुराने स्थानों पर भी बिना किसी आर्थिक असुविधा के लगाये जा सकते हों। नये उद्योगों को पुराने स्थान पर लगाने का समर्थन करते समय कभी-कभी यह भी कहा जा सकता है कि पुराने स्थान में मकान, बिजली-सप्लाई, स्कूल और दूसरी सार्वजनिक सेवाओं के रूप में पूंजी लगी होती है, जिसे दूसरी जगह स्थानान्तरित करने में आर्थिक हानि होगी। यह तर्क योग्य युक्तिसंगत अवश्य है लेकिन इसमें अधिक बल नहीं। चूंकि पूंजी का क्षय होता रहता है, और कभी-न-कभी कहीं-न-कहीं उसका पुनर्निर्माण करना ही पड़ता है। जो भी हो, ऐसे उद्योग, जो भूमि-खनिज या जल पर निर्भर हैं, अधिकतर वहीं स्थापित करने पड़ते हैं जहां उक्त साधन उपलब्ध हों।

स्थान बदलने की इच्छा अंशतः भावना पर, अंशतः दबाव पर और अंशतः नये स्थान के प्रति आकर्षण पर निर्भर होती है।

भावना अपने सम्बन्धियों, मित्रों, अपने घर, अपने जिले, या जीने के अपने तरीके के प्रति मोह के रूप में हो सकती है। यदि मनुष्य को जीवन का कोई नया मार्ग अपनाना पड़े तो उसे सबसे अधिक आघात पहुँचता है, उदाहरण के लिए छोटे समुदाय का कोई किसान अपना काम छोड़कर एक बड़े समुदाय में जाकर फैक्टरी में मजदूर बन जाए, या खान में काम करने लगे। यहाँ भी परम्परा सहायक होती है। यदि बहुत से लोग एक साथ परिवर्तन करें तो उनके लगभग एक शताब्दी बाद समुदाय के अन्य लोग भी इसके आदी हो जाते हैं। नये स्थान की परिस्थितियों के बारे में बाहर से समाचार मिलते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप लोगों का भय दूर होता है, और नया उत्साह भी पैदा हो सकता है। इस भावना के बारे में इतना ही कहना काफी है कि जिन लोगों को स्थान बदलने की आदत होती है वे दूसरों की तुलना में आसानी से एक जगह को छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं।

लोगों को बड़े पैमाने पर गतिशील बनाने के लिए अक्सर कुछ दबाव की जरूरत पड़ती है। उन कृषि-प्रधान देशों में, जहाँ हर आदमी के पास गुज़ारे लायक काफी जमीन होती है, लोगों को अच्छे अवसरों का उपयोग करने के लिए तब तक तैयार नहीं किया जा सकता जब तक कोई ऐसी घटना न हो जाए जिससे कि उनके कृषि-कार्य की सुरक्षा में कमी आती हो। उदाहरण के लिए, दुर्भिक्ष पड़ जाए, या आबादी अधिक हो जाए, या युद्ध, या और कोई

प्राकृतिक आपदा आ जाए। या जैसा कि अफ्रीका में हुआ है, सरकार द्वारा कर बढ़ा दिए जाएँ, लोगों की जमीन छीन ली जाए या जोर-जबरदस्ती की जाए—अफ्रीका में इस प्रकार के दबावों के फलस्वरूप ही अफ्रीकावासी अपने पुराने दायरे छोड़कर मजदूरी वाले रोजगार करने लगे हैं। इंग्लैंड के अध्यापक अर्थशास्त्रियों ने सबसे बड़े पुत्र को सम्पत्ति दिए जाने के प्रभाव की चर्चा करते हुए ये निष्कर्ष निकाले थे कि इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप उत्तराधिकारी के अतिरिक्त अन्य सन्तानें अधिक उद्यमी और गतिशील बन जाती हैं। पारिवारिक सम्बन्धियों की न्यूनाधिक संख्या भी शायद महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी व्यक्ति को गुजारे के लिए अनेक सम्बन्धियों का आसरा हो तो वह स्वयं अधिक प्रयत्न नहीं करेगा, और इसीलिए शायद विस्तृत परिवार प्रणालियाँ और त्वरित आर्थिक विकास एक साथ नहीं पाए जाते। औद्योगिक समुदायों के लोगों में अधिक बेरोजगारी के क्षेत्रों से विकासशील क्षेत्रों में जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। बेकारी-बीमा की व्यवस्था के कारण गतिशीलता में कुछ कमी हो सकती है, लेकिन अधिकतर लोग बेरोजगार रहने की अपेक्षा रोजगार में लगना अधिक पसन्द करते हैं और बहुत ही कम वेतन पाने वाले मजदूरों को छोड़कर बाकी मामलों में बेकारी-बीमा-व्यवस्था से मिलने वाले धन और नियमित रोजगार से मिलने वाली मजदूरी में काफी अन्तर होता है।

और प्रोग्रामों के असफल होने से यह स्पष्ट हो गया है कि वह स्थान काफी आकर्षक होना चाहिए जहाँ लोगों को बाहर से लाकर बसाना हो। बाहर से आने वाला व्यक्ति मैत्रीपूर्ण स्वागत, उचित आवास, आर्थिक सम्भावनाओं, और नयी तरह से जीवन व्यवस्थित करने के अवसर का आश्वासन चाहता है। केन्द्रीय और दक्षिणी अफ्रीका की खान खोदने वाली बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, जिन्हें लाखों अफ्रीकियों को अपने दायरे छोड़कर खानों में मजदूरी के लिए बुलाने की जरूरत थी, शुरू में शायद ही इस प्रकार के कोई आकर्षण जुटाती थीं, इसीलिए बाद में कई प्रकार के दबाव डालने पड़े। अच्छा वेतन, पत्नी और बच्चों को लाकर रखने के लिए, अच्छे मकान, उन्नति की सम्भावनाएँ, और नगर में स्थायी जीवन की सुविधाओं का प्रबन्ध अब इन कम्पनियों की ओर से पहले की अपेक्षा अधिक किया जाता है और इसीलिए अब अक्सर किसी प्रकार के दबाव डालने की आवश्यकता नहीं होती। पश्चिमी संसार के बड़े औद्योगिक नगरों के [illegible], नगर की घनी बस्तियों से निकालकर उपनगरों में मकान देने के जो प्रयत्न किए जा रहे हैं उनमें भी बिल्कुल यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जो लोग इन उपनगरों में बस गए हैं वे फिर शहर वापस आना चाहते हैं। इनका कहना है कि इन

अपने मित्रों, शहर की गलियों, और वहाँ के शोर-शराबे की याद आती है, दरअसल उन्हें काम पर जाने के लिए रोज जो लम्बी यात्रा करनी पड़ती है उसे वे नापसन्द करते हैं और यह भी बात है कि इन उपनगरों में नये सामुदायिक जीवन का निर्माण करने के लिए सिनेमा, सार्वजनिक स्थान और संस्थाएँ पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। ऐसे उपनगरों के बारे में शिकायतें कम सुनने में आती हैं जहाँ उनके साथ ही फैक्टरियाँ भी बनी हुई हैं, और जहाँ कि मित्रों और सम्बन्धियों के समूह-के-समूह एक साथ स्थानान्तरित किये गए हैं, और नये सामुदायिक जीवन की सब सुविधाएँ भी जुटा दी गई हैं। खेती के लिए लोगों को नयी जगहों पर जाकर बसाने में जो असफलताएँ हुई हैं वे भी इसी का दूसरा उदाहरण हैं। अक्सर लोगों को ज़मीनें दे दी जाती हैं लेकिन न सड़कें बनती हैं और न वहाँ पानी का कोई इन्तज़ाम किया जाता है, जिन लोगों को बसने के लिए भेजा जाता है उनका चुनाव भी बिना उनके कृषि-अनुभव या पूँजी को देखे हुए अन्धाधुन्ध कर दिया जाता है; बाद में सलाह, सहायता या संगठन के बिना इन लोगों को स्वयं अपनी व्यवस्था करने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस सन्दर्भ में इन्डोनेशिया का अनुभव बहुत-कुछ सिखाता है। १९३७ से पहले सरकार जावा के लोगों को सुमात्रा जाने के लिए अवसर देती थी, जहाँ कि उन्हें ज़मीन और आर्थिक सहायता मिलती थी, लेकिन बहुत थोड़े लोग इसका फायदा उठाते थे। उसके बाद ऐसी व्यवस्था की गई कि वहाँ जाने वाले लोग फसल तैयार होने से कुछ ही पहले पहुँचें और, अपने शुरू के हफ्ते, वहाँ पहले बसे हुए लोगों के यहाँ रहकर उनकी मज़दूरी करते हुए गुज़ारें। इस प्रकार उनके पास कुछ धन भी इकट्ठा हो जाता था, नये देश के बारे में तरह-तरह से अपने को अनुकूल बनाने का समय भी मिलता था, काम करते-करते आवश्यक सलाह मिलती रहती थी, और उपयोगी सम्पर्क स्थापित करने का मौका भी मिलता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत यह भी आश्वासन दिया गया था कि नये बसने वालों को उनकी फसल के समय सहायता दी जाएगी। परिणाम यह हुआ कि १९३६ और १९४० के बीच सुमात्रा जाने वाले लोगों की वार्षिक संख्या लगभग दुगुनी हो गई, और उसके बाद भी प्रतिवर्ष बढ़ती रही, हालांकि बाद में सरकार ने प्रवासियों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में काफी कमी कर दी थी।

यह सही है कि जो व्यक्ति गतिशील होगा उसकी समृद्धि की सम्भावनाएँ भी अधिक होंगी, लेकिन आर्थिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि हर आदमी में गतिशीलता हो। आर्थिक परिस्थितियाँ कुछ धीरे-धीरे ही बदलती हैं, और अनिश्चित परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। अतः सारे जन-

संख्या का थोड़ा ही अनुपात प्रतिवर्ष परिवर्तन के लिए तैयार हो तो काफी है। वैसे, यह थोड़ा-सा प्रतिशत भी तब तक तैयार नहीं होगा जब तक कि नये स्थान के आकर्षण के साथ गतिशीलता की परम्परा या पुराने स्थान पर अधिक दबाव का संयोग पैदा न हो।

साहस' के दूसरे सभी पहलुओं पर भी यही बात लागू होती है। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग साहसी हों लेकिन नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों की संख्या काफी होनी चाहिए। यह बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि सफलतापूर्वक नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों को समुदाय की ओर से क्या पुरस्कार और सम्मान दिया जाता है। हर समुदाय में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पहले से स्थापित मत या निहित स्वार्थों की अवज्ञा करके काम के नय तरीका, उत्पादन की नयी चीजों या नय आर्थिक रूपों पर प्रयोग करने की होती है। कुछ समाज ऐसे लोगों को प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें बढ़ावा देते हैं, जबकि दूसरे समाजों में ऐसे लोगों को डाकुओं की तरह कुचल दिया जाता है। लेकिन आर्थिक विकास बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि इस प्रकार के साहसी लोगों का पोषण करने और उन्हें कार्य-क्षेत्र प्रदान करने में अनुकूल सामाजिक वातावरण है अथवा नहीं। हम इस विषय पर आगे के अध्यायों में फिर प्रकाश डालेंगे।

३ साधन और उनके उपयोग के प्रयत्न

सबसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक साधन जलवायु, शुद्ध जल, उपजाऊ भूमि, उपयोगी खनिज और यातायात में सहायक भूमि का तलरूप है। इनमें से कोई भी निरपेक्ष अर्थों में सम्पन्न या हीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें से कोई भी चीज, जो आज मूल्यवान समझी जाती है, कल बेकार हो सकती है। साधन का मूल्य उसकी उपयोगिता में है और उपयोगिता रुचि या टेकनीक में परिवर्तन या नयी खोजों के साथ-साथ सदा बदलती रहती है। जब तक मनुष्य ने कोयला जलाना नहीं सीखा था तब तक यह मूल्यवान साधन नहीं समझा जाता था, और आज कोई विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकता कि दो सौ साल बाद कोयले का यही महत्त्व रहेगा अथवा नहीं। सात सौ साल पुराने तक नक बड़े बाधक समझे जाते थे जब तक अमरीका की खोज ने ब्रिस्टल को स्थायी रूप से संसार का एक बहुत बड़ा बन्दरगाह नहीं बना दिया। जमायका में सौ एकड़ उपजाऊ जमीन एक बड़ी सम्पत्ति मानी जाती थी, लेकिन अब यह बात नहीं, क्योंकि गन्ने की खेती के लिए अनुकूल और बहुत सी जमीनों का पता चल गया है। इस प्रकार, जब हम यह कहते हैं कि कोई देश बड़ा साधन-सम्पन्न है तो हमारी यह राय तत्कालीन ज्ञान

और टकनीक के सन्दर्भ में ही अर्थपूर्ण मानी जाएगी। इसी तरह कोई देश, जो आज साधनों की दृष्टि से हीन समझा जाता है बाद में कभी बहुत सम्पन्न माना जा सकता है जिसका कारण यही होना आवश्यक नहीं है कि वहाँ नये साधनों का पता चला हो बल्कि यह भी हो सकता है कि वहाँ के ज्ञात साधनों का नये-नये कामों में उपयोग होने लगा हो।

इन कालगत सीमा को ध्यान में रखते हुए इस बात की जाँच करना बड़ा दिलचस्प है कि किसी देश के आर्थिक विकास की गति उसके प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता या हीनता पर कितनी निर्भर है। एक अर्थ में तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास और साधन एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अन्य बातें समान मान लेने पर, लोग हीन साधनों की अपेक्षा सम्पन्न साधनों का उपयोग ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं इसीलिए जिन देशों को सर्वाधिक आर्थिक अवसर प्राप्त होते हैं उनसे ही सर्वाधिक विकास की आशा की जाती है। संसार के आर्थिक इतिहास का अधिकांश इन्हीं सीधी-सादी बातों के आधार पर लिखा जा सकता है। पुराने जमाने में जबकि खेती ही मुख्य आर्थिक क्रिया थी, उपजाऊ नदी-घाटियों में सबसे अधिक उन्नति हुई। बाद में भी हम देख सकते हैं कि और स्थानों का महत्त्व जिस प्रकार बढ़ा, कहीं इसका कारण खनिजों की खोज थी (जैसे, मलाया की टीन), कहीं खनिजों के उपयोग के नये तरीकों की खोज थी (जैसे, मध्यपूर्व का तेल, ब्रिटेन का कोयला), कहीं व्यापार के मार्गों में परिवर्तन था (जैसे, १९४२ के बाद पश्चिमी यूरोप के बन्दरगाह), कहीं यातायात के नये साधनों की खोज थी (जैसे, बैंकाक का हवाई अड्डा)। यह भी बिलकुल स्पष्ट है कि जिस देश के प्राकृतिक साधन जैसे होंगे, उसी प्रकार और उसी सीमा तक वह देश प्रगति कर सकेगा। वैसे, यह एकमात्र सीमा तो क्या, आरम्भिक सीमा तक नहीं है, चूँकि अनेक देश अपने वर्तमान साधनों का जिस प्रकार उपयोग कर रहे हैं उससे अच्छा कर सकते हैं। देश में उपलब्ध साधनों के सन्दर्भ में विकास की गति वहाँ के लोगों के व्यवहार और मानव-संस्थानों पर निर्भर है, अर्थात् इस प्रकार की बातों पर, जैसे मानसिक ऊर्जा, भौतिक वस्तुओं के प्रति प्रवृत्ति, धन बचाने और उसे उत्पादक कामों में लगाने की इच्छा, या संस्थानों की उदारता और नम्यता। प्राकृतिक साधन देश के विकास की दशा निर्धारित करते हैं, उनकी चुनौती को स्वीकार करना या न करना मानव-मस्तिष्क के ऊपर है।

अत साधनों और विकास के परस्पर-सम्बन्ध की जाँच का मुख्य काम यह देखना है कि साधन-सम्पन्नता और उनके उपयोग के लिए मनुष्य द्वारा किये गए प्रयत्नों के स्तर में क्या सम्बन्ध है। यदि दो देशों के मनुष्य एकसा

ही प्रयत्न करें तो साधन-सम्पन्न देश में अभावग्रस्त देशों की अपेक्षा आर्थिक विकास अधिक तेजी से होगा। लेकिन हमें यह देखना है कि क्या कोई ऐसा नियम है कि जिन देशों में प्राकृतिक साधन अधिक हैं वहाँ के लोग निर्धन देशों की अपेक्षा अधिक प्रयत्नशील होते हैं या कि बात बिलकुल इसके उलटी है?

केवल एक 'साधन' के बारे में निश्चित रूप से उत्तर दिया जा सकता है। वह साधन है पहुँच। और बाकी साधनों के बारे में सही रूप से बहुत ही कम कहा जा सकता है। सम्भवतः कि कुछ भी कहना कठिन है। पहुँच का साधन इसलिए माना गया है क्योंकि इसका आधार देश के भौगोलिक लक्षण होते हैं— देश के धरातल का विन्यास, उसकी नदियाँ, समुद्र से दूरी, बन्दरगाहों की संख्या और उनकी किस्म, ऊँचे पहाड़ों-जैसी अलंघ्य बाधाओं का होना या न होना देश और बाकी सभी संसार के बीच रेगिस्तानों या अभेद्य जंगलों की स्थिति। आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में पहुँच का बड़ा निर्णायक योग होता है। इससे व्यापार में वृद्धि होती है जिससे परिणामस्वरूप नयी-नयी चीजों की माँग बढ़ती है, आर्थिक प्रयत्न को प्रोत्साहन मिलता है और विशेषज्ञता में वृद्धि होती है। इससे भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों और विचारों के लोग आपस में मिलते-जुलते हैं, जिसके कारण लोगों का मस्तिष्क क्रियाशील रहता है, ज्ञान की वृद्धि में सहायता मिलती है और सम्भवतः उदार तथा नम्र बने रहते हैं। किसी देश के लोगों का आर्थिक बल बहुत-कुछ उस देश के दुर्गम या सुगम होने पर निर्भर है।

दूसरे नम्बर पर जलवायु आती है। ऐसा मालूम होता है कि सामान्य आर्द्रता के साथ ६० डिग्री से ७५ डिग्री फारेनहाइट तापक्रम में मनुष्य का शरीर सबसे अच्छी तरह काम कर सकता है लेकिन मानव-मस्तिष्क पर जलवायु का इतना स्पष्ट प्रभाव देखने में नहीं आता। यह तो निश्चित है कि बहुत अधिक ठण्डे या बहुत अधिक गरम देश अच्छे नहीं होते। इसके बावजूद पुराने ज़माने में एक-दूसरे से बहुत भिन्न जलवायु के देशों ने अपनी अपनी सभ्यताओं को आगे बढ़ाकर दिखाया था, इन देशों में उष्ण कटिबन्ध की गरम नदी-घाटियाँ भी थीं और मैक्सिको और पेरू के ऊँचे पठार भी थे, और पश्चिम-उत्तरी यूरोप के ठण्डे और अन्धकारमय जाड़ों वाले देश भी शामिल थे। क्योंकि वर्तमान काल में सबसे अधिक आर्थिक विकास शीतोष्ण कटि-बन्धों में हो रहा है, इसलिए यह कहा जाने लगा है कि आर्थिक विकास के लिए शीतोष्ण जलवायु वाञ्छनीय है लेकिन विकास और शीतोष्ण जलवायु का यह सम्बन्ध मानव-इतिहास की बिलकुल हाल ही की घटना है।

उपजाऊ भूमि आदि दूसरे साधनों का जहाँ तक सम्बन्ध है, विचारणीय

विषय यह है कि परिस्थितियों की कठिनाई में मनुष्य की चतुराई बढ़ती है या उसकी मानसिक ऊर्जा का क्षय होता है। वैसे साधना और ज्ञान की वृद्धि में इतना सम्बन्ध निश्चित है कि मनुष्य के पास जो कुछ होता है वह उसी का प्रयोग करना सीखता है। कोयला प्रौद्योगिकी का विकास उस समुदाय में नहीं होता जहाँ कोयला प्राप्य नहीं है, इसी प्रकार वह समुदाय स्थापत्य में उन्नति नहीं कर सकता जिसे अच्छा पत्थर उपलब्ध न हो। लेकिन अगर किसी समुदाय के पास कुछ साधन मौजूद हैं—और जब तक कोई साधन नहीं होंगे, समुदाय स्थापित ही नहीं हो सकता—तो उसकी सम्पन्नता और समुदाय के लोगों के उत्साह का स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करना कठिन मालूम होता है। तर्क के आधार पर हम यह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, चूँकि साधन-सम्पन्नता की स्थिति में लोग काहिल भी बन सकते हैं और मेहनती भी बन सकते हैं। यहाँ ऐतिहासिक प्रमाण भी हमारी सहायता नहीं कर सकते, चूँकि एकसे साधनों वाले देशों में उत्साह की मात्रा न्यूनाधिक पाई जाती है, और चूँकि साधनों में कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन हुए बिना एक ही देश के इतिहास के विभिन्न कालों में उत्साह की मात्रा कभी कम और कभी अधिक रही है।

कुछ लोगों ने चरित्र और धन्धे के बीच सम्बन्ध बनाने का तमाशा खड़ा किया है। उनके अनुसार किसान और खान खोदने वाले 'सुस्त' होते हैं, मछली पकड़ने वाले, व्यापारी और नाविक 'साहसी' होते हैं, दस्तकार और शहरों में रहने वाले आम तौर पर पटु होते हैं। इन चरित्र-चित्रणों के आधार पर आर्थिक विकास और साधनों में यह सम्बन्ध बनाया जा सकता है कि अधिक आर्थिक विकास वहीं होगा जहाँ के लोग समुद्री धन्धे करते होंगे, या जहाँ वस्तुओं का विनिर्माण करके उन्हें दूसरे देशों के खाद्य-पदार्थों के बदले बेचने का काम किया जाता होगा। लेकिन इससे तो साधनों और विकास के बीच उलटा रिश्ता कायम हो जाता है, चूँकि समुद्री धन्धों और विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात का काम अक्सर वे ही लोग करते हैं जिनके पास उपजाऊ भूमि इतनी काफी नहीं होती कि उससे अपने देश की खाद्य-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। यह सामान्य निष्कर्ष केवल कुछ ही देशों पर ठीक लागू होता है—इतिहास के केवल एक चरण में फिनीशियन या ग्रीक लोगों के बारे में—अन्य चरणों के बारे में यह ठीक नहीं बैठता—और इटलीवासियों या मिस्र-निवासियों के बारे में। हम उस 'नियम' को नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते जो सब उदाहरणों पर लागू न होता हो।

यह तर्क अपेक्षाकृत अधिक सही मालूम होता है कि आर्थिक विकास के संचयी प्रभाव द्वारा साधनों का मानव-प्रयत्न पर प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए,

किसी एक पुराने देश से आकर लोग दो नये देशों में बसें और उनकी प्रवृत्तियाँ और संस्थान एक-जैसे हों, तो यदि एक देश में दूसरे नये देश की अपेक्षा अधिक साधन होंगे तो वह देश अधिक तेजी से आर्थिक विकास करेगा। प्रश्न यह है क्या इस त्वरित आर्थिक विकास से निवासियों की प्रवृत्तियों और संस्थानों में ऐसे परिवर्तन आएंगे जिनसे कि विकास की गति और बढ़े, या ऐसी बातें पैदा होंगी जिससे कि गति में अवरोध उत्पन्न हो, क्या समय पाकर सम्पन्न देश में निर्धन देश की अपेक्षा मानव-प्रयत्न बढ़ेंगे या कम हो जाएँगे ? कुछ लोगों के अनुसार लोग प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए और अधिक प्रयत्न करेंगे। अधिक आर्थिक विकास होने से उपभोग की नयी वस्तुओं की माँग बढ़ेगी। औद्योगिक ज्ञान तेजी से बढ़ेगा जो कि एक संचयशील प्रक्रिया है जिससे मनुष्य के मस्तिष्क में प्रयोग और साहस की इच्छा बलवती होती जाती है। सामाजिक गतिशीलता बढ़ेगी, और संस्थाओं में अधिक नम्यता आएगी। आर्थिक अवसर बढ़ने के साथ-साथ मानव-प्रयत्न भी बढ़ेंगे। दूसरे लोग इससे बिलकुल उलटी बात कहते हैं। उनका तर्क है कि धन में वृद्धि होने से लोग आरामपसन्द हो जाएँगे, और काम करने की इच्छा कम होने लगेगी। आर्थिक दबाव की कमी से साहस और सीमित साधनों के अधिकतम उपयोग की आवश्यकता कम होती जाती है। धन में वृद्धि के साथ साथ आपसी ईर्ष्या जन्म लेती है अजानाश्रित असन्तोष बढ़ते हैं, आन्तरिक कलह होती है, और अन्त में गृह-युद्ध छिड़ जाता है। मनुष्यों की भाँति समाज भी 'मोटा होने के साथ-साथ काहिल' होता जाता है। यही बात कहते रहे पैगम्बर, धार्मिक पुनरुत्थानवादी, फासिस्ट, तानाशाह सैन्य सत्तावादी स्कूल मास्टर और वे दूसरे लोग कहते आए हैं जो आराम को मनुष्य की आत्मा का हनन करने वालों में अग्रणी मानते हैं।

यदि इतिहास से उदाहरण लेकर इसका फैसला करना मुश्किल है तो मानव विज्ञान का आधार क्यों न लिया जाए ? हम जानते हैं कि कुछ आदिम समुदायों के पास दूसरे आदिम समुदायों की तुलना में प्राकृतिक साधन अधिक हैं। क्या कोई ऐसे प्रमाण हैं जो अधिक साधन-सम्पन्न हैं ? वे कम साधनों वाले लोगों की अपेक्षा अधिक मेहनत से, या अधिक बुद्धिमानी से काम करते हैं। दुर्भाग्य से जिस प्रकार अनुकूल इतिहासकार चुनकर आप इस प्रश्न का मनचाहा उत्तर निकाल सकते हैं, उसी प्रकार अनुकूल मानव-विज्ञानों का आधार लेकर भी आप नकारात्मक या सकारात्मक, जैसा चाहें, निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सचाई वास्तव यह है कि साधनों और कार्य-व्यवहार में धनात्मक या ऋणात्मक, किसी प्रकार का सीधा सह-सम्बन्ध नहीं है। कुछ साधन-सम्पन्न लोग अपने से गिरे हुए साधनों वालों की अपेक्षा अधिक प्रय-

शील होते हैं और कुछ लोग जिनके पास कम साधन हैं अधिक साधनों वालों की अपेक्षा ज्यादा प्रयत्न करते हैं। किसी विशेष समुदाय के लोगों के जोरदार प्रयत्नों का कारण ढूंढते समय हम जीव-विज्ञान भूगोल और मनोविज्ञान चाहे जिससे सहायता लें लेकिन अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह विश्व के उन रहस्यों में है जिनका अभी तक दरअसल कोई समाधान नहीं निकाला जा सका है। मुझे तो लगता है कि सबसे अधिक तर्कसंगति इस उत्तर में है कि यह नेतृत्व के संयोग पर निर्भर है। यदि भाग्य से किसी समुदाय में, इतिहास के किसी नाजुक काल में कोई अच्छा नेता पैदा हो जाता है जो अपने देश-वासियों की भावनाओं को समझते हुए उन्हें उचित पथ प्रदर्शन द्वारा मूर्त रूप देता है तो वह ऐसी परम्पराएँ उपाख्यान और मानक स्थापित कर सकता है जो लोगों की विचारधारा में समाविष्ट हो जाते हैं, और अनेक शताब्दियों तक उनके व्यवहार का नियमन करते हैं। एक सीमा तक इन्हें जीवात्मक संयोग कह सकते हैं। यह दृष्टिकोण बिलकुल गलत मालूम होता है कि मनुष्य का सृजन उसकी चारों ओर की परिस्थितियाँ करती हैं, और नेता अपने समय-विशेष की रचना मात्र होते हैं। इस विचार में सहमति रखने का अर्थ है कि हम यह भी विश्वास करें कि हर देश में हर काल में ऐसे लोग पैदा होते हैं जिनमें बीथोविन, बुद्ध और न्यूटन बनने की क्षमता होती है। सर्वोत्कृष्ट सृजनशील लोग किस देश में या किस काल में कितने पैदा होंगे यह एक विलक्षण सांख्यिकीय संयोग है। स्थान और काल की परिस्थितियाँ इन लोगों के गुणों को समझने और उनका उपयोग करने में सहायक हो सकती हैं, लेकिन उनमें अज्ञात वस्तु को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य नहीं होती, और वह समुदाय बहुत भाग्यशाली है जिसे समय पड़ने पर आवश्यकतानुसार नेतृत्व मिल जाए।

धर्म और आर्थिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध पर बड़ा साहित्य उपलब्ध है, इसका परिचय देने वाली सर्वश्रेष्ठ पुस्तक आर० एच० टॉनी की रिलीजन एंड

सन्दर्भ-टिप्पणी

दी राइज ऑफ कैपिटलिज्म (धर्म और पूँजीवाद का उद्भव) द्वितीय संस्करण, लन्दन, १९३७ है, टैल-कोट पारसन की दी स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन (सामाजिक क्रिया की रचना), न्यूयार्क, १९३७, में मैक्स वेबर द्वारा दिए गए भारतीय, चीनी और यहूदी धर्म के अध्ययन का विस्तृत सारांश देखिए वेबर की मूल पुस्तक जिसामेल्ती ऑफ सीत्जो, जुर रिलीजनस्सोज़ियोलोज़ी, खंड २ और ३ टुबिन्जेन, १९२०-२१ का अंग्रेजी अनुवाद अभी तक नहीं निकला, एच० एच० गर्थ और सी० डब्लू० मिल्स की फ्रॉम मैक्स वेबर (मैक्स वेबर से), लन्दन, १९४७, भी पढ़िए। नयी आवश्यकताओं के विस्तार पर एच० जी० बर्नेट की इन्नोवेशन, दी बेसिस ऑफ कल्चरल चेंज,

(नवीन प्रक्रिया : सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार), न्यूयार्क, १९५३, ई० होइट का कथन "विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यकता का विस्तार", जर्नल ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी (अर्थशास्त्र का जर्नल), जून १९५१, और टी० वेबलन की दी थ्योरी ऑफ दी लेजर क्लास (आरामतलब वर्ग का सिद्धान्त), न्यूयार्क १८९९, पढ़नी चाहिए। कृषि-प्रधान देशों में औद्योगिक कामों के लिए श्रमिक भर्ती करने की समस्याओं का उत्तम विश्लेषण डब्ल्यू० ई० मूर की इंडस्ट्रियलाइज़ेशन एण्ड लेबर (औद्योगीकरण और श्रमिक), न्यूयार्क १९५१ में उपलब्ध है। प्रो० क्लिनबर्ग की रेस डिफरेन्सेज़ (जातिमूलक भेद), न्यूयार्क १९३५, में उस समय तक के इस विषय के समस्त साहित्य का सर्वेक्षण मिलेगा। ई० हंटिंगटन की दी मेन स्प्रिंग्स ऑफ सिविलाइज़ेशन (सभ्यता के मुख्य स्रोत) न्यूयार्क १९४५ में इस विषय पर कि मानव प्रवृत्तियों की भौगोलिक कारणों पर निर्भरता सबसे बाद की चीज़ है इस विद्वान और प्रसिद्ध लेखक के विशाल साहित्य का सारांश दिया हुआ है। पहले अध्याय में प्रश्न में ए० जे० टॉयनबी की जिस पुस्तक का उल्लेख है उसे भी पढ़ें। लोगों को भूमि पर बसाने की समस्याओं पर मैंने दो लेखों में विचार किया है: भूमि पर बसाने की समस्याएँ, कैरेबियन इकॉनमिक रिव्यू (कैरेबियन आर्थिक समीक्षा) अक्टूबर १९५१, में, और भूमि पर बसाने के सम्बन्ध में विचार, जर्नल ऑफ एग्रीकल्चरल इकॉनॉमिक्स (कृषि-अर्थशास्त्र का जर्नल), जून, १९५४ में।

अध्याय ३

आर्थिक संस्थान

पिछले अध्याय में हमने आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित प्रयत्न के बारे में मनुष्य की इच्छा पर विचार किया। इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि समुदाय के संस्थान किस रूप में उन प्रयत्नों के लिए कार्य-क्षेत्र प्रदान करते हैं। दोनों बातें एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, अगर संस्थान अनुकूल होते हैं तो प्रयत्न करने की इच्छा को बढ़ावा मिलता है और उसमें वृद्धि होती है, इसी प्रकार यदि इच्छा बलवती हुई तो संस्थानों में स्वयं अनुकूल परिवर्तन होने लगते हैं। हमने इन दोनों बातों को केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए अलग किया है।

संस्थान विकास में साधक हैं अथवा बाधक, यह इस पर निर्भर है कि वे आर्थिक प्रयत्नों के लिए कितना क्षेत्र प्रदान करते हैं, विशेषज्ञता के कितने अवसर उपलब्ध करते हैं और आर्थिक चातुर्य प्रकट करने की कितनी आजादी देते हैं। इनमें से हर मुद्दे पर हम बारी-बारी से विचार करेंगे। फिर कुछ संस्थानों के अधिक ब्यौरेवार विश्लेषण के बाद विकास के प्रति उनकी अनुकूलता की बात समाप्त कर संस्थानों के क्रमिक विकास और परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर चर्चा करेंगे।

१. पारिश्रमिक का अधिकार

मनुष्य तब तक प्रयत्न नहीं करता जब तक कि उसे यह आश्वासन न मिले कि उसके प्रयत्नों का फल या तो स्वयं उसी के उपभोग के लिए होगा या उन लोगों को मिलेगा जिनके अधिकार को वह मान्यता देता है। इस अनुभाग के विचारणीय विषय का यह बुनियादी तर्क है। समाज-सुधारकों के अधिकांश प्रयत्नों का उद्देश्य संस्थानों में इस प्रकार के परिवर्तन करना होता है जिससे प्रयत्न की भावना को संरक्षण मिले। लेकिन बात इतनी आसान नहीं है। इस बारे में मतभेद हो सकते हैं कि मनुष्य 'किन लोगों के अधिकार को मान्यता देता है', और 'प्रयत्न' और उसका 'फल' क्या हैं।

(ख) अभौतिक पारिश्रमिक—यूटोपियावादी दार्शनिकों ने अक्सर इस विचार को चुनौती दी है कि प्रयत्न को बढ़ावा देने के लिए भौतिक पारिश्रमिक और प्रयत्न के बीच किसी-न-किसी प्रकार का अनुपात होना ही चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य ऐसा प्राणी है या उसे ऐसा बनाया जा सकता है कि वह सृजनात्मक प्रयत्न की खुशी के लिए या अपने साथियों की सेवा की खुशी के लिए ही काम कर सकता है। दूसरे लोग जो इतनी दृढ़ता से अपना मत प्रकट नहीं करते उनका कहना है कि यदि मनुष्य को सामाजिक मान्यता दी जाए तो भले ही उसमें भौतिक पारिश्रमिक शामिल न हो लेकिन वह उससे सन्तुष्ट हो जाएगा।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य को अपने काम से भौतिक पारिश्रमिक के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संतोष भी प्राप्त होते हैं। कुछ ऐसे काम हैं जिनमें कि सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। ऐसे काम बहुत थोड़ा या कभी-कभी बिना पारिश्रमिक लिए ही कर दिए जाते हैं। लेकिन अधिकतर काम इस प्रकार के नहीं हैं। यही नहीं कि अधिकांश धन्धे इस तरह के नहीं हैं बल्कि आकर्षक धन्धों में भी अधिकांश कार्य उबा देने वाला होता है। आन्त्रपुच्छ के पच्चीस ऑपरेशन करने के बाद सर्जन को उससे उकताहट होने लगती है और विश्वविद्यालय का अध्यापक भी बार-बार एक से लेक्चर देते-देते थक जाता है। यदि समुदाय लोगों को मन-चाहे काम करने के लिए छोड़ दे तो अधिकतर काम होगा ही नहीं।

हाँ, यह सही है कि अपने साथियों की सेवा करने से काम का मजा बढ़ जाता है। एक-न-एक परिस्थिति में—जैसे अपने पूजा-स्थान के लिए या अपने गाँव के लिए, या अचानक संकट आने पर—लोग बहुत थोड़ा भौतिक पारिश्रमिक लेकर, या बिना पारिश्रमिक लिए ही खुशी-खुशी काम करने को तैयार हो जाते हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि अपने समूह के लोगों के साथ हमारे सम्बन्धों में उनके प्रति सेवा-भाव के अलावा और भी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो हमें सेवा करने से रोक सकती हैं। कुछ लोगों में काम को टालने की बड़ी भारी प्रवृत्ति होती है, कुछ लोगों के अन्दर न्याय-भावना इतनी उग्र होती है कि वे अपने हिस्से से अधिक काम करना बर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसे समूह में, जिसके सब सदस्यों के अन्दर बड़े ऊँचे दर्जे की सेवा भावना हो, लोग सामूहिक प्रयत्न और सामूहिक पारिश्रमिक में अपने अपने हिस्से की एक-दूसरे से बराबरी किये बिना काम करते रह सकते हैं। लेकिन छोटे-से परिवार को छोड़कर बहुत थोड़े समूह ऐसे मिलेंगे जिनके अन्दर इस प्रकार के आदर्श पूरी तौर पर या बुनियादी तौर पर क्रियाशील हों।

यूटोपियावादियों की यह बात सही है कि मनुष्य कम या अधिक पारि-

अधिक की चिन्ता किये बिना काम करते रह सकते हैं यदि उन्हें यह आश्वासन हो कि उनके काम से सब लोगों का समान हित होगा और कोई एक ही व्यक्ति उससे अधिक लाभान्वित नहीं होगा। ऐसे समुदाय में, जहाँ हर आदमी को लगभग बराबर पारिश्रमिक मिलता है लोग इस बात को बुरा नहीं मानते कि कोई दूसरा आदमी उनके काम से लाभ उठा रहा है। लेकिन न तो उन्हें विशेष प्रयत्न करने की प्रेरणा अनुभव होती है और न वे अपने हिस्से के काम को टालने की प्रवृत्ति से बचने का कोई प्रयत्न करते हैं। यह व्यवस्था जरूरी है कि कोई आदमी दूसरे के काम के फल का उपभोग न करे लेकिन केवल यही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जब तक इन प्रयत्नों के अन्तर को देखते हुए उनके पारिश्रमिक में भी अन्तर नहीं करेंगे तब तक लोग अपनी प्रतिभा और साधनों को अपनी पूरी सामर्थ्य के अनुसार विकसित करने का कोई कष्ट नहीं उठाएँगे।

जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य उस स्थिति की अपेक्षा, जिसमें कि पारिश्रमिक काफी लोगों में बँट जाता है उस स्थिति में अधिक प्रयत्न करता है जबकि पारिश्रमिक केवल प्रयत्न करने वाले को ही काम में भाग या उसके घनिष्ठ सम्बन्धियों को ही मिले, तो इससे हमारा आशय यह नहीं होता कि मनुष्यों को अपने काम में सृजन का सुख मिलना वांछनीय नहीं है, या कि मनुष्य अपने साथियों की सेवा करके प्रसन्न नहीं होते, या कि समाज द्वारा सम्मान दिलाकर काम को मान्यता देने से परिश्रम में सक्रियता नहीं आती। वस्तुतः मनुष्य ऐसी स्थिति में और भी अधिक काम करते हैं जबकि उनका काम सृजनात्मक हो, उन सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो जिन्हें वे महत्त्व देते हैं, और उस काम को मान्यता दी जाए, लेकिन अगर काम का भौतिक पुरस्कार रोक लिया जाए तो वे काम कम करने लगेंगे। इस चीज को आज सबसे अधिक सोवियत रूस में माना जाता है। जब सोवियत रूस का जन्म हुआ तो उसके नेताओं का विश्वास था कि अगर लोगों की कमाई बराबर कर दी जाए और दमन के अस्त्रों के स्थान पर सरकार की ओर से पदवियाँ और पदक दिये जाएँ तो आर्थिक प्रयत्न उतने ही होते रहेंगे। अनुभव ने उनकी ये आशाएँ झुठला दीं, और जब उनकी नीति का सबसे बड़ा उद्देश्य तीव्र गति से आर्थिक विकास करना हुआ तो रूस के शासकों को फिर से कमाई में अन्तर रखने पड़े और यह सुझाव देना जुर्म माना जाने लगा कि काम की प्रकृति के बावजूद हर आदमी को एकसा पारिश्रमिक दिया जाए।

आधुनिक काल में समुदायवाद की शक्ति का आदर्श उदाहरण हाल ही के वर्षों में देहाती क्षेत्रों में 'सामुदायिक विकास' आन्दोलन की प्रगति के रूप में देखने को मिलता है। इन योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीणों को गाँव के

विशेष हित के कामों में श्रमदान करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। ये काम सड़क, स्कूल, कुएँ, सामुदायिक केन्द्र या दूसरी सार्वजनिक सम्पत्ति के निर्माण होते है। इन योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए कोई संगठन चाहिएँ, योजना तैयार करने के लिए और उनके प्रति उत्साह पैदा करने के लिए *सरकारी कर्मचारी उपलब्ध होने चाहिएँ* और सामान की लागत और स्वयं गाँवों में अप्राप्य कारीगरों की व्यवस्था के लिए सार्वजनिक धन का प्रबन्ध होना चाहिए। इन सबका प्रबन्ध हो जाने पर अनुभव से सिद्ध होता है कि गाँव वाले इन स्थानीय सार्वजनिक कामों में खुशी से श्रमदान करते हैं। शहर वालों के लिए सामान्यतर व्यष्टिवादी समाज के लोगों को, यह बात अजीब सी लगती है लेकिन छोटे गाँव में, जहाँ सब आदमी एक दूसरे को जानते हैं, सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने की दिशा में सामुदायिक कामों के लिए सामुदायिक प्रयत्न की भावना पैदा करना अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है। इतने पर भी इस प्रकार जो काम किये जा सकते हैं उनकी एक निश्चित सीमा है। पहली तो यह कि ये काम स्थानीय हित के होने चाहिएँ, गाँव वाले अपने गाँव को मुख्य सड़क से मिलाने के लिए एक छोटी सड़क तो बना सकते हैं लेकिन वे हर आदमी के उपयोग के लिए कोई मुख्य सड़क *बनाने को तैयार नहीं होंगे*, इसी प्रकार वे अपने गाँव के लिए जल निकास व्यवस्था तैयार कर लेंगे, लेकिन अगर उन्हें पता हो कि उनके क्षेत्र से बाहर के लोगों को भी इसका लाभ पहुँचेगा तो वे काम करने के लिए तत्पर नहीं होंगे। दूसरी शर्त यह है कि इस प्रकार के निर्माण-कार्यों से सारे गाँव को लाभ पहुँचना चाहिए और बाकी लोगों की अपेक्षा कुछ थोड़े से आदमियों को ही *प्रत्यक्ष रूप से अधिक लाभ नहीं मिलना चाहिए*।

सामुदायिक विकास की मर्यादाओं के उदाहरण से यह बड़ी अच्छी तरह समझा जा सकता है कि समूह के प्रति सेवा-भावना के रूप में प्रेरणाओं की क्या सीमाएँ हैं। यह सेवा भावना वहाँ तो बहुत अच्छी तरह काम करती है जहाँ कि आर्थिक परिस्थितियाँ स्थायी होती हैं और जहाँ व्यक्तिगत प्रेरणा के बजाय दैनन्दिन क्रिया ही प्रचलित होती है, *इस प्रकार की परिस्थितियों में हर* आदमी को पता रहता है कि उसे क्या करना है और उसे इससे क्या लाभ होगा, और आर्थिक प्रणाली ठीक से चलती रहती है। यदि परिवर्तन इस प्रकार का हो कि उससे हर व्यक्ति को लगभग एक-सा ही लाभ पहुँचने की आशा हो तो आर्थिक प्रणाली में भी अनुकूल परिवर्तन हो सकता है। वैसे, अक्सर आर्थिक विकास से हर आदमी को एक-सा लाभ नहीं पहुँचता, कुछ लोगों को दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ होता है और अगर लोगों को पता चल जाए कि इसी प्रकार का लाभ अधिकतर दूसरों को मिलेगा तो वे ना[illegible]

पहले के मुकाबले अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रेरित होंगे और न पहले के काम को छोड़कर कोई अन्य प्रकार का काम करने के लिए तैयार होंगे। आर्थिक विकास केवल इतने से ही नहीं हो जाता कि लोग प्रयत्न या पारिश्रमिक पर ध्यान दिये बिना पहले वाले काम को खुशी से करते चले जाएँ। विकास तब होता है जबकि विभिन्न व्यक्ति अपने काम के तरीके और काम की मात्रा में परिवर्तन लाते हैं और अधिकारियों के आदेशों के ज़रिए नवीन प्रक्रिया लागू करने की स्थिति में भी विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि समुदाय के सदस्य बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार तत्काल अपने में आवश्यक समंजन करने और नये अवसरों को खोजने और उनसे लाभ उठाने के लिए इच्छुक हों। हाँ, कुछ समाज ऐसे हैं जो अपनी कठिन भौगोलिक परिस्थितियों और उपलब्ध प्रौद्योगिकी को देखते हुए जितनी उन्नति की जा सकती थी उतनी कर चुके हैं। उदाहरण के लिए, एस्कीमो जितना कर सकते थे कर चुके हैं, व्यष्टिवाद का और अधिक प्रचार उनके रहन-सहन की टेक्नीक में सुधार नहीं ला सकता, बल्कि आज्ञा-पालन और दायित्व के बन्धनों को शिथिल किया गया तो इसका प्रभाव उल्टा पड़ सकता है, अर्थात् उनके जीवित बने रहने के अवसर शायद और कम हो जाएँ। यदि और विकास करना सम्भव न हो तो व्यक्तिगत प्रेरणा का अभाव कोई बाधा नहीं होगी। वैसे, अधिकांश समुदायों में आर्थिक विकास की गुञ्जायश रहती ही है। अगर उनकी अपनी टेक्नीकों में सुधार की गुञ्जाइश नहीं है तो बाहर से नई टेक्नीकें लाकर लागू की जा सकती हैं, या विदेश-व्यापार से उत्पन्न नये अवसरों का लाभ उठाया जा सकता है। एक बार अगर हम स्थिरता से निकलकर परिवर्तनशील परिस्थितियों में आ गए तो फिर समुदाय के प्रतिव्यक्ति के दायित्वों की भावना से ही काम चलना मुश्किल है, तब तो अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न और परिश्रम में निकट का सम्बन्ध रखना होगा। व्यक्तिगत लाभ के अवसरों के सामने समाज के प्रति दायित्वों की भावना का टिके रहना बड़ा सन्दिग्ध भी है। जिन समाजों में तेज़ी से आर्थिक परिवर्तन होते हैं उनमें व्यष्टिवाद की भावना भी उतनी ही तेज़ी से बढ़ती है, और सम्भवतः इसे रोकने का कोई उपाय नहीं है।

(ख) सम्पत्ति की व्यवस्था—आर्थिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों में से एक पूँजी-निर्माण भी है और पूँजी निर्माण के लिए अपेक्षित परिस्थितियों में सम्पत्ति का कानून बना होना आवश्यक है। सम्पत्ति से हमारा तात्पर्य किसी साधन-विशेष का दूसरे लोगों द्वारा उपयोग न होने देने का कानूनी अधिकार है। यह अधिकार किसी व्यक्ति को भी मिल सकता है, या किसी समूह या लोक-प्राधिकारी के पास भी हो सकता है, इसी प्रकार अधिकार में बहुत लोगों का

भी साझा हो सकता है या थोड़े लोगों का भी 'ट्रस्ट' होता है, अधिकार का उपयोग चाहे जो करे लेकिन इसमें सबसे बुनियादी चीज दूसरों को उपयोग से वंचित रखने का अधिकार है। हम इस बात पर इसलिए जोर दे रहे हैं कि *सम्पत्ति का अर्थ* अक्सर केवल निजी सम्पत्ति लगाया जाता है। वस्तुत सरकार का युद्धपोत उसी प्रकार एक सम्पत्ति है जैसे कि किसान की जमीन। युद्धपोत को सम्पत्ति मानने का कारण यह है कि बावजूद इसके कि कुछ सैद्धान्तिक ग्रंथों में युद्धपोत 'सारी जनता' की सम्पत्ति माना जाता है बहुत ही खास *अपवादित मामलों को छोड़कर कानूनन और व्यवहारत जनता के आम आदमी* का युद्धपोत से किसी प्रकार का वास्ता नहीं होता।

पूंजीवादी, समाजवादी, सामन्तवादी और अन्य सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में सम्पत्ति की कानूनी संकल्पना को मान्यता दी जाती है। अगर किसी साधन और उसके फल को सारी जनता के उपयोग से बचाने की व्यवस्था न की जाए तो निश्चित ही उसका दुरुपयोग होने लगेगा, और कोई आदमी उसके सुधार के लिए पूंजी-निवेश करना ठीक नहीं समझेगा। इसीलिए *दुर्लभ सिद्ध होते ही सब साधनों को सम्पत्ति मानकर उन्हें कानूनी सुरक्षा* प्रदान की जाती है। कुछ देशों में, जिनकी आबादी उनके साधनों की तुलना में बहुत थोड़ी हो, कुछ साधन अनेक शताब्दियों तक मुक्त रूप से उपयोग में लाए जा सकते हैं। लोगों को जितनी जरूरत हो जंगल से पेड़ काटने की छूट हो सकती है, *नदियों में मुक्त मछलियाँ पकड़ने दिया जा सकता है*, पानी के मनचाहे प्रयोग की सुविधा हो सकती है, या अपने पशुओं को सार्वजनिक जमीनों पर चराने की आजादी हो सकती है। लेकिन आबादी बढ़ने के साथ-साथ इन सब *क्रियाओं पर नियंत्रण लग जाता है, ये सब साधन निजी* सम्पत्ति बना दिए जाते हैं, या अगर इन्हें लोक-सम्पत्ति मान लिया जाता है तो इनका उपयोग सरकार या किसी अन्य सामी प्राधिकरण द्वारा सावधानी से नियमित होता है।

जहाँ एक ओर सार्वजनिक सम्पत्ति को निजी दुरुपयोग से बचाना आवश्यक है वहाँ निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक दुरुपयोग से बचाने की व्यवस्था भी उतनी ही जरूरी है। कानून और व्यवस्था की स्थापना आर्थिक विकास के लिए आवश्यक बुनियादी शर्तों में से एक है, और अनेक समुदायों का केवल इसीलिए पतन हुआ है कि उनकी सरकारें डाकुओं या आम लोगों की हरकतों से सम्पत्ति के स्वामियों की रक्षा करने के लिए इच्छुक नहीं थीं या उनमें अपेक्षित सामर्थ्य नहीं थी। सच तो यह है कि पूंजी-निवेश की प्रवृत्ति आम उपद्रवों और क्रान्तियों के जमाने में भी बनी रह सकती है। हाँ, अगर उपद्रव का काल बहुत लम्बा हो जाए तो पूंजी-निर्माण के स्थान पर बचत को गर्त

करने की भावना पैदा होने लगती है। लोगों के विश्वास को आघात पहुँचाने में जिस प्रकार डाकुओं और उपद्रवियों का योग होता है, उसी प्रकार सरकारी नीति भी उसके लिए उत्तरदायी हो सकती है। पूँजी-निवेश करने वालों को यदि पहले से मालूम हो कि उन्हें किस प्रकार का कर अदा करना होगा और उसका भार कितना होगा तो वे भारी कर चुकाने के लिए भी तैयार हो सकते हैं लेकिन अगर मनमाने तरीके से कर लगाये जाएँ—जैसे कि दस का जो मकान शासक को पसन्द आ जाए वह उसे अपने कब्जे में ले ले, या जिन लोगों को वह चाहे उन्हें चुनकर धन देने के लिए मजबूर करे—तो लोगों के अन्दर अपने धन को छिपाने की (प्राय अनुत्पादक रूप में), निर्यात करने की या उपभोग कर लेने की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। (करधान पर आगे अध्याय ७ में विचार किया गया है।)

समाज के हर भाग में सम्पत्ति एक मान्यता प्राप्त संस्थान है, बिना इसके मनुष्य-जाति शायद कोई उन्नति न कर पाती, क्योंकि तब मनुष्य को अपने पर्यावरण में सुधार करने के लिए कोई प्रेरणा ही न मिलती। वैसे इस संस्थान में दूसरों को उपयोग से वंचित रखने के बुनियादी अधिकार के अलावा और बातें भी शामिल हैं, और भिन्न-भिन्न समाजों में सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनों और प्रथाओं में भिन्न भिन्न प्रकार की जटिलताएँ हैं।

आर्थिक विकास की दृष्टि से सबसे बुनियादी आवश्यकता यह है कि पूँजी-निवेश करने वाले को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उसे अपना 'धन वापस मिल जाएगा", तथा अपने द्रव्य का उपभोग न करके उसे पूँजी-निवेश में लगाने का कुछ मुआवजा भी मिलेगा। यह विश्वास जितना निजी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है उतना ही सार्वजनिक प्राधिकारी के लिए भी है, क्योंकि सरकारें भी तब तक पूँजी निवेश नहीं करतीं जब तक कि उनको अपने धन का पूरा मूल्य वापस मिलने की आशा नहीं होती। पूँजी निवेश करने वाले का विश्वास गलत सिद्ध हो सकता है, पूँजी निवेश करते समय उसने जितनी जोखिम का अन्दाजा किया था वह उससे ज्यादा निकल सकता है, और सम्भव है उसे अपना पैसा वापस भी न मिले, लेकिन पूँजी-निवेश करते समय उसे अपनी सम्भावनाओं पर विश्वास होना चाहिए। 'अपना धन वापस मिलने" की बात को और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हो सकता है कोई व्यक्ति ऐसे साधन में पूँजी निवेश कर दे जिसकी उत्पत्ति बेचनी न हो, लेकिन आने वाले समय में उसका निरंतर उपयोग करना हो—उदाहरण के लिए, निजी व्यक्ति द्वारा मकान या दूसरे टिकाऊ उपभोक्ता पदार्थों में पूँजी-निवेश, और सरकार द्वारा स्कूल, सड़क या सरकारी कार्यालयों के लिए इमारत के निर्माण में पूँजी निवेश, या यह भी सम्भव है कि निजी व्यक्ति भावना में

प्रेरित होकर कर्जा दे दे अथवा यह जानते हुए भी कि रुपया वापस नहीं होगा, सरकार राजनीतिक कारणों से ही कर्जा दे सकती है। यह सब 'अपना रुपया वापस मिला' जैसा ही है क्योंकि पूंजी-निवेश करने वाले को यह सन्तोष होता है कि पूंजी-निवेश के बदले उसे यथेष्ट भौतिक, या भावात्मक, या राजनीतिक लाभ मिल रहा है। 'रुपया वापस मिल सकने' वाली उक्ति के इस व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि पूंजी-निवेश की एक शर्त यह होनी चाहिए कि मनुष्य को इस बात का पता हो कि उसका पैसा वापस मिल जायगा और धन का तुरन्त उपभोग न करके उसे निवेश कर देने के बदले थोड़ा-सा अतिरिक्त मुआवजा भी मिलेगा।

अगर पूंजी लगाने वाला अपने ही काम में पूंजी लगा रहा है, जिसमें कोई साझेदार या कर्मचारी नहीं है, तो समस्या काफी सरल है। अगर उसके साथ और साझेदार भी हैं, या उसने अपनी सम्पत्ति किराये पर उठायी हुई है, या उसके प्रबन्ध के लिए कर्मचारी रखे हुए हैं अथवा दूसरे लोग उस पर काम कर रहे हैं तो इन सम्बन्धों के कारण जटिल समस्याएँ पैदा होती हैं। बात यह है कि तब उसकी सम्पत्ति और दूसरों की सम्पत्ति की संयुक्त उत्पत्ति को बांटना होता है और अगर साझेदारों के हित में संघर्ष हो, जैसा कि लगभग सदा ही होता है, तो सभी पक्षों को सन्तुष्ट रखने के लिए कठोर नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है।

पहले साझेदारी के सम्बन्ध पर विचार करें। यदि संयुक्त सम्पत्ति साझेदारों के बीच बराबर बंटी हुई है तो हर साझेदार को अपने अन्य साथियों की अपेक्षा अधिक कुछ करने में दिलचस्पी नहीं होगी, उसकी दिलचस्पी इसी में होगी कि कम से कम करे और सम्पत्ति में से अधिक-से-अधिक बांट ले— सम्पत्ति के लिए कुछ करना श्रम, या प्रयत्न, या विचार, किसी प्रकार के योग के रूप में हो सकता है। पारिवारिक व्यवसाय भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं। जहाँ परिवार के सदस्य संख्या में ज्यादा होते हैं या परस्पर-विरोधी होते हैं वहाँ व्यवसाय अक्सर इसीलिए ठप हुआ है कि कुछ सदस्य संयुक्त सम्पत्ति के अनुरक्षण के लिए जितना काम करते हैं बदले में उससे कहीं अधिक धन हड़पने की कोशिश करते हैं। किसानों द्वारा सहकारिता के आधार पर खेती की मशीनें रखने के प्रारम्भिक प्रयत्न भी ऐसे ही उदाहरण हैं; पता यह चला कि कुछ किसान मशीन को उतनी सावधानी के साथ इस्तेमाल नहीं करते थे जितनी कि वे उन परिस्थितियों में करते यदि मशीनें उनकी अपनी होतीं, और इसीलिए यह आवश्यक समझा गया कि हर किसान को खुद मशीनें चलाने की अनुमति देने के बजाय प्रशिक्षित मिस्त्री रखे जायें जिन्हें उन्हें मशीनें चलाने और उनके अनुरक्षण का पूरा-पूरा उत्तर-

जाता है। समुदाय की अधिकांश सम्पत्ति शेयर-होल्डरों की होती है जो उसके प्रबन्ध का जिम्मा निर्देशकों को सौंप देते हैं। सरकार या दूसरे लोक प्राधिकरणों की सम्पत्ति भी कर्मचारियों के प्रबन्ध में रहती है। इन दोनों के लिए कठोर नियम बने हुए हैं जिनका उद्देश्य कर्मचारियों से स्वामियों के हित की रक्षा करना है। वैसे, ये नियम सदा कारगर नहीं होते। सार्वजनिक सम्पत्ति के विरुद्ध और निजी सम्पत्ति के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि सम्पत्ति का निजी स्वामी सरकार के वेतन-भोगी कर्मचारियों की तुलना में सम्पत्ति की देखभाल अधिक अच्छी तरह कर सकता है लेकिन यह तर्क अब निष्प्रभाव है क्योंकि बड़े पैमाने के संगठनों और मिश्रित पूंजी कम्पनियों के विकास के साथ-साथ निजी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी स्वामियों के हाथ से निकलकर वेतन-भोगी कर्मचारियों के हाथ में चला गया है।

अन्त में हमारे समाज की कुछ सबसे कठिन समस्याएं उन लोगों के संघर्ष से सम्बन्धित हैं जिनमें एक ओर सम्पत्ति के मालिक हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो दूसरे लोगों की सम्पत्ति पर मजदूरी लेकर काम करते हैं। दोनों ओर के जबरदस्त हिमायतियों के तर्क प्रस्तुत करके हम इस संघर्ष का मनोरंजक चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। एक ओर कुछ ऐसे लोग सदा मिल जाते हैं जो दासत्व के समर्थक हैं, और जिनका कहना है कि मजदूर को केवल अपने गुजारे लायक मिलना चाहिए और इससे बेशी उत्पादन पूरे-का-पूरा सम्पत्ति के स्वामी का है। दूसरी ओर वे लोग हैं जिनके अनुसार उत्पादन श्रम का ही नतीजा है इसलिए 'श्रम का पूरा फल' मजदूर को मिलना चाहिए—इन लोगों के तर्क में कभी-कभी यह भी स्पष्ट नहीं बताया जाता कि श्रम पूरे फल में से पूंजी लगाने के लिए राशि निकाली जाएगी अथवा नहीं। इन दोनों विपरीत मतों के बीच उत्पादन के बंटवारे के लिए अनेक प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं।

इस खण्ड में हमने जिन समस्याओं की चर्चा की है यह उनसे भिन्न है। पहले तो हमारा जोर इसी बात पर था कि सम्पत्ति पर जिसका नियंत्रण हो, चाहे वह स्वामी हो या किरायेदार हो या प्रबन्धक हो, उसे सम्पत्ति के अनुरक्षण और सुधार में दिलचस्पी होनी चाहिए। उत्पत्ति में श्रमिक के हिस्से की समस्या सम्पत्ति के नियंत्रण के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित नहीं है, इसलिए हम इस पर अलग से विचार करेंगे।

(ग) काम के लिए पारिश्रमिक—हम पहले कह चुके हैं कि लोग तब तक अपनी पूरी योग्यता से काम करने के लिए तत्पर नहीं होते हैं जब तक कि उन्हें यह निश्चय न हो कि काम के बदले मिलनेवाला पारिश्रमिक उन्हीं के उपयोग में आएगा, या जिनके अधिकार को वे मान्यता देते हैं उन्हें मिलेगा। जब मनुष्यों के काम के पारिश्रमिक को दूसरे प्रतिफल से अलग करना मुश्किल हो

रूप से जोर देना पड़ता है—यह प्रणाली चाहे उजरत के रूप में हो, या बोनस या और किसी रूप में हो—ताकि काम न करने वाले साथी को दण्डित किया जा सके और अच्छा काम दिखाने वाले को पुरस्कृत किया जा सके।

संगठन के आकार में केवल यही एक समस्या पैदा नहीं होती बड़े-बड़े सहकारी संगठनों के प्रबन्ध की समस्या इससे कहीं अधिक विकट है। लोगों की बड़ी संख्या अनुशासन या प्राधिकार के बिना ठीक से काम नहीं कर सकती। किसी एक आदमी को निर्णय लेने पड़ते हैं और उन्हें लागू करना होता है। सहकारी संगठन के सदस्य एक-सी हैसियत के साझेदार हो सकते हैं, लेकिन उन्हें एकसा प्राधिकार नहीं दिया जा सकता। अगर उनकी संख्या काफी हो तो उन्हें अपने प्राधिकार एक समिति को सौंपने होंगे, और कोई कार्यकारी समिति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह अपनी अधिकांश सत्ता थोड़े-से लोगों को न सौंप दे और उन्हीं के कन्धों पर पूरी-पूरी जिम्मेदारी न डाल दे। परिणाम यह होता है कि अधिकांश सहकारियों का निर्णय लेने में कोई योग नहीं होता और उन्हें वेतनभोगी कर्मचारियों की भाँति ऊपर से मिले आदेशों का पालन करना होता है। वे इस व्यवस्था से असन्तुष्ट हो उठते हैं। उन्हें शायद लाभ के बंटवारे से भी असन्तोष हो जाता है, दूसरों की तुलना में उन्हें अपना वेतन भी उचित नहीं जँचता, वे प्रबन्धक मण्डल के इस आदेश से भी सहमत नहीं होते कि लाभ के एक बड़े भाग को आरक्षित निधि, आकस्मिक खर्चों, या विस्तार कार्यक्रमों के लिए निकाल दिया जाए। थोड़े-बहुत समय में वे प्राधिकारियों को उखाड़ फेंकते हैं और संगठन में आन्तरिक विभेदों का बोलबाला हो जाता है। परिणामतः बड़े पैमाने पर चलाए जाने वाले सहकारी संगठन उन बड़ी-बड़ी फर्मों के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता नहीं कर पाते जो सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं होतीं। इसके अपवाद कहीं-कहीं ही पाए जाते हैं। रूस के सामूहिक फार्म नाम के ही सहकारी संगठन हैं, प्रबन्धक-मण्डल की नियुक्ति कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य करते हैं जो हर सदस्य का काम निश्चित करता है, उसके काम के अनुसार वेतन देता है, और शेष उत्पादन को कमाई के अनुपात में बांट देता है। सदस्यों को व्यक्तिगत हैसियत से प्रबन्धक-मण्डल और उसकी नीति को बदलने का केवल सैद्धान्तिक अधिकार प्राप्त होता है। इजराइल में सामुदायिक फार्म वस्तुतः प्रजातान्त्रिक हैं। उन पर केन्द्रीय एजेन्सी का दबदबा काफी बड़ा होता है, और वही उनका पर्यवेक्षण करती है, लेकिन इससे फार्मों के सदस्यों के *वास्तविक अधिकारों में कमी नहीं आती। सदस्य-संख्या औसतन* २५० होती है और सदस्यों को उनके काम के अनुपात में वेतन नहीं दिया जाता। अधिकांश प्रेक्षकों का विचार है कि इन सामूहिक फार्मों की सफलता का कारण

इजराइल में बाहर से आकर बसे हुए यहूदी किसानों की विशेष भावनाएँ हैं, दूसरा कारण दूर-दूर बसी हुई बस्तियों की सैनिक सुरक्षा में इन सामूहिक संगठनों का योग भी है। एक यहूदी राष्ट्रीय देश स्थापित करने की प्रक्रिया में जिन विशेष कष्टों और भावनाओं का प्राधान्य रहा है वे थोड़े-बहुत दिन में लुप्त हो जाएँगी, और तब भी अगर ये सामूहिक संगठन अपना आदिम समुदायवाद कायम रख सके और आर्थिक सफलता कायम रख सके तो यह मनुष्य के पिछले सब अनुभवों के विपरीत होगा।

मनुष्यों के आदिम कार्य एकक भी एक प्रकार के सहकारी संगठन ही कहे जा सकते हैं। सबसे शुरू के जिन समाजों के बारे में हमें जानकारी है उनके कार्य का एकक परिवार, या कबीला या शिल्पियों की श्रेणी या पुरोहितों अथवा और ऐसे ही दूसरे लोगों का वर्ग रहा है। पश्चिम का औद्योगिक पूँजीवाद साझेदारों के एककों से शुरू हुआ जिनमें शिल्पी साथ मिलकर काम करते थे, उस्ताद शिल्पियों द्वारा जर्नीमैन नौकर रखने की प्रथा शायद मध्य-युग के बाद आरम्भ हुई। समूह बनाकर काम करने के अपने लाभ हैं, विशेषकर उन लोगों के लिए जो सिर्फ गुजारे के लायक कमा पाते हैं, या उनके लिए जो आक्रमण या बार-बार आने वाले प्राकृतिक खतरों से डरते हुए जीवन बिताते हैं, ऐसी परिस्थिति-समूह का हर आदमी एक-दूसरे की मदद करता है और साथ-साथ काम करने से पारस्परिक संरक्षण या बीमे-जैसी भावना आ जाती है। किसान अक्सर एक-दूसरे की जमीन पर काम करने के लिए अपने दल बना लेते हैं, और मकान बनाते समय, या जमीन साफ़ करते समय, या फसल काटते समय एक-दूसरे की मदद करते हैं। लेकिन इस प्रकार का संगठन भाईचारे, या धार्मिक साहचर्य पर आधारित सामूहिक आस्था के मजबूत बन्धनों के बने रहने पर निर्भर होता है। अधिक व्यष्टिवादी भावनाओं के बढ़ने के साथ-साथ, या व्यापार या नवीन प्रक्रिया के बारे में लोगों की जागरूकता बढ़ने के साथ-साथ, या आर्थिक अवसर बढ़ने पर, या बड़े पैमाने के संगठनों से होने वाले लाभ मालूम होने पर समूह के प्रति आस्था की भावना टूटने लगती है। सहकारी ढंग का उद्यम स्थिर समाजों के लिए बहुत अच्छा है, लेकिन गुजारे के लायक कमाई का निम्न-स्तर पार होते ही उत्पादक एकक के रूप में (विपणन या उधार-समितियों की बात दूसरी है) ये संगठन आसानी से नहीं टिक पाते।

प्रेरणा और प्राधिकार की समस्याएँ बड़े पैमाने के सभी संगठनों के सामने आती हैं, यहाँ तक कि वे संगठन भी इनसे अछूते नहीं हैं जिनमें श्रमिक अपनी ही सम्पत्ति पर काम करते हैं। हाँ, काम और स्वामित्व अलग अलग हाथों में होने से एक तीसरी समस्या और खड़ी हो जाती है जिसे आमदनी का

श्रम और सम्पत्ति के बीच बँटवारा करते हैं। सहकारी संगठनों में सम्पत्ति को अलग से कोई हिस्सा नहीं दिया जाता। सारी आमदनी उन लोगों में बाँट दी जाती है जो काम करते हैं और साथ ही सम्पत्ति के मालिक भी होते हैं। लेकिन पूंजीवादी और समाजवादी समाजों में सम्पत्ति या तो पूंजीपति की होती है या सरकार की होती है और दोनों ही स्थितियों में सम्पत्ति का स्वामी पारिश्रमिक के रूप में भी कुछ लेना चाहता है और काम के ऊपर नियंत्रण में भी हिस्सा लेने पर जोर देता है। यहाँ इस बात को खासतौर से ध्यान में रखना चाहिए कि सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से इनमें से कोई समस्या नहीं सुलझती। समाजवादी सिद्धान्त के विकास का एक चरण ऐसा था जबकि समाजवादियों ने कहा था कि सम्पत्ति उन्हीं लोगों के अधिकार में होनी चाहिए जो उस पर काम करते हैं—श्रमिक संघवाद के रूप में या श्रेणी समाजवाद, या श्रमिकों के नियंत्रण के रूप में इस प्रकार का समाजवाद सहकारी उद्यम का ही दूसरा नाम है और उसके सामने तीन के बजाय केवल दो समस्याएँ रह जाती हैं। लेकिन यथार्थ में रूस या ब्रिटेन या अमरीका, या और जगह भी समाजवाद का श्रीगणेश इस रूप में हुआ है कि सम्पत्ति को निजी स्वामियों से लेकर श्रमिकों को नहीं बल्कि सरकार या दूसरे लोक-प्राधिकरणों को दे दिया गया है जो काम पर नियंत्रण भी रखती है और आमदनी में हिस्सा भी लेती है। इस प्रकार की व्यवस्था में श्रमिक के विचारों में कितना परिवर्तन होता है यह राज्य के प्रति उसकी प्रवृत्ति पर निर्भर है। सम्भव है उसका विश्वास हो कि निजी स्वामी की अपेक्षा राज्य को हिस्सा देना और उसके नियंत्रण में काम करना ज्यादा अच्छा है, पर बहुत-कुछ इस पर निर्भर है कि श्रमिक के मन में किस प्रकार के विश्वास जमाये गए हैं। कुछ श्रमिक, जो अपनी सरकारों के प्रति भय और अपने मालिकों के प्रति मित्रता के वातावरण में पलकर बड़े हुए हैं, इस प्रकार के किसी भी परिवर्तन का विरोध करते हैं, दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जिन्हें 'मालिक वर्ग' को घृणा की दृष्टि से देखने का पाठ पढ़ाया गया है और उनके अन्दर 'प्रजातान्त्रिक राज्य' के प्रति सम्मान की भावना भरी गई है। लेकिन भले ही श्रमिक निजी मालिक के बजाय राज्य का स्वामित्व पसन्द करे, और निजी मुनाफाखोरी के स्थान पर राज्य की मुनाफाखोरी बेहतर समझे, यथार्थ में वह दोनों में से किसी को नहीं चाहता। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकारी उद्यम चाहे अपने सर्वश्रेष्ठ नियमित रूप में हो तो भी श्रमिक इस बात को अच्छी तरह समझता है कि उसे अपने श्रम का फल (चाहे इसका कुछ भी अर्थ हो) पूरा-पूरा नहीं मिल रहा है, और उसकी यह भावना भी बनी रहती है कि 'मजदूरी लेकर काम करने वाले दास' हमेशा

अपने पर्यवेक्षकों की आज्ञा का पालन करने के लिए ही बने होते हैं। अब सरकार द्वारा चालित उद्यमों की समस्याएँ निजी उद्यमों की समस्याओं से विशेष भिन्न नहीं हैं, और अगर ब्रिटेन या दूसरे स्थानों की अपेक्षा रूस में हम इसके इतने स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते तो इसका मुख्य कारण केवल यह है कि अप्रजातान्त्रिक समाजों में श्रमिकों के विचार प्रकट किये जाने की सामान्य सुविधा नहीं होती।

आमदनी में हिस्सा बँटाने सम्बन्धी सम्पत्ति के अधिकार को लेकर मनुष्य में शुरू से ही विचारोत्तेजना पाई जाती है। एक सम्प्रदाय का तर्क है कि धन की उत्पत्ति श्रम का परिणाम है और उस पर केवल श्रमिकों का अधिकार है, इसी विचार ने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को जन्म दिया। दूसरे सम्प्रदाय ने सम्पत्ति के हिस्से का समर्थन करने के लिए अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं—जैसे, सम्पत्ति रखना मनुष्य का सहज अधिकार है, सम्पत्ति में सुधार की प्रेरणा प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है, माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार, निर्धन व्यक्ति सम्पत्ति की आमदनी को अधिक बच्चे पैदा करके बरबाद कर देंगे, जबकि धनी लोग उसका फिर से निवेश करेंगे, बचत की मनोवैज्ञानिक लागत को मान्यता देनी चाहिए, उत्पादन के हर एक कारक को अपनी सीमान्त उत्पादिता प्राप्त करने का अधिकार है, और दूसरे अनेक विचार समर्थन में प्रकट किये जाते हैं। सरकार भी निजी स्वामी या उसके आर्थिक दार्शनिकों की अपेक्षा कम पटु नहीं होती। यह मानकर कि कुल पूँजी-निर्माण के लिए राष्ट्रीय आय के बीस प्रतिशत की जरूरत होगी है, और सरकार की चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बीस प्रतिशत उसके अतिरिक्त और चाहिए, बड़ी-से बड़ी समाजवादी सरकारें झट से कह देती हैं कि श्रमिकों को अपने परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए, या इसी बात को और सुन्दर ढंग से इस प्रकार कह दिया जाता है कि श्रमिकों को प्रत्यक्ष रूप में केवल साठ प्रतिशत लेकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, और बाकी का चालीस प्रतिशत अप्रत्यक्ष रूप में ऐसे कामों में खर्च करने के लिए सरकार पर छोड़ देना चाहिए जो श्रमिकों के श्रम के नहीं या जिन्हें वे करते नहीं।

लगता है ये समस्याएँ बड़े पैमाने के संगठनों में सुलझाई नहीं जा सकतीं। मजदूरी देने की उतरती दर और बोनस-प्रणालियाँ श्रमिकों में काम के प्रति उत्साह बढ़ाने में सफल हो सकती हैं, और लाभ-सहभाजन की व्यवस्था से कुछ सहकारी उद्यम-जैसा वातावरण भी बन सकता है, लेकिन उत्पत्ति के हिस्सेदार संख्या में इतने अधिक होते हैं कि वे एक-दूसरे की मेहनत और बदले में मिले पारिश्रमिक की तुलना किये बगैर यों ही एक-दूसरे का

विश्वास नहीं कर सकते। वे आपस में एक-दूसरे के पारिश्रमिक की तुलना करते हैं, श्रमिक-वर्ग के पारिश्रमिक को पर्यवेक्षकों या ऊपर के अमले के पारिश्रमिक से मिलाकर देखते हैं, और कुछ उत्पादन में से निजी पूंजीपति या सरकार द्वारा लिये गए हिस्से की समीक्षा करते हैं। दूसरे स्थानों या मौकों की अपेक्षा कुछ स्थानों या मौकों पर साझेदारों में अधिक जोर का झगड़ा हो सकता है, वे इस बात पर कभी पूरी तरह सहमत नहीं हो सकते कि सबके साथ न्याय किया जा रहा है चूँकि यह कोई नहीं बता सकता कि न्याय की वह परिभाषा कौनसी है जिसे सब लोग सदा स्वीकार कर लें। प्रेरणा की समस्या के समान ही अधिकार की समस्या का समाधान भी असम्भव है, बड़ी संस्थाओं में काम का मनोवैज्ञानिक उद्वेग लाइलाज होता है। मानव-मस्तिष्क अनुशासन नहीं चाहता, और कोई बड़ा संगठन अनुशासन, आज्ञाकारिता और निष्ठा के बिना सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। श्रमिकों को प्रबन्ध-समितियों में अपने चुने हुए प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाता है, लेकिन अगर संगठन बहुत बड़ा हुआ तो श्रमिकों की संख्या को देखते हुए उचित अनुपात में प्रतिनिधि नहीं चुने जा सकते, जो भी हो, एक बार प्रबन्ध-सम्बन्धी उत्तरदायित्व में बँध जाने पर ये प्रतिनिधि स्वयं अनिवार्य रूप से प्रबन्धकों का पक्ष लेने लगते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात की समझ आ जाती है कि बड़ा संगठन नीचे के लोग सफलता से नहीं चला सकते। बड़े संगठन में प्रबन्धक और श्रमिक के बीच विरोध की भावना पैदा होना उसी प्रकार अवश्यम्भावी है जिस प्रकार कि धर्मोपदेशक और साधारण गृहस्थ में, या सरकार और उसकी प्रजा में, या पिता और परिवार में, या साम और निजी में। बात यह है कि हम सब अपने ही तरीके से काम करना चाहते हैं जबकि परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि हम अनिवार्य रूप से अनेक ऐसे निर्णयों को मानना पड़ता है जिनमें बहुत दूर का भले ही हो लेकिन प्रत्यक्ष रूप से हमारा कोई योग नहीं होता, इसके अलावा इन निर्णयों के देने में हर एक की सुविधा का ध्यान भी नहीं रखा जाता। परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि प्रबन्धकों को निरन्तर एक चुनौती का सामना करना पड़ता है—अपने अधीन कर्मियों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए उन्हें तरह-तरह से उनका खयाल रखना होता है (अपनी कार्यकुशलता भी सिद्ध करनी होती है) और अपने संगठनों में समभाव और परस्पर सम्मान की ऐसी भावनाओं का समावेश करना होता है जो सुखी परिवारों में पाई जाती हैं। सैनिक समूहों में पाए जाने वाले पदसोपान या दण्डविधान का अनुकरण ये लोग नहीं कर सकते, फिर भी बड़े पैमाने के संघर्ष और असन्तोष अपरिहार्य है।

स्वशासन के प्रति श्रमिक की इच्छा को शायद बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है इस अनिश्चयता के ज़िम्मेदार वे भी हैं जो फैक्टरी के अन्दर प्रजातन्त्र की स्थापना सम्भव मानते हैं और वे भी हैं जिनको भय है कि अगर यह तन्त्र स्थापित न हो सका तो औद्योगिक प्रणाली छिन्न भिन्न हो जाएगी। सभी श्रमिक उद्योग में स्वशासन नहीं चाहते शायद अधिकांश यही पसन्द करते हैं कि उनके कर्तव्यों का स्पष्ट निर्देश कर दिया जाए और संगठन के काम-काज की ज़िम्मेदारियों से उनका कोई सम्बन्ध न रहे। सभी मानव-समाजों में, चाहे वे फैक्टरी हों या काउंटी हों मज़दूर-संघ हों, पूजा-स्थल हों या सरकारें हों, लोगों की एक छोटी-सी ही संख्या ऐसी होती है जो किसी पद के लिए उम्मीदवार बनना चाहते हैं या संगठन के काम-काज में निरन्तर दिलचस्पी लेते हैं। आम लोग बड़ी खुशी के साथ संगठन में शामिल हो सकते हैं और चुनाव के समय मत देने भी आ सकते हैं—हालांकि मतदान के समय कभी-कभी बहुत ही थोड़े लोग मत देने के लिए आते हैं—लेकिन विचार-विमर्श या प्रबन्ध में सक्रिय रूप से भाग लेने की बात तो अलग, सामान्य सदस्यों को संगठन की गतिविधियों की जानकारी कराए रखना भी अत्यन्त कठिन सिद्ध होता है। इस आधार पर यह सोचा जा सकता है कि सक्रिय रूप में भाग लेने वाले अल्पसंख्यकों की इच्छा उन्हें छोटी-छोटी फ़र्मों में भेजकर पूरी की जा सकती है जहाँ कि इस प्रकार के योगदान की गुन्जाइश रहती है, और बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों में केवल वे लोग रखे जा सकते हैं जिन्हें प्रबन्ध आदि में भाग लेने के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं होती। लेकिन यह हो नहीं पाता। इसके विपरीत बड़े प्रतिष्ठानों में काफ़ी लोग ऐसे आ जाते हैं जिनमें संगठन करने और पर्यवेक्षण की उत्कट इच्छा होती है, और वे बाकी लोगों को (अपनी समझ में) आत्मरक्षा करने और गतिविधियों में भाग लेने के लिए या (जैसा कि कभी-कभी प्रबन्धक समझते हैं) झगड़े पैदा करने के लिए उकसाने लगते हैं।

यह सक्रिय अल्पसंख्या मज़दूरों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने और उनमें संगठन की भावना पैदा करने का जो काम करती है उसमें लोगों के अन्दर मानव मामलों में मत स्थिर करने का काम भी तेज़ी से होता है। यद्यपि प्रणालियों की सफलता या असफलता बहुत-कुछ उनकी आन्तरिक प्रकृति पर निर्भर होती है, लेकिन इसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध इस बात से भी है कि मनुष्य ने इन प्रणालियों के बारे में किस प्रकार के विश्वास बना रखे हैं। बीसवीं शताब्दी में इतनी अधिक औद्योगिक अशान्ति का कारण जितनी अन्य बातें हैं उतना ही प्रचार भी है। अमरीकी श्रमिक के मुकाबले रूसी श्रमिक को कम आज़ादी मिली हुई है और उसे अपनी उत्पत्ति में से हिस्सा भी अपेक्षाकृत थोड़ा ही मिलता है, लेकिन यह प्रचार का ही परिणाम हो सकता है कि वह

अपनी स्थिति के प्रति सन्तोष प्रकट करने में अमरीकी श्रमिक से आगे रहता है, जबकि अमरीकी श्रमिक से अपेक्षाकृत कहीं अच्छी हालत में होने पर भी उसके विरुद्ध उग्र प्रचार होने के कारण असन्तुष्ट रहता है। प्रचार की वजह से ही कोई भविष्यवाणी करना असम्भव हो जाता है। स्पार्टकस के जमाने में रोम का अर्थशास्त्री विश्वासपूर्वक यह भविष्यवाणी कर सकता था कि आम जनता दास-प्रथा के इतने खिलाफ है कि यह जल्दी समाप्त हो जाएगी, लेकिन यथार्थ में यह पहले से भी अधिक मजबूती के साथ जड़ जमाए रही। इसी प्रकार, आज भी कोई यह भविष्यवाणी करने को प्रवृत्त हो सकता है कि सहकारी, निजी, या सरकारी स्वामित्व, सभी प्रकार के बड़े संगठन श्रमिकों को इतने बुरे लगने लगे हैं कि वे समाप्त हो जाएँगे, और जल्दी ही ऐसा समय आ जाएगा जबकि व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित छोटे-छोटे प्रतिष्ठान ही बच रहेंगे, जिनमें न तो हड़तालें हुआ करेंगी और न बाजार में सफलता हासिल करने के लिए मक्कारी से भरी चालें चली जाया करेंगी। लेकिन यह भविष्यवाणी भी गलत हो सकती है, खासकर अगर सरकार उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में अधिकाधिक लेने लगे, और पूंजीपतियों और मजदूर-सभाओं के नेताओं की भाँति मजदूरों को इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयत्न करने लगे कि सरकार द्वारा प्रबन्ध हाथ में लेना एक ऐसा बुनियादी परिवर्तन है जिससे कि मजदूरों को तीनों लोकों की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति मिल जाएगी। घूम फिरकर हम पुनः उसी बात पर आ जाते हैं जिससे यह खण्ड शुरू किया गया था कि "लोग तब तक अपनी पूरी योग्यता के साथ काम करने के लिए तत्पर नहीं होते जब तक कि उन्हें यह निश्चय न हो कि काम के बदले मिलने वाला पारिश्रमिक उन्हीं के उपयोग में आएगा, या जिनके अधिकार को वे मान्यता देते हैं उन्हें मिलेगा।" लेकिन उत्पादन के कितने अंश को श्रमिक अपना उचित पारिश्रमिक मानते हैं और किन लोगों को उसके उपयोग का अधिकारी समझते हैं, यह मुख्य रूप से विश्वासगत मामला है जो इस पर निर्भर करता है कि आर्थिक प्रयत्न करने वालों में किस प्रकार के विश्वासों की जड़ें जमायी गई हैं।

२ व्यापार और विशेषज्ञता

अब हम संस्थाओं द्वारा व्यापार और विशेषज्ञता के लिए दिये गए अवसरों पर विचार करेंगे। व्यापार और विशेषज्ञता का विस्तार आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है।

(क) लाभ—व्यापार के कारण विकास को कई प्रकार से बढ़ावा मिलता है। विशेषज्ञता को बढ़ावा इनमें से एक है। व्यापार से समुदाय में नयी चीजों का प्रवेश होता है जिससे माँग बढ़ती है, और इसी प्रक्रिया के दौरान लोगों

के अन्दर अधिक काम करने की या अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से काम करने की इच्छा में भी वृद्धि हो सकती है। चूँकि बहुत से आदिम समाजों में आकांक्षाएं सीमित होने के कारण आवश्यकताएं थोड़ी ही होती हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी कम करने पड़ते हैं अतः व्यापार आरम्भ होने पर लोगों के अन्दर कार्य का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। व्यापार के कारण समुदाय की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी कम हो जाती है। व्यापार के अभाव में हर घर को अपनी आवश्यकता की सभी चीज़ों का भण्डार खुद रखना होता है व्यापार आरम्भ होने पर जब सौदागर केन्द्रीय गोदामों में माल के भण्डार रखने लगते हैं तो व्यक्ति के उपयोग की तुलना में उसके भण्डार का अनुपात काफ़ी कम हो जाता है। उन देशों में जो कि गुज़ारे की अर्थव्यवस्था में चल रहे हैं, इन भण्डारों पर कभी-कभी देश का जीवन-मरण निर्भर होता है, क्योंकि दुर्भिक्ष के समय देशी सामान के इलाकों से अभावग्रस्त इलाकों को माल भेजने में व्यापार का ही हाथ होता है। व्यापार से नये विचारों को भी जन्म मिलता है—उपभोग के नये प्रकार, नयी टेकनीकें, या सामाजिक सम्बन्धों के नये विचार उत्पन्न होते हैं। विदेशों से आने वाले समाचार प्रचलित परम्पराओं को चुनौती देते हैं, और समुदाय के व्यक्तियों को पहले से चले आते निषेधों की चिन्ता न करके नये तरीकों से प्रयोग करने की आज़ादी मिलती है। यदि किसी देश के इतिहास का अध्ययन करते समय हम देखें कि वहाँ अचानक बड़ी तेज़ी से विकास हुआ है, या विश्वासों या सामाजिक सम्बन्धों में बड़ा परिवर्तन आया है तो उसका कारण लगभग हमेशा यही निकलता है कि वहाँ व्यापार के अवसरों में वृद्धि हुई थी।

व्यापार से विशेषज्ञता को भी बढ़ावा मिलता है, चूँकि श्रम का विभाजन बाज़ार के विस्तार पर ही निर्भर है। आदम स्मिथ का कहना था कि विशेषज्ञता के अन्तर्गत उत्पादन अच्छा होने का 'पहला कारण हर कर्मकार की कुशलता में वृद्धि है, दूसरा कारण एक काम से दूसरा काम बदलने में जो समय आमतौर से नष्ट होता है उसकी बचत है और अन्तिम कारण बहुत सी मशीनों का आविष्कार है जो काम में सहूलियत पैदा करती हैं और मेहनत बचाती हैं, और एक ही आदमी को कई आदमियों का काम करने की सामर्थ्य देती हैं।" स्मिथ ने श्रम के विभाजन को इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसने प्रौद्योगिकी के विकास और पूंजी की प्रयुक्ति का कारण भी श्रम का विभाजन ही बताया। बाद के लेखकों ने इस कारण को चुनौती दी और कुछ लोगों ने तो उलटे ही तर्क प्रस्तुत किये कि विशेषज्ञता कारण नहीं बल्कि परिणाम है। अब हम केवल यही मानकर सन्तुष्ट हैं कि विशेषज्ञता, ज्ञान और पूंजी साथ साथ बढ़ते हैं।

बढ़ती हुई विशेषज्ञता जिस प्रकार एक आर्थिक सिद्धान्त है, उसी प्रकार जीवात्मक अर्थात् विकास का सिद्धान्त भी मालूम होता है। जो भी हो, आर्थिक विकास के साथ इसका सम्बन्ध अन्तर्निहित है। लेकिन इसकी हानियाँ भी हैं। जिस काम में आदमी को विशेषज्ञता प्राप्त है यदि उसकी माँग कम हो जाए तो विशेषज्ञ की हानि होने की सम्भावना रहती है। माँग हर समय बदलती रहती है चूँकि लोगों की रुचि बदलती है या नयी तरकीबें और नयी चीज़ों के प्रचलन से पुरानी कारीगरी बेकार हो जाती है। यदि विशेषज्ञ कोई दूसरे काम न कर पाए तो उसकी आमदनी में भारी कमी हो जाती है। यही बात पूरे समुदाय पर भी लागू होती है विशेषज्ञता जितनी ही अधिक होगी, व्यावसायिक गतिशीलता भी उतनी ही अधिक होना जरूरी है, क्योंकि माँग में परिवर्तन होने पर यही सबसे अच्छा रक्षात्मक उपाय है। यदि व्यापार छिन्न भिन्न हो जाए और उसके कारण आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई रुक जाए, जैसा कि युद्ध छिड़ने पर, या भूकम्प या दूसरी घोर विपत्ति के समय में होता है, तो समुदाय को विशेषज्ञता के कारण हानि उठानी पड़ती है। आपात्कालीन भण्डार बनाकर सप्लाई की अस्थायी बाधाओं का मुकाबला करने की व्यवस्था की जा सकती है, जैसे अमरीकी सरकार ने लड़ाई की स्थिति में उपयोग करने के लिए भण्डार बनाये हैं। लेकिन अत्यधिक विशेषज्ञता से बचना भी शायद लाभप्रद ही है—उसकी सीमा क्या होनी चाहिए, यह जोखिम के विषयपरक निर्धारण पर निर्भर है।

अधिक विशेषज्ञता से दूसरा खतरा सन्तुलन का अभाव है। कृषि-कार्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। किसी एक फसल में अत्यधिक विशेषज्ञता से जीवात्मक असन्तुलन पैदा हो सकता है, जिसके परिणाम भूमि के गुणों की समाप्ति या कीड़ों और बीमारी की वृद्धि के रूप में मिलते हैं। भूमि के गुणों की रक्षा के लिए किसान फसलों के उचित हेर-फेर और मिली-जुली खेती का सहारा ले सकता है, लेकिन कोई एक किसान अपने क्षेत्र के बाकी सब किसानों को एक ही तरह की खेती करने से नहीं रोक सकता और इसीसे कीड़ों और बीमारी का खतरा पैदा हो जाता है, अगर अस्थायी रूप से बहुत लाभदायक होने पर भी किसी इलाके के लिए एक-सी खेती उचित नहीं समझी जा रही तो उसे रोकने के लिए रोपण पर प्रतिबन्ध लगाकर या दूसरी फसलों को आर्थिक सहायता देकर सामूहिक कार्यवाही की जानी चाहिए।

विशेषज्ञता से मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। जो व्यक्ति खान में काम करने का विशेषज्ञ है संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण कृषि-विशेषज्ञ से भिन्न होता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न कामों में विशेषज्ञता होने से समूह के लोगों की विचारधाराएँ भिन्न भिन्न हो जाती हैं, और दृष्टिकोण

और आर्थिक हितो को लेकर उनमे ऐसे संघर्ष पैदा हो जाते हैं जिनका समाधान नही मिलता। दृष्टिकोण और हितों के इन अन्तरो की अक्सर निन्दा की जाती है शासन-विवन के बच्चा अति विशेषज्ञता को बुरा बताते हैं और इस बात पर ज़ोर देते हैं कि शिक्षा का आधार व्यापक होना चाहिए। लेकिन दृष्टिकोणो और हितो की विभिन्नता से मनुष्य के सामुदायिक जीवन मे ऐसे गुणो का समावेश होता है जो उस समुदाय मे नही पाए जाते जहाँ सब आदमियो का एक ही धन्धा और एक-जैसे अनुभव होते हैं। इनसे सहयोग की समस्याएँ तो बढती हैं पर साथ ही बौद्धिक विकास के अवसरों में भी वृद्धि होती है चूंकि अनुभवो के संघर्ष से ही मनुष्य के विचार परिष्कृत होते हैं।

इसी प्रकार भौतिक हितो मे संघर्ष होने का कम-से-कम यह परिणाम अवश्य होता है कि समाज मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यह उन लोगों के अनुसार भी सही है जिनके विचार मे सारा इतिहास वर्ग-संघर्षो का परिणाम है, और तब भी ठीक बैठता है जबकि हम यह मान लें कि अगर हर व्यक्ति राष्ट्रीय आय के अपने हिस्से से सन्तुष्ट हो तो समाज मे बहुत थोड़ा ही परिवर्तन होगा। कुछ लोग निरन्तर परिवर्तन से प्रसन्न नहीं होते और उनका कहना है कि संसार फिर उसी युग मे लौट जाए जबकि हर आदमी अपने लिए खुद फसल तैयार करता था और अपना कपड़ा खुद बुनता था, तो वे बड़े खुश होंगे—क्या पता ऐसा संसार कभी था भी या नहीं। यहाँ हमें परिवर्तन या स्थिरता की वाछनीयता पर विचार नही करना है। (इस विषय की चर्चा हम परिशिष्ट मे करेंगे); यहाँ हमे यही कहना है कि समाज मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, और विशेषज्ञता इसमे सहायक होती है।

(ख) बाज़ार का विस्तार—बाज़ार जितना ही विस्तृत होगा विशेषज्ञता की सम्भावनाएँ भी उतनी ही अधिक होंगी। बाज़ार का आकार घर की आत्म-निर्भरता, जनसंख्या के आकार, संचार-साधनो के फैलाव, समुदाय के धन, रुचियो के मानकीकरण और मनुष्य द्वारा व्यापार मे लगाये गए रोकों पर निर्भर करता है।

आदिम समाज का घर लगभग पूरी तरह आत्म-निर्भर होता है। हर गाँव मे कुछ-न-कुछ विशेषज्ञ दस्तकार होते हैं, लेकिन वे गाँव की आवश्यकताओ के केवल एक अंश की ही पूर्ति कर पाते हैं। समूचे गाँव की आत्म-निर्भरता का मुख्य कारण उसकी एकाकी स्थिति होती है, लेकिन लोगो के घरो की आत्मनिर्भरता स्त्रियो की स्थिति से सम्बन्धित होती है। आर्थिक विकास होने के साथ-साथ बहुत से ऐसे काम, जो पहले औरतें घर मे कर लेती थीं, बाहर के लोग करने लगते हैं जो अधिक विशेषज्ञता और अधिक पूंजी के कारण उन कामों को अपेक्षाकृत अधिक कुशलता से करते हैं—ऐसे कामो के

उदाहरण पानी लाना, अनाज पीसना, कातना, बुनना और कपड़े बनाना, बच्चों को पढ़ाना, बीमारों की देखभाल करना आदि हैं। जैसे-जैसे घर की स्त्रियों द्वारा किए जाने वाले काम बाहर से होने लगते हैं वैसे-वैसे स्त्रियाँ भी घरों से बाहर आकर बाह्य प्रतिष्ठानों में काम करने लगती हैं। अधिक आदिम समाजों में लोग अपनी स्त्रियों को मजदूरी के लिए बाहर भेजना पसन्द नहीं करते। लेकिन जैसे-जैसे निषेध समाप्त होते जाते हैं, विशेषज्ञता बढ़ती जाती है, और राष्ट्रीय उत्पादन में काफी वृद्धि होने लगती है—स्त्रियों की स्वतन्त्रता में भी साथ-ही-साथ वृद्धि होती जाती है।

बाजार का आकार जनसंख्या के आकार पर भी निर्भर होता है। कुछ प्रकार के कामों में बड़े पैमाने पर उत्पादन के काफी फायदे हैं, खासकर विनिर्माण में, सार्वजनिक उपयोग के कामों में, और कुछ खास तरह की सेवाओं में (शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सामूहिक मनोरंजन)। इस दृष्टि से देखने पर कई देशों की आबादी कम मालूम होगी, क्योंकि अगर उनकी आबादियाँ और अधिक होतीं तो वहाँ छोटे-छोटे और कम विशेषज्ञता वाले प्रतिष्ठानों में सामान बनाने के बजाय बड़े पैमाने पर चीजें बनाकर लोगों को और भी सस्ती दर पर दी जा सकती थीं। वैसे, जनसंख्या के आकार की सकल्पना संख्या के साथ-साथ स्थान से भी सम्बन्धित है, और इसीलिए यह बहुत-कुछ सचार-साधनों पर भी निर्भर है। अगर यातायात की सुविधाएँ मुफ्त उपलब्ध होतीं तो छोटे-से-छोटे देश को भी विशेषज्ञता के सभी लाभ प्राप्त होते, चूंकि तब सारा संसार ही एक बाजार माना जाता, उस स्थिति में छोटे-से-छोटा देश भी विशेषज्ञता के आधार पर उत्पादन करके अपना बेशी माल दूसरों को बेच सकता था, और उपभोग के लिए जो चाहता बदले में मँगा सकता था। जनसंख्या से सम्बन्धित समस्याओं पर अध्याय ६ में विस्तार से विचार किया जाएगा।

सचार-साधनों की लागत और विस्तार की सीमा कुछ तो प्राकृतिक कारणों पर निर्भर है, और कुछ यातायात का काम करने वालों की उद्यमशीलता पर। कुछ सरकारें दूसरी सरकारों की अपेक्षा इस मामले में अपनी जिम्मेदारियों के प्रति अधिक जागरूक होती हैं। दरअसल, अधिकांश देशों में इतिहास में अच्छे शासक जितने भी हुए हैं उन सभी की विशेषता थी कि वे बड़े उत्साह के साथ अपने यहाँ की सड़कों का विस्तार कराते थे। दूसरी ओर, बुरे शासकों के जमाने में सड़कों की हालत बहुत खराब रहा करती थी। सचार-साधनों का सस्ता और दूर-दूर तक फैला हुआ जाल किसी देश के लिए, आर्थिक दृष्टि से, सबसे बड़ा वरदान होता है। रेल के आविष्कार से पहले जल-परिवहन ही अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता था, और इसीलिए जिन देशों तक समुद्र या नदी-मार्ग बने हुए थे उनमें व्यापार और धन की सर्वाधिक वृद्धि हुई। यदि हम

वणिक्वादी-युग विदेश-व्यापार के प्रतिबन्धों का समर्थन करने वाले साहित्य के लिए प्रसिद्ध है लेकिन वणिक्वाद के दार्शनिकों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य आन्तरिक एकता के लाभों पर जोर देना था। उनके समय में आन्तरिक व्यापार के तत्कालीन रोधों को दूर करने के भी प्रयत्न किए गए। वणिक्-वादियों का काम निष्फल नहीं रहा, आज यह कोई नहीं कहता कि स्थानीय राजनीतिक प्राधिकरणों को—प्रान्तीय सरकार, काउंटी परिषद्, या नगर-पालिकाओं को —टैरिफ लगाने का अधिकार मिलना चाहिए। वणिक्वादी-युग का स्थान अपेक्षाकृत रूप से मुक्त व्यापार के युग ने लिया, जिसका समय उन्नीसवीं शताब्दी था। यह युग सर्वश्रेष्ठ रहा। इस शताब्दी में संसार के प्रायः हर देश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रोध कम किये गए, और हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह प्रवृत्ति फिर से बदलने लगी थी, लेकिन १९०० ईसवी में पिछली शताब्दियों की अपेक्षा व्यापारिक प्रतिबन्ध बहुत थोड़े रहे। विदेश-व्यापार को लेकर अब फिर वणिक्वादी युग की भांति तरह-तरह की रायें प्रकट की जा रही हैं, इस विषय पर हम अध्याय ९ में फिर विचार करेंगे।

(ग) संगठन—ज्यों ही मनुष्य विशेषज्ञता आरम्भ करते हैं उनकी क्रियाओं का समन्वय करने के लिए किसी तन्त्र की आवश्यकता होती है। बिल्कुल छोटे पैमाने पर प्रशासनिक आज्ञा से ही काम चल सकता है। फर्म, या सरकारी विभाग, या फौजी टुकड़ी में अलग-अलग काम करने वाले हर विशेषज्ञ को अलग-अलग यह बता दिया जाता है कि उसे क्या काम करना है, और यह प्रबन्धक-मण्डल का काम होता है कि वह सब आदमियों के काम का समन्वयात्मक चित्र अपने मस्तिष्क में रखे। लेकिन समूचे समुदाय की क्रियाओं का समन्वय इस प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि समुदाय की आवश्यकताएँ और उनको पूरा करने के साधन इतने अधिक होते हैं कि उनमें पूर्णतया केन्द्रीय समन्वय स्थापित करना सम्भव नहीं होता। इसके स्थान पर व्यक्तियों की क्रियाएँ बाजार द्वारा समन्वित होती हैं। कीमतें सप्लाई और मांग द्वारा निर्धारित होती हैं, और हर व्यक्ति कीमत को देखकर ही अपने उद्देश्य निश्चित करता है और इसी प्रक्रिया में सब लोगों के उद्देश्य भी सधते जाते हैं। दरअसल, कीमत-तन्त्र सब सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं करता, दूसरी सभी सामाजिक संस्थाओं की भांति यह भी एक अपूर्ण तन्त्र है, और इसके प्रचलन पर भी उन लोगों के पक्षपातों का प्रभाव पड़ता है जो इसे आसानी से चलने देने में बाधा डालते हैं। हर जगह कीमत-तन्त्र निजी एकाधिकारियों या सरकारों के नियमन से ग्रस्त है, पर जब तक विशेषज्ञता और व्यापार मौजूद है तब तक बिना इस तन्त्र के काम चलाना असम्भव है। रूस की सरकार भी, जो दूसरी सरकारों की तुलना

मे आर्थिक क्रिया का नियमन अधिक करती है, आर्थिक क्रियाओं में समन्वय के लिए कीमत-तन्त्र पर काफी निर्भर रहती है—इसी तन्त्र के फलस्वरूप दुर्लभ कौशल की सप्लाई को बढ़ावा मिलता है, कृषि उत्पादन बढ़ता है, दुर्लभ वस्तुओं के उपभोग पर अंकुश रहता है राज्य के स्वामित्व मे चलने वाले उद्योगों मे कार्यकुशलता पैदा होती है, और वे सभी दूसरे उद्देश्य पूरे होते हैं जो कम 'आयोजित' अर्थ-व्यवस्थाओं म भी कीमत द्वारा ही साधे जाते है।

कीमत-तन्त्र नियामक का काम तभी कर सकता है जब लोग कीमत का प्रभाव अनुभव करें। उन्हें कीमतो म दिलचस्पी होनी चाहिए, चाहे वह उनके द्वारा किए जा सकने वाले परिश्रम की कीमत हो, या उन चीज़ों की कीमत हो जिन्हें वे तैयार कर सकते हैं, या खरीदी जा सकने वाली वस्तुओं की कीमत हो, या और किसी की हो, और उनके अन्दर कीमतो के अनुकूल परिवर्तन का लाभ उठाने के लिए अपने व्यवहार को बदलने की इच्छा होनी चाहिए। जिस सभ्यता के लोग कीमतों से प्रभावित होते हैं उसे निन्दात्मक शब्दो में 'धनीय' या 'अर्जनशील' सभ्यता कहा जा सकता है, लेकिन हमारी दिलचस्पी नैतिकता या निन्दा के प्रति नही है बल्कि आर्थिक विकास की परिस्थितियो के आवश्यक अध्ययन मे है। विकास के लिए विशेषज्ञता आवश्यक है, विशेषज्ञता के लिए कीमत-तन्त्र द्वारा समन्वय अनिवार्य होता है और यह समन्वय तभी प्रभावशाली हो सकता है जबकि लोगो के अन्दर कीमत मे परिवर्तन के प्रति प्रभावग्राह्यता हो। प्रभावग्राह्यता की मात्रा अधिकतर लोगों की आदत पर निर्भर होती है। वे लोग, जो अब तक केवल अपने गुज़ारे-भर का उत्पादन करते रहे हैं, जब पहले-पहल कीमत अर्थ-व्यवस्था से परिचित होते हैं तो शुरू मे उनकी प्रभावग्राह्यता सीमित और अव्यवस्थित होती है। वे अवसरों का उपयोग नही कर पाते, चयन करना नहीं जानते, आसानी से धोखे में डाले जा सकते हैं, अस्थायी और स्थायी कीमत और परिवर्तनो के अन्तर को नही समझते, मौसमी और चक्रीय घट-बढ के बारे मे नही जानते, मात्रापरक रियायत से अनभिज्ञ होते हैं, और इसी प्रकार अन्य भेदों के प्रति ना-जानकार होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को संस्कृति के अन्य पहलुओं को सीखना पडता है, ठीक उसी प्रकार बाज़ार की कीमत से प्रभावित होना भी सीखना होता है। जैसे-जैसे बाजार के बारे मे जानकारी, उसका अभ्यास और उसकी चालों का अनुभव होता जाता है, वैसे-ही-वैसे पीढ़ियों की कीमत के प्रति प्रभावग्राह्यता बढ़ती चलती है।

विशेषज्ञता के कारण द्रव्य का उपयोग भी जरूरी हो जाता है, वस्तु-विनिमय बिलकुल शुरुआती विशेषज्ञता और व्यापार के साथ ही चल सकता है। वर्णमाला के आविष्कार, या जब चाहे आग जलाने की खोज की भाँति ही द्रव्य का आविष्कार भी मानव-जाति की महानतम उपलब्धियों मे से एक है।

द्रव्य के अभाव में व्यापार सिमटकर नहीं तो बराबर रह जाएगा। द्रव्य के अभाव में हर घर को अपनी सभी चीज़ें इकट्ठी करके रखनी पड़ेंगी, चूँकि उसे यह सुविधा प्राप्त नहीं होगी कि जब आवश्यकता हो तब केन्द्रीकृत-भण्डारों (दूकानों) से खरीद लाए। और द्रव्य के अभाव में कर्ज देने और पूँजीनिवेश के काम भी बहुत थोड़े रह जाएँगे।

इतना उपयोगी होने पर भी द्रव्य का आविष्कार इतना धीरे-धीरे फैला है कि आज भी संसार के बड़े-बड़े भाग ऐसे हैं जहाँ द्रव्य अभी इस्तेमाल में आना शुरू ही हुआ है। उदाहरण के लिए, एशिया के कुछ बड़े राष्ट्रों में, जिनमें कि पिछले सारे ज्ञात इतिहास में द्रव्य का किसी-न-किसी रूप में उपयोग होता आया है आज भी मानव परिभाषा के अनुसार, चालीस प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पादन का द्रव्य के माध्यम से विनिमय नहीं होता। द्रव्य का प्रयोग विशेषज्ञता और व्यापार से सम्बद्ध है, जिन लोगों के पास व्यापार करने के लिए ऐसी वस्तुएँ थोड़ी ही होती हैं उनके लिए द्रव्य का उपयोग भी थोड़ा ही होता है।

द्रव्य के उपयोग से बाजार का महत्त्व बढ़ता है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक संस्थानों में परिवर्तन होते हैं, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण शायद यह है कि द्रव्य के उपयोग से मानव-प्रवृत्तियाँ बदलती हैं। समुदाय में एक बार द्रव्य का परिचलन होने लगे और बाजारों के लिए उत्पादन करना आम चीज़ हो जाए तो फिर आर्थिक सम्बन्ध भी तेजी से साथ अव्यक्तिक आधार ग्रहण करने लगते हैं। जैसे-जैसे द्रव्य का महत्त्व बढ़ता है, हैसियत और भाईचारा प्रभावहीन होने लगते हैं। गायों या अनाज के बोरों की अपेक्षा द्रव्य के रूप में धन का संचय आसान होता है, धन 'अर्जनशील' प्रवृत्तियों—धन की आकांक्षा—का पालन आसान हो जाता है, और पालन होने के साथ ही ये प्रवृत्तियाँ बढ़ने भी लगती हैं। रुपया उधार देने और मजदूरी देकर कर्मचारी रखने से 'पूँजीवादी' सम्पन्न द्रव्यहीन व्यवस्था की अपेक्षा द्रव्य की अर्थ-व्यवस्था में अधिक आसानी से बढ़ते हैं। अतः व्यापक परिवार-प्रणाली, या मुख्यतः हैसियत पर आधारित प्रणालियाँ या ऐसी ही अन्य प्रणालियाँ जो उन समाजों में अच्छी तरह चलती हैं जिनमें द्रव्य का उपयोग नहीं होता, द्रव्य का उपयोग बढ़ने के साथ-साथ प्रभावहीन होने लगती हैं।

दूसरी बात हम यह देखते हैं कि विशेषज्ञता और व्यापार के लिए संगठित बाजारों की आवश्यकता होती है। बाजार न होना आदिम समुदाय का लक्षण है। वैसे लगभग हमेशा कोई-न-कोई ऐसा स्थान अवश्य होता है जहाँ इकट्ठे होकर लोग खाद्य-पदार्थ, कपड़ा तथा सामान्य उपभोक्ता पदार्थ खरीदा करते हैं। लेकिन विशेषज्ञता के लिए कहीं अधिक प्रकार के बाजारों की जरूरत होती है—श्रम के बाजार, मकानों के बाजार, ज़मीन के बाजार, विदेशी मुद्राओं के

बाज़ार, कर्ज़ के बाज़ार, स्टॉक और शेयरों के बाज़ार और इसी प्रकार के दूसरे बाज़ार। इन बाज़ारों का रूप भिन्न-भिन्न होता है। हो सकता है कि एक व्यक्ति ही बाज़ार का रूप ग्रहण कर ले जिसे सम्भावी खरीदारों और विक्रेताओं को मिलाने में विशेषज्ञता प्राप्त हो। इसका उदाहरण मकानों के एजेण्ट का कार्यालय है जो एक प्रकार का बाज़ार ही है। इसी प्रकार अखबार के विज्ञापन का कालम भी बाज़ार का एक रूप है। बाज़ारों की संख्या और उनकी भिन्नता समुदाय के धनवान होने का लक्षण है। कभी-कभी व्यापार की सुविधा के लिए एक बाज़ार खोलने से ही धन में वृद्धि की जा सकती है, और यह भी हो सकता है कि बाज़ार के लायक पर्याप्त व्यापार का विस्तार होने से पहले ही किसी समुदाय में बाज़ार खोल दिए जाएँ—जैसे कि कुछ निर्धन देशों में शेयर-बाज़ार खोलने की चर्चा चल रही है।

विशेषज्ञता और आर्थिक इकाई के आकार का सम्बन्ध सुबोध नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि विशेषज्ञता से फ़र्म का आकार बढ़ता है, चूँकि काम का उपविभाजन होने से कामों की संख्या बढ़ती है और इसलिए समन्वित इकाई का आकार भी बढ़ता है। लेकिन ऐसा होना आवश्यक नहीं है क्योंकि विशिष्टों की क्रियाओं का समन्वय बाज़ार द्वारा भी हो सकता है। जब कोई नयी चीज़ पहले-पहल बाज़ार में आती है तो इस चीज़ को लाने वाली फ़र्म अधिकांश पुर्ज़े अपने कारख़ाने में ही तैयार करती है; लेकिन माँग बढ़ने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न फ़र्में पुर्ज़े बनाने के काम में विशेषज्ञता हासिल कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, अब मोटरकार बीसियों भिन्न-भिन्न फ़र्मों द्वारा तैयार की जाती हैं, जिनमें से कोई चेसिस तैयार करने में निपुण हैं, या कोई बाडियाँ ही बनाती हैं, या सामने के शीशे का वाइपर, या टायर या और बीसियों प्रकार के सहायक पुर्ज़े तैयार करने की विशेषज्ञ होती हैं। तथाकथित 'मोटर-निर्माता' तो दूसरी फ़र्मों से पुर्ज़े खरीदकर उन्हें केवल जोड़ने का काम करता है। विशेषज्ञता का फ़र्म के आकार में वृद्धि पर इतना ही प्रभाव पड़ता है कि इसके फलस्वरूप कई ऐसे कार्य होने लगते हैं जिन्हें बड़े पैमाने पर ही किया जा सकता है, लेकिन जब-जब कोई कार्य पृथक् प्रक्रियाओं में विभाजित होता है, फ़र्म का आकार घटने लगता है।

इस प्रकार बड़े पैमाने का संगठन विशेषज्ञता के अप्रत्यक्ष परिणामों में से एक है। लोग विशेषज्ञता हासिल करते हैं तो उनकी क्रियाओं का समन्वय करना पड़ता है और यह समन्वय या तो बाज़ार की प्रक्रियाओं के माध्यम से हो सकता है या स्वयं फ़र्म के अन्दर किया जा सकता है। इस मामले में बाज़ार और फ़र्म की गति एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में होती है। बाज़ार जितना अधिक पूर्ण होता है, फ़र्म के अन्दर समन्वय करने की आवश्यकता उतनी ही कम होती है, जब-

कि बाजार जितना ही कम पूर्ण होता है उतना ही उद्यमकर्ता को विशेषज्ञों की क्रियाओं में समन्वय करने का अवसर मिलता है। यह सोचना गलत है कि विशेषज्ञता के सिद्धान्त बड़े पैमाने के संगठन में अनुकूल होते हैं। अच्छी तरह संगठित बाजारों में छोटी फर्म सरलतापूर्वक चल सकती है, क्योंकि उन्हें विशेषज्ञों की सलाह, इंजीनियरी सेवा पुर्जे, कच्चा माल और ऐसी ही चीजें सस्ती दर पर उपलब्ध होती हैं और वे अपना माल अन्तिम या मध्यवर्ती खरीदार को आसानी से बेच सकती हैं। बाजार जितना अच्छी तरह संगठित होगा, उतना ही हर फर्म को खुद कम काम करना होगा, और बड़े पैमाने पर संगठन के लाभ भी कम होंगे।

इसी का उपसिद्धान्त यह है कि अगर हम छोटे पैमाने के उद्यम को बढ़ावा देना चाहते हैं तो इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी फर्म के आसपास विशेषज्ञ सेवाओं और विपणन-एजेंसियों की व्यवस्था कर दी जाए, जो इतनी कार्यकुशल और सस्ती हों कि फर्म को छोटा होने के कारण ही हानियाँ न उठानी पड़ें। बड़ा संगठन अनुसन्धान कर सकता है, बड़ी राशियों में खरीद-बेच सकता है, रुपया इकट्ठा कर सकता है, मानक-वस्तु तैयार कर सकता है, विज्ञापन का खर्च उठा सकता है, बढ़िया-से-बढ़िया विशेषज्ञ की सलाह प्राप्त कर सकता है, आदि-आदि। छोटा संगठन भी यह सब काम सफलता-पूर्वक कर सकता है मगर उसके चारों ओर—निजी, सहकारी या सार्वजनिक—एजेंसियाँ हों जो वे सारा काम सँभाल सकें, जिसका निष्पादन बड़े पैमाने पर ही सम्भव है। इस स्थिति में छोटी फर्म उन कार्यों पर ध्यान केन्द्रित कर सकती है जो छोटे पैमाने पर अच्छी तरह किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, छोटी फर्म को विशेषज्ञ की सलाह कृषि-विस्तार-सेवा से, मानक बीज-गोदामों से, और ट्रैक्टर किराये पर देने वाली एजेंसी से लेने की सुविधा हो, और वह अपना माल ऐसी एजेंसी को बेच सके जो अनेक ऐसी फर्मों का माल इकट्ठा करके उसकी दर्जाबन्दी, प्रक्रियाकरण, विज्ञापन और बड़ी राशियों में बेचने की व्यवस्था कर सके। यह सही नहीं है कि कार्यकुशलता या आर्थिक विकास के हित में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना ही हर फर्म के लिए आवश्यक है, लेकिन यह ठीक है कि विशेषज्ञता के लाभ प्राप्त करने के लिए फर्म के अन्दर ही या सुसंगठित बाजारों की रचना के अन्तर्गत बड़े पैमाने के लाभ उपलब्ध हों। सुसंगठित बाजार बड़ी फर्म का स्थान किस सीमा तक ग्रहण कर सकता है यह उद्योग की प्रकृति पर निर्भर है। रेल यातायात, इस्पात का निर्माण, और मोटरकार जोड़ने का काम छोटे पैमाने पर कुशलतापूर्वक करना बहुत मुश्किल होगा, जबकि छोटे पैमाने के उद्यम सड़क यातायात, दुकानदारी, कुछ विशिष्ट कृषि-कार्य, और कुछ विनिर्माण-कार्य बड़ी

अच्छी तरह कर सकते हैं। बाजार, सहकारिता आन्दोलन, या सरकार कितनी ही कुशलता के साथ छोटे एककों का पोषण करें लेकिन आर्थिक विकास के लिए बड़े पैमाने के उत्पादन में भी कुछ विस्तार करना आवश्यक होता है।

बड़े पैमाने के संगठन का विस्तार उपलब्ध उद्यम-कौशल, और इस कौशल को प्राप्य उत्पादन के अन्य साधनों पर निर्भर है। उद्यमकर्ता निजी व्यक्ति भी हो सकते हैं या सरकारी कर्मचारी भी हो सकते हैं। दोनों परिस्थितियों में उद्यमकर्ता कितनी बड़ी फर्म का काम संभाल सकता है यह उसकी योग्यता, उसके अनुभव और उसे उपलब्ध टेक्नीकों पर आधारित है। पहले टेक्नीक को लें, बड़े पैमाने के संगठन ने संचार-साधनों—लेखन-कला, टेलीफोन, वायरलेस—गणना के साधनों—सांख्यिकीय पद्धतियों लेखाविधि—और प्रशासनिक युक्तियों—पदसोपान, समितियों और इसी प्रकार की दूसरी चीजों के आविष्कार के साथ साथ प्रगति की है। इन सब आविष्कारों से कुशलतापूर्ण कार्य के पैमाने में वृद्धि होती है। अधिकांश कम विकसित देशों में बहुत थोड़े लोग ऐसे मिलते हैं जिन्हें बड़े पैमाने के प्रशासन या उसकी टेक्नीकों का अनुभव होता है। ऐसे देशों में बड़े पैमाने के संगठन की अपेक्षा छोटे संगठन ही उपयुक्त रहते हैं, क्योंकि देश के अन्दर अनुभव की कमी होती है, और वे कार्य, जिन्हें अधिक उन्नत देश बड़े पैमाने पर करना लाभप्रद समझते हैं, पिछड़े हुए देशों में छोटे पैमाने पर संगठित करने में ही लाभ रहता है। आर्थिक विकास के चरण बढ़ने के साथ-साथ देश का प्रशासनिक अनुभव बढ़ता जाता है, और फिर बड़े पैमाने की पद्धतियाँ अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से और अनेक क्रियाओं में लागू की जा सकती हैं।

बड़े पैमाने के संगठन से पूर्व प्रवृत्तियों और सामाजिक रचनाओं में बड़े परिवर्तन होते हैं, और उसके कारण बड़ा असन्तोष पैदा होता है, इसलिए बहुत से लोग इसे नापसन्द करते हैं, और केवल उतना ही आर्थिक विकास उपयुक्त समझते हैं जिसमें संगठन का पैमाना न बढ़ाना पड़े। यह प्रवृत्ति उन देशों के लिए उचित है जिनके प्राकृतिक साधन कृषि-योग्य भूमि तक सीमित हैं, लेकिन जिस देश में खान खोदने या विनिर्माण के लिए काफी साधन मौजूद हैं वहाँ यदि बड़े पैमाने के उद्यम के विकास को रोका गया और उसे बढ़ावा न दिया गया तो निश्चय ही आर्थिक अवसरों पर रोक लग जाएगी।

(ख) व्यष्टिवाद और सामूहिक कार्य—पिछली कुछ शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में प्रति व्यक्ति आय में जो वृद्धि हुई है उसका बहुत-कुछ श्रेय वहाँ की वर्तमान आर्थिक स्वाधीनता को है, अर्थात् सामाजिक हैसियत और धन्धा बदलने की स्वतन्त्रता, अन्य देकर साधनों का

३ आर्थिक स्वाधीनता

उपयोग करने और उत्पादन बढ़ाने या लागत कम करने की दृष्टि से उनके अनुपात निश्चित करने की छूट, और उन लोगों के साथ प्रतियोगिता करने के लिए व्यापार आरम्भ करने की स्वाधीनता जो पहले से उन व्यापारों में जमे हुए हैं। इस खण्ड में हम इन स्वाधीनताओं के मार्ग में आने वाली सांस्थानिक अड़चनों पर विचार करेंगे, लेकिन हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि व्यष्टिवाद ही निश्चित रूप से आर्थिक विकास का सबसे त्वरित उपाय नहीं है। सामूहिक क्रिया भी आवश्यक है और कुछ परिस्थितियों में इसके परिणाम भी जल्द निकलते हैं।

यदि और नहीं तो निजी क्रिया के पूरक का काम करने के लिए ही सरकारी क्रिया रूपी सामूहिक क्रिया की आवश्यकता होती है। आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए सरकारों को व्यापक रूप से काम करना होता है जिसके बारे में अध्याय ७ में अधिक विस्तार से विचार किया जाएगा। निजी उद्यम की अर्थ-व्यवस्थाओं में भी सरकार सड़कों की देखभाल या अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने से लेकर नये उद्यमों की हामी भरने या निजी व्यवसाय को पूंजी जुटाने तक का काम कर सकती है। सरकार का योगदान एक सीमा तक निजी उद्यमशीलता की मात्रा और उसकी बाँटि पर निर्भर होता है, लोगों में काम शुरू करने की योग्यता जितनी ही कम होगी उद्यमशील सरकारी व्यवस्थाओं के ऊपर उतना ही अधिक भार पड़ेगा।

सरकारी क्रिया के अलावा राष्ट्रीय समष्टि की तीव्र भावना भी आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है—इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि काम निजी व्यक्ति शुरू करते हैं या सरकार। यदि किसी राष्ट्र के लोग नेतृत्व को उभारने और उसका अनुसरण करने के अभ्यस्त हैं तो वहां दृढ़ व्यष्टिवादी राष्ट्रों की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित परिवर्तन कहीं अधिक आसानी से लाए जा सकते हैं। राष्ट्रीय समष्टि कई रूपों में प्रकट हो सकती है जैसे यदि नयी टेकनीकें शुरू करनी हों तो नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों के एक बार यह सिद्ध कर देने पर कि नयी टेकनीकें अधिक उत्पादक हैं, आम लोग बड़ी जल्दी से उन्हें अपना लेते हैं। इसी प्रकार, अगर बड़े पैमाने के प्रतिष्ठानों में ऐसे लोगों को लाकर काम शुरू करना हो जो पहले अपनी-अपनी मरज़ी के मालिक थे, तो भी समष्टि के कारण नया अनुशासन बड़ी जल्दी लागू किया जा सकता है। अगर कुछ बलिदान करने हों—उदाहरण के लिए अगर सरकार पूंजी-निर्माण के भारी कार्यक्रम लागू करना चाहे—तो उन समुदायों की अपेक्षा, जहाँ लोग किसी सामान्य उद्देश्य के लिए अधिक कठिनाई से एक हो पाते हैं, राष्ट्रीय समष्टि से ओतप्रोत लोग अधिक आन्तरिक विवाद या मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किये बिना ही पूंजी-निर्माण में सहयोग देने को तैयार हो

जाएँगे। अगर आदतों या संस्थाओं—स्त्रियों की स्थिति, भूमि की कानूनी स्थिति, प्रवास के प्रति प्रवृत्ति आदि—में परिवर्तन करना हो तो वह भी बड़ी आसानी से हो जाता है। यही और दूसरी बातों पर भी लागू होता है। चीन और जापान के पिछले सौ वर्ष के इतिहासों की तुलना करते हुए कुछ इतिहासकार चीन के उग्र व्यष्टिवाद और जापान के सामाजिक जीवन के 'अनुशासन' की तुलना पर बहुत ज़ोर देते हैं। इन संकल्पनाओं का ठीक-ठीक अर्थ या ठीक-ठीक महत्त्व बताना बहुत कठिन है, लेकिन यह स्पष्ट है कि आर्थिक परिवर्तन का नेतृत्व थोड़े-से लोग करते हैं और बाद में बहुत से लोग उसका अनुकरण करते हैं, इसलिए यह सही मालूम होता है कि पूरे समाज के परिवर्तन की गति वहाँ की जनता में उद्यमशील व्यक्तियों का नेतृत्व स्वीकार करने की इच्छा पर निर्भर होती है।

सामूहिक क्रिया और समष्टि की भावना विकास के लिए आवश्यक ही नहीं है, कुछ परिस्थितियों में इनके परिणाम व्यष्टिवाद के अन्तर्गत उपलब्ध परिणामों से उत्कृष्ट भी होते हैं। सत्तावादी ढंग पर संगठित सशक्त समूह अधिक व्यष्टिवादी समूह की अपेक्षा निश्चित उद्देश्यों को अधिक योग्यता के साथ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का समूह शायद वे सब काम अच्छी तरह से कर सकता है जो एक योजना के अनुसार करने आवश्यक हो, जिसमें सफलता के लिए सबसे ज़रूरी बात लोगों के एक साथ मिलकर काम करने की होती है—यह उद्देश्य लड़ाई की तैयारी करना हो, या विनाश पर उतारू भयानक नदी के प्रवाह को नियन्त्रित करना हो, दावानल शान्त करना हो, या और कोई ऐसी क्रिया हो जिसमें सफलता के लिए यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि हर आदमी अगुआ से आदेश लेकर तदनुसार काम करे। यदि व्यक्तियों की अपेक्षा उनके अगुआ को इस बात का ज्ञान अधिक हो कि विकास के लिए कौनसे उपाय करने चाहिएँ तो सशक्त, सत्तावादी समूह द्वारा किया गया आर्थिक विकास उत्कृष्ट कोटि का भी होगा। अगुआ शिक्षा, उन्नत प्रौद्योगिकी, अच्छे बीजों का इस्तेमाल, पूँजी-निर्माण का ऊँचा स्तर, भू-धारण के अधिकार, या दासता, या एकाधिकार-जैसे सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाने पर ज़ोर दे सकता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि विकास आर्थिक चातुर्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता पर निर्भर होता है, यदि इसका विकल्प यह हो कि लोगों को विकास के लिए आवश्यक काम करने को बाध्य किया जाएगा। आर्थिक मामलों में व्यक्तिगत स्वाधीनता इसी विश्वास पर उत्कृष्ट मानी जाती है कि अगुआ के ज्ञान का भण्डार अपेक्षाकृत अधिक नहीं होता, और आर्थिक चातुर्य का एकाधिकार अगुआ को सौंपने की अपेक्षा यदि लोगों को अपने-अपने तरीके से प्रयत्न करने की छूट दे दी जाए तो उन्नति के उपाय अधिक खोजे जा सकते हैं।

जैसा कि हम अभी देखेंगे यह विश्वास उन्नत समाजों के बारे में काफी सही है, लेकिन जहाँ तक पिछड़े हुए समाजों का सवाल है, जो अधिक उन्नत देशों की प्रगति का अनुकरण करके ही विकास कर सकते हैं, वहाँ यह विश्वास ठीक नहीं बैठता। इसलिए अगर किसी पिछड़े हुए समाज की सरकार आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए तत्पर हो, और अगर उसमें समस्याओं को अच्छी तरह समझने की क्षमता हो, तो उस समाज का आर्थिक विकास व्यष्टिवादी आधार की अपेक्षा सत्तावादी आधार पर अधिक जल्दी होगा। सारी कठिनाई अपेक्षित परिस्थितियों को लेकर है, सम्भव है कि सरकार समझदार हो, और सत्तावादी हो, और हृदय से आम जनता की भलाई चाहती हो, लेकिन ये तीनों बातें एक ही सरकार में मिल जाएँ यह बड़ा मुश्किल है और इसे अपवाद-स्वरूप ही समझना चाहिए।

इस विवाद की अपेक्षा कि उद्योग का संचालन सरकार करे या निजी उद्यमी, उपर्युक्त बातों का सम्बन्ध 'आयोजन' के वर्तमान विवाद से अधिक है। सामान्य चर्चाओं में इन दोनों मुद्दों का भेद अक्सर भुला दिया जाता है, लेकिन ये दोनों बिलकुल अलग-अलग हैं। केन्द्रीय आयोजन निजी या सरकारी दोनों अर्थ-व्यवस्थाओं में लागू किया जा सकता है, और इसी प्रकार सरकारी उद्यम को अर्थ-व्यवस्था आयोजन के अन्तर्गत भी चल सकती है और आयोजन के बिना भी चल सकती है। पहले हम उद्योग के सरकारी संचालन के बारे में कुछ चर्चा कर लें, उसके बाद आयोजन की समस्या पर विचार करेंगे।

उद्योगों के निजी या सरकारी संचालन के विवाद को लेकर बहुत सी समस्याएँ सामने आती हैं, इनमें से अधिकांश का हमारे विषय से सम्बन्ध नहीं है। विवाद का काफी अंश आय के वितरण-सम्बन्धी प्रभावों से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत इस बात पर विचार किया जाता है कि लाभ कमाने वाले निजी उद्यमकर्त्ताओं की अपेक्षा राज्य के कर्मचारियों पर राष्ट्रीय आय का अधिक भाग खर्च होगा या कम। विवाद के दूसरे पहलू का सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वाधीनता पर पड़ने वाले प्रभावों से है—अर्थात् जिन समाजों में सम्पत्ति और पहल राज्य के हाथों में होती है, उनमें उद्योगों के निजी या सरकारी संचालन का श्रमिक या उपभोक्ता की स्वाधीनता, या राजनीतिक स्वाधीनताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम तो इस समय विवाद के केवल उसी पहलू में दिलचस्पी है जिसका सम्बन्ध आर्थिक विकास पर पड़ने वाले प्रभावों से है।

यह विवाद प्रेरणाओं और साधनों की कुशलता के प्रश्नों के रूप में प्रकट होता है। उद्यमकर्त्ता को, चाहे वह निजी व्यक्ति हो या सरकारी कर्मचारी, लागत कम करने के उपाय ढूंढने, या नयी या बेहतर चीजें देकर जनता की अधिकाधिक सेवा करने, या वितरण या सेवा में सुधार करने की प्रेरणा होगी

उपलब्ध नहीं हो सकते। छोटे उद्यम, और विशेषकर वे जो नये-नये प्रयोग—नयी वस्तुएँ, नये आविष्कार आदि—करने के इच्छुक हैं निजी उद्यम की प्रणाली की अपेक्षा इस व्यवस्था के अन्तर्गत धन प्राप्त करने में और भी अधिक कठिनाई अनुभव करेंगे।

बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि साधनों का नियंत्रण कितना केन्द्रित है। यदि केन्द्रीय अधिकरण से अनुज्ञा लिये बिना कोई पूंजी, श्रमिक, या सामान प्राप्त करना सम्भव न हो तो उद्यमकर्ताओं के लिए आर्थिक चातुर्य की गुंजाइश थोड़ी रह जाती है, चाहे प्रणाली निजी उद्यम की हो या सरकारी स्वामित्व की। ऐसी स्थिति में केन्द्र द्वारा आयोजित अर्थ-व्यवस्था, चाहे वह निजी हो या सरकारी, आयोजकों के निर्देशानुसार चलती है। निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था से अच्छी होती है, क्योंकि आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था में कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होते। युद्ध-सामग्री तैयार करने के लिए आयोजित अर्थ-व्यवस्था बेहतर रहती है, *और यही कारण है कि युद्ध के समय सारी अर्थ-व्यवस्थाओं की आयोजना* बड़ी अच्छी हो जाती है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था ऊँचे स्तर का पूंजी-निर्माण कराने के लिए या विशाल औद्योगिक क्षेत्र तैयार करने के लिए या अन्य निर्धारित उद्देश्यों—जैसे मरुस्थलों की सिंचाई, मकानों का निर्माण आदि—के लिए अपेक्षाकृत अच्छी रहती है। आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था से आयोजित अर्थ-व्यवस्था केवल वहीं निम्न कोटि की रह जाती है जहाँ कोई निश्चित लक्ष्य सामने नहीं होते, चूँकि उद्यमकर्ताओं के व्यक्तिगत निर्णय केन्द्रस्थ आयोजकों के निर्णय से टक्कर लेने वाले होते हैं, या उनसे भी बेहतर हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कोई एक निश्चित दिशा नहीं होती जिसमें अर्थ-व्यवस्था को मोड़ना अपेक्षित हो और इसलिए हर व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के अनुसार प्राप्य साधनों का सबसे अच्छा उपयोग करने के लिए आज़ाद छोड़ देना ही सर्वश्रेष्ठ रहता है। यह जिस प्रकार निजी उद्यमकर्ताओं पर लागू होता है, उसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों पर भी सही है। केवल इसी कारण कि किसी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सारी औद्योगिक पूंजी राज्य के ही स्वामित्व में है, यह आवश्यक नहीं है कि उस अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीय आयोजन किया जाए; सरकार चाहे तो एक शेयर-होल्डर की भाँति काम करने का फैसला कर सकती है, और अपने कर्मचारियों को जिन साधनों से वा वे चाहें उत्पादन करने की आज़ादी दे सकती है, साथ में केवल यह शर्त हो कि उत्पादित वस्तुएँ बाजार में लाभ पर बिक सकें। अगर सरकार ही पूंजी का एक मात्र स्रोत हो तब भी वह इसका वितरण केन्द्रीय नियंत्रण के अधीन न रखकर कई प्रतियोगी एजेंसियों के माध्यम से कर सकती है। इसका

परिणाम यह होगा कि जिस फर्म को पंजी की आवश्यकता होगी उसे कई जगह कोशिश करने के अवसर मिल जाएंगे। आयोजना और सरकारी स्वामित्व एक ही चीज नहीं है आयोजनारहित सरकारी उद्यम और भली प्रकार आयोजित निजी उद्यम, दोनों के ही उदाहरण संसार में मौजूद हैं।

एक निश्चित उद्देश्य और उद्देश्यहीनता, या उद्देश्यों की अनन्तता के बीच जो अन्तर है उसका एक उपसिद्धान्त यह है कि आयोजन अग्रगामी देशों की अपेक्षा ऐसे देशों में कम हानिकारक होता है जो कि दूसरों के नतृत्व या अनुकरण-मात्र करते हैं। ब्रिटेन या अमरीका-जैसे उन्नत औद्योगिक देशों में कोई नहीं कह सकता कि अब से पचास वर्ष बाद किस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था होगी या होनी चाहिए कौनसी नयी चीजें, जिनका अभी आविष्कार तक नहीं नहीं हुआ है, बाजार पर छा जाएँगी परिवहन के कौनसे साधन अधिक महत्वपूर्ण बन जाएँगे, दूकानों का रूप क्या होगा, इत्यादि। यदि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं को केन्द्रीय आयोजन के शिकंजे में जकड़ दिया जाए, और एक केन्द्रीय कार्यालय के मुट्ठी-भर आदमियों को निर्णय करने का अधिकार दे जाए कि विकास की किन बातों को बढ़ावा देना है और किन्हें दबाना है, तो हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि विकास की गति धीमी हो जाएगी। अर्थात् हम यह तो विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि उत्पादन नहीं बढ़ेगा, चूँकि पूंजी-निर्माण की मात्रा बढ़ सकती है लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उत्पादन और उपभोग में बहुत परिवर्तन नहीं आएँगे और न बहुत सी नयी चीजें प्रचलित हो पाएँगी। पहले से चली आ रही वस्तुओं की मात्रा भले ही बढ़ जाए लेकिन नयी चीजें थोड़ी ही चल पाएँगी। इसके विपरीत उन देशों की परिस्थिति बिलकुल दूसरी होती है जो पिछड़े हुए हैं और अग्रगामी देशों द्वारा किसी चीज की उपयोगिता सिद्ध हो चुकने के दस पचास या सौ वर्ष बाद उसका अनुकरण-मात्र करते हैं। इन परिस्थितियों में भी बड़े केन्द्रीय नियन्त्रण से उन समंजनों के मार्ग में बाधा आ सकती है जो टकनीकों और संस्थानों के एक पर्यावरण से दूसरे पर्यावरण में स्थान पर आवश्यक होते हैं। लेकिन अग्रगामी देशों की अपेक्षा अनुगामी देशों में आयोजकों के निर्णय गलत होने की सम्भावना कम होती है, क्योंकि इनके सामने अनुकरण के लिए आदर्श पहले से ही उपस्थित रहते हैं।

बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर है कि किसी समुदाय-विशेष ने लोक-प्रशासन की कला में कितनी पटुता प्राप्त कर ली है। अधिकांश सरकारें भ्रष्ट और अकुशल होती आई हैं और हैं। ऐसी लोक-सेवा की स्थापना करना, जो भ्रष्टाचार से अपेक्षाकृत मुक्त हो, अपेक्षाकृत कार्यकुशल हो और इन मामलों में ऊँचे स्तर कायम करने के लिए काफी इच्छुक हो, धीरे-धीरे ही आता है और थोड़े से

ही देश इसमें सफल हो सके हैं। अतः संसार के अधिकांश देशों में ही यदि लोक-स्वामित्व या केन्द्रीय आयोजन के नाम पर आर्थिक मामलों की सारी जिम्मेदारी वर्तमान प्रशासनों के हाथों में दे दी जाए तो आर्थिक विकास निश्चय ही असम्भव हो जाएगा। जिन देशों में सरकारें भ्रष्ट और अकुशल हैं वहां आर्थिक विकास के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग निर्बन्ध नीति का है। कार्यकुशल प्रशासन की स्थापना के बाद ही निजी उद्यम और लोक-स्वामित्व या नियन्त्रण के तुलनात्मक गुणों का विवाद उठाया जा सकता है।

व्यवहार में वास्तविक समस्या निजी यत्न और सरकारी क्रिया—आयोजन या राष्ट्रीयकरण—के बीच किसी एक को चुनने की नहीं है बल्कि इन दोनों का सबसे लाभप्रद मेल बिठाने की है। उन्नीसवीं शताब्दी से ही ग्राम आयोजन या उद्योग के लोक-संचालन के पक्ष और विपक्ष में बहस होती आई है। और कुछ नहीं तो केवल विकास की बढ़ती हुई दर को दृष्टि में रखकर ही यह तो व्यावहारिक रूप से स्पष्ट ही माना जा सकता है कि पहले की अपेक्षा सरकारों को आर्थिक विकास में अधिकाधिक योग देना चाहिए। भौतिक उन्नति में अग्रगामी देशों ने व्यक्तिगत प्रयत्नों के बल पर जो उन्नति कई शताब्दियों में की, उसका अनुकरण पिछड़े हुए देश अपनी सरकारों की सहायता से शायद कुछ दशाब्दियों में ही कर लेंगे। आर्थिक जीवन में सरकार का योग बढ़ रहा है, और अभी कुछ समय तक बढ़ता रहेगा। इससे उत्पन्न समस्याओं पर अध्याय ७ में विस्तारपूर्वक विचार किया जाएगा।

(ख) उदग्र गतिशीलता—आर्थिक विकास के साथ नीचे के स्तर से ऊपर और ऊपर के स्तर से नीचे, दोनों प्रकार की उदग्र गतिशीलता अवसर काफी मात्रा में पाई जाती है। इसके कई कारण हैं।

पहला तो यह कि अगर व्यवसाय, सरकार, विज्ञान और दूसरे क्षेत्रों के उच्च वर्गों में नीचे से नये लोग न आते रहें तो जीवात्मक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उच्च वर्गों का पतन होने लगता है। जीवात्मक पतन इसलिए होता है कि एक हजार बुद्धिमान लोगों के अगर एक हजार बच्चे हों तो उनमें सब-के-सब अपने पिताओं के समान ही बुद्धिमान नहीं हो सकते। अगर हम यह मान लें कि किसी समुदाय के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जबकि जीवात्मक रूप से श्रेष्ठ समूह उच्च वर्ग बन जाता है, और बाद में यह उच्च वर्ग अपनी सन्तानों के अलावा अन्य किसी वर्ग की सन्तान को उच्च वर्ग में प्रवेश नहीं करने देता, तो हम यह काफी विश्वास के साथ कह सकते हैं कि जीवात्मक श्रेष्ठता का पतन होने लगेगा। जीवात्मक रूप से स्वस्थ दृष्टिकोण वाला उच्च वर्ग वह होता है जो अपने असमर्थ साथियों को निम्न वर्ग में ढकेल देता है और हर पीढ़ी में अपने से निम्न वर्गों के अधिक सक्षम सदस्यों को उच्च वर्ग में शामिल

कर लेता है। उसी प्रकार सांस्कृतिक सवेचन भी आवश्यक है। परिवार पर आधारित अलगाव की वृत्ति वाला उच्च वर्ग अक्सर किसी-न-किसी रूप में अपने पूर्वजों की पूजा करने लग जाता है। काम करने के पुराने तरीके पवित्र मान लिए जाते हैं और परिवर्तनशील संसार में सफलता पाने के लिए भी गुजरे जमाने से ही प्रेरणा लेने के प्रयत्न किए जाते हैं। इस प्रकार की भावना से बचने की सम्भावना तभी है जब उच्च वर्ग में निरन्तर ऐसे लोग शामिल किए जाते रहें जिनका गुजरा जमाना ऐसा नहीं रहा जिस पर गौरव करके प्रेरणा ली जा सके या जिनका जमाना ऐसा रहा है जिसे वे भूल जाने के इच्छुक हैं।

विकास के हित में निम्न वर्ग से उच्च वर्ग के लोगों को लेने की बात ममता के सवालों से बिलकुल अलग है। समाज में सदा से ही उत्कृष्ट और निकृष्ट सामाजिक वर्ग रहे हैं चूंकि समुदाय चाहे पूंजीवादी हो, समाजवादी हो, या साम्यवादी हो लेकिन उसके अन्दर हमेशा कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी व्यवसाय, या सरकार, या धर्म, अथवा अन्य किसी क्षेत्र में दूसरे लोगों के ऊपर सत्ता रहती है। यहां हम इस विषय पर चर्चा नहीं कर रहे हैं कि ये विभाजन बने रहें या समाप्त हो जाएं, चूंकि यदि सत्ता की समाप्ति हो जाए तो समाज का विकास रुक जाएगा, हमें तो यहां केवल यह देखना है कि जन्म या अन्य किसी दूसरे गुणों के आधार पर ऊंची जगहों के लिए लोगों के चुनने का विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। जिन लोगों को सत्ता का प्रयोग करना है उन्हें इसके लिए विशेष रूप से तैयार करने की आवश्यकता होती है। उन्हें बाकी लोगों की अपेक्षा लम्बे समय तक शिक्षा देनी होती है और प्रशिक्षण के दौरान और उसके बाद भी उन्हें विशेषाधिकार देने होते हैं। सम्भव है कुछ अमीर समुदाय अपने सब बच्चों को लम्बी और खर्चीली शिक्षा दिला सकें, लेकिन अधिकांश समुदाय इतना नहीं कर सकते और इसलिए अपने को बाकी सबसे श्रेष्ठ सिद्ध नहीं कर सकते। अब प्रश्न हमारे सामने केवल यह रह जाता है कि विशेष शिक्षा किन लोगों को दी जाए—योग्य पात्र चुनते समय उनके वंश का ध्यान रखा जाय या किन्हीं और बातों का।

अगर बच्चों को उनकी जीवात्मक आनुवंशिकता, बुद्धि-परीक्षण या और दूसरे तरीकों से नेतृत्व के लिए चुना जा सके तो परिवार की स्थिति के विशेषाधिकार से आर्थिक विकास का कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। वैसे, तथ्य यह है कि मनुष्य के गुण बहुत-कुछ उसकी सांस्कृतिक शिक्षा-दीक्षा पर भी निर्भर होते हैं। इनका कुछ अंश वह अपने स्कूल या दूसरे संस्थानों में सीखता है जिनका उसके परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन वह अपने माता पिता से भी बहुत सीखता है और यह काफी महत्वपूर्ण है कि उसके

माता-पिता कौन है। जिन देशों में शासक-वर्ग और शासित जनता की संस्कृति बिलकुल अलग अलग है वहां यह चीज साफ देखने में आती है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में वेस्ट इंडीज़ में श्वेत शासक-वर्गों की संस्कृति उन्हीं दिनों मुक्त किये गए अश्वेत दासों से बिलकुल भिन्न थी। श्वेत लोगों का कहना था कि सभी महत्वपूर्ण पद उनके बच्चों के लिए सुरक्षित रखे जाएं जो श्वेत संस्कृति में पले हैं और वे इस बात पर जोर देते थे कि अगर उत्तर-दायित्व के पद अश्वेत लोगों को दे दिए गए तो इन द्वीपों में फिर से बर्बरता का युग आ जाएगा। कहा जाता था कि अश्वेत लोगों की बौद्धिक योग्यता चाहे जितनी ऊंची हो लेकिन उनकी सांस्कृतिक विरासत बड़ी निकृष्ट है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में वेस्ट इंडीज़ के श्वेत लोगों की संस्कृति भी उच्च स्तर की नहीं थी, उसकी अनैतिकता और कलात्मक निर्धनता के कारण अंग्रेज लोग इस संस्कृति को नीची नजर से देखते थे, और उसकी पिछड़ी हुई टेक्नीकी और व्यावसायिक गुणों के अभाव के कारण उन द्वीपों में निर-न्तर निर्धनता कायम रही। फिर भी उस समय की अश्वेत संस्कृति से श्वेत लोगों की संस्कृति श्रेष्ठ थी और यदि १८३८ में वहां व्यापक वयस्क मता-धिकार लागू कर दिया गया होता तो वेस्ट इंडीज़ आज की अपेक्षा कहीं अधिक पिछड़ा हुआ होता। वैसे, हमारा विचारणीय विषय समता नहीं है बल्कि विशेषाधिकार वाले पदों के लिए लोगों के चुनाव करने की प्रणाली है। यदि कोई ऐसी प्रणाली निकाली जा सकती जिससे अपेक्षाकृत बुद्धिमान अश्वेतों को चुनकर उन्हें उत्तरदायित्व वाले पदों का विशेष प्रशिक्षण दिया जा सकता, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वीपों का जिस प्रकार शासन किया जा रहा था वे उससे बेहतर नहीं कर सकते थे। ऑटोमन शासकों ने इसी नीति का अनुसरण किया था, वे छोटी उम्र के ईसाई लोगों को चुनते थे और उन्हें उत्तरदायित्व के बड़े-बड़े पदों के लिए मुसलमानों के रूप में प्रशिक्षित करते थे, और अधिकांश इतिहासकारों ने इस साम्राज्य की शक्ति का स्रोत इसी प्रणाली को बताया है। फ्रांस ने भी अपने अफ्रीकी साम्राज्य के कुछ भागों में इसी प्रकार की नीतियां अपनायी हैं, उन्होंने चुने हुए अफ्रीकियों को फ्रांसीसी संस्कृति में प्रशिक्षित किया है और उनके लिए ऊंचे-से-ऊंचे पद तक पहुंचने के मार्ग खोल दिए हैं। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि शासक-वर्ग और *शासित वर्ग की संस्कृति अलग-अलग हो*, तो भी शासित वर्ग के बच्चों को विशेष प्रशिक्षण देकर सर्वोच्च पदों तक जाने देना लाभदायक ही होता। यह तो और भी जोर देकर कहा जा सकता है कि समरूप समुदायों में, जिनके सभी सामाजिक वर्गों की सांस्कृतिक परम्पराएं बहुत-कुछ समान हों, उत्कृष्ट पदों के लिए उत्कृष्ट प्रशिक्षण वाले लोगों को चुनना तो ठीक है लेकिन

इन्हें ऊँचे वर्ग में जन्म लेने वाले लोगों के लिए सुरक्षित रखने का समर्थन नहीं किया जा सकता।

जब हम यह कहते हैं कि नीचे से नये लोग शामिल न करने पर उच्च वर्ग का अपकर्ष हो जाएगा तो हम यह मानकर चलते हैं कि उच्च वर्ग केवल अपनी ही सन्तानों को ऊँचे पद देते हैं। वैसे वे ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं जिसमें काफ़ी गुञ्जाइश निकल आए। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका के सब की श्वेत जनसंख्या पूरी जनसंख्या का लगभग बीस प्रतिशत है। इसलिए, अगर ऊँचे पद केवल श्वेत लोगों के लिए ही खुले हों तो भी चुनाव की काफ़ी गुञ्जाइश रहती है बशर्ते कि सारे-के-सारे बीस लाख श्वेतों में योग्यता हो। शायद इस प्रकार का समूह सदा अपनी शक्ति बनाए रख सकता है—हर पीढ़ी में नये परिवार चोटी तक पहुँचते रहें और कम समर्थ परिवार उन्हें आगे बढ़ने दें। इसके विपरीत वेस्ट इंडीज़ के श्वेत, जो कि वहाँ की जनसंख्या के तीन प्रतिशत से भी कम हैं नेतृत्व पर समर्थ एकाधिकार कायम नहीं रख सकते, भले ही शुरू में वे श्रेष्ठ जीवात्मक सम्पत्ति वाले लोग रहे हों, क्योंकि अगर एक परिवार में असमर्थ लोग पैदा होने लगें तो, संख्या में सीमित होने के कारण, उनका स्थान लेने के लिए निचले परिवारों के लोग उपलब्ध नहीं होंगे।

दूसरी ओर छोटा शासक-वर्ग आप्रवासन द्वारा भी अपने को बनाए रख सकता है। चरम अवस्था में, जैसे कि उन ब्रिटिश बस्तियों में जिनका शासन सो ब्रिटेन द्वारा होता है लेकिन वहाँ ब्रिटिश लोग बसाये नहीं गए, हर पीढ़ी में शासक-वर्ग नया चुनकर उन बस्तियों में ले जाकर बनाया जाता है; यह वर्ग तब तक सशक्त रह सकता है जब तक समर्थ आप्रवासी उपलब्ध होते रहें।

इन शर्तों के साथ हम यह निर्णय दे सकते हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास तभी कायम रखा जा सकता है जबकि उत्तरदायित्व के पद केवल थोड़े-से परिवारों के लोगों को ही न दिये जाएँ। यह बात तब भी लागू होती है जब कि सत्ता ग्रहण करते समय, विकास की दृष्टि से, ये परिवार सर्वश्रेष्ठ रहे हों। उस समय स्थिति और भी खराब हो जाती है जब ये परिवार निकृष्ट जीवात्मक सम्पत्ति वाले होते हैं, या फिर उनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ विकास के अनुकूल नहीं होतीं। उच्च वर्गों की परम्पराएँ अक्सर आर्थिक विकास के अनुकूल नहीं होतीं। समाज के सर्वोच्च वर्ग में अनेक ऐसी चीज़ों के प्रति घृणा की भावना पाई जाती है जिन पर विकास निर्भर है। हो सकता है उच्च वर्ग काम और मितव्ययिता की भावना को नीची नज़र से देखता हो और अपना समय शिकार, गोली चलाने और युद्ध करने में बिताता हो और किरायों और लगानों की आमदनी से जीवन-निर्वाह करता हो; हो सकता

है उन्हें विद्या, विज्ञान और नयी टेक्नीकों में कोई दिलचस्पी न हो, और यह भी सम्भव है कि वे योग्यता को हेय मानकर वंश को अधिक महत्त्व देते हों। यदि ऊँचे पद केवल ऐसी परम्पराओं में पले लोगों को दिये जाएँ तो आर्थिक विकास नहीं होगा। लेकिन अधिकांश पूर्व-पूँजीवादी समाजों में अभिजात-वर्ग की परम्पराएँ ऐसी ही हैं।

इससे यह प्रश्न पैदा होता है कि आर्थिक विकास के लिए वर्तमान शासक-वर्ग को पदच्युत करने और उसके स्थान पर दूसरे लोगों को लाने की आवश्यकता पैदा हो सकती है। अपने दृष्टिकोण और परम्पराओं के कारण वर्तमान शासक-वर्ग विकास के प्रतिकूल सिद्ध हो सकता है। अपनी आर्थिक सत्ता के आधारों का नाश सन्निकट देखकर भी ये लोग प्रतिकूल प्रवृत्ति अपना सकते हैं। विकास कभी-कभी वर्तमान आधारों को बल देता है लेकिन वह उन्हें कमजोर भी कर सकता है। इसका स्पष्ट उदाहरण उन वर्तमान शासक-वर्गों में पाया जाता है जिनकी आमदनी का जरिया भूमि या कृषि दास-प्रथा है। आर्थिक विकास में भूमि का मूल्य बढ़ भी सकता है और घट भी सकता है। यदि मूल्य बढ़ने लगता है—खानें खोदने या सिंचाई-योजनाओं को कार्यान्वित करने या धनवान पर्यटकों के लिए खेल का मैदान बनाते समय भूमि का मूल्य बढ़ता है—तो वर्तमान शासक-वर्ग विकास की गति में बाधक नहीं होता। लेकिन मजदूरों से खेती वगैरह के काम छुड़वाकर उन्हें फैक्ट्रियों में ले जाया जाए, या सस्ता खाद्य-पदार्थ आयात करने के लिए टैरिफ के रोकों को कम कर दिया जाए, या लोगों के अन्दर शिक्षा का प्रसार किया जाए (जिसके फलस्वरूप लोग अक्सर यथापूर्व स्थिति से असन्तुष्ट हो जाते हैं) तो वर्तमान शासक-वर्ग इन योजनाओं के मार्ग में रोड़े अटकाता है। अगर विकास इस प्रकार किया जा रहा हो कि उससे वर्तमान शासक-वर्ग का धन कम हो रहा हो तो यह वर्ग उस विकास में सहायता नहीं देगा, बल्कि उसे रोकने के लिए प्रयत्न करने में अग्रणी रहेगा। ऐसी परिस्थिति में विकास के लिए एक नया समूह जन्म लेगा, कानून, या टैरिफ, या शिक्षा-पद्धति, या विश्राम, या रहन-सहन के तरीके बदलने की सत्ता प्राप्त करने के लिए पुराने और नवजात समूहों में संघर्ष होगा।

चूँकि नये प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के विकास का शुभारम्भ अक्सर इस नवजात सामाजिक वर्ग द्वारा किया जाता है, इसलिए द्रुत आर्थिक विकास के कालों का विश्लेषण करते समय इतिहासकार हमेशा वर्ग-रचना और वर्ग-गति-शीलता का बड़ी सावधानी से अध्ययन करते हैं। वैसे इस अध्ययन से कोई सीधा-सादा ऐतिहासिक रूप सामने नहीं आता। यदि अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटेन और रूस की तुलना की जाए तो हम देखेंगे कि ब्रिटेन का समाज कहीं अधिक

प्रगतिशील था क्योंकि जमींदारों के अभिजात-वर्ग की तुलना में रूस के व्यापारिक वर्ग को जितना सम्मान प्राप्त था उससे कहीं अधिक ब्रिटेन के सौदागरों और उद्योगपतियों को था, जिन्हें अपना चातुर्य दिखाने के अनेक अवसर उपलब्ध थे। लेकिन अगर हम उन्नीसवीं शताब्दी के चीन और जापान की तुलना करें तो यह मानानी से नहीं कह सकते कि इन अर्थों में जापान का समाज चीन के समाज से अधिक प्रगतिशील था। दोनों देशों के व्यापारिक वर्गों को उपलब्ध अवसरों और उनकी हैसियतों में कुछ अन्तर पाए जाते हैं लेकिन वे इतने नहीं हैं कि उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तृतीयांश में हुए विकास के अन्तरों का कारण ठहराया जा सके। अगर जापान के उदाहरण की ब्रिटेन के उदाहरण से तुलना की जाए तो देखने में आता है कि वहाँ कई शताब्दियों की अवधि के दौरान धीरे-धीरे विकास करते हुए सामाजिक आधिपत्य प्राप्त करने वाले व्यापारिक वर्ग की अपेक्षा अभिजात-वर्ग की एक छोटी शाखा क्रान्तिकारी ढंग से उत्पन्न हुई है जो व्यापारिक वर्ग द्वारा सफलतापूर्वक औद्योगिक क्रान्ति कर देने के बाद उसे अपने आश्रय में ले लेती है। इससे यह प्रकट होता है कि आर्थिक परिणाम देने वाले सामाजिक परिवर्तन सदा व्यापारिक वर्ग द्वारा ही नहीं किये जाते—समकालीन अतिसाम्राज्यवादी आन्दोलनों में राष्ट्रीय नेताओं और व्यापारिक नेताओं का अलग योगदान भी यही सिद्ध करता है (नीचे खण्ड ५ (क) देखिए), लेकिन हमारे मुख्य विचारणीय विषय से, कि एक निरुद्ध समाज की अपेक्षा खुले हुए समाज में नये आर्थिक वर्गों को विकास करना अपेक्षाकृत सरल होता है, इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आर्थिक विकास विशेष रूप से नीचे के वर्गों से लोगों को ऊपर उठाकर मध्य वर्गों का निर्माण करता है या उनमें विस्तार करता है, पर यह प्रक्रिया उन समाजों में नहीं हो सकती जहाँ ऊर्ध्व गतिशीलता के मार्ग में बाधाएँ होती हैं। मध्य वर्ग इसलिए बढ़ते हैं चूँकि विकास के साथ-साथ उत्पादन में ज्ञान की प्रयुक्ति और साधनों का अधिकाधिक समन्वय होता है। ज्ञान का संचय और उसकी प्रयुक्ति करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उत्पादन में कुशल लोगों का अनुपात बढ़ाया जाए—जैसे, सभी प्रकार के इंजीनियर, वैज्ञानिक और ऐसे आम लोग जिन्होंने कई वर्ष तक शिक्षा या प्रशिक्षण प्राप्त किया हो—साथ ही रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर के फलस्वरूप दाँतों के डॉक्टरों, अध्यापकों, संगीतज्ञों, और दूसरी कुशल सेवाओं की माँग होने लगती है। विकास के कारण समन्वय की आवश्यकता भी बढ़ जाती है। चूँकि विकास के साथ-साथ विशेषज्ञता बढ़ती है, और उत्पादन-कौशल में भी वृद्धि होती है, इसीलिए फारमैन, लेखाकार, प्रबन्धक और पर्यवेक्षण के पदों पर काम करने वाले

लोगों की आवश्यकता अधिक पड़ने लगती है। कार्लमार्क्स की सबसे महत्वपूर्ण भविष्यवाणियों में से एक यह थी कि आर्थिक विकास के साथ-साथ पूंजीवादी मालिक और श्रमिक की बीच की खाई बढ़ती चली जाएगी लेकिन हुआ बिलकुल इससे उलटा है, और उसका कारण स्पष्ट है। कार्लमार्क्स का विचार था कि सामाजिक स्तर-विन्यास पूरी तरह से उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के वितरण पर निर्भर है लेकिन हम देखते हैं कि मध्यवर्ग तकनीकी ज्ञान के संचय, विशेषज्ञता, समन्वय और काम के पैमाने की वृद्धि के कारण पैदा हुए उन कारणों का उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, और ये पूंजीवादी, समाजवादी या स्वामित्व की दूसरी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समान रूप से क्रियाशील होते हैं।

इस प्रकार, हम उन समुदायों में जोरदार आर्थिक विकास हो सकने की आशा नहीं करते जिनमें दासता, जाति-प्रथा, बिरादरी के विचार, सामाजिक वैभवप्रदर्शन, धार्मिक भेदभाव या और ऐसे ही कारणों से सामाजिक गति-शीलता में बाधाएँ आती हैं—हाँ, अगर विशेषाधिकार प्राप्त समूह कुल जन-संख्या को देखते हुए काफी बड़ा है या उसमें आप्रवासी निरन्तर शामिल होते रहते हैं तो और बात है। लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त समूह के समर्थ और उद्यमी बने रहने पर भी पूरे समुदाय को इस दृष्टि से तो हानि होती ही है कि उसके निम्न वर्गों के प्रतिभावान लोगों का उपयोग नहीं हो पाता। बाकी बातें समान रहने पर, वह समुदाय जिसमें कि गतिशीलता के मार्ग में बाधाएँ नहीं हैं उस समाज की अपेक्षा अधिक तेजी से विकास करेगा जिसमें अधिकांश सदस्यों को उन्नति के अवसर प्राप्त नहीं हैं।

व्यवहार में अपेक्षाकृत 'बुद्धिमान' अभिजात-वर्ग और अधिक नहीं तो अपनी सामर्थ्य बनाए रखने के लिए आवश्यक उदग्र गतिशीलता को स्वीकार करते हैं। हर वर्ग में श्रेष्ठ औसत दर्जे के और निम्न प्रतिभा वाले लोग होते हैं। 'बुद्धिमान' अभिजात वर्ग श्रेष्ठ प्रतिभा वाले लोगों को आगे आने और निकृष्ट प्रतिभा वालों को नीचे खिसकने देता है। सामर्थ्य बनाए रखने के लिए बस इतना ही आवश्यक है। साथ ही इस व्यवस्था से उच्च वर्ग के औसत सदस्य निम्न वर्ग के औसत सदस्यों से सुरक्षित भी बने रहते हैं। इस प्रकार समाज की वर्ग-रचना कायम रहती है, क्योंकि निम्न वर्ग की औसत प्रतिभा वाले लोग उच्च वर्ग की औसत प्रतिभा वाले लोगों का स्थान नहीं ले पाते, लेकिन अभिजात-वर्ग में उत्कृष्ट लोगों को बराबर आगे बढ़ने की व्यवस्था रहती है। उच्च वर्गों की सामर्थ्य बनाए रखने के लिए चूंकि थोड़ी-सी ही उदग्र गतिशीलता आवश्यक होती है, इसलिए वर्ग-रचना और आर्थिक विकास परस्पर प्रतिकूल नहीं है, बशर्ते कि यह थोड़ी-सी गतिशीलता बनाए रखी

जाए। लेकिन सामाजिक शान्ति कायम रखना तब आसान होता है जब यह जाहिर हो कि यहूदियों या हब्शियों या मजदूरों के सबसे होशियार बच्चे सर्वोच्च पदों पर निर्विघ्न पहुँच सकते हैं भले ही उनकी संख्या अपने वर्ग में बिलकुल नगण्य हो और भले ही उनके वर्ग के अधिकांश औसत आदमी अपने ही स्थान पर बनाए रखे जाएँ। इन अपवादों को उन्नति के अवसर देने में अभिजात-वर्ग चाहे जितनी सहिष्णुता से काम ले लेकिन तथ्य यह है कि उदग्र गतिशीलता के अवसरों पर रोक रहने से समुदाय के आर्थिक अवसर अवश्य कम हो जाते हैं।

इस सामान्य निष्कर्ष का एक आंशिक अपवाद ध्यान देने लायक है। कुछ परिस्थितियों में किसी समूह के प्रति भेद-भाव का यह परिणाम भी हो सकता है कि वह उन क्षेत्रों में तेजी से उन्नति कर दिखाए जिनमें शासक-वर्ग की दिलचस्पी नहीं है। उदाहरण के लिए, अगर शासक वर्ग आर्थिक क्रिया को हेय समझता है, और साथ ही दूसरे समूह को वे काम नहीं करने देता जिन्हें शासक वर्ग ऊँचे काम समझता है—जैसे सैनिक पेशे, सरकारी कामकाज और धार्मिक कर्म—तो नीची नजर से देखा जाने वाला समूह आर्थिक क्रिया के अवसरों का उपयोग करने में शक्ति लगाकर अपनी सामर्थ्य सिद्ध कर सकता है। इस सिलसिले में पश्चिमी यूरोप के यहूदियों का उदाहरण एकदम ध्यान में आता है। उन्होंने धनार्जन का काम ऐसे दिनों में हाथ में लिया था जब जीवनयापन का यह तरीका घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन यहूदियों के लिए शायद यही एक काम बच रहा था। अगर यहूदियों के विरुद्ध भेदभाव समाप्त कर दिए जाते तो वे बिना किसी बाधा के और पेशों, विज्ञान, कृषि, सेना आदि सामान्य जीविकाओं में अपनी योग्यता सिद्ध कर सकते थे, और तब वे दूसरे समूहों की अपेक्षा धनार्जन में अधिक कुशल शायद न बन रहते, और प्रतिक्रिया-स्वरूप शायद वे भी इस काम को घृणा की दृष्टि से देखने लगते और इसके अनभ्यस्त हो जाते। इसी प्रकार, दूसरे धर्म वाले होने के कारण पारसी लोग भारत के शासक-वर्ग में शामिल न हो सके, और वे आर्थिक क्रिया में जुट गए, और इस क्षेत्र में भारतीयों के मुकाबले अधिक कुशल हो गए। यह बात हम छोटे-छोटे आप्रवासी समूहों में भी देख सकते हैं जो अपने धर्म या जाति या किसी और अन्तर के कारण न तो ऊपर के वर्ग में खप पाते हैं और न निम्न वर्गों में शामिल हो पाते हैं, और अपने ही ढंग से जीविकोपार्जन के काम में लग जाते हैं—दक्षिण-पूर्वी एशिया के चीनी लोग इसका सर्वविदित उदाहरण हैं। आप्रवासियों और उनकी समस्याओं के बारे में हम अध्याय ६ में अधिक चर्चा करेंगे।

(ग) बाजारों की स्वाधीनता—आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक

है कि लोग द्रव्य देकर साधनों का उपयोग करने और इच्छानुकूल व्यापार करने के लिए स्वाधीन हों—वे निजी रूप से व्यापार करें या लोक-कर्मचारी के रूप में, यह एक अलग समस्या है जिस पर हमने ऊपर खण्ड ३ (क) में विचार कर लिया है। यहाँ हम पहले साधनों तक पहुँच और बाजारों तक पहुँच के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विचार करेंगे।

साधनों तक पहुँच से हमारा आशय यह है कि उद्यमकर्ता को उत्पादन के साधन खरीदने, उधार लेने, या किराये पर लेने की आजादी होनी चाहिए, चूंकि आदमी केवल अपने ही श्रम भूमि और पूंजी का उपयोग कर सकेगा तो विशेषज्ञता और बड़े पैमाने के उद्यम के लाभ नहीं उठाए जा सकेंगे। इस खण्ड में सिवाय इस उल्लेख के कि यदि धर्म या प्रथा ब्याज पर रुपया उठाने के काम पर प्रतिबन्ध लगाएँ तो उससे विकास की गति रुकती है, हम पूंजी के बारे में अधिक कुछ नहीं कहेंगे, पूंजी की वास्तविक समस्याएँ अध्याय ५ के लिए छोड़ दी गई हैं। इस खण्ड में हम भूमि और श्रम की सुलभता पर विचार करेंगे।

भूमि तक पहुँच होनी आवश्यक है। भूमि का माफीपट्टे पर मिलना ही सदा आवश्यक नहीं है, लेकिन लम्बी अवधि के लिए सुरक्षित पट्टे पर मिलना तो सम्भव होना ही चाहिए, विशेषकर यदि किसी उद्यम में इमारतों, सिंचाई-कार्यों या खनिज-सुरंगों आदि के रूप में भूमि पर लम्बी अवधि के लिए पूंजी-निवेश करना पड़ता हो। भू-धारणाधिकार की अधिकांश प्रणालियों में भूमि उपलब्ध कराने की व्यवस्था होती है, हालांकि अक्सर इसके साथ शर्तें लगी रहती हैं। उदाहरण के लिए, जैसा कि रूस में है लोगों को निजी या वस्तुतः जमीन दिये जाने की मनाही हो सकती है और यह केवल सामूहिक संगठनों को ही प्राप्य हो सकती है या 'अजनबियों' को भूमि देने से इन्कार किया जा सकता है। ये अजनबी आप्रवासी हो सकते हैं या किसी एक जाति या मत के लोग हो सकते हैं, या जैसा कि भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में है 'गैर-कृषक' भी हो सकते हैं (इस प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य महाजनों को किसानों की जमीन खरीदने से रोकना है)। विशेषकर आजकल भूमि के उपयोग की भौगोलिक इलाकेबन्दी की जा रही है और यह भी सम्भव है कि 'नगर और देहात आयोजन' के नाम पर जमीन के उपयोग के बारे में प्रतिबन्ध लगा दिए जाएँ। या पट्टेदारी पर भी प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, कुछ देशों में जमीन माफीपट्टे पर नहीं खरीदी जा सकती, उसे केवल पट्टे पर दिया जा सकता है, और जमीन के पट्टे की मियाद इतनी सुरक्षित नहीं होती कि उस पर कुछ विशिष्ट प्रकार के ' [illegible] गंभीर पूंजी निवेश किये जा सकें। अगर भूमि के स्वामित्व का निर्धारण [illegible] न किया जा सके तो

भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। आधुनिक देशों में मालगुजारी-सर्वेक्षण और भूमि-रजिस्टरों की व्यवस्था है लेकिन अनेक स्थान ऐसे हैं जहां ज़मीन खरीदने वाले को उसकी हदों या बेचने वाले के स्वामित्व को लेकर वाद में मुकदमेबाजी करनी पड़ती है। आर्थिक विकास के लिए निर्विवाद स्वामित्व बहुत आवश्यक है।

यद्यपि अधिकांश प्रणालियों में इस प्रकार की व्यवस्था है कि भूमि के मालिक अगर चाहें तो अपनी ज़मीन बेच सकते हैं लेकिन ज़मीन को बेचने या किराये पर उठाने के मामले में भिन्न भिन्न समुदाय के लोगों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न पाई जाती हैं। भूमि स्वामित्व अक्सर परिवार की प्रतिष्ठा के साथ जुड़ा रहता है जिसके कारण लोग पीढ़ियों से अपने परिवार के स्वामित्व में चली आती ज़मीन को और जिसमें कभी-कभी उनके पुरखे भी गड़े होते हैं छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। भूमि-स्वामित्व सामाजिक और राजनीतिक हैसियत के साथ भी जुड़ा होता है, जिसके कारण लोग इसे मुख्यकर उत्पादन का साधन या धन का स्रोत नहीं मानते, बल्कि हैसियत का चिह्न समझते हैं, और उनकी धारणा होती है कि अगर भूमि पर प्रतिवर्ष काफ़ी खर्च भी उठाना पड़े तो भी उस पर स्वामित्व बनाये रखना चाहिए। इस प्रकार की धारणाएँ शायद उन देशों में ज्यादा प्रबल होती हैं जहां भूमि का वितरण बड़ा असमान है, उदाहरण के लिए जहां सारी भूमि एक छोटे से अभिजात वर्ग के स्वामित्व में होती है, वहां भूमि खरीदना या किराये पर लेना अक्सर बड़ा आसान होता है जहां भूमि का स्वामित्व बहुत लोगों में बंटा रहता है। भूमि-स्वामित्व के साथ पारिवारिक या राजनीतिक भावनाओं के जुड़ जाने से उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की गतिशीलता कम हो जाती है और इससे आर्थिक विकास में बाधा आती है। लोगों की ऐसी भावनाओं के कारण ही कुछ सरकारों को सार्वजनिक कामों या रेलों के लिए, या बड़ी आस्तियों को छोटे फ़ार्मों में या छोटे फ़ार्मों को बड़ी आस्तियों में बदलने के लिए भूमि की अनिवार्य बिक्री लागू करते समय अपने अधिकारों का प्रयोग करना पड़ा है, इसी प्रकार चकबन्दी की योजनाओं या नगर-आयोजन की योजनाओं के सिलसिले में भूमि के अनिवार्य विनिमय पर अमल कराने के लिए भी अधिकारों का उपयोग करना पड़ा है। संसार में शायद कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां उत्पादन के साधन के रूप में ही भूमि का मूल्य आंककर उसे खरीदा-बेचा जाता हो और जहां उत्पादन को बढ़ाने वाली योजनाओं के मार्ग में आर्थिकेतर कारण कठिनाई उपस्थित न करते हों।

जहां भूमि सुलभ होने से प्राकृतिक साधनों में कमी आने का खतरा हो

वहाँ भी सामाजिक हित को ध्यान में रखकर जमीन की प्राप्यता पर अंकुश लगाया जा सकता है। भूमि के कुछ उपयोग ऐसे हैं जो निश्चय ही प्राकृतिक साधनों का ह्रास करते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण खान खोदने का काम है, दूसरा उदाहरण उपजाऊ जमीन पर हवाई अड्डों का निर्माण या स्थान की सुन्दरता को नष्ट करने वाले कुरूप ढाँचों का खड़ा करना है। भूमि के कुछ दूसरे उपयोग भी विनाशक हो सकते हैं लेकिन ऐसा न होना अनिवार्य नहीं है, खेती इस प्रकार की जा सकती है जिससे जमीन का उपजाऊपन बना रहे, और लकड़ी काटने का काम भी जंगलों को नष्ट किए बिना किया जा सकता है, लेकिन भूमि का उपयोग करने वालों को न तो हमेशा इतनी दिलचस्पी होती है और न इतनी अक्ल या दूरदर्शिता होती है कि वे संरक्षण के उपायों पर भी अमल करते चलें। फिर भी इन आधारों पर जमीन देने से मना करना सदा सार्वजनिक हित में नहीं होता। उदाहरण के लिए खान खोदना सार्वजनिक हित के लिए वांछनीय हो सकता है, चूँकि उससे प्राप्त आय और साधन (स्कूल आदि) उत्पन्न करने में लगाई जा सकती है, या जमीन के किसी टुकड़े पर खेती की अपेक्षा हवाई अड्डा बनाना सार्वजनिक दृष्टि से अधिक उपयोगी हो सकता है। लेकिन इन आधारों पर जमीन देने की मनाही अनिवार्य रूप से विकास के प्रतिकूल नहीं होती। इसके विपरीत भूमि का नियन्त्रण विकास के लिए मूल रूप से आवश्यक हो सकता है चूँकि बहुत से समुदायों को केवल इसीलिए बुरे दिन देखने पड़े हैं कि उन्होंने जमीन समाप्त करके, या जंगल नष्ट करके, या दूसरी परिसम्पत्तियाँ बनाने में आय का पुनर्निवेश किए बिना ही अपने खनिज-पदार्थ समाप्त करके अपने प्राकृतिक साधन बरबाद कर लिए हैं। (देखिए अध्याय ६, खण्ड १ (ग))

भूमि के बाद अब हम श्रम तत्व की चर्चा करेंगे। अगर बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ उठाने हैं तो श्रमिकों की बड़ी संख्या को सामूहिक, सरकारी या निजी उद्यमों के रूप में केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत संगठित करना होगा। और, चूँकि विकास के साथ परिवर्तन स्वाभाविक है इसलिए यह भी आवश्यक है कि श्रमिक गतिशील होने चाहिएँ—वे एक उद्यम से दूसरे उद्यम में आते जाते रहें। सत्तावादी राज्यों में इस प्रकार की गतिशीलता लागू करने के लिए प्रशासनिक आदेश जारी किए जा सकते हैं जिनमें श्रमिकों को आदेश दिया जा सकता है कि उन्हें कहाँ काम करना है। प्रजातान्त्रिक समाज भी युद्ध-काल में इस प्रकार के नियम लागू करते हैं। वैसे, शान्तिकाल में प्रजातान्त्रिक समाज बाजार की प्रक्रियाओं पर निर्भर रहते हैं जिन उद्यम में ऐसी श्रमिक होते हैं वे निकाल दिए जाते हैं, और जिन उ
की आवश्यकता होती है वे अपनी-अपनी मजदूरी की दरें बढ़ा

के आधार पर श्रमिकों को काम पर लगाते हैं।

व्यवहार में केवल मजदूरी पर आश्रित श्रमिक ही गतिशील होते हैं। ऐसे समुदाय में श्रमिक मिलना बहुत कठिन होता है जहाँ हर आदमी के पास अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए काफी जमीन होती है। इसलिए आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्तों में एक भूमिहीन वर्ग की रचना भी एक शर्त है। इस वर्ग की रचना किसानों से उनकी जमीन छीनकर की जा सकती है कुछ सीमा तक यही परिणाम ब्रिटेन के हदबन्दी आन्दोलन का था, भूमिहीन वर्ग की रचना अधिक आबादी के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। यह रचना केवल पूंजीवादी देश के लिए ही आवश्यक हो, ऐसा नहीं है। बड़े पैमाने के संगठन पर आधारित कोई भी प्रणाली, जिसमें परिवर्तन निहित होता ही है, मजदूरी से जीविकोपार्जन करने वाले वर्ग पर निर्भर होनी चाहिए, अन्यथा आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा। किसी भी परिस्थिति में प्रति व्यक्ति ऊंची आय और अधिकाधिक भूमि पर आश्रित आबादी जिस प्रकार श्रमिकों की सप्लाई की दृष्टि से एक-दूसरे के प्रतिकूल पड़ते हैं, उसी प्रकार श्रमिकों की मांग की दृष्टि से भी परस्पर प्रतिकूल हैं। बात यह है कि प्रति व्यक्ति अधिक आय होने से उसका एक छोटा-सा अंश ही भोजन पर खर्च होता है, या दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि आबादी के एक छोटे-से अंश को ही खेती करने की आवश्यकता होती है। अमरीका-जैसे कुशल देश में यदि आबादी का छठा हिस्सा खेती का काम करता रहे तो देश की पूरी जनसंख्या के लिए अनाज जुटाया जा सकता है। यदि कोई देश विनिर्मित वस्तुओं के आयात के बदले अपने कृषि-पदार्थों का निर्यात करके ही जीविकोपार्जन करता है तो भी कार्यकुशलता के वर्तमान उच्च स्तरों को देखते हुए उसे अपनी जनसंख्या के एक-तिहाई से अधिक भाग को कृषि-कार्य पर नहीं लगाना पड़ेगा। लोगों को भूमि से पृथक् करने का जो विरोध हुआ है उससे राजनीतिक आवेश के लिए आधार और भूमि के प्रति आसक्ति प्रकट करने वाली काव्य-भावनाओं के लिए उपयोगी सामग्री अवश्य मिली है, लेकिन अर्थशास्त्री तो उस समुदाय को अकुशल ही कहेंगे जिसे अपनी जनसंख्या के अधिकांश को भूमि पर लगाए रखना आवश्यक प्रतीत होता हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोगों को भूमि से पृथक् करने के विरुद्ध जो आवाजें उठायी गई हैं उनमें से अधिकांश की शिकायत सर्वहारा वर्ग के गठन के विरुद्ध है। ऊँचे टैक्स लगाकर अफ्रीकियों को अपने दायरों में से निकलकर खानों में काम करने के लिए बाध्य किए जाने से उत्पादन में भारी वृद्धि हुई है, इस वृद्धि को हम किसी भी मानक के अनुसार मापकर देख सकते हैं, इस वृद्धि के बावजूद यह सम्भव है कि अधिकांश अफ्रीकी दुखी हों, उनकी जमीनें बिना खेती किए पड़ी हों, उनके बीवी-बच्चे वर्ष के अधिकांश

समय अकेले और भूखे रहते हो और उनके कबील का संगठन अपनी नैतिक आचरण संहिता-सहित बुरी तरह छिन्न भिन्न हो गया हो। जैसा कि हम परिशिष्ट में कहेंगे उत्पादन में वृद्धि और सुख या कल्याण में वृद्धि बिलकुल एक ही चीज नहीं है। सौभाग्य से ये हमेशा एक दूसरे के प्रतिकूल भी नहीं होतीं।

श्रम की प्राप्यता म केवल भूमि का विकेन्द्रित स्वामित्व ही बाधा नहीं है बल्कि दास-प्रथा, कृषि दासत्व, बिरादरी, जाति-सम्बन्धी पूर्वाग्रह, या धार्मिक भेद-भाव-जैसे संस्थान भी है जो लोगों को किन्हीं विशेष धन्धों या मालिकों से बाँधे रहते है, वे संस्थान भी श्रम की प्राप्यता में बाधक हैं जो व्यक्ति को अधिक पारिश्रमिक वाला काम ढूँढने में प्रेरणा लेने से रोकते हैं उदाहरण के लिए व्यापक परिवार-प्रथा, या उदार सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाएँ। इन सभी संस्थानो से श्रम की गतिशीलता कम होती है, और नयी फर्मों या नये उद्योगों के स्थापित होने या विकसित होने में कठिनाई होती है। यही कारण है कि नये उद्योगों के प्रवर्तक, चाहे वे सरकारें हो या निजी व्यक्ति, अक्सर इन संस्थानो के विरोधी होते है। कृषि-दासों का सबसे अच्छा मित्र वह मालिक होता है जो कोई नया उद्योग चलाना चाहता है, लेकिन उसके लिए श्रमिक नहीं जुटा पाता। दक्षिण अफ्रीका संघ या अमरीका के दक्षिणी राज्यों म नीग्रो लोगों की स्थिति बहुत जल्दी अच्छी हो सकती है यदि उन स्थानों म फैक्टरी उद्योगों का तेजी से विस्तार कर दिया जाए अन्य सभी उपायों की अपेक्षा यह उपाय सबसे ज्यादा कारगर होगा। *यह भी एक कारण है जिससे* शक्तिशाली वर्ग सदा ही आर्थिक विकास का विरोध करते हैं चूँकि इसके परिणामस्वरूप पेड की जिस डाल पर य लोग बैठे है उसी के कटने की नौबत आ जाती है।

पूँजीवाद के आरम्भिक दिनों म श्रम की प्राप्यता पर राज्य का नियमन नहीं था, दासत्व या उसके अनुकरणों को छोडकर और जिस तरह म भी मालिक और श्रमिक चाहते थे एक-दूसरे के साथ संविदा करने के लिए स्वतन्त्र थे। लेकिन अब काम की संविदा अनेक शर्तों से *बँधी होती है।* सरकार की ओर से कई संविदाएँ निषिद्ध है उदाहरण के लिए बच्चों को रोजगार देना, या स्त्रियों को खान में काम पर लगाना रोक दिया गया है। कुछ देशों में काम के अधिकतम घण्टे या न्यूनतम मजदूरी भी निर्धारित हैं। शिशुता की अवधि का भी नियमन किया जा सकता है। इसी प्रकार, मजदूर संघों के अधिकारों को संरक्षण दिया जा सकता है, और इसी प्रकार के और काम भी किए जा सकते है। कुछ निषेध ऐसे है जिनसे आर्थिक विकास मे बाधा आती है, लेकिन केवल इसी आधार पर उन्हे बुरा नहीं बताया जा सकता।

अब हम उपभोक्ता तक पहुँच की समस्या पर विचार करेंगे। आर्थिक

हैं, कीमत के सम्बन्ध में करार होते हैं, समामेलन होते हैं, अनन्य लाइसेन्स जारी किये जाते हैं और बाजार में प्रतियोगिता को कम करने के लिए दूसरी सभी सम्भव तरकीबें लड़ाई जाती हैं।

हालांकि यह सही है कि आर्थिक विकास परिवर्तन लाकर प्रतियोगिता या प्रतिरोध करने की शक्ति को बढ़ाता है लेकिन शायद यह भी सही है कि जो देश जितनी ही तेजी से आर्थिक विकास कर रहे होते हैं वहाँ उतनी ही अधिक खुलकर प्रतियोगिता होती है। इसका एक कारण यह भी है कि स्थ-गति समाजों की अपेक्षा विकासशील समाजों में हानि को रोकना अधिक आसान होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी उद्योग में अधिक पूंजी-निवेश कर देता है तो उसे कुछ समय तक हानि उठानी पड़ सकती है, लेकिन आय में दीर्घकालीन वृद्धि हो रही होगी तो धीरे-धीरे मांग सप्लाई के बराबर हो जाएगी और आय जितनी तेजी से बढ़ रही होगी उतने ही समय में कम हानि की स्थिति समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार, अगर प्रौद्योगिकी में परिवर्तन होने के कारण किसी उद्योग में लगा व्यक्ति बेरोजगार हो जाता है तो विकासशील अर्थ-व्यवस्था में उसे कहीं दूसरी जगह आसानी से रोजगार मिल सकता है। तात्पर्य यह है कि एक ओर जहाँ विकास लोगों में जुम्बिश पैदा करता है, और उनके एक ही स्थान पर बने रहने के अवसर कम कर देता है, वहाँ दूसरी ओर यह निरन्तर ऐसे नये अवसर पैदा करता रहता है कि गतिरुद्ध समाजों की तुलना में विकासशील समाजों में एकाधिकारी संरक्षण की आवश्यकता कम महसूस होती है। यही नहीं, जिन समाजों में आर्थिक विकास हो रहा होता है वहाँ तो एकाधिकार निश्चय ही हानिकारक होता है, और लोग उसका प्रतिरोध करने की भी काफी कोशिश करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आर्थिक विकास की अवस्था में अधिकांश जनता प्रतियोगिता की भावना के पक्ष में होती है और सरकार द्वारा प्रतियोगिताओं को संरक्षण देने के जो प्रयत्न किये जाते हैं उनसे सहमत होती है।

दूसरे आर्थिक क्षेत्रों की अपेक्षा आर्थिक विकास के क्षेत्र में एकाधिकार की हानियाँ अधिक स्पष्ट हैं। एकाधिकार के बारे में अर्थशास्त्रियों ने अब तक जो कुछ लिखा है उसका अधिकांश इसी मुद्दे को ध्यान में रखकर लिखा गया है जिसका महत्त्व सामान्य लोगों की स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता है, अर्थशास्त्रियों का साहित्य मुख्यतः 'सामान्य कल्याण पर पड़ने वाले एकाधिकार के प्रभाव के बारे में है जो उन 'सीमान्त' आनुपातिकताओं को छिन्न-भिन्न कर देता है जिनके आधार पर साधनों का वितरण 'होना चाहिए'। सामान्य जनता ज्यादा समझदार होती है,

और उनकी अधिक दिलचस्पी एकाधिकार के उन परिणामों में होती है जो आय के वितरण को प्रभावित करते हैं। यह विषय ऐसा है जिसे एकाधिकार से लाभ उठाने वाले और उससे हानि उठाने वाले लोगों के बीच व्यक्तिगत अभिमानों के प्रश्न से अलग करना सरल नहीं है। इस प्रकार अगर आर्थिक विकास को ध्यान में रखे बिना ही एकाधिकार की चर्चा की जाए तो यह या तो अस्पष्ट होगी और आम जनता के काम की नहीं होगी या अगर वास्तविक होगी तो यह बात द्वारा एक समूह की अपेक्षा दूसरे समूह को दिये जाने वाले अधिमानों के अनिश्चित और कोई समाधान उससे नहीं निकल सकेगा। उदाहरण के लिए अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ लोग श्रमिकों के एकाधिकार को उचित समझते हैं लेकिन व्यवसायियों के एकाधिकार के विरुद्ध होते हैं, कुछ लोग खुदरा व्यापारियों का एकाधिकार पसन्द करते हैं लेकिन विनिर्माताओं के एकाधिकार को पसन्द नहीं करते, कुछ लोग किसानों का एकाधिकार ठीक समझते हैं, लेकिन उद्योगपतियों का एकाधिकार खराब मानते हैं, कुछ लोग पुस्तक-विक्रेताओं के एकाधिकार का पक्ष लेते हैं, लेकिन डॉक्टरों के एकाधिकार को हानिकर मानते हैं, आदि-आदि। एकाधिकार के बारे में लोगों का दृष्टिकोण अगर कुछ होता भी है तो शायद इतना ही होता है कि वे बुरे एकाधिकारों की अपेक्षा अच्छे एकाधिकारों को पसन्द करते हैं। इसको शायद इस प्रकार व्यक्त करना सबसे सही मालूम होता है कि लोग दुर्बलों के एकाधिकार का पक्ष लेते हैं और सबलों के एकाधिकार को पसन्द नहीं करते, हालांकि कुछ लोग इसे दूसरी तरह भी व्यक्त करते हैं जिसमें यह भी शामिल होता है कि लोग कार्यकुशल व्यक्तियों का एकाधिकार अच्छा मानते हैं और अकुशल लोगों के एकाधिकार का विरोध करते हैं।

एकाधिकार और आय के वितरण पर पड़ने वाले इसके प्रभाव के प्रति लोगों के दृष्टिकोण चाहे जितने भिन्न हों, लेकिन आर्थिक विकास के सम्बन्ध में समाज में अधिकांश लोग इस बात से सहमत पाए जाएँगे कि आर्थिक विकास को बढ़ावा देने वाले एकाधिकार अच्छे हैं और विकास में बाधक एकाधिकार बुरे हैं। इसका कारण यह है कि विकास के सम्बन्ध में अधिकांश लोगों का यह आम विश्वास होता है कि विकास के फलस्वरूप उत्पन्न नयी सम्भावनाएँ राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण से उत्पन्न सम्भावनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। यदि प्रति व्यक्ति आय दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही हो तो दस वर्ष में हर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति बाईस प्रतिशत सुधर जाएगी—आर्थिक विकास किये बिना ही लोगों में आय का पुनर्वितरण करने के किसी भी उपाय से इतने अच्छे परिणाम नहीं निकल

सकते। इस बात को भी ध्यान में रखने पर कि आर्थिक विकास स्वयं प्रतियोगिताजन्य हानियों से लोगों की रक्षा करता है यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि गतिरुद्ध समाजों की अपेक्षा गतिशील समाजों में प्रतियोगिता का अधिक स्वागत क्यों किया जाता है।

हम यह नहीं कहते कि एकाधिकार सदा ही आर्थिक विकास के प्रतिकूल होता है बल्कि वणिकवादी लेखक और उनके बाद के एकाधिकार-समर्थक अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार का प्रबल समर्थन इसी आधार पर किया है कि आर्थिक विकास में एकाधिकार का योग अनिवार्य है। इन लोगों ने अपने तर्क की जो सीमाएँ निर्धारित कर ली थीं उनके कारण ही वे तर्क और प्रबल हो गए। एकाधिकार के पक्ष में उनके तर्क के दो पहलू हैं। पहला तो यह है कि बड़े पैमाने के कुछ कार्यों को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए एकाधिकार आवश्यक है। और दूसरा पहलू यह है कि विकास के आरम्भिक चरणों में एकाधिकार आवश्यक है।

यदि कोई उद्योग ऐसा है जिसमें फर्म की आन्तरिक मितव्ययिताओं के कारण उत्पादन बढ़ाने के साथ-साथ औसत लागत कम होती जाती है—उत्पादन उसी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है जितना कि बाजार में खप सके—तो कई फर्मों की अपेक्षा एक फर्म चलाना सस्ता पड़ेगा। लेकिन एकाधिकार के पक्ष में केवल यही बात निर्णायक नहीं है क्योंकि हमें यह भी पता है कि एकाधिकार के कारण पहल और उद्यम की भावना का ह्रास होता है। इसलिए अगर बड़े पैमाने के काम के लाभ कोई खास न हों तो दीर्घकाल में यही अच्छा रहेगा कि यथासम्भव उद्योग को प्रतियोगिता के आधार पर चलने दिया जाए, एकाधिकार के संरक्षण की आड़ में अन्ततः गतिरोध पैदा करने वाली अस्थायी अर्थ-व्यवस्था कायम करने से प्रतियोगिता की स्थिति कहीं अच्छी है। वैसे, हर मामले में पक्षापक्ष देखकर ही निर्णय करना चाहिए।

यदि बड़े पैमाने पर उत्पादन में होने वाले लाभ बहुत काफी होंगे तो प्रतियोगिता की प्रक्रिया ही एकाधिकार को जन्म दे देगी। ऐसी स्थिति में बड़ी फर्में छोटी फर्मों को बाजार से निकाल बाहर करेंगी—यह उन छोटी फर्मों पर लागू नहीं होता जो इस प्रकार की चीजों को बेचने या ऐसी सेवाएँ जुटाने में विशेषज्ञ हों जिनका बाजार सीमित होता है। वैसे कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनमें शुरू से ही एक फर्म का होना सस्ता पड़ता है, उदाहरण के लिए गैस, या बिजली, या पानी के वितरण का प्रबन्ध करने वाली फर्म। ऐसे भी अवसर आते हैं जिनमें किसी बड़ी फर्म के खड़े होने से नहीं बल्कि एक-दूसरे की प्रतियोगिता में चलते चली हों या अधिक फर्मों के बीच समझौता हो जाने से प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार के समझौते के परिणामस्वरूप कभी कभी

उत्पादन या वितरण की लागत में भी कमी हो जाती है हालांकि इन करारों का मुख्य उद्देश्य या मुख्य प्रभाव शायद ही ऐसा होता हो, उनका उद्देश्य और प्रभाव तो कीमतें बढ़ाकर उपभोक्ताओं का धन उत्पादकों की जेबों में पहुँचाना होता है। इन करारों से कभी-कभी लागत में कमी हो जाती है विशेषकर तब जबकि इनके परिणामस्वरूप मानकीकरण या सरलीकरण हो जाता है। बात यह है कि ऐसे करारों के अभाव में कभी-कभी फर्म को बाजार में अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए अनेक आकारों और रंग-रूपों की चीजें बनानी पड़ती हैं। करार में यदि ऐसी व्यवस्था हो कि हर फर्म केवल थोड़े-से ही रंग-रूप की चीजें बनाने में विशेषज्ञ रहेगी, तो इससे उत्पादन की लागत कम हो जाएगी। करार हो जाने से बाजार में आने वाले रंग-रूपों की कुल संख्या में भी कमी हो सकती है, और बाजार को भौगोलिक आधार पर बाँट-कर विपणन और यातायात का खर्चा भी कम किया जा सकता है। ऐसे करार, जिनका उद्देश्य लागत या कीमत कम करना होता है केवल अपवाद-स्वरूप ही पाए जाते हैं, पर इस प्रकार के कुछ करार हैं अवश्य।

बड़े आकार की फर्मों के लाभ का दूसरा पहलू यह है कि एकाधिकार विकास के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि आजकल अनुसन्धान और विकास के लिए जितने अधिक धन की आवश्यकता होती है वह केवल एकाधिकारी ही वहन कर सकते हैं। इस तर्क में कई उलझनें हैं जिनको अलग अलग देखना पड़ेगा। पहले तो यह सच नहीं है कि सभी नयी प्रक्रियाओं में अधिक खर्च की आवश्यकता होती है। आज भी थोड़े साधनों वाले लोग पटुता और अनुकूलन की पुरानी पद्धति का बखूबी प्रयोग करते हैं, और छोटी फर्में काफी सीमा तक नवीन प्रक्रिया अमल में लाती हैं। खर्चीली खोजें वही होती हैं जिनमें उच्च प्रशिक्षण-प्राप्त रसायनिकों या भौतिकशास्त्रियों के दल लगाने पड़ते हैं और अनुसन्धानकर्त्ताओं के ये दल अधिकतर रसायन और विद्युत्-इंजीनियरी उद्योगों में ही देखने में आते हैं। इस्पात के निर्माण-जैसे कुछ दूसरे उद्योगों में भी उच्च प्रशिक्षण-प्राप्त अनुसन्धानकर्त्ता-दलों का रखना उपयुक्त रहता है, लेकिन बाकी अधिकांश उद्योगों में यान्त्रिक रुचि, और पटु एवं उर्वर मस्तिष्क आविष्कार के लिए सर्वोत्तम उपस्कर हैं। दूसरी बात यह है कि एकाधिकार और फर्म का आकार एक ही चीज नहीं है। कार्टेल या बाजार को बाँटने के समझौते आदि एकाधिकारी करार सम्बद्ध फर्मों के आकार पर निर्भर नहीं होते, और इनके अन्तर्गत संयुक्त अनुसन्धान की सुविधा भी अक्सर नहीं दी जाती। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कुछ उद्योगों में इस प्रकार के अनुसन्धान-कार्य होते हैं जिनका खर्चा उठाना छोटी या बीच के आकार की फर्मों के लिए सम्भव नहीं होगा। अब इन उद्योगों में बड़ी फर्मों को नवीन प्रक्रिया

लागू करना लाभकर रहता है। तीसरे, यदि अनुसन्धान सहकारिता के आधार पर, या सरकारी प्रयोगशालाओं में किया जाने लगे, जैसा कि ब्रिटेन में कुछ विनिर्माण-उद्योगों में, और अधिकांश देशों में कृषि के बारे में किया जाता है, तो बड़ी फर्म की यह लाभजनक स्थिति समाप्त हो सकती है। यह सही है कि अनुसन्धान के लिए स्थापित बाहरी संगठन फर्म के अपने अनुसन्धान-विभाग का स्थान पूरी तरह नहीं ले सकता क्योंकि आन्तरिक विभाग को फर्म की दैनिक समस्याओं की अधिक जानकारी होती है और वह अपने कार्य को तदनुकूल रूप दे सकता है। दूसरी ओर यह भी है कि दैनिक समस्याओं के समाधान के अधिक खर्चीले अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं होती, अधिक खर्चीला तो मौलिक लिए दीर्घकालीन अनुसन्धान कार्य है जो विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों पर निर्भर होता है और सहकारिता के आधार पर चलने वाली या सरकार द्वारा चलाई जाने वाली प्रयोगशालाओं में भी उतनी ही अच्छी तरह किया जा सकता है, बल्कि सहकारी या सरकारी प्रयोगशालाओं का एक अतिरिक्त लाभ यह और होता है कि अनुसन्धान के परिणामों की जानकारी अपेक्षाकृत अधिक तेज़ी के साथ समस्त उद्योग को कराई जा सकती है। वैसे हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अनुसन्धान-कार्य केवल उन्हीं प्रयोगशालाओं में हो जो सारे उद्योग के लिए काम करती है, बड़ी फर्मों की प्रयोगशालाओं की भाँति ही ये प्रयोगशालाएँ भी अधिक उपयोगी विश्लेषण में असमर्थ हो सकती हैं। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि छोटी फर्मों की हानियों को सहकारी संगठन स्थापित करके दूर किया जा सकता है। एकाधिकार का समर्थन करते समय अनुसन्धान की दुहाई नहीं दी जा सकती, चूंकि यदि अनुसन्धान में ही एकाधिकार की स्थापना कर दी गई तो वैज्ञानिक उन्नति निश्चित रूप से समाप्त हो जाएगी। (इन समस्याओं पर और अधिक विचार अध्याय ८ खण्ड १ (ग) में किया जाएगा।)

आकार के बारे में अभी हमारा तर्क पूरा नहीं हुआ है क्योंकि अनुसन्धान और विकास अलग-अलग चीज़ें हैं। यह सही है कि मामूली अनुसन्धान के भी वे ही परिणाम हो सकते हैं जो बड़ी फर्म की प्रयोगशाला में हों। लेकिन यह भी सही है कि जब विकास की स्थिति आ जाती है तो बड़ी फर्म अधिक अनुकूल अवस्था में होती है जो नवीन प्रक्रिया को व्यापारिक उपयोग में लाने के लिए अपेक्षित भारी खर्च को वहन कर सकती है। बड़े पैमाने में उत्पादन के लाभों की भाँति खर्चीली नवीन प्रक्रिया में पैसा लगाने की योग्यता भी बड़ी फर्म के निर्विवाद लाभों में से एक है। इन लाभों के कारण ही कभी-कभी एकाधिकार की स्थापना होती है, और कभी ऐसा भी होता है कि एकाधिकार की परिस्थितियों का निर्माण किये बिना ये लाभ उठाए ही नहीं जा सकते। कुछ

उद्योगों के बारे में शायद यह सही है कि एकाधिकार से विकास के कदम आगे बढ़ते हैं, चूंकि फर्म का आकार बढ़ने से विकास होता है और आकार और एकाधिकार परस्पर-सम्बन्धित हैं। लेकिन सब उद्योगों और सब परिस्थितियों के बारे में इस प्रकार का कोई सामान्य नियम बना लेना अनुचित होगा।

उत्पादन-स्तर के लाभों से सम्बन्धित इन प्रश्नों को छोड़ दें तो विकास के प्रारम्भिक चरणों में नए उद्योग को संरक्षण देना वांछनीय हो सकता है, बशर्ते कि यह संरक्षण एक उचित छोटी-सी अवधि के बाद हटा लिया जाए। इस विचार का कानूनी समर्थन सर्वप्रथम १६२४ के एकाधिकारों की संविधि के रूप में मिला। इस संविधि में दो पीढ़ियों के उग्र विवाद के बाद यह व्यवस्था की गई कि राज्य की ओर से नए आविष्कारों को संरक्षण दिया जा सकेगा, लेकिन यह एक निश्चित अवधि के बाद हटा लिया जाएगा। हमारी पेटेण्ट प्रणाली का जन्म इसीसे हुआ। उन दिनों नए आविष्कार का अर्थ वह नहीं था जो आज है। तब इसमें और देशों के आधार पर चलाए गए नए उद्योग भी शामिल माने जाते थे, भले ही वे उन दूसरे देशों में टकनीक की दृष्टि से कितने ही पुराने और भली प्रकार जमे हुए हों। इस प्रकार जिसे अब हम 'शिशु उद्योगों' का तर्क कहते हैं वह और पेटेण्ट-सम्बन्धी विवादों में जो तर्क आजकल प्रस्तुत किये जाते हैं वे सब उक्त संविधि में अन्तर्निहित रूप से स्वीकार कर लिये गए थे।

कई शताब्दियों के बाद विवाद के बावजूद १६२४ के कानून का दृष्टिकोण सुधारा नहीं जा सका है। कुछ नए विचारों को संरक्षण देना इसलिए आवश्यक है कि उन्हें व्यावसायिक दृष्टि से लाभकर बनाने में काफी खर्चा आता है। यह खर्च अनुसंधान का विकास का हो सकता है, कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने का हो सकता है, या लोगों को नयी वस्तु से परिचित कराने का भी हो सकता है। और इसीलिए सरकारें टैरिफ, लाइसेंस, उपदान या पेटेण्टों के रूप में नए उद्योगों को संरक्षण देने के लिए हमेशा तत्पर रहती आई हैं। कुछ परिस्थितियों में हर मामले को उसके गुणों के आधार पर जांचकर तदनुसार संरक्षण के रूप और उसकी अवधि पर फैसला किया जा सकता है, जैसा कुछ कम विकसित देशों में इन दिनों किया जा रहा है जहाँ नये विनिर्माण-उद्योगों को बढ़ावा देने की नीति प्रचलित है। अन्य परिस्थितियों में और विशेषकर उन विचारों पर फैसला करते समय जो औद्योगिक देशों में पेटेण्ट संरक्षण की मांग करते हैं, हर मामले पर अलग-अलग निर्णय लेना सम्भव नहीं है, कानून के अनुसार सभी को निर्दिष्ट वर्षों के लिए संरक्षण दिया जाता है और यह सम्बद्ध पक्षों पर छोड़ दिया जाता है कि वे अदालत में जाकर यह सिद्ध करें कि कौनसा विचार नया है और कौनसा नहीं है। पेटेण्ट-सम्बन्धी कानून के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता

है—संरक्षण कितने वर्ष के लिए दिया जाए, संरक्षण का पात्र कौन होना चाहिए, संरक्षण किस तिथि से आरम्भ हो आदि—लेकिन इस बुनियादी सिद्धान्त को आम तौर से सभी मानते हैं कि कुछ नये विचार ऐसे होते हैं जिनका यदि विकास करना हो तो उन्हें सीमित एकाधिकारी संरक्षण देना आवश्यक है।

इस पर भी आम तौर से सब लोग सहमत हैं कि संरक्षण एक निश्चित अवधि के लिए ही होना चाहिए, अन्यथा इससे विकास में रुकावट आती है। यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि लोग नयी खोजें करने और उन्हें अमल में लाने के प्रयत्न तभी करते हैं जबकि उन पर ऐसा करने के लिए दबाव डाला जाता है, वरना इस प्रकार के प्रयत्न अधिक नहीं किए जाते। एक दूसरा आधार यह भी है कि पुरानी फर्मों की अपेक्षा नयी फर्में क्रान्तिकारी विचार लागू करने में अधिक तत्पर होती हैं। बात यह है कि एक तो पुरानी फर्मों के लिए उत्साह बनाए रखना कठिन होता है और दूसरे भौतिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से पुरानी फर्में पुरानी टक्नीकों के साथ चिपकी होती हैं, और वर्तमान पूंजी नष्ट होने के डर से नयी दिशाओं में नहीं बढ़ पातीं। मानव-व्यवहार के बारे में अन्य सामान्य नियमों की भांति ही इन नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं। नवीन प्रक्रिया लागू करने में कुछ एकाधिकारी बहुत उत्साह दिखाते हैं, और कुछ पुरानी फर्में भी आश्चर्यजनक रूप से प्रगतिशील बनी रहती हैं। लेकिन नवीन प्रक्रिया का अधिकांश बाजार में आने वाली नयी फर्मों के माध्यम से लागू होता है और बाकी अंश पुरानी फर्में प्रतियोगिता की दौड़ में हार जाने के भय से लागू करती हैं। यह जाहिर है कि अगर नयी फर्मों को भी बाजार में न आने दिया जाए तो नवीन प्रक्रिया की गति बहुत धीमी हो जाएगी। आर्थिक विकास के लिए नयी फर्मों का बाजार में आने की आजादी आवश्यक है। अतः जहां एक ओर नवीन या नवीनतम को संरक्षण देना आवश्यक है वहां दूसरी ओर पुराने के विरुद्ध नये को संरक्षण देना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। पेटेंट संरक्षण से पहले उद्देश्य की पूर्ति होती है। पेटेंट कानून का दुरुपयोग रोकने के लिए उसका समय-समय पर जो पुनरावलोकन किया जाता है उससे दूसरे उद्देश्य की पूर्ति होती है। साथ ही एक ऐसे सामान्य प्रति-एकाधिकार कानून की भी आवश्यकता है जो शक्तिशाली फर्मों या फर्मों के संगठनों द्वारा अपनी शक्ति के बल पर नयी फर्मों को बाजार में आने से रोकने की कार्रवाइयों पर अंकुश लगा सके। ये कार्रवाइयां इस प्रकार की होती हैं—स्टॉक सूचियां जारी करना, अनन्य सौदे करना, कीमत संघर्ष, कीमत भेद, साधन के स्रोतों का रोकना, सप्लाई के साधनों का एकाधिकार आदि। इस प्रकार के निरोध, नियंत्रण और दमन के लिए कड़े नियमों की आवश्यकता है,

चूंकि कुछ परिस्थितियों में एकाधिकार विकास के लिए आवश्यक होता है जब-कि दूसरी परिस्थितियों में इससे विकास में बाधा आती है। इसीलिए कानून की यह शाखा प्रायः अधिक उलझनपूर्ण और क्लिष्ट होती है, लेकिन कठिन होने से ही किसी काम का महत्व कम नहीं हो जाता।

उद्यमकर्ताओं की कमी के कारण नये विकासशील देशों में अक्सर एका-धिकार के प्रति झुकाव पाया जाता है। अधिक विकसित देशों की अपेक्षा इन देशों में पूंजी-निवेश अधिक जोखिमपूर्ण होता है, क्योंकि यहां की समस्याओं और सम्भावनाओं के बारे में जानकारी थोड़ी रहती है और बार-बार पैदा होने वाले आर्थिक संकटों के कम अनुभवी और कम पैसे वाले उद्यमकर्ता नष्ट हो जाते हैं। उपनिवेशों के व्यापार में यह साफ देखने में आता है, वहां का सारा व्यापार थोड़ी-सी बड़ी और धनी फर्मों के हाथ में है, जापान के इतिहास से भी यह स्पष्ट हो जाता है जहां के सारे व्यापार पर थोड़े ही समय में केवल कुछ व्यक्तियों ने अधिकार जमा लिया था। सफल उद्यमकर्ता केवल उन्हीं उद्योगों पर अधिकार नहीं बनाए रहते जिनमें उन्होंने पहले काम आरम्भ किया होता है, बल्कि वे एक उद्योग से दूसरे उद्योग में अपने हितों का विस्तार करते चले जाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि एक ही टोकरी में सारे अण्डे रखना अधिक जोखिम की बात होती है, और दूसरा कारण यह है कि उद्यमकर्ता एक-दूसरे को माल सप्लाई करके या एक-दूसरे का माल खरीदकर परस्पर सहयोग कर सकते हैं। इसीलिए आर्थिक विकास की आरम्भिक अव-स्थाओं में अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच स्वामियों का प्रायः निकट सम्बन्ध पाया जाता है—उदाहरण के लिए बैंकिंग, बीमा, वाणिज्य, यातायात, होटल, अखबार, विनिर्माण आदि क्षेत्रों के उद्यमकर्ता एक-दूसरे की सहायता करते हैं। निस्सन्देह यही कारण था कि कार्लमार्क्स, जिसने पहले के लेखकों को और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के पूंजीवाद के बारे में स्वयं अपने विचारों को आधार माना था, का यह विश्वास था कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ एकाधिकार बढ़ना अवश्यम्भावी है। बाद की घटनाओं से उसकी यह भविष्यवाणी सच नहीं निकली (देखिए अध्याय ५, खण्ड ३ (ग))। वस्तुतः अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ उद्यमकर्ताओं की संख्या में भी वृद्धि हुई है और उनके अनुभव का आम-स्तर भी ऊंचा उठा है। ज्यों-ज्यों अर्थ-व्यवस्था के बारे में जानकारी बढ़ती है, पूंजी-निवेश की जोखिम कम होती जाती है, और नये उद्योगों की समस्याओं से लोग अवगत होने लगते हैं। तब केवल थोड़े-से चतुर लोगों को ही आर्थिक क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखना आसान नहीं रहता, और एकाधिकार की परिस्थिति बनना और कायम रहना मुश्किल हो जाता है। दूसरे शब्दों में 'शिशु उद्योग' के तर्क के समान ही

एकाधिकार के बारे में भी 'शिशु अर्थ-व्यवस्था' का तर्क है लेकिन पूर्वोक्त तर्क की भाँति इसका भी केवल अस्थायी महत्त्व है और इसके साथ भी यह शर्त लगी हुई है कि अधिक दिन तक एकाधिकार बनाए रखने से अर्थ-व्यवस्था की शक्ति कम हो सकती है।

अन्त में हम एकाधिकार के पक्ष में दिये जाने वाले उस तर्क पर भी विचार कर लें जिसका आधार है कि विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए बचत और लाभों के उच्च स्तरों का होना आवश्यक है। इस तर्क के अनुसार राष्ट्रीय आय का अधिक भाग उन लोगों को देने के बजाय जो उसे उपभोग पर खर्च कर देंगे, उन लोगों को देना वाञ्छनीय है जो उसे बचाकर निवेश कर देंगे। वैसे इस तर्क को बहुत दूर तक ले जाने की आवश्यकता नहीं है, उपभोग उत्पादन का पारिश्रमिक है, और इससे आगे प्रयत्न करने का उत्साह पैदा होता है, प्रश्न केवल उपभोग की मात्रा का है। राष्ट्रीय आय के बचत और उपभोग के बीच वितरण का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव होता है, इस बारे में बहुत वाद-विवाद होता रहा है जो अधिकतर इस धारणा पर आधारित है कि अगर उपभोग बहुत अधिक होगा तो निवेश बहुत थोड़ा होगा, और अगर उपभोग बहुत थोड़ा होगा तो पूँजी-निवेश को बढ़ावा नहीं मिलेगा, लेकिन इस बात में संदेह करने के कोई कारण नहीं जान पड़ते कि आर्थिक विकास के कम-से-कम आरम्भिक चरणों में पूँजी निवेश के सारे अवसर खपाये बिना कई दशाब्दियों तक पूँजी-निवेश का उच्च स्तर कायम रखा जा सकता है। यह मानने के बाद कि विकास और बचत के उच्च स्तर का परस्पर-विरोध नहीं है, प्रश्न यह रह जाता है कि बड़ी मात्रा में बचत करने के लिए लाभों का बड़ी मात्रा में होना कहाँ तक आवश्यक है। यह सही है कि गैर-पूँजीवादी वर्गों में बचत की प्रवृत्ति बहुत थोड़ी होती है लेकिन यह भी आवश्यक नहीं है कि बचत पूरी तरह से व्यक्तिगत प्रयत्न पर ही निर्भर रहे। सरकार भी जनता पर कर लगाकर बचत करने वाले के रूप में काम कर सकती है। इन करों से प्राप्त आय लोकोपयोगी सेवाओं में पूँजी-निर्माण करने या निजी उत्पादकों को उधार देने में लगाई जा सकती है। लेकिन अगर सरकार उत्पादक कार्यों के लिए बचत न कर सके या न करे तो यह बिलकुल सही है कि बचत का स्तर काफी ऊँचा रखने के लिए विकासशील अर्थ-व्यवस्था में लाभों का बड़ी मात्रा में होना अनिवार्य है। पर लाभ का स्तर आवश्यक रूप से एकाधिकार पर निर्भर नहीं है, अर्थ-व्यवस्था में लाभ का हिस्सा कुल कितना हो यह एकाधिकार निश्चित नहीं करता, यह तो केवल एक पूँजीपति और दूसरे पूँजीपति के बीच लाभ के वितरण को निर्धारित करता है। अधिकतर अर्थशास्त्रियों की यही राय थी। पूँजीवादी

बढ़ाने के उपाय निकालने की इच्छा होनी चाहिए। वस्तुओं के प्रति आकांक्षा इस कारण हो सकती है कि लोगों को भौतिक पदार्थों के उपभोग में आनन्द आता है, या इसलिए भी हो सकती है कि धन की मात्रा बढ़ने के साथ सामाजिक सम्मान और शक्ति अधिक प्राप्त होते है। यही कारण है कि उन समाजों में विकास अधिक तेजी से होता है जहाँ धन एकत्र करके ही सरलतापूर्वक ऊँची सामाजिक स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। कुछ धर्म ऐसे भी है जिनके अनुसार मेहनत और विवेक के साथ काम करने के अनुशासन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है और कार्यकुशलता बढ़ाना नैतिक गुण माना जाता है। ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदायों में बचत और उत्पादक निवेश के गुणों पर जोर दिया जाता है। लेकिन अधिकांश धर्म य भी सिखाते हैं कि आय बढ़ाने या कीमत घटाने के उपायों की अनन्त खोज की अपेक्षा मस्तिष्क का आत्मचिन्तन में लगाना अधिक अच्छा है, और प्राय सभी धर्म भौतिक पदार्थों की आकांक्षा को बुरा बताते है।

दूसरे, आर्थिक विकास के लिए प्रयोग करने की इच्छा का होना भी आवश्यक है। इसी के फलस्वरूप प्रौद्योगिकी सुधरती है और सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक प्रवृत्तियों मे परिवर्तन होते हैं। प्रयोग करने की इच्छा वस्तुओं और घटनाओं के कारणों की खोज निकालने की इच्छा से सम्बन्धित है, जिसके लिए तर्क-शक्ति में विश्वास रखना आवश्यक है। जैसा पहले कहा जा चुका है, मध्ययुगीन ईसाई धर्मशास्त्री इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत करते थे कि स्वयं ईश्वर की सत्ता तर्कसिद्ध है और इससे पश्चिम यूरोप में वैज्ञानिक अनुसन्धान के पुन स्थापन की नींवें पड़ने में बड़ी सहायता मिली। विस्व के स्वरूप के बारे में यह प्रवृत्ति बहुत कम धर्मों में पाई जाती है।

प्रयोग करने की इच्छा विश्व की पवित्रता के प्रति मनुष्य की प्रवृत्ति से भी सम्बन्धित है। जब तक लोग मनुष्य के शरीर का विच्छेदन करना अपवित्र कार्य समझते रहते है तब तक चिकित्सा-विज्ञान में अधिक उन्नति नहीं हो पाती। यदि पशुओं के जीवन को पवित्र माना जाए तो जिन्दा रहने के लिए मनुष्य को गायों, उत्पाती बन्दरों, चूहों, गिलहरियों, सांपों, कीड़ों और जीवाणुओं से संघर्ष करने में बड़ा परिश्रम करना पड़े। इसी प्रकार कुछ धार्मिक प्रवृत्तियाँ परिवार-सीमन के विरुद्ध होती है और उनके कारण जनाधिक्य, दुर्भिक्ष और निर्धनता की परिस्थितियाँ पैदा हो सकती है। अधिकांश प्रौद्योगिक उन्नति मनुष्य की इस प्रवृत्ति का परिणाम है कि संसार में जो कुछ है सब मनुष्य की सुविधा के लिए है, और अपने हित को देखते हुए मनुष्य उसमें जो चाहे परिवर्तन कर सकता है। यह प्रवृत्ति उन धर्मों में काफी अनुकूल पड़ती है जो मनुष्य को विश्व की केन्द्रस्थ सत्ता मानते हैं, लेकिन उन धर्मों के

अनुकूल नहीं पड़ती जो मनुष्य को परमात्मा का एक रूप—और वह भी एक छोटा-सा रूप—ही समझते हैं।

आर्थिक विकास के साथ अव्यक्तिक आर्थिक सम्बन्धों का विकास भी जुड़ा हुआ है जिनके आधार पर लोग भाईचारे, राष्ट्रीयता या बिरादरी का विचार किये बिना ही दूसरे लोगों के साथ व्यवसाय करते हैं। इन अपरिचितों के प्रति किसी धर्म की धारणा क्या है यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि धर्म लोगों को अपरिचितों के साथ अच्छा व्यवहार करने के लिए प्रेरित करे—ईमानदारी से काम करने, संविदाओं का ठीक से पालन करने आदि के लिए—तो इससे व्यापार और विशेषज्ञता को बढ़ावा मिलता है। दूसरी ओर अगर धर्म अनुदार है काफिरों को घृणा करने के लिए कहता है, और लोगों में एकता स्थापित करने के बजाय उनमें विभाजन पैदा करता है तो इससे आर्थिक अवसर कम हो जाते हैं।

जहाँ तक सामाजिक संस्थानों का सम्बन्ध है, धर्म लगभग सदा ही बाधा बनता आया है। कारण यह है कि धर्म लगभग सदा ही आज्ञाकारिता, कर्तव्य और ज़िम्मेदारियों को सर्वोपरि मानता आया है, ख़ास तौर से न्याय के गुणों से तो ये ऊँची मानी ही जाती हैं। न्याय भावना का कभी-कभी अन्य भावनाओं से संघर्ष हो जाता है जिसका निपटारा मुख्य रूप से धर्मनिरपेक्ष सत्ता का काम होता है। इस प्रकार पारिवारिक सम्बन्धों में, या राजनीतिक या आर्थिक ज़िम्मेदारियों के मामले में धर्म यथापूर्व स्थिति कायम रखने पर बहुत ज़ोर देता है। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, सर्वाधिक आर्थिक विकास तब होता है जब सामाजिक संस्थान ऐसे हों जिनसे लोगों के अन्दर यह भावना पैदा हो कि उनके प्रयत्न का फल उन्हीं को मिल रहा है (और उनका शोषण नहीं किया जा रहा); जब व्यापार और विशेषज्ञता सम्भव हो (और आर्थिक सम्बन्ध अव्यक्तिक आधार पर हों), और जब लोगों को आर्थिक कौशल के लिए आज़ादी प्राप्त हो (उदग्र सामाजिक गतिशीलता-सहित)। इनमें से कोई भी चीज़ धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं है, फिर भी सामाजिक सम्बन्धों में यथापूर्व स्थिति का पक्ष लेने की धार्मिक प्रवृत्ति इधर या उधर किसी भी दिशा में किसी परिवर्तन के लिए प्रायः बाधक होती है। धर्म आर्थिक विकास या आर्थिक अवनति दोनों में से किसी का पक्षपाती नहीं है। वह केवल सामाजिक स्थायित्व चाहता है। यदि समाज दास-प्रथा पर आधारित है तो धर्म दासों को आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ाएगा, लेकिन यदि समाज उच्च स्तर की उदग्र गतिशीलता का अभ्यस्त है तो आर्थिक अवसरों पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयत्नों की निन्दा करने में पुरोहित सबसे आगे रहेंगे। इस सामान्य निष्कर्ष को बहुत ही कड़ी नहीं मान लेना चाहिए। लगभग हर

धर्म में ऐसे पैगम्बर हुए हैं जिन्होंने समय-समय पर यथापूर्व स्थिति के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। अन्य धार्मिक पदाधिकारियों की तुलना में इनकी बातों का पूरा प्रभाव इसलिए नहीं पड़ पाता चूँकि वे लोग युग की सरकार और अभिजात-वर्ग से मिले रहते हैं, लेकिन पैगम्बरों की परम्परा से इनकार नहीं किया जा सकता और कभी-कभी इनकी आवाज़ निर्णायक होती है। यह सोचना भी गलत होगा कि एक सत्ता के रूप में धर्म सदा परिवर्तन में बाधक होता है क्योंकि परिवर्तन हो जाने के पश्चात् फिर से एकता के सूत्र में बाँधने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी धर्म ही करता है। आज्ञाकारिता, कर्तव्य भावना और ज़िम्मेदारी के बिना समाज नहीं चल सकता। समय बदलने के साथ-साथ हमारी ज़िम्मेदारियाँ बदल जाती हैं, और जिन लोगों के प्रति हम ज़िम्मेदार हैं वे भी बदल जाते हैं। इस परिवर्तन के दौर के साथ नैतिक छिन्न-भिन्नता की स्थिति भी आती है, चूँकि नयी व्यवस्था का ढाँचा में योग होने से पहले पुराने कर्तव्य लोप हो जाते हैं। नैतिकता के संरक्षकों और शिक्षकों के ऊपर ही इस बात का भार होता है कि वे परिवर्तित संस्थाओं के उपयुक्त नयी आचार-संहिताओं को जन्म दें और उनका प्रचार करें।

अब तक की इस चर्चा से यह भनक मिलती है कि धर्म और आर्थिक विकास एक-दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन धर्म और विकास का परस्पर विरोध वहीं देखने में आता है जहाँ हम उन लोगों के धार्मिक विचारों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जो परिवर्तन के विरोधी हैं। इसके विपरीत अगर हम उन लोगों के धर्म को देखें जो परिवर्तन करने में पहल करते हैं तो हमें मालूम होगा कि नवीन प्रक्रिया लागू करने में कभी-कभी धर्म का भी बड़ा प्रबल योग होता है। पहली बात तो यह है कि धार्मिक नेता हर प्रकार के परिवर्तन के विरोधी नहीं होते। वे इस प्रकार की नवीन प्रक्रिया का समर्थन कर सकते हैं जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तों से कोई संघर्ष नहीं है—जैसे नये बीज, कृत्रिम खाद, या सामुदायिक विकास या सहकारी समितियाँ—और तब धार्मिक समर्थन मिलने के कारण नवीन प्रक्रिया को और भी तेज़ी से लागू होने में सहायता मिलती है। पुराने धार्मिक नेताओं द्वारा नवीन प्रक्रिया का विरोध किये जाने के बावजूद धर्म नवीन प्रक्रिया को लागू करने की शक्ति के रूप में प्रकट हो सकता है। बात यह है कि नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों का अक्सर खुद का एक नया धर्म होता है, या पुराने धर्म का एक नया स्वरूप होता है, जिससे उन्हें मार्ग-दर्शन, प्रेरणा, या आचरण-संहिताएँ मिलती हैं जो उन्हें बाकी समुदाय से भिन्न रखती हैं और जिन्हें वे अमल में लाई जाने वाली नवीन प्रक्रियाओं के साथ जुड़ा समझते हैं। इन सामाजिक परिवर्तन के समयों में अक्सर राजनीतिक उथल-पुथल होती है—यह बात यूरोप में

पूंजीवाद के उद्भव के समय में देखने में आई थी और अफ्रीका की समकालीन घटनाओं में भी देखी जा सकती है—और धर्म द्वारा अदा की गई भूमिका को आंकते समय हम जिस प्रकार पुराने धर्म द्वारा प्रकट किये गए विरोध पर ध्यान देना चाहिए, उसी प्रकार नये धर्म द्वारा उत्पन्न उत्साह को भी दृष्टि में रखना चाहिए।

कतिपय धार्मिक अल्पसंख्यकों जैसे यहूदियों, ह्यूजीनाट, क्वेकर या पारसियों द्वारा अपने देश के विकास में किए गए योगदान पर भी अक्सर ध्यान जाता है। इस योगदान के कारण धार्मिक अल्पसंख्यक मानसिक या शारीरिक रूप से विशेष जीवात्मक दृढ़ता वाले हो सकते हैं, क्योंकि अपने ऊपर पड़ने वाले कष्टों के दौरान इनके कमज़ोर साथी पहले ही मर जाते हैं। जो बच रहते हैं वे पैनी चेतना, मेहनत और आत्मानुशासन की परम्परा में दीक्षित, और आत्म-संरक्षण की युक्तियों में चतुर होते हैं। उनमें एक-दूसरे की सहायता करने की भावना भी पाई जाती है और यद्यपि सफल लोगों की संख्या औसत से कम होने पर यह भावना सारे समूह को नष्ट कर सकती है, लेकिन समूह के भाग्यशाली निकलने पर या उसके अन्दर औसत से अधिक योग्य व्यक्ति होने पर परस्पर सहायता की प्रवृत्ति से सभी की उन्नति होती है। इस सम्बन्ध में जीवात्मक प्रभाव के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन परम्परा का प्रभाव असंदिग्ध है। धार्मिक अल्पसंख्यकों को राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने की, या उच्चतर सामाजिक पेशों (सेना, प्रशासन, विज्ञान आदि) में जाने की मनाही हो सकती है, और इस प्रकार अपनी ऊर्जा के उपयोग के लिए उनके पास व्यवसाय के अतिरिक्त और कोई क्षेत्र नहीं रह जाता। फिर, बहुसंख्यकों के धर्म में कुछ ऐसे निषेध भी हो सकते हैं जिनके कारण बहुसंख्यक लोग किन्हीं विशेष कामों को न करते हों (जैसे व्यापार, महाजनी) या कुछ पदार्थों और जीवों को छूने में एतराज मानते हों (जैसे खाद, चमड़ा, सूअर), या किसी अन्य कारण से लाभप्रद अवसरों का उपयोग न कर पाते हों, और अगर अल्पसंख्यकों के पूर्वाग्रह इनसे भिन्न हुए तो वे बहुसंख्यकों में निषिद्ध कामों को अपने हाथ में ले लेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि अल्पसंख्यकों के वर्ग की स्थापना के आरम्भ में ही उनके धार्मिक नियम बहुसंख्यकों के धार्मिक नियमों की अपेक्षा आर्थिक विकास के अधिक अनुकूल होंगे। वस्तुतः समय पाकर ही अन्तर पैदा होते हैं। अल्पसंख्यकों द्वारा अपने को जीवित बनाए रखने के प्रयत्न में उनके धार्मिक नियम भी बदल जाते हैं।

दूसरी ओर, यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी धार्मिक अल्पसंख्यक आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर ही लें। धार्मिक अल्पसंख्यकों के अनेक ऐसे वर्ग हैं जो आर्थिक उपलब्धियों में बहुसंख्यक वर्ग से पिछड़ गए हैं, जैसे कनाडा के

गमन कैथलिक और भारत के मुसलमान। धार्मिक अल्पसंख्यक आर्थिक मामलों में तभी अधिक सफल होते हैं जब बहुसंख्यकों की दिलचस्पी किन्हीं दूसरे क्षेत्रों में होती है। लेकिन अगर बहुसंख्यकों में आर्थिक प्रवृत्ति मौजूद हो तो धार्मिक अल्पसंख्यकों में आर्थिक क्षेत्र में विमुख रहने की प्रवृत्ति भी पैदा हो सकती है और फिर जीने के अपने तरीके को विशिष्ट बनाए रखने के लिए वे दूसरे पेशों और कलाओं पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं या जान बूझकर ऐसे नियम बना सकते हैं जो आर्थिक उन्नति के विरोधी हों।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हम मुख्यतः धर्म पर ही विचार नहीं कर रहे। हम तो अल्पसंख्यकों पर विचार कर रहे हैं चाहे एक सूत्र में बांधने वाली चीज धर्म हो या और कुछ हो। इन मामलों में धर्म प्रायः अधिक प्रमुख होता है क्योंकि अल्पसंख्यकों को एक सूत्र में बाँधे रखने में धर्म का महत्त्वपूर्ण योग होता है लेकिन प्रस्तुत तर्क में बुनियादी बात यह है कि अल्पसंख्यक वर्ग धार्मिक हो चाहे अधार्मिक उन मामलों में प्रवीण नहीं हो पाता जिनमें स्वयं बहुसंख्यक वर्ग के लोग लगे होते हैं बल्कि उन क्षेत्रों में सफल रहता है जिन्हें बहुसंख्यक कम महत्त्व देते हैं।

अतः पहले प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह दिया जा सकता है कि कुछ धर्मों की संहिताएं दूसरों की अपेक्षा आर्थिक विकास के अधिक अनुकूल होती हैं। यदि किसी धर्म में भौतिक मूल्यों, श्रम, मितव्ययिता और उत्पादक पूंजी निवेश, वाणिज्यिक सम्बन्धों में ईमानदारी, प्रयोग और जोखिम उठाने की इच्छा और अवसरों की समानता पर जोर दिया जाता है तो इससे आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी और यदि उपयुक्त बातों का विरोध करता है तो विकास की गति रुक जाएगी। बस यह सम्भव है कि धार्मिक संहिता पूरी तरह प्रभावी न हो। लोग सदा अपने धर्म के अनुसार ही आचरण नहीं करते। पुरोहितों से अपने व्यवहार में अधिक निष्ठा बरतने की आशा की जाती है और जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया था यह धर्म विकास में बाधक है जो अनुपात से अधिक लोगों को धार्मिक पेशों की ओर आकृष्ट करता है (उस निबंध में) चाहे यह विचारवान लोगों को बड़ी संख्या में आर्थिक कामों से विमुख करने के रूप में हो या दूसरे कामों के उत्पादन को कम करने के रूप में हो। (यहाँ हम यह मान रहे हैं कि धार्मिक पेशे वाले लोग स्वयं सेवा, विनिमय और दूसरे आर्थिक काम नहीं करते।) पुरोहितों की बात छोड़िए आम लोग तो ऐसे धार्मिक नियमों की उपेक्षा ही करते हैं जो आर्थिक क्रिया में बाधक होते हैं। बस धार्मिक क्रियाओं में समय इतना कम होता है कि उनके प्रभाव में आकर अन्य कोई काम नहीं कर पाते जो स्पष्टतः उनके लिए साभकर है—जैसे पवित्र गायों का वध या सूद पर रुपया देने की समाप्ति।

इससे हमारे सामने दूसरा प्रश्न आ जाता है क्या आर्थिक व्यवहार का स्वरूप निर्धारित करने में धर्म का स्वतन्त्र प्रभाव होता है, या धर्म आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मात्र है ? यह जाहिर है कि आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ धार्मिक विश्वास भी बदलते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या निरन्तर बदलती रहती है, और नयी स्थितियों के अनुसार सिद्धान्तों में भी हेर-फेर होता रहता है, इसलिए कुछ लोगों का तो यहाँ तक विचार है कि परिवर्तन की प्रक्रिया में धर्म न तो बाधक है और न सहायक। यदि प्रचलित धार्मिक सिद्धान्त किन्हीं परिवर्तनों के अनुकूल नहीं हैं तो उसका कारण यही समझना चाहिए कि आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अभी इन परिवर्तनों के लिए परिपक्व नहीं हैं। जब उचित परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँगी तो परिवर्तन भी हो जाएगा, और नयी स्थिति का समर्थन करने के लिए धार्मिक शिक्षा में यथावश्यक रूपान्तर कर लिया जाएगा। इस तर्क के अनुसार लगभग हर धर्म में अपने को हर राजनीतिक या आर्थिक क्रान्ति के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य होती है। बात यह है कि हर धर्म में कुछ पुरोहित अवश्य ऐसे निकल आते हैं जो सहमति, निराशा, या महत्त्वाकांक्षा के कारण धार्मिक सिद्धान्तों की नये सिरे से व्याख्या करने के लिए तत्पर रहते हैं। क्रान्ति के बाद ये पुरोहित अपने विरोधियों को पदच्युत करके धर्म की बागडोर सँभाल लेते हैं और उसे परिस्थितियों के अनुकूल बना देते हैं। जहाँ इतना नहीं हो पाता वहाँ लोगों के बढ़ते उपेक्षा भाव या बदलती हुई परिस्थितियों को देखकर पुरोहित स्वयं अपनी हठधर्मी छोड़ देते हैं और धार्मिक सिद्धान्तों में अपेक्षित परिवर्तन कर लेते हैं।

लेकिन, यह बड़ा सीधा-सादा दृष्टिकोण है। पहले तो अगर यह सही भी हो कि धार्मिक सिद्धान्त आर्थिक हितों में बाधक नहीं होते, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनसे परिवर्तन में रुकावट नहीं आती, क्योंकि वे परिवर्तन की गति को धीमा कर सकते हैं, और उसके प्रभावों को विलम्बित भी कर सकते हैं। सम्भव है कि धार्मिक सिद्धान्त अन्त में बदल जाएँ, लेकिन इस बीच वे अनेक दशाब्दियों, या शताब्दियों तक परिवर्तन का मार्ग रोके रख सकते हैं। आखिर, सामाजिक परिवर्तन भी मुख्यतः लोगों द्वारा किये गए कामों का परिणाम होते हैं, और लोग मुख्यतः वे ही काम करते हैं जिनमें उन्हें विश्वास होता है। धर्म हमारे विश्वासों के मूल में पैदा होता है क्योंकि धार्मिक शिक्षा (औपचारिक अथवा अनौपचारिक) हमें माँ की गोद में ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। बाद के जीवन में हम जो कुछ अपने प्रयत्नों से सीखते हैं उसे तर्क या दृष्टान्त के प्रभाव में आकर भूल सकते हैं, लेकिन बाल्यकाल के संस्कारों को उखाड़ फेंकना बहुत कठिन होता है। धर्म आर्थिक परिवर्तनों को रोक भले ही न सके,

पर वह उसकी गति और प्रभावों को कम अवश्य कर सकता है।

बुनियादी तौर पर यह निष्कर्ष तो और भी नहीं माना जा सकता कि आर्थिक परिवर्तन ही सदा धर्म में परिवर्तन लाते हैं, और धार्मिक परिवर्तन कभी आर्थिक या सामाजिक परिवर्तनों को जन्म नहीं देते। यह सत्य नहीं है कि यदि आर्थिक हितों और धार्मिक सिद्धान्तों में संघर्ष हो तो जीत हमेशा आर्थिक हितों की ही होती है। हिन्दुओं में गाय शताब्दियों से पवित्र मानी जाती रही है, यद्यपि आर्थिक हित की दृष्टि से यह भावना निस्सार है। एक दूसरा उदाहरण स्पेन का है जिसकी अमरीका की खोज से उत्पन्न आर्थिक अवसरों का उपयोग न कर पाने की असफलता का थोड़ा-बहुत कारण उसके धार्मिक विश्वास और प्रवृत्तियां भी थीं जिन्होंने स्पेन को अन्य देशों के साथ प्रतियोगिता न करने दी। सम्भव है कोई राष्ट्र विकास के प्रति उग्र और असहिष्णु धार्मिक सिद्धान्त अपना लेने के कारण आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध कर ले, या, इसके विपरीत, यह भी सम्भव है कि वहां किसी ऐसे नये धर्म का प्रादुर्भाव हो जाए जो आर्थिक विकास की गति में चमत्कारी वृद्धि ला सके।

(ख) दासत्व—दासत्व के संस्थान पर विशेष रूप से चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि यह मानव-इतिहास में दीर्घकाल से चला आया है। आर्थिक विकास की दृष्टि से इसमें अनेक हानियां हैं फिर भी इसके कारण प्राय बड़ी समृद्धि हुई है। इस अध्याय के पिछले खण्डों में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है उन्हीं की सहायता से अब हम दासत्व पर विचार करेंगे।

दासत्व की हानियों में सबसे पहले हम प्रेरणा की समस्या को लेते हैं। कार्य की अकुशलता और उसके प्रति अनिच्छा के लिए दास बड़े बदनाम रहे हैं। अच्छा व्यवहार और अच्छी परवरिश पानेवाला घोड़ा अपने स्वामी के इशारे पर सब-कुछ करने को तैयार रहता है। कुछ दास भी ऐसे ही घोड़ों की तरह होते हैं, लेकिन अधिकांश ऐसे नहीं होते। कारण यह है कि उनमें मानवता का अंश एक सा नहीं होता, उनकी न्याय-भावना ऐसी प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है जिसमें उनकी मेहनत के बल पर दूसरे लोगों का घर भरता है, और उनकी स्वातन्त्र्य भावना नियन्त्रण के वातावरण से क्षोभ उठती है। अधिकांश दास सन्तोष भी कर बैठें, लेकिन कुछ लोग उनमें अवश्य ऐसे निकल आएंगे जिनमें मानवता की उग्र भावना होगी, और जो अपने विचारों को बाकी लोगों में फैला देंगे। यदि दास और स्वामी के बीच निकट का व्यक्तिगत सम्पर्क होता है तो व्यक्तिगत बन्धनों के कारण सम्बन्ध ठीक बने रहते हैं, लेकिन अगर दास बड़े पैमाने के उद्यमों में काम कर रहे होते हैं, जहां वे एक-दूसरे के सम्पर्क में तो अधिक आते हैं लेकिन स्वामी के

सम्पर्क मे बहुत ही कम आ पाते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपनी परिस्थितियो का विरोध करेंगे, और प्रतिक्रियास्वरूप कम से-कम काम करके देंगे। इसके बाद स्वामियो और दासो मे रस्साकशी होती है जिसमे दोनो पक्ष अपनी-अपनी शक्ति का परीक्षण करते हैं। इस सघर्ष मे एक 'सन्तुलन' की स्थापना हो सकती है, जिसमे दोनो पक्षो के 'परम्परागत' अधिकारो पर मौन समझौता हो जाता है। तत्पश्चात दास लोग इस परम्परा की मर्यादाओ मे रहकर, दण्ड से बचने के लिए जितना कम-से-कम काम करना आवश्यक हो बस उतना काम करते रहते हैं।

कुछ प्रणालियो म दास जो कुछ पैदा करता है सब उसके स्वामी को चला जाता है, जबकि दूसरी प्रणालिया मे कानून या प्रथा की ओर से दास को कुछ समय या सम्पत्ति का अपने लिए उपयोग करने की छूट दी रहती है। बाद वाली प्रणाली मे दास स्वामी का काम करने की अपेक्षा अपना काम करते समय प्राय अधिक मेहनत करते हैं। इस पर कुछ स्वामी यह कहकर कि दास अपना काम करने मे इतना थक जाता है कि फिर उनका काम ठीक से नहीं कर पाता, उसके अपने काम करने के समय मे कमी कर देते हैं। कुछ स्वामी दास को उत्पादन का कुछ अश दे देना अपने हित मे अधिक अच्छा समझते हैं, यह दासत्व का आध-बँटाई की प्रथा के रूप मे अप्रत्यक्ष परिवर्तन है। सारा उत्पादन स्वामी को देने के स्थान पर यदि उसका कुछ प्रतिशत ही स्वामी को देना पडे तो दास निश्चय ही अधिक काम करते हैं।

दूसरे, दासत्व का प्रभाव दासो पर पडने के साथ-साथ स्वय उनके मालिको की मनोवृत्ति पर भी पडता है, क्योकि दासो के मालिको मे भी काम के प्रति ऐसी प्रवृत्ति पैदा होने की सम्भावना रहती है जो विकास के लिए हानिकारक हो। वे लोग काम को नीची नजर से देखने लगते हैं, और उसे केवल दासो के काम की चीज ही समझते हैं। दासो का प्रबन्ध भी वेतनभोगी प्रबन्धको के हाथ मे दे दिया जाता है। दासो के मालिक, पुरुष और स्त्री, काहिलो की तरह पडे रहते हैं, या ऐसे कामो को समय देते हैं जो महान् चाहे जितने हो लेकिन जीविका कमाने से सम्बन्धित नहीं होते। वे अपनी आस्तियो को छोड़कर पेंशनपरस्त शहरो म रहने चले जाते हैं, और इसी प्रकार के और शौक करते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके अन्दर नये आर्थिक अवसरो को खोजने और उनसे लाभ उठाने की क्षमता समाप्त हो जाती है, यहाँ तक कि उनमे घोर विपत्ति से बचने के लिए बदलती परिस्थितियो के अनुसार हेर फेर करने की क्षमता भी नहीं रहती। दास अर्थ-व्यवस्था के सस्थापक शायद बडे सशक्त लोग रहे होंगे, जिन्होंने एक ऐसा तन्त्र स्थापित किया जिसने अपने जमाने की परिस्थितियो को देखते हुए बहुत अधिक धन का उत्पादन किया,

लेकिन उनके पोते-पोतियाँ बहुत बदल गए हैं, और जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं दास अर्थ-व्यवस्था का पतन होता जाता है।

दास अर्थ-व्यवस्था में एक कमी उदग्र गतिशीलता का अभाव भी है और दासत्व के फलस्वरूप अभिजात-वर्ग की काम करने की इच्छा पर जो प्रभाव पड़ता है उसे देखते हुए यह अभाव और भी हानिकारक हो जाता है। मुक्त अर्थ-व्यवस्था में सरकारी नौकरी, व्यवसाय या बौद्धिक कार्यों में लगे उच्चतम वर्ग निरन्तर पिछले वर्गों के होशियार लोगों को अपने में शामिल करते रहते हैं। दास अर्थ-व्यवस्था में इस लाभकारी प्रक्रिया की गुंजाइश तब तक नहीं होती जब तक कि वहाँ दास-मुक्ति को बढ़ावा न दिया जाता हो। कुछ दास समाजों में दास अपेक्षित द्रव्य देकर सरलता से आजाद हो जाते हैं, या स्वामी आजादी मंजूर करने के लिए उत्साहित किए जाते हैं लेकिन जिन समाजों में दासों की संख्या थोड़ी होती है वहाँ दास-मुक्ति का विरोध किया जाता है। आजादी पाए हुए लोगों को या उनकी सन्तानों को दासमूल का होने के कारण जो बाधा होती है वह किसी दास-समाज में कम और किसी में अधिक पाई जाती है। अगर दास और उनके स्वामी एक ही जाति के नहीं होते तो अनेक पीढ़ियाँ बीत जाने पर भी दासों की सन्तानों को उच्चतम सामाजिक स्तरों तक पहुँचने में कठिनाई होती है। उदग्र गतिशीलता का महत्त्व इस बात पर निर्भर होता है कि उच्चतम पदों की संख्या की तुलना में दासों के स्वामियों की संख्या कितनी है क्योंकि अगर स्वामियों की संख्या काफी हुई तो वे उच्चतम लोगों को सरकार चलाने की दृष्टि से अपने ही वर्ग में आवश्यकतानुसार गतिशीलता प्रदान करते सब महत्त्वपूर्ण पद अपने वर्ग के लोगों को ही देंगे। फिर भी दासों में अनेक ऐसे प्रतिभाशाली लोग होंगे जिनका पूरा-पूरा उपयोग न होने से पूरे समुदाय के विकास की गति अपेक्षाकृत मन्द रहेगी।

अगर दास श्रमिक काफी संख्या में होते हैं तो आविष्कार या श्रम बचाने की पद्धतियों को काम में लाने की प्रेरणा नहीं होती, और आर्थिक विकास नहीं हो पाता, अर्थात् श्रम की प्रति इकाई उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती, यद्यपि श्रम की मात्रा बढ़ाकर कुल उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। कहा जाता है कि बाद के जमाने में यूनान के विद्वानों ने उपयोगी मशीनों के स्थान पर खिलौनों का आविष्कार किया, जिसका कारण यही था कि दास प्रथा ने मशीनों के उपयोग की प्रेरणा समाप्त कर दी थी। ये विचार विवादग्रस्त हैं। अमरीका के बागानों की भाँति, जहाँ दास अर्थ-व्यवस्था वाणिज्यिक पैमाने पर चलाई जाती है वहाँ यह तर्क ठीक नहीं बैठता, क्योंकि उन परिस्थितियों में दास श्रम का नियोजन भी उतना ही लाभप्रद होता है जितना कि उत्पादन की अन्य सामग्री में कमी करना होता है। दास प्रथा के अन्तर्गत बेकार

बचाने की पद्धतियों को अमल में लाने की प्रेरणा तब तक बनी रहती है जब तक कि अतिरिक्त उत्पादन को बेचने या खुद उपभोग कर लेने की गुन्जाइश रहती है, या आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को बेचने की सुविधा होती है। ये परिस्थितियां उन अर्थ-व्यवस्थाओं में नहीं पाई जातीं जिनमें स्वामियों के पास अपनी ज़रूरत के लायक दास पहले से ही मौजूद होते हैं, या जिनमें स्वामी एकदम वाणिज्यिक पैमाने पर काम नहीं कर रहे होते। वाणिज्यिक दास-प्रथा की तुलना में घरेलू दास-प्रथा आविष्कार के लिए शायद अधिक बाधक होती है। घरेलू दास-प्रथा वाले समाजों के दास अगर आज़ाद होते तो शायद ऐसी नयी टक्नीकें अपना सकते थे या उनका आविष्कार कर सकते थे जिनसे उनकी मेहनत बचती या उत्पादन बढ़ता। दास प्रथा के साथ खास बात यह होती है कि नयी टक्नीकें सिर्फ इसलिए नहीं अपनायी जातीं कि उनसे मेहनत बचती है या मज़दूर की हालत सुधरती है।

दास-समाज में मुक्त समाज की अपेक्षा नम्यता भी कम होती है, और इसीलिए उसमें बदलती हुई परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता कम होती है। उदाहरण के लिए परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन आ सकते हैं कि समुदाय को जीविका कमाने का तरीका बदलना पड़े, सम्भव है उसके मुख्य निर्यात की मांग बदल गई हो, या पौधों की किसी नयी बीमारी के अचानक शुरू हो जाने के कारण मान की नस्लाई पर असर पड़ा हो, जिससे नये उद्योग चलाने, उत्पादन और वितरण की नई व्यवस्था करने और नये काम सीखने की ज़रूरत आ पड़ी हो। सरसरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि दास अर्थ-व्यवस्था मुक्त व्यवस्था की अपेक्षा अधिक नम्य होती होगी, क्योंकि दासों के स्वामी केवल आदेश देकर ही बड़े-बड़े परिवर्तन कराने का कानूनन अधिकार रखते हैं, लेकिन दासों के स्वामियों के अधिकार उन परम्पराओं के अनुशासन में रहते हैं जो दासों के साथ उनके सम्बन्धों का नियमन करने के लिए स्थापित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, परम्परा से ऐसी शर्त हो सकती है कि घर का दास खेतों पर काम करने के लिए नहीं भेजा जा सकता, या बढ़ईगीरी सीखे हुए दास को खानों में काम करने के लिए न कहा जाए। दरअसल बात यह है कि दास प्रथा संविदा पर आधारित नहीं होती, इसलिए वह स्वामी और दास के बीच उचित-अनुचित की संकल्पनाओं का सहारा ले लेती है। यह हैसियत पर आधारित अर्थ-व्यवस्था होती है, और इसीलिए भंग हो सकने वाले संविदों के आधार पर चलने वाली अर्थ-व्यवस्था से कम नम्य होती है। स्वामी और दास के परस्पर बन्धन भी नम्यता कम करते हैं। परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था में भिन्न-भिन्न उद्यमों पर अलग-अलग असर पड़ता है, कुछ को अपना आकार घटाना होता है और कुछ को बढ़ाना होता है। अगर दासों के बाज़ार सुसंगठित हों तो बढ़ते हुए उद्यमों

से घटते हुए उद्यमों में दास खरीदने की सुविधा हो सकती है लेकिन दासों और उनके मालिकों के व्यक्तिगत बन्धनों के कारण इस प्रक्रिया में रुकावट आती है। इसके अलावा चूंकि दास रखना सामाजिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा और विलासिता की बात समझी जाती है इसलिए मालिक लोग अपने दासों को बेचना पसन्द नहीं करते। नम्यता में अलग-अलग मात्रा का पाया जाता है। सभी अर्थ-व्यवस्थाएं अनम्य होती हैं और उनमें बदलती हुई परिस्थितियों की प्रतिक्रिया धीमी होती है। लेकिन कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जिनके आधार पर यह सोचा जा सकता है कि दास अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रतिक्रियाएँ अधिक तेजी से होती हैं और अगर यह सही है तो निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों में दास-व्यवस्था के बने रहने और विकास करने की सम्भावनाएं काफी कम हो जाती हैं।

लेकिन दास प्रथा को अकुशल मानने पर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि स्थान विशेषों में कुछ उद्योगों का विकास करने के लिए एकमात्र साधन यही है। हम एक ही स्थान पर एक ही समय में मुक्त लोगों और दासों के काम की तुलना कर रहे हैं। यदि उस स्थान पर दास तो मौजूद हों लेकिन मुक्त लोग उपलब्ध न किए जा सकते हों तो हमारी तुलना निरर्थक होगी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में वेस्ट इंडीज के विशाल चीनी उद्योग का विकास दास प्रथा के अभाव में हो ही नहीं सकता था क्योंकि मुक्त लोग तो उपलब्ध ही नहीं थे। और अगर द्वीप के अन्दर मुक्त लोग मौजूद भी हों तो सम्भव है वे उतनी मजदूरी पर प्रस्तावित उद्योग में काफी संख्या में काम करने के इच्छुक न हों। इसकी सम्भावना तब और भी अधिक रहती है जब कि मुक्त लोगों के पास पहले से ही यथेष्ट जमीन हो और उसकी आय से वे रहन-सहन का अभीष्ट स्तर कायम किए हुए हों। दास प्रथा श्रमिकों की कमी वाले प्रदेशों में ठीक रहती है, अगर साधनों की तुलना में श्रमिकों की संख्या काफी है तो मुक्त और मजदूरी लेकर काम करने के इच्छुक श्रमिकों का काम देना सस्ता पड़ता है। और जिन प्रदेशों में मुक्त श्रमिकों की कमी के कारण दास प्रथा अधिक लाभप्रद होती है वहां भी यह दूसरे कामों की अपेक्षा कुछ विशेष प्रकार के उत्पादनों में बहुत अधिक उपयुक्त रहती है। दास श्रमिक कामचोर होते हैं इसलिए इन्हें ऐसे कामों पर लगाना ठीक रहता है जिनमें देखभाल का काम आसान हो। उदाहरण के लिए खेती में दासों को उन फसलों पर लगाना ठीक रहता है जिनमें प्रति एकड़ बहुत अधिक मजदूरों की आवश्यकता होती है ताकि एक ही ओवरसियर अनेक दासों के काम पर निगाह रख सके—गन्ना, कपास, तम्बाकू या चाय इसी प्रकार की फसलें हैं जब कि गेहूं या जौ की खेती और पशुपालन इनके अनुपयुक्त काम हैं।

इसीलिए जहाँ और धन्धों में मुक्त श्रमिक लगे होते हैं वहाँ भी खानों कारखानों और पतवारों से चलाए जाने वाले जहाजों में दासत्व का बोलबाला रहता आया है। इन धन्धों में अनेक लोग एक ही स्थान पर इकट्ठे होकर काम करते हैं, अतः निगरानी करना आसान होता है। दास श्रमिकों की काम-चोरी का दूसरा परिणाम यह है कि उन्हें कारीगरी के धन्धों में नहीं लगाया जा सकता। अपने मालिकों के अच्छे व्यवहार से फल कुछ घरेलू दास बहुत ऊँचे दर्जे के दस्तकार पाये गए हैं। अक्सर देखने में आता है कि अगर दास किसी दस्तकारी में लगा है तो स्वामी किसी आनुपातिक आधार पर उसकी कमाई को अपने और दास के बीच बाँट लेता है या कभी-कभी एक निर्धारित आय से ऊपर की सारी कमाई दास को ही दे देता है। ये व्यवस्थाएँ दास को बढ़िया दस्तकारी सिखाने के लिए आर्थिक प्रेरणा देने की दृष्टि से की जाती हैं। क्योंकि आमतौर पर दास अकुशल होते हैं, अतः वे मुक्त श्रमिक से तब तक प्रतियोगिता नहीं कर सकते जब तक कि मुक्त श्रमिक की कमी न हो।

इसी प्रकार, दास-प्रथा के अनुकूल मानने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसकी सहायता से ऊँचे दरजे की संस्कृति का निर्माण किया जा सकता है। दासों द्वारा किए गए उत्पादन से एक आरामतलब वर्ग का पालन-पोषण किया जा सकता है जो, जैसा कि प्राचीन ग्रीस में हुआ, दर्शन, मूर्तिकला या और दूसरी उदार कलाओं की उन्नति में अपना समय दे सकते हैं और उनके माध्यम से मानव-आत्मा और मानव-मस्तिष्क को बन्धन मुक्त करने के काम का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। दास प्रथा का सदैव यही परिणाम नहीं होता, वेस्ट इण्डीज की बागान सभ्यता सारी दुनिया में नीची नजर से देखी जाती थी, और अमरीका के दक्षिणी राज्यों की संस्कृति हालाँकि कुछ ऊँचे दरजे की थी, पर वहाँ के दासों द्वारा उत्पादित धन आमतौर पर निठो आराम का जीवन बिताने वाले काहिलों पर उड़ जाता था जो मानव-विकास के लिए किसी प्रकार का योगदान नहीं करते थे। जिन स्थानों पर दास-प्रथा के कारण समवत सभ्यता का निर्माण हुआ है वहाँ भी उसके लाभ मुट्ठी-भर स्वामियों को ही मिले हैं दासों को नहीं मिले। कुछ लोग हमेशा ऐसे मिल जाते हैं जिनका तर्क है कि लोगों को अपनी उलटी-सीधी युक्तियाँ लगाने के लिए आजाद छोड़ने की अपेक्षा दासों के रूप में उनकी अच्छी देख-भाल करने से उनकी हालत बेहतर रहती है, यह वैसा ही तर्क है कि जंगली घोड़े की तुलना में पालतू घोड़ा ज्यादा अच्छा रहता है। हमें इन बातों पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जीवनयापन के भिन्न-भिन्न तरीकों की वाञ्छनीयता जाँचने में हमारी दिलचस्पी नहीं है, हम तो आर्थिक विकास के तत्त्व का अध्ययन करना है।

अन्त में यह भी स्मरणीय है कि दास-अर्थ-व्यवस्था एक जमाने में चाहे जितनी समृद्ध रही हो अक्सर पतन की दिशा में बढ़ने लगती है क्योंकि दासों की एक पीढ़ी का स्थान अगली पीढ़ियाँ प्राय नहीं ले पाती। जब तक सस्ते मूल्य पर बाहर से दास मिलते रहते हैं तब तक दास अर्थ-व्यवस्था उन्नति करती रहती है लेकिन इस साधन के समाप्त होते ही उसमें गिरावट आने लगती है। इसीलिए दास-प्रथा तब तक पनपती रहती है जब तक कि निरन्तर युद्ध होते रहते हैं या दासों पर चढ़ाइयाँ होती रहती हैं, जिनमें दासों को बड़ी संख्या में पकड़कर बेचने के लिए लाया जाता है। लेकिन शान्ति स्थापित होते ही, या दास-व्यापार समाप्त होते ही इस अर्थ-व्यवस्था का पतन हो जाता है। रोम के अनुभव से यही पता चलता है जहाँ सीमाओं पर शान्ति स्थापित होते ही दास-अर्थ-व्यवस्था का पतन होने लगा। इसी प्रकार अमरीका का पतन १८३४ में दास-प्रथा के उन्मूलन के साथ न होकर उससे लगभग तीस वर्ष पहले ही दास-व्यापार के उन्मूलन के साथ हो गया।

बाहर से दासों का आना रुकते ही दासों की जनसंख्या कम होने लगती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक दास बनाए जाते हैं, अत अगर दासियों के इतनी काफी लड़कियाँ पैदा भी हो जाएँ जो उनका स्थान ले सकें (अक्सर यह हो नहीं पाता), तो भी दासों की जनसंख्या वैसी पुरुषों के मरने के साथ-साथ कम होती जाती है। एक पीढ़ी के बाद स्त्री और पुरुषों की संख्या लगभग बराबर रह जाती है और प्राकृतिक पुनरुत्पादन के आधार पर एक नया सन्तुलन कायम होता है फिर भी दास-जनसंख्या का पूरी तरह पुनरुत्पादन नहीं हो पाता।

अगर हम किसी ऐसे देश का उदाहरण लें जिसमें इतने लम्बे समय से कोई दास बाहर से नहीं आया और जितने दास वहाँ हैं वे सब उसी देश में पैदा हुए थे, तो वहाँ भी दास जनसंख्या का लगभग एक-तिहाई काम पर लगा पाया जाएगा। वेस्ट इंडीज की गन्ने की खेती के मालिकों ने दास प्रथा के उन्मूलन के ठीक पहले का यही अनुपात बताया था। बाकी दो-तिहाई जनसंख्या में बच्चे, और उनकी एव अपने पतियों की देखभाल करने वाली माताएँ शामिल होती है, और अक्सर ऐसे भी बहुत से लोग होते हैं जो अपने को बीमार बताते हैं या दास-प्रणाली में काम करने से बचने की दूसरी तरकीबों का फायदा उठाकर पड़े रहते हैं। काम करने वाले दासों के इस छोटे अनुपात को देखकर हमें चौंकना नहीं चाहिए क्योंकि जन-गणना करने वालों की परिभाषा के अनुसार मुक्त समाजों में भी आमतौर जनसंख्या का केवल ३५ से ४० प्रतिशत तक ही 'आर्थिक धन्धों' में लगा होता है।

यदि दासों को अपने परिवारों के साथ रहने की आज्ञा होती है तो

उन्हें मुक्त जनसंख्या के समान ही पुनरुत्पादन करने का मौका रहता है—या शायद अपेक्षाकृत अधिक मौका रहता है, क्योंकि उन्हें शायद बेहतर चिकित्सा-सुविधा मिली होती है और काम भी कुछ कम ही करना पड़ता है। वैसे दासों को अक्सर अपने परिवारों के साथ नहीं रहने दिया जाता क्योंकि इससे स्वामी के ऊपर प्रति दास दो निष्क्रिय लोगों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी आ पड़ती है। इसीलिए बहुत से स्वामी केवल वयस्क पुरुष दासों को ही रखते हैं और उन्हें विवाह नहीं करने देते। दासियाँ लोकप्रिय नहीं हैं; जहाँ दासियाँ रखी भी जाती हैं वहाँ कोशिश यही की जाती है कि उनके बच्चे न हों, और अगर उनके बच्चे पैदा होते हैं तो उन्हें उनकी देखभाल करने के लिए काफ़ी समय नहीं दिया जाता। इन्हीं कारणों से दासों में जन्म-दर कम होती है और शिशु और बाल-मृत्यु संख्या अधिक रहती है। फलस्वरूप दास-जनसंख्या का पुनरुत्पादन नहीं हो पाता। बड़ी-बड़ी बस्तियाँ निश्चय ही छोटी बस्तियों से अच्छी रहती हैं, क्योंकि छोटी बस्तियों की अपेक्षा बड़ी बस्तियों में पुरुष, स्त्री और बच्चों का सन्तुलन ठीक कायम रखा जा सकता है। यही कारण है कि बड़े प्रतिष्ठानों की अपेक्षा छोटे प्रतिष्ठान जल्दी समाप्त हो जाते हैं और, जैसा कि परवर्ती रोम साम्राज्य में हुआ, असमता बढ़ती जाती है। लेकिन बड़े प्रतिष्ठान भी समय पाकर समाप्त हो जाते हैं बशर्ते कि वे वाणिज्यिक आधार पर नये दासों के प्रजनन की समस्या पर ध्यान न दें।

बिलकुल यही परिणाम घोड़ों के श्रम पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का हो, यदि घोड़ों के हर मालिक से नर और मादा, वयस्क और शिशु का उचित सन्तुलन कायम रखने की आशा की जाए। यथार्थ में यह सन्तुलन इसलिए नहीं रहता क्योंकि घोड़ों की अर्थ-व्यवस्था में बिक्री के लिए घोड़ों की नस्ल तैयार करने में विशेषज्ञता हासिल करना बड़ा लाभकर होता है। इसी प्रकार बाहर से दास बुलाए बिना दास अर्थ-व्यवस्था केवल तभी चल सकती है जबकि कुछ स्वामी बिक्री के लिए दासों के प्रजनन का काम विशेषज्ञता के आधार पर करने लगें। दास-व्यापार के उन्मूलन के बाद अमरीका की दक्षिणी राज्यों में इस प्रकार की पद्धति अपनायी गई थी, लेकिन दास प्रथा का यह सबसे कम लोकप्रिय पहलू है, क्योंकि इसमें पत्नियों को पतियों से, और बच्चों को उनके माता-पिताओं से अलग करना पड़ता है और उन सभी भावनात्मक बन्धनों को ठुकरा देना होता है जो मनुष्यों के बीच यौन-सम्बन्धों के लिए उचित माने जाते हैं। अतः दास अर्थ-व्यवस्थाओं में दासों के प्रजनन केन्द्र प्रायः नहीं पाए जाते, या अगर कहीं हैं भी तो उनकी संख्या इतनी नहीं है कि वे दासों की सप्लाई कायम रख सकें। निष्कर्ष यह है कि अधिकांश दास-समाजों में बाहर से दासों का आना बन्द होते ही अर्थ-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है।

इस मामले में दास-प्रथा की अपेक्षा कृषि-दासत्व कहीं अच्छा है, और शायद यही मुख्य कारण है कि बाहर के देशों से दासों का आना बन्द होने पर दास-प्रथा समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर कृषि-दासत्व स्थापित हो जाता है। कृषि-दासों को विवाह करने का अधिकार होता है और वे मुक्त लोगों की तरह ही रहते हैं। कृषि-दासों को अक्सर कुछ समय अपने काम के लिए दिया जाता है और अपने लिए खेती करने के लिए कुछ ज़मीन भी दी जाती है। कुछ कृषि-दास आध-बँटाई की प्रणाली के अन्तर्गत भी काम करते हैं। कृषि-दासत्व की सबसे उन्नत अवस्था में कृषि-दास पर यह पाबन्दी लगा दी जाती है कि वह अपने मालिक की अनुमति के बिना ज़मीन छोड़कर नहीं जा सकता, लेकिन साथ ही उसे केवल निश्चित किराया देने की ज़रूरत होती है, और अपने लाभ के लिए ज़्यादा उत्पादन करने की सारी प्रेरणाएँ रहती हैं। कृषि-दासत्व पर आधारित समाज शताब्दियों तक चल सकता है, लेकिन दासत्व पर आधारित समाज विदेशों से दासों की भरती बन्द होते ही छिन्न-भिन्न होने लगता है।

(ग) परिवार—परिवार इतना महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थान है कि इससे प्रायः उन सभी समस्याओं का सम्बन्ध है जिन पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं। इसमें प्रेरणा, विशेषज्ञता, उद्यमशीलता और साधनों तक पहुँच की समस्याएँ हैं। पहले हम परिवार के समस्तर पर रूप की चर्चा आरम्भ करेंगे, अर्थात् परिवार की एक शाखा और दूसरी शाखा के बीच सम्बन्धों पर विचार करेंगे। उसके बाद स्त्रियों की स्थिति, और अन्त में पीढ़ियों की चर्चा होगी। जनसंख्या की समस्याएँ अध्याय ६ पर छोड़ दी गई हैं।

आदिम समाज में परिवार का अर्थ बहुत व्यापक होता है। मनुष्य केवल अपने माता-पिता, पत्नी और बच्चों से ही बन्धन नहीं मानता बल्कि अनेक भतीजे-भतीजियों को परिवार में शामिल मानता है जिनकी संख्या कभी-कभी पाँच सौ तक पहुँच सकती है। इस व्यापक परिवार में कई प्रकार का समुदायवाद प्रचलित हो सकता है, भूमि पर सभी का शामिल कब्ज़ा हो सकता है। खेती भी साथ-साथ की जा सकती है और परिवार के सभी सदस्यों को परिवार से गुज़ारा मांगने का हक होता है।

हम देखते हैं कि जैसे-जैसे समुदाय धनी होता जाता है परिवार की सदस्यता संकुचित होती जाती है। व्यापक परिवार का मुख्य उद्देश्य गुज़ारे के निम्न स्तर पर जीवनयापन करने वाले समाज में उपयुक्त सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना है। निम्न स्तरों पर परिवार के सदस्य संकटग्रस्त सम्बन्धियों की मदद के लिए दौड़ पड़ते हैं, और परिवार जितना ही बड़ा होगा बीमे की यह व्यवस्था उतनी ही प्रभावशाली होगी। आय में वृद्धि होने के साथ-साथ व्यक्तियों की

धन बचाने की क्षमता बढ़ती जाती है और वे मुसीबत के समय अपनी सहायता स्वयं करने लगते हैं। परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों के धन और उनकी आमदनियों में भी अधिक अन्तर होने लगते हैं। शासन-व्यवस्था सुधर जाती है और सरकार बूढ़े लोगों या निराश्रितों की मदद करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने लगती है। सामाजिक सम्बन्ध हैसियत की बजाय संविदा के ऊपर आश्रित होते जाते हैं। इसलिए अपेक्षाकृत धनी समाजों के व्यक्ति दूर के रिश्तेदारों के प्रति नैतिक दायित्व स्वीकार करने से मुकरने लगते हैं। सामान्य निष्कर्ष यह है कि भौतिक रूप से समाज जितना ही उन्नत होगा, कमाई करने वाला व्यक्ति उतने ही कम रिश्तेदारों को मान्यता देगा। मान्यता से हमारा तात्पर्य यह है कि वह अपनी आमदनी में होने वाली वृद्धि से थोड़े ही लोगों को फायदा पहुंचाना चाहेगा और रिश्तेदारों के निराश्रित हो जाने पर भी उन्हें अपनी आमदनी में से सहायता पहुँचाने के लिए तैयार नहीं होगा। छोटे समुदायों में भी पारिवारिक दावों पर जोर देना आसान होता है क्योंकि समुदाय का हर सदस्य एक-दूसरे को जानता है, और परिवार के धनी सदस्य को जनमत से बाध्य होकर ग़रीब रिश्तेदारों की सहायता करनी पड़ती है। इसके विपरीत बड़े समुदायों में, जहां लोग अपने पड़ोसी तक को नहीं पहचानते, मनुष्य अपने परिवार की आसानी से उपेक्षा कर सकता है और इस बात की चिन्ता किये बिना कि उसके मित्र क्या सोचेंगे, जिस तरह चाहे रह सकता है। यह समाज की औसत आमदनी से भी सम्बन्धित है क्योंकि नगरों और गांवों का आकार देश के धन में होने वाली वृद्धि के साथ सम्बद्ध है।

व्यापक परिवार-प्रणाली गुज़ारे की अर्थ-व्यवस्था वाले समाजों के लिए बहुत लाभकारक होती है, लेकिन वर्तमान आर्थिक विकास वाले समाजों में यह अनुपयुक्त है। ऐसे समाजों के लिए यह निश्चय ही आर्थिक प्रयत्नों में बाधक होती है। बात यह है कि विकास पहल करने की भावना पर निर्भर होता है और यदि आदमी को पता हो कि उसके प्रयत्न का पारिश्रमिक अनेक ऐसे लोगों में बंट जाएगा जिनके दावों को उचित नहीं समझता, तो इससे पहल की भावना को आघात पहुँचता है। व्यापक परिवार-प्रणाली वाले समाजों में परिवार के सदस्य की आमदनी बढ़ते ही अनेक दूर-दूर के रिश्तेदार और अधिक पैसा मांगने के लिए उसे घेर लेते हैं। अधिक प्रयत्न करने की दिशा में यह सदा ही बाधक रहता है, और विशेषकर ऐसे समय में यह और भी हानिकारक सिद्ध होता है जब कि परिवार की संकल्पना संकुचित हो रही होती है और समुदाय के अन्दर मान्यता की सीमाएं छोटी होने लगती हैं, क्योंकि इस संक्रमण-काल में मनुष्य उन लोगों के दावे मानने से मुकरने लगता है जिन्हें वह पहले बिना किसी हिचक स्वीकार किये हुए था। एशिया और अफ्रीका के

अनेक ऐसे वृत्तान्त सुनने को मिलते हैं जिनमें योग्य व्यक्तियों ने पदोन्नति से सिर्फ इसीलिए इनकार कर दिया कि उससे होने वाले आर्थिक लाभ परिवार के उन सदस्यों में बँट जाते जिनके अधिकार को वे मान्यता नहीं देते थे। दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर भी यह प्रणाली पहले की भावना के लिए घातक है, क्योंकि इससे हर आदमी की जरूरतें अपने-आप पूरी हो जाती हैं जिससे गतिशीलता, मितव्ययशीलता और उद्यम की प्रवृत्ति में कमी आती है।

हृदय से अनुभव की जाने पर भी पारिवारिक दायित्व की उत्कट भावना सफलता के मार्ग में कई प्रकार से बाधक हो सकती है। इससे प्रेरित होकर मनुष्य अपने रिश्तेदारों को ऐसे कामों पर नियुक्त करता है जिनके लिए वे उपयुक्त न हों, और यह भी सम्भव है कि किसी योग्य आदमी को किसी पद पर केवल इसी आशंका से नियुक्त न किया जाए कि वह पद पर आ जाने के बाद अपने नीचे के पदों पर अयोग्य रिश्तेदारों को भरती कर लेगा। आदिम समाजों में लोगों को यह भी भय रहता है कि परिवार को अप्रसन्न करने के फलस्वरूप कहीं उन पर जादू-टोने न कर दिए जाएँ और वे प्रेम के बजाय इसी भय के कारण भाई-भतीजों को प्रश्रय दे देते हैं। वैसे कभी-कभी अपने परिवार के सदस्य को नियुक्त करना सबसे अच्छा रहता है, इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह अधिक प्रभावशाली हो अन्यथा इतना तो है ही कि उसकी शिक्षा-दीक्षा के बारे में पक्का पता होता है और उस पर विश्वास किया जा सकता है, लेकिन हर मामले में यह ठीक नहीं होता। दूसरी कठिनाई उन पारिवारिक व्यवसायों का प्रबन्ध करने की है जिनमें कई सदस्य शामिल होते हैं। यदि इन सदस्यों को एक-दूसरे पर विश्वास होता है, और हर व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता से काम करता है तो पारिवारिक भावना से व्यवसाय को शक्ति प्राप्त होती है, लेकिन परिवार-भावना से व्यवसाय को प्रायः हानि ही पहुँचती है। दृढ़ पारिवारिक बंधनों वाले देशों में सबसे अधिक उद्यमी और सफल व्यक्ति वे ही पाए जाते हैं जिनके कोई सामाजिक दायित्व नहीं होते, और इसीलिए जो अपने पैरों पर खड़े होकर काम करते हैं।

व्यवसाय में परिवार भावना की उन कमियों को ध्यान में रखकर ही उसके लाभों की चर्चा करनी चाहिए। जिन समाजों में अपरिचितों से विश्वसनीय सेवा की आशा नहीं की जा सकती वहाँ बड़े पैमाने के उद्यम के लिए परिवार ही सबसे उपयुक्त इकाई माना जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ व्यवसायों में अनेक नगरों, या उपनगरों या देशों में शाखाएँ स्थापित करना लाभप्रद होता है, जैसे बैंक व्यवसाय में शृंखला भण्डार की तरह के फुटकर व्यापार में, और माल-वितरण आदि में। इन कामों में वे परिवार बड़ी लाभप्रद स्थिति में रहते हैं जिनमें अनेक भाई हों, या नजदीकी रिश्ते के भतीजे हों,

कुछ लोगों का उत्पादन बढ़ जाता हो। पश्चिम के आधुनिक समाजों में मध्यम और उच्च वर्ग की स्त्रियों को काम का अधिकार प्राप्त करने के लिए बड़ा संघर्ष¹ करना पड़ा है। लेकिन दूसरे अनेक समुदायों में पुरुष अपेक्षाकृत अधिक काहिली का जीवन बिताते रहे हैं जबकि जमीन पर खेती करने और परिवार के लिए खाना पकाने और पहनने के कपड़े बनाने में स्त्रियाँ बहुत परिश्रम करती रही हैं।

स्त्रियों के काम करने पर प्रतिबन्ध लगाने से सभी देशों में आर्थिक विकास में रुकावट आती है। कुछ आदिम समुदायों में अपने घर के अन्दर या अपने खेत के अलावा स्त्री को कहीं और काम नहीं करने दिया जाता। इससे हर गृहस्थ की आत्मनिर्भरता बढ़ती है और व्यापार और विशेषज्ञता के अवसर कम हो जाते हैं। दरअसल यह बड़े मजे की बात है कि आर्थिक विकास और घर की चहारदीवारी से बाहर आकर स्त्रियों का काम करना बिलकुल साथ-साथ प्रगति करते हैं। प्रति व्यक्ति आमदनी बढ़ने से बच्चों की घरेलू शिक्षा के स्थान पर स्कूली शिक्षा को प्रारम्भ होती ही है, साथ ही भोजन तैयार करने, केश-प्रसाधन और होटल आदि उद्योगों में भी तेज़ी से वृद्धि होती है। आर्थिक प्रगति और स्त्रियों के घर से बाहर आकर काम करने के सम्बन्ध को हम केवल राष्ट्रीय आय की गणना करने वाले सांख्यिकीविदों की मान्यता के आधार पर ही उन्नति का लक्षण नहीं बता रहे—सांख्यिकीविद् घर के काम को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करते लेकिन जब स्त्रियाँ बाज़ार में जाकर वही काम करने लगती हैं तो उसे राष्ट्रीय आय में जोड़ लेते हैं—विशेषज्ञता के फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा और किस्म में भी वास्तविक वृद्धि हो जाती है। यदि प्रथा ऐसी हो कि स्त्रियाँ केवल घर के अन्दर ही काम कर सकती हों, या घर से बाहर केवल घरेलू नौकरानियाँ, टाइपिस्ट या और थोड़ी-सी गिनी-चुनी स्थितियों में ही काम करने के अवसर हों तो इससे आर्थिक विकास में बाधा आती है। स्त्रियों द्वारा आसानी से किए जाने वाले कामों की श्रेणियाँ खोलकर अवसर बढ़ा देने से राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, जिन समुदायों में पुरुषों की संख्या कम है उन्होंने यह तरीका अपनाकर काफी विकास किया है। इससे उत्पादन में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की वृद्धि हो सकती है। उदाहरण के लिए, अमरीका में कुछ विमान केन्द्रीय फैक्टरियों में कुशलतापूर्वक काम का प्रशिक्षण न करवाकर घर पर ही [illegible] बनवा लेना पसन्द कर लेते हैं। बात यह है कि अगर वे अपनी स्त्रियों से यह काम न लें तो फिर वे लगभग खाली ही बैठी रहतीं। ऐसी परिस्थिति में स्त्रियों को बाहर के काम देने से उनके प्रशिक्षण के लिए फैक्टरी में भेजी जाने लगेंगी और तैयार माल की किस्म में सुधार हो जायगा।

करते हैं। यदि परम्परा इस बात पर जोर देती हो कि पुत्र केवल अपने पिता का धंधा ही अपनाए तो इससे व्यावसायिक गतिशीलता में भी कमी आती है। पीढ़ियों में बहुत निकट का सम्बन्ध होने से जाति प्रथा को जन्म मिलता है जिसके अन्तर्गत पुत्र को अनिवार्य रूप से अपने पिता का धंधा अपनाना पड़ता है। यह उद्यम और सामाजिक गतिशीलता के मार्ग में रुकावट डालता है। परिवर्तन और आर्थिक विकास के मार्ग में यह सबसे कठिन बाधाओं में से एक है।

व्यापक परिवार का सम-स्तर दृष्टि से विश्लेषण करते समय हमने देखा था कि यह आर्थिक प्रेरणा के मार्ग में एक बाधा होता है और नहीं तो केवल इसी कारण लोग मेहनत करने से कतराते हैं कि उनको फल उन दूर-दूर के रिश्तेदारों में भी बाँटना पड़ता है जिनके प्रति उनका कोई प्रेम नहीं होता। लेकिन जहाँ तक बच्चों की अपने माता पिता पर निर्भरता का प्रश्न है हमें मान लेना चाहिए कि परिवार एक हद तक आर्थिक प्रेरणा का स्रोत भी है। इसका सर्वाधिक प्रभाव तब होता है जबकि मनुष्य अपने परिवार के बारे में महत्वाकांक्षी होते हैं अर्थात् उनकी यह अभिलाषा होती है कि परिवार की जैसी सामाजिक स्थिति में वे पैदा हुए थे उनकी सन्तान उससे और भी ऊँची स्थिति में पैदा हो।

अपने परिवार की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने की इच्छा मनुष्य को इसके लिए प्राप्त अवसरों पर निर्भर होती है। यह इच्छा उन निर्धन गाँवों में पैदा नहीं हो सकती जहाँ हर किसान मजदूर नालायक समझा जाता है और भौतिक स्थिति को बेहतर बनाने की गुंजाइश शायद ही होती है। यदि कानूनों या रस्म रिवाजों की बाधाएँ या धर्म या वर्ग मनुष्य को एक वर्ग से उठकर दूसरे वर्ग तक पहुँचने में रुकावट डालते हों तो भी यह इच्छा पैदा नहीं होती। रुद्ध गतिवाली या अवनतिशील अर्थ-व्यवस्था में भी इस इच्छा का कोई विशेष मूल्य नहीं होता। वैसे रुद्ध गतिवाली अर्थ-व्यवस्था में भी थोड़ी बहुत सामाजिक गतिशीलता पाई जाती है लेकिन सर्वाधिक गतिशीलता उन्हीं समुदायों में होती है जहाँ उत्पादन तेजी से बढ़ रहा होता है। कारण यह है कि उन्नतिशील अर्थ-व्यवस्था में ही मध्यम वर्ग का सबसे अधिक विस्तार होता है। उसमें प्रशासकों या मिस्त्रियों या व्यापारियों या पेशेवरों के रूप में काम करने के लिए निम्न वर्गों से भी काफी लोग मिलते रहते हैं। और ऐसी ही परिस्थितियों में पैसा कमाने या दूसरी दिशाओं में उन्नति करने के सर्वाधिक अवसर प्राप्त होते हैं। अतः परिवार की नींव रखने की अभिलाषा उन्नतिशील अर्थ-व्यवस्थाओं में सबसे अधिक बलवती और प्रभावशाली होती है रुद्ध गतिवाली अर्थ-व्यवस्थाओं में यह सबसे कम पाई जाती है। यह उन अनेक स्थितियों में से एक है जिनके विकास में सहायता देनेवाली शक्तियाँ एक-दूसरे को बल प्रदान करती हैं। एक

अमरीकी नगरों की तुलना में इंग्लैंड में परिवार का सम्मान अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। साथ ही कर्मचारियों को अधिक आर्थिक प्रयत्न करने के लिए अन्य प्रकार की प्रेरणाएँ भी होती हैं जैसे ऊँचे दर्जे के रहन-सहन का उपभोग करने की आकांक्षा और अपने लिए अधिक शक्ति और प्रतिष्ठा अर्जित करने की इच्छा आदि।

हालांकि आर्थिक प्रयत्न को बढ़ावा देने के मामले में सम्पत्ति के अधिकार का महत्व ठीक ठीक नहीं आंका जा सकता लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इससे बढ़ावा अवश्य मिलता है और आधुनिक सरकारें इस अधिकार पर जो अधिकाधिक पाबन्दियाँ लगा रही हैं—विशेषकर ऊँचे मृत्यु-कर के रूप में—उनसे सम्पत्ति अर्जित करने की प्रेरणा में कमी आती है। दूसरी ओर उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति, उसके स्वामियों और शेष समुदाय पर सम्पत्ति के उत्तराधिकार का जो प्रभाव पड़ता है उसकी भी चर्चा यहीं कर लेनी चाहिए।

सबसे विवादग्रस्त मामलों में से एक यह है कि सम्पत्ति की देखभाल पर उत्तराधिकार का प्रभाव क्या होता है। किसी व्यवसाय या सम्पत्ति की नींव रखने वाले व्यक्ति का बेटा ही निश्चित रूप से उस सम्पत्ति की देखभाल के लिए सर्वाधिक योग्य पुरुष नहीं होता। इसके विपरीत उत्तराधिकार पर आधारित संस्थान उतने दीर्घजीवी या सप्राण नहीं पाए जाते जितने वे संस्थान होते हैं जिनके नेता हर पीढ़ी में नये सिरे से चुने जाते हैं। रोमन कैथोलिक चर्च की शक्ति का एक कारण निश्चित रूप से यह भी है कि उसके बिशप चुने जाते हैं, जन्म से निर्धारित नहीं होते। इसी प्रकार ओटोमन साम्राज्य की शक्ति का कारण भी अंशतः वहाँ की जानिसरियों की प्रणाली मानी जाती है जिसके अन्तर्गत पैदल सिपाहियों की भरती हर पीढ़ी में नये सिरे से की जाती थी। कुछ लोगों की यह शिकायत है कि आजकल की बड़ी-बड़ी कम्पनियों में पारिवारिक सम्बन्धों को ज्यादा ही महत्व दिया जाता है लेकिन जिम्मेदार पदों पर नियुक्तियाँ करते समय लोगों के पारिवारिक सम्बन्धों का विचार न करने की बढ़ती हुई प्रथा कम्पनियों की कार्यक्षमता बढ़ाने में भी सहायक हो सकती है। दूसरी ओर, उत्तराधिकार की प्रणाली के भी अपने लाभ हैं, उत्तराधिकार पहले से निश्चित होता है जिससे भावी उत्तराधिकारी पहले से ही अपने को उसके लिए योग्य बनाने का प्रयत्न करता है, और यह प्रणाली सरल भी है।

उत्तराधिकार का प्रभाव इस पर भी निर्भर करता है कि सम्पत्ति केवल सबसे बड़े लड़के को मिलती है या परिवार के सदस्यों में बँट जाती है। ज्येष्ठाधिकार के अन्तर्गत सम्पत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जहाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन लाभप्रद हो, या उन कृषक समुदायों में, जिनमें जोत पहले ही

अपनी प्रतिभाओं के श्रेष्ठतम उपयोग की जरूरत ही नहीं पड़ती। जिस समुदाय में सब लोग एक ही स्तर से जीवन आरम्भ करेंगे सम्भवतः वहीं सबसे अधिक आर्थिक विकास होगा, और उस समुदाय में शायद और भी अधिक विकास हो सके जहाँ ऊँचे दर्जे की प्रतिभा वाले लोगों को अधिक सुविधाओं के साथ जीवन आरम्भ करने के अवसर दिये जाते हों।

(घ) खेती का संगठन—भूमि के स्वामित्व और उपयोग से सम्बन्धित कानून और प्रथाओं का आर्थिक महत्त्व सबसे अधिक है विशेषकर निर्धन समुदायों में जहाँ खेती ही मुख्य आर्थिक क्रिया हो। साथ-ही राजनीतिक और सामाजिक हैसियत निर्धारित करने में भूमि का महत्त्वपूर्ण योग होता है इसीलिए भूमि सम्बन्धी नियम और प्रथाएँ प्रायः आर्थिक विचारों को मुख्य रूप से दृष्टि में रखकर नहीं बनाई जातीं। आर्थिक विकास की दृष्टि से हमें कृषि-भूमि के धारणाधिकार, खेतों के आकार और इन दोनों बातों के प्रेरणाओं से सम्बन्ध पूँजी-निर्माण और तकनीकी नवीन प्रक्रिया पर विचार करना है।

पहले हम जमीन के सामुदायिक धारणाधिकार के प्रश्न को लें। इसके तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। पहले अर्थ में जिसकी यहाँ चर्चा की जा रही है कई लोग जमीन के एक ही टुकड़े को अपने-अपने काम के लिए—जैसे उस पर अपने पशु चराने, जलाने के लिए लकड़ी काटने—उपयोग में लाने के अधिकारी होते हैं। इसमें और दूसरे अर्थ में भेद यह है कि दूसरे अर्थ में लोग एक ही जमीन पर एक ही अधिकारी के अन्तर्गत साथ-साथ काम करते हैं, और अपनी उत्पत्ति को एक जगह इकट्ठा करते हैं। यही सहकारी या सामूहिक खेती कहलाती है इसकी मुख्य समस्याओं पर इस अध्याय के खण्ड १ (ग) में विचार किया जा चुका है, और इस उपखण्ड के अन्त में हम फिर इसकी चर्चा करेंगे। तीसरे अर्थ में वह स्थिति आती है जिसमें हर आदमी को जमीन के एक निर्धारित टुकड़े का अलग से उपयोग करने का अधिकार होता है। यद्यपि जमीन को बेचने के मामले में उसका अधिकार इस सिद्धान्त पर सीमित रखा जाता है कि जमीन मुखिया या कबीले की है। चूँकि लगभग हर समुदाय में जमीन के उपयोग और बिक्री पर कुछ-न-कुछ बन्धन लगे हुए हैं अतः इस अर्थ में 'सामुदायिक' धारणाधिकार और 'मासी पट्टे के' धारणाधिकार में केवल मात्रा-भेद ही है। यदि हम 'व्यक्तिगत' धारणाधिकार (परिवार को भी व्यक्ति की परिभाषा में मानते हुए) से उन सभी मामलों का आशय लें जिनमें व्यक्ति को अलग से जमीन के उपयोग का अधिकार मिला होता है तो सोवियत रूस के अलावा बाकी के लगभग पूरे संसार में जमीन के व्यक्तिगत धारणाधिकार को ही प्रचलित पाएँगे और जो कुछ हम कहना चाहते हैं वह मुख्यतः इसी प्रकार के धारणाधिकार के सम्बन्ध

स्वरूप और हानि शामिल है।

मुआवज़े की आवश्यकता का सम्बन्ध इस सिद्धान्त से है कि किरायेदार को अपने प्रयत्न का फल स्वयं उपयोग में ले सकने का आश्वासन होना चाहिए। यदि किरायेदार भूमि में कोई पूँजी-निवेश करे तो उसे यह आश्वासन होना चाहिए कि भूमि से हटाये जाने की स्थिति में उसे उन सुधारों पर किया गया खर्च वापस मिल जाएगा जिनका पूरा-पूरा लाभ अभी तक न उठाया जा सका हो। इस प्रकार का आश्वासन न दिया जाए तो किसान पेड़ नहीं लगाएगा, यथोचित इमारतें खड़ी नहीं करेगा, जल-निकास में सुधार नहीं करेगा और किसी अन्य प्रकार से भी पूँजी-निवेश नहीं करेगा। इस संरक्षण का उपसिद्धान्त यह है कि जिन सुधारों के मामले में संरक्षण दिया जाए उन्हें करने से पहले ज़मींदार की पूर्व अनुमति ली जानी चाहिए। अधिकांश उन्नत देशों में कानून की ओर से यह संरक्षण दिया जाता है, लेकिन आदिम समाजों में यह व्यवस्था अपवाद के रूप में ही पाई जाती है जिसका परिणाम यह है कि किरायेदार भूमि में सुधार करने के लिए पूँजी लगाने की चिन्ता नहीं करते, और अगर ज़मींदार की ओर से प्रतिबन्ध न हो तो वे ज़मीन की उर्वरता भी समाप्त हो जाने देते हैं।

अनेक देश पूरी तरह उपभोग न किये गए सुधारों को संरक्षण देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वे भूमि-धारण की अवधि को भी कानूनी सुरक्षा प्रदान करते हैं। ज़मीन छुड़ाने से पहले कम-से-कम कितने समय का नोटिस दिया जाएगा यह तो निर्धारित होता ही है लेकिन अधिक चरम मामलों में कानून की ओर से किरायेदार को यह अधिकार भी मिला होता है कि जब तक वह अच्छे ढंग से कृषि-कर्म करता रहे तब तक वह भूमि पर कब्ज़ा बनाए रख सकता है (इंगलैंड में ऐसा ही है) और यहाँ तक व्यवस्था होती है कि यदि उसके उत्तराधिकारियों में उचित क्षमता हो तो वे भी अधिकारपूर्वक भूमि का उपयोग कर सकते हैं। व्यवहार में यह कानून कहाँ तक सफल होता है यह बहुत-कुछ उसे लागू करने वाले न्यायाधिकरणों के स्वरूप पर निर्भर करता है, 'प्रजातान्त्रिक' देशों में बुरे किरायेदार को निकालना तब तक लगभग असम्भव ही होता है जब तक वह जाहिरा ज़मीन को बरबाद ही न कर रहा हो, जबकि दूसरी ओर 'प्रतिक्रियावादी' देशों में कानून पर इस प्रकार अमल किया जाता है कि अच्छे-से अच्छे किरायेदारों को भी बहुत थोड़ा संरक्षण मिल पाता है। इस प्रकार के कानून का उद्देश्य किरायेदारों को दीर्घकालीन सुधारों में पूँजी-निवेश करते समय पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करना है। कुछ लोग बहुत अधिक सुरक्षा देना ठीक नहीं समझते, क्योंकि इससे ज़मीन की गतिशीलता कम हो जाती है, हम इस विषय पर किसानों के हक में आपत्तियों पर विचार

करते समय चर्चा करेंगे, क्योंकि वह उन पर भी लागू होता है।

किराये के स्वरूप से हमारा आशय उनके बंधी राशि के रूप में होने या आनुपातिक अदायगी के रूप में होने से है। प्रतिकूल परिस्थितियों वाले वर्षों में छोटे किसानों पर बंधी अदायगी बहुत भारी बन जाती है, भले ही अच्छे और बुरे साल मिलाकर औसतन वह सह्य हो। किराया द्रव्य के रूप में बंधा हो सकता है या फसल के रूप में भी निर्धारित किया जा सकता है। फसल के रूप में निर्धारित किराया तब अधिक भारी मालूम होता है जब प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण फसलें खराब हों और द्रव्य के रूप में बंधा किराया अदा करने में तब अधिक कठिनाई होती है जब परिस्थितियां कीमतें गिर जाने के कारण बिगड़ती हैं। बात यह है कि किसानों को दोनों ही परिस्थितियों में कष्ट उठाना पड़ता है, और इसीलिए किराये द्रव्य के रूप में हों या फसल के रूप में, बात लगभग एक-सी ही है। हां युद्ध-काल में कम-से-कम थोड़े समय के लिए वे किसान बड़े लाभ में रहते हैं जिन्हें द्रव्य के रूप में बंधे किराये अदा करने होते हैं। संसार के तमाम देशों को देखने पर मालूम होता है कि किराये प्रायः बंधे हुए नहीं हैं बल्कि आनुपातिक हैं, और भूमि की दुर्लभता को देखते हुए किसान अपनी फसल (या आमदनी) का चौथाई से आधा तक जमींदार को अदा करते हैं।

गरीब किसान आनुपातिक किराये पसन्द करते हैं क्योंकि प्रतिकूल परिस्थितियों में उनका बोझ बंधे किराये की तुलना में कम रहता है। यद्यपि अच्छी परिस्थितियों में उन्हें जमींदार को अधिक देना पड़ता है लेकिन तब उनमें उतना देने की सामर्थ्य भी होती है। जो भी हो, अच्छे और बुरे सालों को मिलाकर औसत ठीक ही पट जाता है। हां, अर्थशास्त्री आनुपातिक किरायों को बुरा मानते हैं चूंकि इससे किसान के अन्दर जमीन में सुधार करने की प्रेरणा कम हो जाती है। बंधे किराये के मुकाबले में इन अनुपात वाले किराये की स्थिति में भूमि पर कोई सुधार करते समय किसान को सीमान्त पर उसकी उपयोगिता तभी मिल सकती है जब वह उपज दुगनी करे। इस बात को कहते समय हम यह मानकर चले हैं कि सुधार का सारा खर्च किसान ही उठाता है। भाग-बंटाई (आनुपातिक किराये इसी नाम से पुकारे जाते हैं) की अधिक उन्नत प्रणालियों में जमींदार सुधार के खर्च का एक अंश अपने पास से देता है, या संविदा में इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि अगर किरायेदार भूमि में सुधार करे तो इसका खर्च किराये में से काट सकता है। लेकिन कम उन्नत देशों में अक्सर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती, और आनुपातिक किरायों की प्रणाली से निश्चय ही किसान की सुधार-सम्बन्धी प्रेरणा कम हो जाती है।

अधिकांश देशों में किराये की राशि को लेकर बड़ी शिकायतें और आन्दो-

लेन खड़े किये जाते हैं। किराये के बदले जमींदार का योगदान हर देश में अलग अलग पाया जाता है। इंगलैंड में संविदा के अन्दर अक्सर यह शर्त होती है कि जमींदार पक्की इमारतें खड़ी करेगा और अचल पूंजी लगाएगा, कहीं-कहीं उसे कार्यकर पूंजी में भी अंशदान करना होता है। एक जमाना था जब इंगलैंड में किराये इतने अधिक थे कि जमींदार को ये सब काम करने में कोई आर्थिक कठिनाई नहीं होती थी और यह सब करने के बाद भी उसके पास परिशेष रह जाता था जिसे अच्छी जमीन के दुर्लभ होने का शुद्ध किराया कह सकते हैं। लेकिन आजकल किराये इतने कम हैं कि खाम की अचल पूंजी के अनुरक्षण पर खर्च करने के बाद शायद ही कोई परिशेष बचता हो। इसके विपरीत अधिकांश आदिम देशों में जमींदार को भूमि के सम्बन्ध में कोई कर्तव्य नहीं निभाने होते, वह केवल किराया वसूल करता है। यह बात दूसरी है कि वह कुछ सामाजिक काम निभा देता है—मजिस्ट्रेट, पुलिसमैन, जिला प्रशासक या पुरोहित के काम—और यदि इन कामों के लिए उसे किराये में से ही पारिश्रमिक न मिले तो उसे या इन कामों को करने वाले दूसरे व्यक्ति को करों की आय में से या किसी अन्य साधन से पारिश्रमिक देने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। लेकिन जहां तक भूमि का सम्बन्ध है यदि ऐसी स्थिति में किराये किसानों के पास ही रहने दिए जाएं (अर्थात यदि जमींदार समाप्त कर दिए जाएं और किसानों को मालिकाना देकर जमीन का मालिक बना दिया जाए) या जमींदारों के बजाय राज्य को अदा कर दिए जाएं (भूमि या किसान के ऊपर प्रत्यक्ष कर लगाकर राज्य किसी-न-किसी रूप में अक्सर किराया वसूल करता है) तो इससे भूमि की उत्पादकता कम नहीं होगी। दरअसल अगर किराये कम कर दिए जाएं, या बिलकुल समाप्त कर दिए जाएं तो भूमि की उत्पादकता बढ़ सकती है, क्योंकि किसानों को अधिक धन बचाने का मौका मिलेगा जिसे वे भूमि सुधार के कामों में लगा सकेंगे। उन देशों में, जहां जमींदार किसानों से उत्पादन का पचास प्रतिशत तक लेते हैं और बदले में भूमि के लिए कुछ नहीं करते, वहां अगर किसानों के ऊपर से इन अत्याचारों का जुआ हटा दिया जाए तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि कृषि-उत्पादन में बहुत वृद्धि हो सकती है।

बहुत से देशों में जमींदारी-उन्मूलन की मांग की जा रही है, और यह कहा जा रहा है कि जो जमीन को जोते वही उसका स्वामी भी होना चाहिए। यह मांग खेतों के आकार में परिवर्तन करने की मांग का ही दूसरा रूप नहीं है बल्कि इससे बिलकुल अलग चीज है। कुछ सुधारक बड़ी जागीरों का अन्त करके जमीन को छोटे-छोटे खेतों के रूप में बांटकर खेतों की संख्या बढ़ाना चाहते हैं, दूसरे सुधारक इससे बिलकुल उलटा काम करना चाहते हैं अर्थात

वे किसानों को सामूहिक चर्चा करने के लिए उत्साहित या बाध्य करके छोटे खेतों की संख्या कम करना चाहते हैं। आकार-सम्बन्धी समस्याओं पर हम बाद में विचार करेंगे। इस समय तो हम एक ओर मालिकी-पट्टे के स्वामित्व और दूसरी ओर भूमि-धारण की अवधि पर चर्चा करते हैं। हालांकि भूमि-सुधार की माँग का अधिकांश फार्मों की संख्या में परिवर्तन करने की माँग से सम्बन्धित है लेकिन कुछ देशों में खासकर एशिया में ज़मींदारी-उन्मूलन और किरायदारी को स्वामित्व में बदल देने के लिए भी बड़ा भूमि-सुधार आन्दोलन किया जा रहा है।

किरायदारी का स्वामित्व में बदल देने के परिणाम कुछ सीमा तक इसके लिए निर्धारित अदायगी की शर्तों पर निर्भर हैं, ज़मींदारों को मिलने वाले मुआवज़े की रकम, और ज़मीन पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए किसानों द्वारा दिये जा रहे धन की मात्रा। वैसे, मुआवज़ों की समस्या के अलावा और भी कुछ समस्याएँ हैं जिन्हें किरायेदारी और स्वामित्व की तुलना करते समय ध्यान में रखना है। वस्तुतः अनेक लोगों का कहना है कि ज़मीन पर किसान का स्वामित्व आर्थिक विकास के हित में नहीं होता। उनका विचार है कि इससे ज़मीन की गतिशीलता कम हो जाती है और घटिया कृषि-कर्म, खेतों का विखंडन और अत्यधिक ऋण की स्थिति पैदा होने लगती है। इसलिए वे चाहते हैं कि छोटे किसान किरायेदार बनकर ही रहें। उनके ऊपर नियंत्रण रहना आवश्यक है, ज़मीन का मालिक चाहे निजी स्वामी हो या सरकारी एजेंसी। अभी हम देखेंगे कि अधिकांश वाञ्छनीय नियंत्रण स्वामियों और किरायेदारों के ऊपर समान रूप से लागू किये जा सकते हैं। वस्तुतः यदि नियंत्रण ठीक से लागू किये जाएँ, अर्थात् वे एक ओर किरायेदार को सुरक्षा प्रदान करें और दूसरी ओर स्वामी को अच्छा कृषि-कर्म करने के लिए बाध्य करें तो किरायेदारी और स्वामित्व में आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

पहले हम भूमि की गतिशीलता को लेते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कुछ लोग अच्छा कृषि-कर्म करने वाले किरायेदारों को किरायेदारी की सुरक्षा प्रदान करने वाले कानून का इस आधार पर विरोध करते हैं कि इससे कृषि अर्थ-व्यवस्था की नम्यता कम हो जाती है। उनका कहना है कि ज़मींदार को, जिसे भूमि के सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग में स्वाभाविक दिलचस्पी होती है, परिस्थितियाँ बदलने के साथ-साथ किरायेदार बदलने की पूरी आज़ादी होनी चाहिए। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं जिनमें खेती की अपेक्षा पशुधन अधिक लाभकर लगे, या खेतों के आकार में परिवर्तन करना वाञ्छनीय मालूम हो, या किसी अन्य कारण से कोई नया किरायेदार बदलती हुई परिस्थितियों के अधिक

उपयुक्त मालूम पड़े। ऐसी स्थिति में यदि वर्तमान किरायेदार को कानूनी संरक्षण प्राप्त हो तो आवश्यक परिवर्तन नहीं किए जा सकेंगे। यही लोग इसी आधार पर छोटे किसानों के मालिक-पट्टे का भी विरोध करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि छोटे छोटे किसान बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन धीमे-धीमे ही कर पाते हैं दूसरी ओर यदि जमींदार को किरायेदार बदलने की आजादी हो तो वह ये परिवर्तन बहुत जल्दी करा सकता है। यह तर्क तभी सही माना जा सकता है जब हम यह स्वीकार कर लें कि जमींदार होशियार और समझदार व्यक्ति होता है, और सदा ही अपनी जमीन के उपयोग के अच्छे-से-अच्छे तरीके निकालने की कोशिश करते रहते हैं। किसी-किसी जमींदार के बारे में भले ही यह सही हो लेकिन उनमें से अधिकांश दूरवासी होते हैं जिन्हें अपनी जमीन के बारे में केवल इतना ही ज्ञान होता है कि उससे उन्हें कितना किराया मिलता है। जो भी हो, यह तर्क देकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो व्यक्ति जिस साधन का उपयोग कर रहा हो वही उसका स्वामी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अगर साधनों का स्वामित्व ऐसे लोगों के हाथ में दे दिया जाए जो अल्पकालीन सूचना देकर उसे एक आदमी से छीनकर दूसरे आदमी के हाथ में देने में विशेषज्ञ हों, तो साधन उन लोगों के हाथ में रहने की सम्भावना अधिक रहती है जो उनका सबसे अच्छा उपयोग करने की योग्यता रखते हैं। इस तर्क के अनुसार शायद कारखाना चलाने वाले का भी स्वामित्व नहीं होना चाहिए क्योंकि सदा ही कोई-न-कोई व्यक्ति ऐसा मिल सकता है जो आपकी अपेक्षा उसका बेहतर उपयोग कर सके। निश्चित रूप से इसका उत्तर यही है कि स्वामी के सामने सदा ऐसे प्रस्ताव उपस्थित किए जा सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह किसी साधन का और अच्छा उपयोग कर सकता है तो वह उसके लिए आकर्षक कीमत अदा करने का प्रस्ताव करने को स्वतन्त्र है। वस्तुतः हमारा अनुभव तो यह है कि थोड़े से शक्तिशाली परिवारों के स्वामित्व में होने की अपेक्षा यदि भूमि का स्वामित्व बहुत लोगों में बँटा होता है तो वह अधिक सरलता से एक-दूसरे के हाथों में जा सकती है। बात यह है कि यदि सारी जमीन थोड़े-से परिवारों के पास होती है तो वे इसे केवल आमदनी का जरिया न समझकर राजनीतिक शक्ति और प्रतिष्ठा का साधन मानते हैं। जमीन आसानी से उपलब्ध होने के लिए उसका स्वामित्व बहुत लोगों में बँटा होना आवश्यक है।

इस दावे में काफी सार मालूम होता है कि अगर नियन्त्रण न लगाए जाएँ तो सारी पट्टेदार भूमि के गुणों को जल्दी ही समाप्त कर देंगे। संसार के अनेक भागों में छोटे किसान ऐसे काम करते हैं जिनसे मिट्टी के गुण घटने लगते हैं। यह बात दुनिया के उन भागों पर अक्सर लागू होती है जहाँ

अनेक शताब्दियों से आबादी इतनी घनी है कि किसानों में जमीन की उर्वरता को महत्त्वपूर्ण समझने की गम्भीर भावना विद्यमान है। लेकिन इस प्रकार की शिकायतें उन स्थानों के बारे में प्रायः सुनने में आती हैं जहाँ जमीन की प्रचुरता और दुर्लभता का सम्मिश्रण-सा चल रहा है विशेषकर उत्तर अमरीका और अफ्रीका में और जहाँ भूमि की उर्वरता को कायम रखने की बुनियादी शर्तें लगाकर किसानों को स्थायी रूप से उनकी जमीन पर बसा देने के लिए अभी तक बाध्य नहीं किया गया है। ऐसे स्थानों में भूसंरक्षण भूमि-संरक्षण फसलों के हेर-फेर और अपनी जमीन के बारे में किसानों के आचरण पर नियन्त्रण करने के विशेष प्रयत्न करते हैं। उन्हें पता है कि अधिक उन्नत पट्टेवाली प्रणालियों के अन्तर्गत जमींदार किसानों पर इस प्रकार के नियन्त्रण लगाते हैं, और इसीलिए वे इन प्रणालियों को लागू करना चाहते हैं। वैसे यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा की अपेक्षा जोर-जबरदस्ती से किसानों की आदतों में सुधार करना कहाँ तक वाञ्छनीय है। लेकिन नयी परिस्थितियों में बहुत उन्नत प्रकार की पट्टेदारी की संविदा लागू करने के स्थान पर कानून द्वारा भी किसानों की आदतों में यथासम्भव सुधार किया जा सकता है, बुरे ढंग से खेती करना जुर्म करार दिया जा सकता है जिस पर जुर्माना किया जाए या जमीन से बेदखली तक की जाए, और जिले में कृषि अधिकारी या न्यायाधिकरण नियुक्त किये जा सकते हैं जो कृषि-कार्य के मानक निर्धारित करें और आदेश न मानने वाले लोगों पर मुकदमे चलाएँ, अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक ज्ञानकारी (जो अधिकांश मामलों में इन्हें होती है) और निष्पक्षता के साथ वे सभी कर्तव्य निवाहें जो जमींदार निवाहा करते हैं। अच्छे किसानों को पुरस्कार भी दिये जा सकते हैं, उदाहरण के लिए इनाम दिये जा सकते हैं या बोनस बाँटे जा सकते हैं।

उत्तराधिकार की ऐसी प्रणाली में, जिसमें किसान के हर लड़के (या लड़कियों) को किसान के मरने पर फार्म का एक-एक टुकड़ा मिलता है, खेतों का विखण्डन होने लगता है। फार्म के टुकड़े करते समय सबके साथ न्याय करने की दृष्टि से हर बेटे को कई टुकड़े दिये जाते हैं, जैसे एक टुकड़ा नदी के किनारे और एक टुकड़ा नदी से दूर, एक टुकड़ा उपजाऊ और एक टुकड़ा सिर्फ पशु चराने के काम आ सकने वाला, एक पेड़ों वाला टुकड़ा और एक बंजर टुकड़ा। कई पीढ़ियों तक इस प्रकार का विखण्डन होने के बाद हर किसान की जोत कई छोटे टुकड़ों में बँट जाती है जो एक-दूसरे से काफी दूर भी हो सकते हैं। विखण्डन से कई प्रकार का अपव्यय होता है। जमीन के एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े तक आने-जाने में काफी समय बरबाद होता है। दूसरे, दूर-दूर के खेत उतनी अच्छी तरह से नहीं देखे-भाले जा सकते जितने कि

पास-पास के खेत दे जा सकते हैं। बीमारी के अधिक खतरे या देखभाल की कमी या चोरी के अधिक डर से खेती की उत्पादकता में कमी आ सकती है और कम उत्पादक होने के कारण ही बाद में किसान शायद उनकी देखभाल में कमी कर दें। तीसरे, दूर दूर होने के कारण कुछ जोतों पर दोहरी पूँजी लगानी पड़ सकती है जैसे कुएँ पर या पशुओं के बाँधने की जगह पर या पानी की नालियों पर। और चौथे, अगर खेत बहुत छोटे हों तो उन पर हल चलाने में कठिनाई हो सकती है, पड़ोस के खेत के घास-पात से अपने खेत को बचाना मुश्किल हो सकता है, ऐसे प्रयोग करने में कठिनाई आ सकती है जिन्हें पड़ोसी किसान शंका की दृष्टि से देखते हों और कुएँ, इमारतें और दूसरी पूँजी खड़ी करने के लिए जगह निकालना अव्यावहारिक हो सकता है। रास्तों या मेड़ बनाने में भी बहुत अधिक ज़मीन बेकार जा सकती है। लेकिन इन सबसे बड़ी हानि समय की है। अतः जब श्रमिकों की कमी होती है तो किसान खेतों को बदलकर अपनी सारी जोत एक जगह इकट्ठी करने के लिए खुशी से तैयार हो जाते हैं। अनेक देशों ने उन इलाकों में अनिवार्य रूप से चकबन्दी करने के लिए कानून पास किये हैं जिनमें अधिकांश किसानों ने चकबन्दी के लिए इच्छा जाहिर की है। दूसरी ओर अगर श्रमिक बहुतायत से होते हैं जैसा कि अधिक आबादी वाले देशों में है तो चकबन्दी से उत्पादन में कोई खास वृद्धि नहीं होती और किसान अक्सर चकबन्दी की योजनाओं में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते।

पट्टेदारी के बिना भी विखण्डन को रोकना सम्भव है। ज्येष्ठाधिकार प्रणाली में अन्ततः विखण्डन नहीं होता। इसके अलावा यदि उत्तराधिकारी सम्पत्ति का खण्डन किये बगैर एक साथ वसीयत करायें तो भी विखण्डन से बचा जा सकता है। साथ साथ खेती करना, साथ-साथ दुकान चलाना या विनिर्माण व्यापार या अन्य प्रकार की उत्तराधिकार सम्पत्ति की व्यवस्था करने से जिसे टुकड़े-टुकड़े करना अनिष्टकर या कभी-कभी असम्भव भी होता है, अधिक कठिन नहीं है। यदि विखण्डन हो रहा हो और उससे काफी बरबादी हो रही हो तो ऐसा कानून बनाया जा सकता है जिसके अनुसार एक निर्धारित न्यूनतम आकार (जैसे पाँच एकड़) से कम के टुकड़ों में कृषि भूमि को खण्डित करने से रोका जा सके। इस कानून में यह व्यवस्था की जा सकती है कि दो या अधिक टुकड़े यदि करने हों तो इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से गठित कृषि न्यायाधिकरण से अनुमति लेनी होगी। और मामलों की तरह यदि इसमें भी भूमि पर किसान के अधिकार में दखल देना आवश्यक हो तो ऐसे काम विशेष न्यायाधिकरण स्थापित करके किया जा सकता है इसके लिए ज़मींदारी प्रथा होना आवश्यक नहीं है।

यदि किसान पर इतना ऋण हो कि वह व्यवहारतः महाजन के लिए ही खेती कर रहा हो तो इससे उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है। अनेक दश ऐसे हैं जिनके किसानों पर इतना अधिक ऋण है कि वे वार्षिक ब्याज और दर मूलधन चुकाने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में महाजन किसान के पास गुज़ारे लायक फसल छोड़कर बाकी सारी फसल अपने कब्ज़े में कर लेता है। किसान को खेती के उन्नत तरीके अपनाने में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती चूँकि इसमें जितना उत्पादन बढ़ेगा वह पूरे-का-पूरा या अधिकांश महाजन की जेब में चला जाएगा। जब यह स्थिति व्यापक रूप में फैल जाती है, और अक्सर फैलती भी है, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है, और किसान को कृषि-कार्य में कुछ प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि से उसके ऋण घटाकर निभाने योग्य सीमाओं तक ले आए जाते हैं। अनेक देशों ने इस काम के लिए न्यायाधिकरण स्थापित किए हैं। वैसे, ऋण घटा देना ही पर्याप्त नहीं होता क्योंकि किसान थोड़े ही समय में दुबारा अपनी पुरानी बेबसी की हालत में पहुँच जाता है। कुछ किसानों में भारी ऋण लेने की बड़ी प्रवृत्ति होती है। इसके मुख्य कारण बाढ़, सूखा, कीमतों में गिरावट, महामारी आदि जोखिम हैं, जिनका भय किसान को प्रायः बना रहता है। इसके लिए किसान का अपना दुर्भाग्य तो ज़िम्मेदार है ही, लेकिन महाजन की जान-बूझकर अपनायी गई नीति भी अक्सर इसके लिए दोषी पाई जाती है। यदि किसान सामर्थ्य से अधिक ऋण से दब जाता है तो उसका शोषण आसान होता है, तब महाजन उसे मजबूर कर सकता है कि वह अपनी सारी फसल महाजन के एजेंटों की मार्फत बेचे, या अपनी सब ज़रूरतों का सामान महाजन की दुकान से खरीदे। दोनों ही मामलों में उसे प्रतिकूल कीमतों का शिकार होना पड़ता है। यह भी सम्भव है कि महाजन किसानों का दिवाला निकलवा दे, सस्ते मूल्य पर उनकी ज़मीन खरीद ले, और फिर भारी किराये पर उन्हीं लोगों को खेती करने के लिए दे दे। इस प्रकार, किसानों के ऋण-ग्रस्त होने का कुछ हद तक कारण यह है कि महाजन उनका शोषण करने के लिए जान-बूझकर ऐसा जाल रचते हैं जिससे किसान आसानी से कर्ज़ में फँस जाएँ। ऐसी स्थिति में सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रति-कारात्मक उपायों द्वारा किसान को ऋणग्रस्त होने से बचाये।

छोटे किसानों को बहुत अधिक ऋण लेने से बचाने का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें आसानी से उधार न लेने दिया जाए। इसके लिए ऐसा कानून बनाया जा सकता है जिसके अनुसार किसानों द्वारा उधार लेते समय पेश की जाने वाली जमानत को अवैध घोषित कर दिया जाए। जैसे, कई देशों में ऋण के लिए किसान की भूमि बेची नहीं जा सकती, अर्थात् यह पक्की जमानत नहीं रह जाती, और महाजन इसके आधार पर रुपया उधार नहीं देते। ऐसे देश

भी हैं जो फसल के गहन को अवैध मानते हैं, उदाहरण के लिए, युगैण्डा के कानून के अनुसार अफ्रीकी कपास लाइसेंसशुदा बाजार में ही बेची जा सकती है, उसके लिए बाजार के अधिकारियों द्वारा निर्धारित कीमत से कम कीमत नहीं दी जा सकती, और सौदे के समय खरीदार को पूरी राशि नकद विक्रेता को चुका देनी होती है। इस प्रकार के प्रबन्ध होने से किसान को तब तक कर्ज देना जोखिम का काम हो जाता है जब तक कि ऋणदाता उसकी फसल की बिक्री वाले दिन उसके सिर पर सवार न हो सके और कपास की बिक्री होते ही उससे नकदी न हथिया सके। बेचुआनालैंड के रक्षित राज्य में इससे भी कठिन व्यवस्था है, वहाँ दुकानदार अफ्रीकियों से ऋण वसूल करने के लिए अदालत में नालिश नहीं कर सकते, अतः दुकानदार अफ्रीकी किसानों को ऋण देते ही नहीं।

वैसे किसानों को महाजनों से रुपया उधार लेने से बचाना ही काफी नहीं है, क्योंकि किसानों को उचित कामों के लिए भी कर्ज लेना पड़ सकता है। यदि निजी महाजन को समाप्त ही करना है तो उसके स्थान पर ऐसे संस्थानों की स्थापना आवश्यक है जो किसानों को उचित प्रयोजनों के लिए ऋण दे सकें। वास्तव में ऋण की अपेक्षा किसान को बीमे की आवश्यकता अधिक होती है। अनेक बार किसान को ऐसे दुर्भाग्यों में फँसकर ऋण लेना पड़ता है जिन्हें पहले से सोचा जा सकता है—बीमारी, या विवाह या दाह क्रिया का खर्च, या आग, सूखा या तूफान, या पशु-धन की हानि। इस प्रकार की घटनाएँ नियमित रूप से होती रहती हैं और ये कर्ज लेने के लिए उपयुक्त नहीं माननी चाहिएँ, क्योंकि अगर किसान को बीमारी का खर्च उठाने के लिए या तूफान में नष्ट फसलों के स्थान पर दोबारा फसलें उगाने के लिए कर्ज लेने पड़ें तो वह आगे आने वाली फसलों से शायद इतना नहीं बचा सकेगा कि ऋण का भुगतान कर सके। पहले से सोची जा सकने वाली इन सभी घटनाओं का बीमा किया जाना चाहिए। इसमें सबसे बड़ी बाधा छोटी-छोटी राशियों के लिए बहुत अधिक संख्या में लोगों का बीमा करने पर पड़ने वाला खर्च है। फिर भी कम विकसित देशों की कुछ सरकारों ने अनिवार्य बीमा योजनाएँ शुरू की हैं, जैसे जमैका में तूफान का बीमा। बीमा किये जाने वाले किसानों के जोखिम अगर बहुत-कुछ एक-जैसे हों तो बीमा करने के खर्च को कम करने का एक उपाय यह है कि हर किसान पर अलग से बीमे की राशि निर्धारित करने के बजाय उन पर एक सामान्य कर लगा दिया जाए।

बीमा के अलावा किसान को रुपया उधार लेने की भी जरूरत होती है। ग्राम सहकारी समिति के आविष्कार से छोटे किसानों को रुपया उधार देने का खर्च काफी कम पड़ने लगा है। रुपया उधार देते समय उधार लेने वाले की

उधार-क्षमता के बारे में सूचना एकत्र करने, किस्तें उगाहने और उनकी गतिविधियों पर ध्यान रखने में खर्च आता है। यदि वाणिज्यिक बैंक किसानों को पचास पौंड या इससे भी कम के कर्जे देने लगें तो उधार की राशि पर बीस प्रतिशत वार्षिक ब्याज के बराबर खर्च बैठेगा। इसके विपरीत गांव के सदस्यों का खर्च बहुत कम बैठता है क्योंकि वे उधार लेने वाले और उसके चरित्र को उसके जीवन के आरम्भ से ही जानते हैं, और उसकी सम्पत्ति पर अच्छी तरह से निगाह भी रख सकते हैं क्योंकि वह उन्हीं के बीच रहता है। जहाँ तक सम्पत्ति पर निगाह रखने का सम्बन्ध है गांव वालों को इसमें सहज दिलचस्पी होती है, भले ही व्यक्ति ने रुपया उधार ले रखा हो अथवा नहीं, अतः गांव की समितियाँ जिस दर पर रुपया प्राप्त करती हैं उस पर पांच से लेकर आठ प्रतिशत तक खर्च के लिए और जोड़कर जो दर बैठे उस पर सदस्यों को कर्जे दे सकती हैं। ऐसी समितियों के लिए आकार में छोटा होना आवश्यक है ताकि सभी सदस्य एक-दूसरे से परिचित रहें, अन्यथा निकट सम्पर्क से मिलते रहने का मुख्य लाभ समाप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त इन समितियों पर सरकारी अधिकारियों का भी थोड़ा-सा पर्यवेक्षण आवश्यक होता है, क्योंकि सदस्यों को संगठन चलाने और रुपए की देखभाल करने का पर्याप्त अनुभव प्रायः नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि समिति ऐसी एजेंसी के साथ सम्बद्ध हो जो किसानों की फसल के विपणन का काम करती हो तो समिति के दिये हुए कर्जे बहुत ही कम डूबें, चूंकि तब उधार लेने वाले की फसल की बिक्री में से ही बकाया राशियाँ काटी जा सकती हैं, और ऋणों को डूबने से या वसूल न हो पाने से रोका जा सकता है।

संसार के अधिकांश कम विकसित देशों में सहकारी उधार समितियों ने बड़ी सफलता पाई है। वैसे, उनका जोर छोटे किसानों में बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने और बैंकिंग की सस्ती सुविधा प्रदान करने पर रहा है। लेकिन किसानों को उससे कहीं अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है जितनी कि वे अपनी बचत से संचित कर सकते हैं। यदि स्वयं किसानों पर कर लगाकर या अर्थ-व्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों से या बाह्य साधनों से धन इकट्ठा किया जा सके तो छोटे किसानों को पूंजीगत ऋण देने के लिए सहकारी उधार समिति सबसे अच्छा माध्यम है। महाजन के भारी ऋण में डूबे रहने वाले किसानों और अपने ही प्रबन्ध में चलने वाली उधार प्रणाली से निबाहने योग्य ऋण लेने वाले किसानों की प्रवृत्तियों में जमीन-आसमान का फर्क होता है।

अब हम कृषि-कार्य के पैमाने से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करते हैं। इसके बारे में भूमि-सुधारकों में बड़ा विवाद रहा है। एक ओर ऐसे देश हैं जिनमें ऊपर से आदेश लेकर काम करने वाले मजदूरों द्वारा चलाई जाने वाली

बड़ी-बड़ी आसामियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और उनके छोटे-छोटे फार्म बनाए जा रहे हैं। दूसरा मार्ग यह अपनाया गया है जिसमें छोटे किसानों को बड़ी बड़ी आसामियाँ बनाकर उन पर सामूहिक खेती करने के लिए विचार किया जा रहा है।

यदि मशीनी खेती लाभप्रद हो या सिंचाई या खाद या सामग्रियों की रोकथाम या अभिक्रियाकरण या विपणन पर बड़े पैमाने का नियन्त्रण लागू करने में लाभ मालूम होता हो तो छोटे पैमाने के कृषि क्षेत्र की अपेक्षा बड़े पैमाने का कृषि क्षेत्र अधिक कुशलता से चलता है और आर्थिक रूप से [illegible] विकास करता है। बड़े आकार के खेत लगभग सभी दशाओं में अधिक लाभप्रद होते हैं—इस आकार से [illegible] संयुक्त राज्य में कम से कम तीन सौ एकड़ कृषि योग्य भूमि या उसके समकक्ष में है (१००० कृषि-योग्य एकड़ों से अधिक खेतों का प्रबन्ध तेजी से हानिकारक सिद्ध होने लगता है)—लेकिन छोटे और बड़े पैमाने की खेती के लाभों का अन्तर किस सीमा तक है यह कुछ तो फसल और जमीन की प्रकृति पर निर्भर करता है और कुछ इस बात पर अवलम्बित है कि छोटे किसान की कार्य कुशलता बढ़ाने के लिए उसके आसपास [illegible] करने के कितने प्रयत्न किये गए हैं।

आइए पहले मशीनी खेती पर विचार करें। पहली बात तो यह है कि जब तक पूंजी की तुलना में श्रमिकों की कमी नहीं होती तब तक मशीनी खेती लाभप्रद नहीं रहती। यदि श्रमिक बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध हैं जैसा कि भारत और चीन में है तो मशीनों के प्रयोग से बेरोजगारी और बढ़ जाएगी। साथ ही मशीनें उपलब्ध कराने और उनके लिए ईंधन आयात करने में [illegible] विदेशी मुद्रा भी खर्च करनी होगी। ऐसी स्थिति में आर्थिक नीति का उद्देश्य प्रति श्रमिक उत्पादन के बजाय प्रति एकड़ उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि करना होता है। मशीनों के प्रयोग से उत्पादन उस दशा में बढ़ सकता है जब उन्हें ऐसी जमीन पर खेती करने के काम में लाया जाता है जो ढालू होने के कारण हाथ से जोते जाने योग्य नहीं होती या जहाँ मौसम या जलवायु इतने कम दिनों के लिए अनुकूल रहता है कि हाथ से काम पूरा करना सम्भव नहीं होता। मशीनों का यह योगदान मूल्यवान है लेकिन अधिक सावधानी से किए जाने के कारण हाथ की खेती मशीनी खेती से अधिक उत्पादक होती है। जिन देशों में श्रमिकों की बहुतायत है वहाँ मशीनी खेती इस अर्थ में भी लाभप्रद हो सकती है कि [illegible] मनुष्य का वह जमीन [illegible] लिए मिल जाता है जिस पर [illegible] से खेती करने की स्थिति में [illegible] के लिए [illegible] करते हैं। यह [illegible] और [illegible] (इनका भी [illegible] में [illegible] रहता है) की [illegible] पर निर्भर रहता है और दूसरा [illegible] इस प्रकार बचाए

गए चारे के मूल्य पर निर्भर होता है। यह इस पर भी निर्भर है कि काम के लिए पशुओं की जरूरत न रहने पर किसान वस्तुतः उनकी संख्या कम कर देते या नहीं। भोजन के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है लेकिन मांस के विषय में, जहाँ कि पशुओं का आर्थिक महत्त्व भी है, यह काफी स्पष्ट मालूम होता है कि वर्तमान स्थिति में मशीनों के प्रसार का कृषि-नीति में अधिक स्थान नहीं रहना चाहिए। जिन देशों में भूमि बहुत अधिक उपलब्ध है, जैसा कि पश्चिमी यूरोप के कुछ भागों में है वहाँ की बात बिलकुल बदली है। इन स्थानों की आर्थिक नीति का उद्देश्य प्रति एकड़ के बजाय प्रति श्रमिक निवल-उत्पादन में अधिक-से-अधिक वृद्धि करना होना चाहिए। आम-तौर पर आर्थिक विकास से श्रमिकों की दुर्लभता मात्रा में वृद्धि होती है, और कृषि-कर्म के लिए थोड़े ही लोग उपलब्ध रह जाते हैं। मशीनों के प्रयोग से खेती के लिए श्रमिकों की मांग स्वयं कम हो जाती है और प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि होती है, क्योंकि इससे हर श्रमिक अधिक भूमि पर खेती कर सकता है। जिन देशों में श्रमिकों की कमी है वहाँ मशीनों का प्रयोग आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है, लेकिन जिन देशों में श्रमिकों की बहुतायत है वहाँ मशीनों का महत्त्व थोड़ा ही है।

श्रमिक, भूमि और पूंजी की सापेक्ष दुर्लभताएँ मशीनीकरण के अनुकूल हों तो फिर मशीनीकरण की सम्भावना भूमि और फसल पर निर्भर करती है। यदि भूमि समतल हो, उसका उपयोग वार्षिक फसलें उगाने के लिए किया जाता हो, और उसका क्षरण न होता हो तो मशीनी खेती करना ठीक रहता है। पहाड़ी ज़मीन मशीनी खेती के लिए उपयोगी नहीं होती, और इसी कारण इसका छोटे-छोटे किसानों के हाथ में रहना अधिक उपयुक्त रहता है। जिस ज़मीन पर स्थायी रूप से धान उगते हों, या पेड़ लगे हुए हों वह भी मशीनी खेती के लिए ठीक नहीं होती। जिन देशों में गर्मी अधिक पड़ती है या वर्षा अधिक होती है, वहाँ भी मशीनी खेती करना शायद बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। इन शर्तों के कारण मशीनी खेती के लिए उपयुक्त इलाके थोड़े ही बच रहते हैं, इन इलाकों में फार्म ऐसे आकार के होने चाहिएँ कि किसानों को मशीनी उपस्कर रखने में लाभ हो, अर्थात् शीतोष्ण जलवायु में १०० एकड़ से कम कृषि-योग्य भूमि के फार्म अलाभकर रहते हैं, और पश्चिमी यूरोप में २०० या ४०० एकड़ कृषि-योग्य भूमि के फार्म अपेक्षाकृत सबसे अधिक लाभ देते हैं।

मशीनी खेती छोटे पैमाने के कृषि-कार्य के साथ तब हर हालत में जोड़ी जा सकती है जब मशीन केन्द्रीय एजेंसी के स्वामित्व में हो जो किसानों से शुल्क लेकर उनकी ज़मीन जोत दे, और पौधे लगाने, घास-पात उखाड़ने और

फसल काटने का काम किसानों या स्वयं करने दे, संसार के अनेक देशों में मशीनें रखने वाली केन्द्रीय एजेन्सियों ने मशीनी संचालन का काम सफलता-पूर्वक किया है। सफलता की शर्त यही है कि फार्म आकार में न तो बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे हों, सर्वाधिक १२ और २५ एकड़ के बीच के हों। बात यह है कि अगर फार्म बहुत छोटे होंगे तो मशीनों द्वारा किए जाने वाले काम किसान अपने हाथ से ही कर सकेंगे और मशीनों के लिए शुल्क देने के बजाय उन्हें अपने हाथ से ही काम करना ज्यादा सस्ता बैठेगा। इसके विपरीत यदि फार्म बहुत बड़े होंगे तो उनमें इतना काम होगा कि किसान खुद अपनी ही मशीनें रख सकेंगे। फार्म के लिए विशेष सुविधाजनक यही रहता है कि उसकी अपनी मशीनें हों ताकि आवश्यकता पड़ने पर अपनी बारी के लिए प्रतीक्षा न करनी पड़े, और मशीन हर समय उपयोग के लिए मौजूद रहे। किसानों द्वारा सहकारिता के आधार पर मशीनों को चलाने में सफलता न मिलने का मुख्य कारण यही है, किसान इस बात के लिए आपस में एक-मत नहीं हो पाते कि पहले मशीन का उपयोग कौन करे—यह कठिनाई उन देशों में सबसे अधिक होती है जहां का मौसम परिवर्तनशील और अविश्वसनीय होता है, जैसा कि पश्चिमी यूरोप में है। अनेक सरकारों ने सरकारी या सहकारी स्वामित्व के अन्तर्गत मशीनें जुटाने के काम में पहल की है, या निजी उद्यम-कर्ताओं या बड़ी फर्मों को, जिनके पास बड़ी मशीनें हैं, इस बात के लिए प्रोत्सा-हन दिया है कि वे शुल्क लेकर छोटे किसानों को मशीन उपलब्ध करें। इन योजनाओं ने उन क्षेत्रों में काफी सफलता प्राप्त की है जहां फार्म उचित आकार के हैं। लेकिन केन्द्रीय मशीन एजेन्सी के संचालन का काम चाहे जितनी कार्यकुशलता से किया जाए, पर छोटे-छोटे फार्मों की अपेक्षा बड़े-बड़े फार्मों पर, जिनके पास अपनी खुद की मशीनें होती हैं, मशीनी खेती करना लगभग हमेशा सस्ता बैठता है।

लगभग यही विश्लेषण विपणन के काम पर भी लागू होता है, यद्यपि मशीनों कार्य का विकेन्द्रित करने की अपेक्षा विपणन के कार्य को विकेन्द्रित करना अधिक सरल है। बात यह है कि ऐसे मध्यजन सदा प्रस्तुत रहते हैं जो किसानों से छोटी छोटी राशि में फसल खरीद ले जाते हैं और कई फार्मों की फसल एक जगह इकट्ठी करके उनका इस प्रकार श्रेणीकरण या विपणन करते हैं जो बड़े पैमाने पर ही लाभप्रद ढंग से किया जा सकता है। यद्यपि मध्यजन हर जगह पाए जाते हैं लेकिन उनकी सेवाओं के बारे में सदा शिकायत और जांच की जाती है, क्योंकि लोगों का ख्याल है कि वे अकुशल होते हैं, या संख्या में बहुत अधिक होते हैं, या एकाधिकार का प्रयोग करते हैं। अकुशलता यदि नहीं हो तो अनिवार्य दरबन्दी आदि निरीक्षण की प्रणालियाँ लागू करके

राखी जा सकती है। मध्यजनों की अत्यधिक सख्या अपूर्ण प्रतियोगिता का परिणाम होती है जब मध्यजन बहुत अधिक होते हैं तो वे आपस में कीमत प्रतियोगिता न करने का अव्यक्त या व्यक्त समझौता करके थोड़ा लाभ लेकर ही जीविका चलाते रहते हैं। इनकी अत्यधिक संख्या उस दशा में भी बनी रह सकती है जब हर मध्यजन का अपना इलाका निश्चित हो—उसके किसानों या समूह कर्ज के कारण या भावनाओं के कारण या इलाकेबन्दी की कानूनी बन्दिश के कारण उससे बधा हो सकता है। ऐसी स्थिति में सबसे सरल उपाय प्राय प्रतियोगिता लागू करना होता है—उदाहरण के लिए, किसानों के कर्जे समाप्त किये जा सकते हैं इलाकेबन्दी तोड़ी जा सकती है या कीमत-समझौता और बाजार का बाटने के समझौता का निषेध किया जा सकता है। लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें अनेक छोटे मध्यजनों की प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकारी सगठन वास्तव में अधिक कुशल होता है, जैसे उन परिस्थितियों में जबकि प्रक्रियाकरण बडी फैक्ट्रियों में करना ही सर्वाधिक लाभप्रद हो। ऐसी स्थिति में सबसे अच्छा उपाय सहकारी विपणन, या निजी मध्यजन पर कीमत और लाभ-सम्बन्धी नियन्त्रण, या राज्य विपणन एजेंसियाँ कायम करना है।

सहकारी विपणन की सफलता उसकी प्रतियोगिता में आने वाले निजी उद्यमकर्ताओं की कोटि पर निर्भर होती है। सहकारी सगठन कभी-कभी मध्यजन की अपेक्षा अच्छी चीज बेचने में सफल हो सकता है लेकिन यह तभी होता है जब मध्यजन फसल को एकत्रित करने और उसकी दरजाबन्दी करने, या बढ़िया दरजे की फसलों के लिए काफी अच्छी कीमतें देने में काफी अकुशल सिद्ध होते हैं। मध्यजनों की इस अकुशलता का कारण उनमें आपसी प्रतियोगिता का अभाव होता है। सहकारी सगठन की सफलता के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ वे हैं जब प्रतियोगिता के अभाव में मध्यजन अकुशल होते जा रहे हों, या उनकी सख्या बहुत बढ रही हो, या वे बहुत अधिक लाभ कमा रहे हों, बात यह है कि यदि मध्यजन कार्यकुशल और प्रतियोगी हों तो वे अपेक्षाकृत अधिक नम्य होने के कारण सहकारी सगठन को उखाड फेंकने में प्राय सफल हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सहकारी सगठन एकाधिकार की परिस्थितियों में अवश्य सफल होते हैं। इन स्थितियों में मध्यजन सहकारी सगठनों के विरुद्ध दलबन्दी कर सकते हैं और एकाधिकारियों की सभी आम चालों—कीमत सघर्ष, अनन्य सौदा समझौते आदि—का उपयोग कर सकते हैं, और सहकारी सगठन इन चालों से तब तक नहीं जीत सकते जब तक कि उनके सदस्य काफी शिक्षित और मैदान में जमे रहने लायक दमदार न हों। या यह भी सम्भव है कि जिस पैमाने पर विपणन करना

अपेक्षित हो वह सहकारी संगठनों के नियन्त्रण के परे की चीज हो, छोटे किसान सहकारिता के आधार पर छोटी-सी कपास धुनने की मशीन लगा सकते हैं, लेकिन उनके लिए चावल का एक बड़ा आधुनिक मिल या चीनी की फैक्टरी खोलना मुश्किल होगा। यही कारण है कि सहकारी विपणन काफी अच्छे पैमाने पर खेती करने वाले—जैसे तीस एकड़ या अधिक के फार्म वाले—किसानों में सबसे अधिक सफल रहा है। तीन से बीस एकड़ के खेत वाले किसान सीमित प्रकार के सहकारी संगठन ही स्थापित कर सकते हैं जैसे अण्डे, दूध और कुछ दूसरी फसलों के संगठन, जिनमें अधिक प्रक्रियाकरण की आवश्यकता नहीं होती। इस क्षेत्र से परे मध्यजनों के एकाधिकारी व्यवहारों से बचाव करने के लिए किसानों को कानूनी नियन्त्रणों या सार्वजनिक विपणन एजेंसियों की स्थापना का सहारा लेना पड़ता है।

मशीनी खेती और विपणन के अलावा दूसरी क्रियाएँ भी थोड़ी-बहुत सफलता के साथ विभाजित की जा सकती हैं। सिंचाई पर एक पृथक् पानी एजेंसी का नियन्त्रण हो सकता है। बीज पर नियन्त्रण रखना कठिन होता है, लेकिन यदि सहकारी या सरकारी एजेंसियाँ शुद्ध बीज के फार्म स्थापित करें तो नियन्त्रण रखा जा सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि किसानों को इन फार्मों से सप्लाई किये गए बीजों का ही इस्तेमाल करने के लिए कहा जाए या बाध्य किया जाए (जैसा कि युगैंडा में होता है)। पौधों और जानवरों की छूत की बीमारियों से बचाव करना और भी कठिन होता है, लेकिन लोगों को समझा-बुझाकर या कानूनन जबरदस्ती करके यह काम भी किया जा सकता है। छोटे फार्म से बड़े फार्म-जैसी कार्यकुशलता की आशा रखना उचित नहीं है, लेकिन उसके चारों ओर मशीन, बीज, उधार, पानी या विपणन की व्यवस्था करने वाली या छूत की बीमारियों पर नियन्त्रण करने वाली या अनुसंधान या दूसरे कामों को करने वाली एजेंसियों का जाल बिछा दिया जाए तो छोटा फार्म भी कार्यकुशलता दिखा सकता है। एजेंसियों के जाल का उल्लेख हमने इसलिए किया है कि बहुत से मामलों में प्रायः इसकी व्यवस्था नहीं हो पाती जिसके कारण कृषि के अनेक क्षेत्रों में छोटा किसान ठीक प्रकार प्रतियोगिता नहीं कर पाता। जहाँ बड़ी एजेंसियों के जाल की व्यवस्था होती भी है वहाँ छोटा फार्म अच्छी प्रकार से चलाई जाने वाली जागीर की अपेक्षा उन्नत टेकनीकें अपनाने में धीमा होता है। कुछ जागीरें ठीक से नहीं चल पातीं, विशेषकर वे जो पीढ़ियों से एक ही परिवार के स्वामित्व में चली आती हैं और इन्हें वाणिज्यिक उद्यम की बजाय हैसियत का प्रतीक अधिक समझा जाता है। लेकिन अच्छी प्रकार कार्य करने वाली जागीरें [illegible], [illegible], राजनैतिक [illegible] या बीमारी के नियन्त्रण के नए तरीकों को [illegible] [illegible]

जमीन प्रचुरता से उपलब्ध न होने की स्थिति में पहुँच रहा है। जिन देशों में जमीन अनेक शताब्दियों से कृषि में है जैसे कि चीन या जापान या यूरोप के कुछ भागों में वहाँ किसान अपनी जमीन को बहुत प्यार करते हैं और उसकी उर्वरता कायम रखना जानते हैं। कृषि के जिन प्रकारों में बहुत अधिक लगान की आवश्यकता नहीं होती उनमें भाड़े के मजदूरों की अपेक्षा किसान का काम अधिक अच्छा रहता है। दूसरी ओर कृषि के जिन प्रकारों में प्रति एकड़ बहुत मजदूर लगाने पड़ते हैं उनमें अच्छी तरह देखभाल करना अत्यन्त कठिन होता है भारी लागत या खर्चे या कर्जा निकल आता है। (इस प्रकार बहुत-कुछ पता है, जैसा इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में कुशल और दास मजदूरों के बीच बताया जा चुका है।)

छोटे पैमाने की खेती का मामला भी इसी से सम्बद्ध है अर्थात् छोटे पैमाने की खेती में देखभाल के लिए अधिक अमला रखने की आवश्यकता नहीं होती। यदि इस प्रकार का अमला उपलब्ध हो और उसे कृषि विस्तार सेवा में लगाया जा सकता हो तो बड़ा लाभप्रद होगा। लेकिन इस प्रकार के अमले की भरती अच्छा शिक्षित और सर्वोत्तम हो जैसा कि अधिकांश कम विकसित देशों में है तो छोटे पैमाने की खेती सफल हो सकती है। बड़े पैमाने की खेती के साथ यह सम्भव नहीं है क्योंकि उसकी सफलता या असफलता उसके प्रबन्ध की उत्कृष्टता पर निर्भर होती है। प्रबन्ध की समस्या इतनी विषम है कि उसके कारण लाभप्रद फार्मों का आकार बढ़ाना बहुत कठिन होता है यद्यपि जैसा कि हम कह चुके हैं ५०० कृषि योग्य एकड़ों का यूरोपीय फार्म ५० एकड़ के फार्म से अधिक फायदेमन्द होता है लेकिन २००० एकड़ का फार्म ५०० कृषि योग्य एकड़ों वाले फार्म से कोई अधिक लाभप्रद नहीं होता और इस सीमा से अधिक बड़े आकार के फार्मों की कार्य-कुशलता तेजी से गिरने लगती है। बड़े फार्मों की स्थापना के अधिकांश प्रयत्न चाहे वे इस से यन्त्र परक बनाने के लिए हों या उपनिवेशों में मूँगफली उगाने के लिए इसी कारण असफल हुए हैं। जिन देशों में अच्छी कृषि-योग्य भूमि की कमी हो वहाँ भी लोगों का यह अनुमान है कि नये कृषि उद्यम चलाने की अपेक्षा छोटे पैमाने के उत्पादन में सुधार करने के लिए लगाना अधिक लाभप्रद रहता है।

इन आर्थिक कारणों के अलावा सामाजिक कारण भी हैं जिनसे अधिकतर लोग पारिवारिक आकार के फार्मों को पसन्द करते हैं और ... भाग में अधिक लाभ हो। जैसा कि हम पहले इस अध्याय में लिख चुके हैं बड़े फार्मों के उद्यम में मालिक और मजदूरों के बीच ... होते हैं। इसके अलावा भूमि के स्वामित्व के साथ इस प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध जुड़ा रहता है कि अधिकांश लोग भूमि के

स्वामित्व का थोड़े हाथों में केन्द्रीकरण बुरा समझते हैं। एक सम्प्रदाय ऐसा है जो राज्य या किसानों की सहकारी समितियों द्वारा भूमि पर सामूहिक स्वामित्व कर लेना ही इन कठिनाइयों का हल मानता है। इस अध्याय के खण्ड १ (ग) में हम इस प्रकार के संगठनों की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। कुछ देशों में राज्य के फार्म मौजूद हैं लेकिन निजी मालिक के स्थान पर राज्य के फार्म चलाने से औद्योगिक झगड़ों में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। यदि किसान प्रजातान्त्रिक आधार पर स्वयं सामूहिक खेती करें तो सामाजिक दृष्टि से यह बड़ी आकर्षक चीज मानी जा सकती है, लेकिन जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, श्रमिकों द्वारा खुद चलाए जाने वाले बड़े पैमाने के सहकारी उद्यम इतिहास में कहीं-कहीं ही सफल हुए हैं। छोटे किसानों को सामूहिक प्रबन्ध की दिशा में प्रयोग करने के लिए प्रेरित करना बड़ी अच्छी बात है, और यदि समूह छोटे रखे जाएँ—५ से लेकर ६ परिवारों तक के—तो उनमें से अधिकांश सफल होंगे। लेकिन प्रजातान्त्रिक देशों में सौ या उससे भी अधिक परिवारों वाले समूचे गाँवों के बड़े-बड़े सामूहिक फार्म बनाकर उन्हें सफलतापूर्वक चलाना सम्भव नहीं जान पड़ता।

व्यक्तिगत उद्यम और बड़े पैमाने की कार्य-कुशलता के सम्मिलित लाभ प्राप्त करने की नीयत से ऐसे भूमि धारणाधिकार लागू किये गए हैं जिनमें कुछ जोर-जबरदस्ती भी शामिल है। सूडान के गेज़ीरा कपास बागान में, जो इसका माना हुआ उदाहरण है, ज़मीन के छोटे-छोटे हिस्से किये गए हैं जिन्हें किसान अपने लिए जोतता है, लेकिन इन पर विभिन्न नियन्त्रण लगाये हुए हैं। उसकी ज़मीन पर मशीनों से जुताई की जाती है, उसे वही बीज बोना होता है जो दिया जाता है और उन्हें बोने का हेर-फेर भी निर्धारित कर दिया जाता है, साथ-ही खाद देने और खेती करने की विधि भी ऊपर से बताई जाती है और योजना को चलाने वाली केन्द्रीय एजेंसी ही उसकी फसल प्रविधायन और विपणन के लिए ले जाती है। इस जोर-जबरदस्ती में यह फायदा होता है कि कार्य-कुशलता निरन्तर बढ़ती जाती है। यदि एजेंसी से उपलब्ध सेवाओं का उपयोग स्वैच्छिक कर दिया जाए तो बहुत से किसान घटिया दरजे के बीजों का इस्तेमाल करने लगेंगे, या खेती या विपणन के ऐसे तरीके अपनाने लगेंगे जिनसे बड़े पैमाने के संगठन से लाभ मिलना सम्भव नहीं होगा। इस तरह की जोर-जबरदस्ती से बड़े-बड़े बागान के आकार के लाभ भी मिल जाते हैं और पारिवारिक आकार की खेती के लाभ भी उपलब्ध हो जाते हैं, हाँ, इससे किसान की हैसियत अवश्य कुछ कम हो जाती है क्योंकि उसे स्वतन्त्र किसान की अपेक्षा ऊपर से आदेश प्राप्त करने वाले श्रमिक की भाँति काम करना होता है।

गेज़ीरा अपने ढंग का एक ही उदाहरण है। वैसे किसानों के पास जमीन अक्सर ऐसी शर्तों के अधीन होती है जिनके अनुसार उन्हें कुछ वायदे निभाने होते हैं। किसानी खेती वाले देशों के लिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि पहले स्वैच्छिक सेवाओं का जाल बिछाया जाए, और बाद में इन सेवाओं को स्वैच्छिक से अनिवार्य बना दिया जाए (उन्नत बीजों का अनिवार्य उपयोग, अनिवार्य सामूहिक विपणन, अनिवार्य भूमि संरक्षण)। सेवाओं को अनिवार्य रूप से लागू तभी करना चाहिए जब अधिकांश किसान केन्द्रीय एजेंसियों के अभ्यस्त हो जाएँ, और जो थोड़े-बहुत किसान इसके लिए सहमत न हों उन्हें बाध्य करने में आम किसानों के बीच असंतोष पैदा होने का भय न हो।

कृषि-संगठन की समस्याओं पर समकालीन साहित्य में इतना जोर दिया गया है कि उनके विषय में असहमति प्रकट करके इस चर्चा को समाप्त करना बुरा नहीं होगा। यह सदा ही बहुत महत्त्वपूर्ण है कि किसानों के पास जमीन ऐसी शर्तों पर होनी चाहिए कि जिससे उन्हें सुरक्षा और प्रेरणा अनुभव हो, और यह भी बड़ा आवश्यक है कि पूंजी उपलब्ध करने के लिए पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। इन समस्याओं को छोड़कर वर्तमान विवाद में अन्य सांस्थानिक मामलों—विशेषकर विखण्डन, आकार और विपणन—पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है और कार्य-कुशलता बढ़ाने के साधनों—विशेषकर पानी की सप्लाई, उन्नत बीजों के फार्म, खाद और कृषि विस्तार सेवाओं—पर बहुत कम जोर दिया जाता है। अधिकांश वाद-विवाद के बारे में पढ़कर मनुष्य पर यह असर पड़ता है कि देश में व्यापक सांस्थानिक परिवर्तन किये बगैर कृषि-उत्पादकता अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। यह ठीक नहीं है। जापान का आम फार्म आज भी दो और तीन एकड़ के बीच होता है, फिर भी इन फार्मों की प्रति एकड़ उत्पादकता एशिया के अन्य भागों से दो से लेकर तीन गुनी अधिक है। फार्म के आकार में कोई विशेष परिवर्तन किये बिना ही प्रथम महायुद्ध से तीस वर्ष पहले जापान में प्रति एकड़ उत्पादन लगभग पचास प्रतिशत बढ़ गया था और १९३५ तक यह दुगुना हो चुका था। कम विकसित देशों में खेती में द्रुत उन्नति, खादों, नये बीजों, कीटनाशकों और पानी की सप्लाई आदि कृषि विस्तार कार्यक्रमों के फलस्वरूप होती है, न कि फार्म का आकार बदलकर या मशीनों का उपयोग करके, या विपणन-कार्य में मध्यजन का लोप करके। (अधिक आबादी वाले देशों में फार्म का आकार बढ़ाना और मशीनों का इस्तेमाल करना हर हालत में संदिग्ध सफलता वाली नीति है)। सबकी तो नहीं पर अधिकांश कम विकसित देशों की वर्तमान सांस्थानिक रचना उन्नत प्रौद्योगिकी की सहायता से उत्पादन में भारी वृद्धि करने के पर्याप्त अनुकूल है। वस्तुतः अधिकांश ऐसे देशों में रहन-सहन का स्तर ऊंचा करने की सर्वा-

फिर आशा इसी बात पर टिकी होती है कि इनके खेती करने के तरीके इतने पिछड़े हुए हैं कि बहुत ही कम लागत से उत्पादन में चमत्कारी वृद्धि की जा सकती है। इन विषयों पर हम अध्याय ५ में विचार करेंगे।

(ङ) कुटीर उद्योग—हर समुदाय की जनसंख्या का कुछ भाग स्वतन्त्र उत्पादकों के रूप में वस्तुओं के विनिर्माण में विशिष्ट होता है। यदि कोई अर्थ-व्यवस्था विदेश-व्यापार पर ही बहुत निर्भर हो तो बात दूसरी है अन्यथा निर्धन-से-निर्धन अर्थ-व्यवस्थाओं में भी यह भाग जनसंख्या के पाँच प्रतिशत से कम नहीं होता। ये शिल्पी सर्वप्रथम तो कपड़ा बनाने के काम में लगे होते हैं जो सर्वत्र भोजन के बाद मनुष्य की दूसरी आवश्यकता है, इसके अलावा लकड़ी, चमड़े, धातु, खड़िया, मिट्टी और दूसरी प्राप्य सामग्रियों पर काम करने वाले शिल्पी भी होते हैं। राज-महाराजा या अमीर लोगों के लिए कुछ ऐसी वस्तुएँ भी बनाई जा सकती हैं जिनमें उत्कृष्ट कारीगरी की गई हो, लेकिन अधिकतर वस्तुएँ सामान्य प्रकार की और सामान्य लोगों के लिए ही बनाई जाती हैं।

पश्चिमी यूरोप में, जहाँ औद्योगिक प्रणाली का जन्म हुआ, कहीं-कहीं फ़ैक्टरी प्रणाली का उद्भव कुटीर उद्योग से ही हुआ। कुछ मामलों में गृह-शिल्पों से अनेक कुशल कारीगर उपलब्ध हुए। कहीं-कहीं 'घर-उत्पादन' पद्धति निजी कारखाने और फ़ैक्टरी के बीच की अवस्था के रूप में चली। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि कहीं-कहीं फ़ैक्टरी का आधार ऐसी मशीन थी जिसने पुरानी कारीगरी को बेकार कर दिया। कहीं-कहीं फ़ैक्टरियों के मालिकों ने जान-बूझकर ऐसी जगह में मिल खोले जहाँ अधिक मज़दूरियाँ न देनी पड़ें, या जहाँ शिल्प से सम्बन्धित प्रतिबन्धक व्यवस्थाएँ लागू न हों। कारखाने से फ़ैक्टरी तक कोई अनिवार्य क्रमिक विकास देखने में नहीं आता। नयी प्रणाली ने अनेक बार पुरानी प्रणाली को चुनौती देकर उसे बिलकुल समाप्त कर दिया है।

अनेक लोग जिस प्रकार बड़े पैमाने की खेती की अपेक्षा छोटे पैमाने की खेती पसन्द करते हैं, उसी प्रकार आधुनिक फ़ैक्ट्री से स्वतन्त्र शिल्पी का नाश होने देना अच्छा नहीं समझते। आर्थिक दृष्टि से विचार करने पर भी छोटे पैमाने की खेती और कुटीर-उद्योगों के जारी रहने की परिस्थितियों में बड़ी समानता दिखाई देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि की भाँति उद्योग में भी कुछ तकनीकी परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो अन्य परिस्थितियों की तुलना में बड़े पैमाने के अधिक अनुकूल हैं, इन्हें छोड़ दें तो छोटे पैमाने के प्रबन्धों का जीवित रहना उत्पादक के चारों ओर फैले सुसंगठित सेवाओं के जाल पर निर्भर है जो प्रायः सभी बड़े पैमाने पर काम करती हैं। हमारी दिलचस्पी

न हो तो प्रतियोगिता मुख्य रूप से श्रम लागत का मैटर होती है। इस आपेक्षिक अर्थ में कुछ मशीनें दूसरी मशीनों की तुलना में बहुत अधिक उत्पादक होती हैं। उदाहरण के लिए फैक्टरियों में बुनाई के काम आने वाला करघा हाथ-करघे से विशेष भिन्न नहीं होता लेकिन कताई के काम आने वाली फैक्टरी की मशीन घरेलू चर्खे की तुलना में बहुत अधिक उत्पादक होती है। यही कारण है कि कताई का काम तो फैक्टरियों ने हथिया लिया है जब कि बुनाई का काम आज भी हाथकरघे पर करना लाभप्रद है।

काम चाहे घर में किया जाए या छोटे कारखाने में, छोटे पैमाने का उत्पादन उन उद्योगों में सबसे अच्छी तरह चल सकता है जिनमें मानक वस्तु की व्यापक मांग नहीं होती। एक बार व्यापक मांग होने लगे तो फिर भारी विशेषज्ञता-प्राप्त मशीनों का आविष्कार करना ही लाभप्रद रहता है, और उसके बाद छोटे-छोटे कार्य एकदम से लोप होने में थोड़ा ही समय लगता है। इसके अलावा जैसा कि हमने अभी देखा है, यदि खरीद के साथ यह शर्त लगी हो कि वस्तु मानकीकृत ही होनी चाहिए, तो हस्तशिल्पी मशीन की तुलना में प्रतिकूल परिस्थिति में रहता है, क्योंकि या तो वह स्वयं अपने उत्पादन की नाप-जोख पर नियंत्रण नहीं रख पाता या और हस्तशिल्पियों से ठीक उसी प्रकार की वस्तु नहीं बनवा पाता जैसी कि वह स्वयं बना रहा होता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन को एक जगह एकत्र करके बड़ी मात्रा में बेचने में कठिनाई आती है। हस्तशिल्प के उत्पादनों को बेचने में एक बाधा मानकीकरण का अभाव है—यह अनुभव उन लोगों का है जिन्होंने इस प्रकार की वस्तुओं को ब्रिटेन या अमरीका में बेचने के प्रयत्न किये हैं। कुटीर-उद्योग के जीवित बने रहने के अवसर सबसे अधिक उन वस्तुओं के उत्पादन में होते हैं जो थोड़ी-थोड़ी खरीदी जाती हैं, और जिनका गुण यही माना जाता है कि कोई दो नग बिलकुल एक-जैसे न हों। निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत उत्पादन का क्षेत्र बहुत ही संकुचित होता है। कपड़ों, लकड़ी के काम और बहुमूल्य धातुओं में कलात्मक कारीगरी की गुंजायश अवश्य है, लेकिन कपड़ों, जूतों और धातु की चीजों की व्यापक मांग को पूरा करने के लिए फैक्टरी के स्तर पर ही उत्पादन किया जाना चाहिए।

दूसरे, छोटे पैमाने के उद्योग का भविष्य उसकी टेक्नीकों के सुधार पर निर्भर करता है। प्रायः देखने में आता है कि छोटे उद्योगों में काम आने वाले औज़ार सदियों से ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं, और शिल्पियों की कारीगरी में कोई मौलिक परिवर्तन लाए बिना ही आधुनिक अनुभवों की सहायता से इन औज़ारों में काफ़ी सुधार करने की गुंजाइश है। जिस प्रकार छोटे पैमाने की खेती में सरकारी अनुसन्धान एजेन्सी, टेक्नीकों में सुधार करने के लिए

प्रयोग और उत्पादकों में नयी जानकारी फैलाने के लिए सलाहकार सेवा उपलब्ध करने की गुंजाइश है, उसी प्रकार छोटे पैमाने के उद्योग में भी यदि शिल्पी के औजार और टेक्नीकों में सुधार के लिए प्रयोग करने और नयी जानकारी फैलाने के लिए एजेन्सियाँ स्थापित कर दी जाएँ तो इन शिल्पियों की कार्य-कुशलता और स्थायित्व की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ सकती हैं। टेक्नीक में सुधार केवल उपकरणों को लेकर ही करने अपेक्षित नहीं हैं, शिल्पी को रंगाई आदि के बेहतर सामान की जानकारी भी कराई जा सकती है, या उसे अपने सामान की जाँच के तरीके बताए जा सकते हैं, या अधिक सही नाप-जोख या मानकीकरण करने की विधियाँ बताई जा सकती हैं। टेक्नीकों में सबसे बड़ी प्रगति शिल्पियों के औजारों के साथ छोटे बिजली के मोटर लगाने के रूप में हुई है अकेले इसी से प्रति-व्यक्ति उत्पादन कई गुना बढ़ जाता है। लेकिन अधिकांश कम विकसित देशों में इतने अधिक गाँवों में बिजली पहुँचाना सामर्थ्य से परे की बात है।

इसके बाद वितरण और वित्त के संगठन की बात आती है। शिल्पी सामान का स्टॉक जमा नहीं कर सकता, न वह तैयार माल का भण्डार रख सकता है। यदि वह ग्राहकों से ऑर्डर लेकर ही माल तैयार करे तो उसका रोजगार नियमित रूप से चलना सहज़तम हो जाता है। लाभप्रद ढंग से उत्पादन के लिए शिल्पी और वास्तविक उपभोग के बीच मध्यजन का होना वाछनीय है। मध्यजन स्टॉक जमा कर सकता है, बाजार में विस्तार करने की दृष्टि से दुकानों में सामान एकत्र करके उसका प्रदर्शन कर सकता है, वस्तु की बिक्री के लिए उसका मानकीकरण आवश्यक हो तो कई शिल्पियों से एक-जैसी चीजें तैयार कराने की व्यवस्था कर सकता है, और यदि वस्तु में विशेषज्ञता और जुड़ाई जरूरी हो तो भिन्न भिन्न शिल्पियों के काम की जुड़ाई का प्रबन्ध भी कर सकता है। इस प्रकार का काम प्रायः निजी मध्यजन करते हैं लेकिन अक्सर ऐसा समझा जाता है कि वे शिल्पी को दबा-कर उससे फायदा उठाते हैं। अतः इन दिनों सरकारें ऐसी एजेंसियाँ स्थापित कर रही हैं जो मध्यजनों का काम अपने हाथ में ले लेती हैं, और साथ ही नई टेक्नीकों के अनुसन्धान और सलाह-सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अच्छे परिणाम इण्डोनेशिया में उपलब्ध हुए हैं जहाँ एक-के-बाद-एक कई सरकारों ने विशेष रूप से स्थापित एजेंसियों के माध्यम से दस्त-शिल्प व्यापारों के सुधार और संगठन के लिए काफी प्रयत्न किये हैं।

इण्डोनेशिया पुराने व्यापारों के पुनर्गठन में सबसे आगे रहा है, लेकिन जापान ने बिना अधिक सरकारी सहायता के कुटीर-उद्योग के आधार पर नये व्यापारों के संगठन में सर्वश्रेष्ठता दिखाई है। ऐसा लगता है कि जापान में

'घर उत्पादन' प्रणाली की जड़ें जम चुकी हैं, निजी सौदागर शिल्पी को उनके घरों पर या छोटे कारखानों में तैयार करने के लिए कच्चा माल सप्लाई करते हैं। यह प्रणाली उन व्यापारों में भी लागू होने के लिए प्रसिद्ध हो चुकी है जिनमें वस्तु को कई हिस्सों में बनाना पड़ता है, अलग अलग हिस्से, अलग-अलग शिल्पियों को या छोटे कारखानों का तैयार करने के लिए दिये जाते हैं, ये ब्योरेवार विशिष्टियों के अनुसार हिस्से बनाते हैं जिन्हें बाद में केन्द्रीय फैक्टरियों में जोड़ा जाता है। इस प्रकार जापानी शिल्पी आज ऐसी अनेक वस्तुएँ तैयार कर रहे हैं जिनके नाम भी उनके पूर्वजों को पता नहीं थे। छोटे पैमाने के उत्पादन का जीवित रहना ऐसे ही अनवरत उद्यम पर निर्भर करता है जिसमें नयी वस्तुएँ छोटे उत्पादन के क्षेत्र में आती रहती हैं। छोटे पैमाने का उद्योग यदि केवल बहुत पुरानी चीज़ों के बनाने पर ही निर्भर रहे तो अवनति करने लगता है, क्योंकि फैक्टरी-पद्धति थोड़े-बहुत समय में सभी पुरानी चीज़ों के उत्पादन का लोप कर देती है।

अब तक जिन उपायों की हमने चर्चा की है वे कुटीर-उद्योग को फैक्टरी की प्रतियोगिता से संरक्षण देने की अपेक्षा उसे अधिक कार्य-कुशल बनाने के बारे में हैं। अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि कुटीर-उद्योग का बना रहना तभी उचित है जबकि वह आर्थिक आधार पर फैक्टरी उद्योग से प्रतियोगिता कर सके और इसीलिए इसकी टेकनीकों में अनुसन्धान करने का विधिवत् कार्यक्रम, कच्चे माल में सुधार और पूँजी और बेहतर विपणन की व्यवस्था होना वाछनीय है। कुटीर-उद्योग को संरक्षण देना एक अलग सवाल है, कुछ सरकारों ने संरक्षण प्रदान किया है, और इस पर विशेष रूप से विचार करना उचित होगा।

यह समस्या उन्हीं देशों के लिए महत्त्वपूर्ण है जहाँ कृषि और कुटीर-उद्योग में लगे श्रमिकों की बेशी है, जिनके लिए भूमि या पूँजीगत साधनों की कमी के कारण पूर्ण रोज़गार की व्यवस्था नहीं की जा सकती। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि कुटीर-उद्योग में श्रमिक का उपयोग करने पर कोई वास्तविक लागत नहीं आती जबकि फैक्टरी-उत्पादन में दुर्लभ पूँजी और पर्यवेक्षण में कुशल लोगों को लगाने पर काफी खर्च करना पड़ता है। यदि कुटीर श्रमिक थोड़ी-से-थोड़ी आमदनी पर भी काम करने के लिए तैयार हों तो कीमत के आधार पर चलने वाली प्रतियोगिता के परिणाम उनके अनुकूल होंगे। व्यवहार में, कुटीर श्रमिक गुज़ारे लायक आमदनी की माँग करते हैं, और उनके द्वारा ली जाने वाली कीमतें वास्तविक सामाजिक लागत से अधिक हो सकती हैं। अतः द्रव्यरूपी लागत का अन्तर चाहे जितना हो, वास्तविक लागत का अन्तर कुटीर-उद्योग के पक्ष में रहता है। ज़ाहिर है कि इस प्रकार

का तर्क उन देशों पर लागू नहीं किया जा सकता, जहाँ श्रमिकों की अपेक्षाकृत कमी है। इस तर्क की यदि कोई वैधता है तो वह एशिया के अधिक आबादी वाले देशों के बारे में है न कि अफ्रीका या लैटिन अमरीका के बारे में।

अब हम उन देशों के बारे में इस तर्क की वैधता पर विचार करेंगे जहाँ श्रमिकों की बहुतायत है। इसे आँकड़ों सहित उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। मान लीजिए कुटीर श्रमिकों की संख्या १०० है और मान लीजिए बड़े पैमाने का उद्योग मशीन बनाने उनका अनुरक्षण करने और बदलने के काम में १० आदमियों को निरन्तर लगाकर और इन मशीनों पर उत्पादन करने के काम में ३० आदमियों को लगाकर इन १०० श्रमिकों के बराबर उत्पादन कर सकता है। (निवेश की गई पूँजी पर ब्याज का खर्च भी बैठता है लेकिन इस समय हम इसका विचार छोड़े देते हैं) तब, यदि माँग उतनी ही रहे तो फैक्टरियों की स्थापना का अर्थ यह होगा कि जो काम पहले १०० आदमी करते थे वही अब ४० आदमी करने लगेंगे और ६० आदमी निराश्रय हो जाएँगे। इस निष्कर्ष की वैधता इस धारणा पर आधारित है कि उत्पादित वस्तु की माँग उतनी ही रहेगी। इसके विपरीत यदि माँग ६० प्रतिशत बढ़ जाए तो ४० आदमी फैक्टरी में काम कर सकते हैं और ६० आदमी कुटीर-उद्योग में काम कर सकते हैं और इस प्रकार हर आदमी को काम मिल जाएगा, और यदि माँग १५० प्रतिशत बढ़ जाए तो हर आदमी को फैक्टरी में ही काम दिया जा सकेगा। इस प्रकार, हम देखते हैं कि कुटीर-उद्योग का तर्क औद्योगिक उन्नति के सामान्य तर्क का ही एक भाग है। यदि उत्पादकता माँग की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है तो बेरोजगारी की स्थिति पैदा हो जाती है, लेकिन माँग उत्पादकता से अधिक तेजी से बढ़ने लगे तो या तो मुद्रा-स्फीति हो जाती है या रोजगार में वृद्धि हो जाती है।

करना सिर्फ यह चाहिए कि विनिर्माण उद्योग (कुटीर हो चाहे फैक्टरी का हो) की उत्पादकता बढ़ाने के उपाय करने के साथ-साथ विनिर्मित वस्तुओं की माँग को बढ़ाने के उपाय भी करने चाहिएँ। उत्पादक ऐसे देशों की जनसंख्या का एक छोटा-सा ही भाग होते हैं अतः उनकी माँग भी कुल माँग का छोटा-सा हिस्सा होती है। अधिकांश माँग बाकी दूसरे वर्गों से आती है जिनमें किसानों का वर्ग सबसे बड़ा होता है। यदि किसी देश की कृषि विकसित न हो रही हो और केवल उसका विनिर्माण उद्योग ही विकासशील हो और उसीमें पूँजी लग रही हो तो इसके परिणाम विनिर्माण उद्योग के लिए घातक होंगे, क्योंकि फैक्टरी और कुटीर दोनों उद्योगों के श्रमिकों को सीमित माँग पूरी करने के लिए ही प्रतियोगिता करनी होगी। लेकिन विकास समुचित ढंग से हो रहा होगा, जिससे किसानों की उत्पादकता तेजी से बढ़ रही होगी,

और विनिर्मित वस्तुओं की माँग भी साथ-साथ बढ़ रही होगी, तो उद्योग में पूँजी-निवेश करने की काफी गुंजाइश रहेगी। साथ ही, अधिक आबादी वाले देशों में उद्योगीकरण कुछ सीमा तक विनिर्मित वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास पर भी निर्भर होता है। विकास से सम्बन्धित अधिकांश समस्याओं का रहस्य विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच उचित सन्तुलन कायम रखने में निहित है, और इस विषय पर हम बाद के अध्यायों में अधिक बताएँगे (देखिए अध्याय ५ खण्ड ३ (ख) अध्याय ६ खण्ड २ (क), अध्याय ७, खण्ड १ (ख)।

सब-कुछ कह देने के बाद सचाई इसी में मालूम होती है कि जिन देशों में श्रमिकों की कमी है वहाँ विकास के आरम्भिक चरणों में पूंजी का बेहतर उपयोग उसे परिवहन और दूसरी लोकोपयोगी सेवाओं, सिंचाई और कृषि की दूसरी आवश्यकताओं और ऐसे विनिर्माण-कार्यों के विस्तार में लगाकर किया जा सकता है जिनमें बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ सर्वाधिक हों—विशेषकर धातु रसायन, इंजीनियरी और इमारती सामान बनाने के उद्योग में। इन देशों में यह उचित नहीं है कि पूंजी को बड़े पैमाने के ऐसे उद्योगों में लगाया जाए जिनका काम कुटीर श्रमिक भली प्रकार कर सकते हैं—कपड़ा बुनने का उद्योग इसका विशिष्ट उदाहरण है। वैसे यह केवल एक अस्थायी बात है। यदि विकास हो रहा होगा तो कुटीर-उद्योग की वस्तुओं की माँग शीघ्र ही उसकी सप्लाई के बराबर हो जाएगी, और उसके बाद कोई विशेष बेकारी बढ़ाए बिना ही फैक्टरियों के विस्तार की गुंजाइश निकल आएगी। बीच के समय में उन क्षेत्रों में फैक्टरियों की स्थापना करने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए या नहीं जिनमें कुटीर उद्योग जमे रह सकते हैं, यह एक विवादग्रस्त विषय है जो इस पर निर्भर है कि सम्बन्धित देश के कीमत तन्त्र में वास्तविक सामाजिक लागतों को प्रतिबिम्बित करने की कितनी क्षमता है, और वहाँ फैक्टरियों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाने में प्रशासन को कितनी सफलता मिल सकती है। पूँजी की बरबादी को रोकने के लिए कुछ कुटीर-उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देने का आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन सभी आर्थिक तर्क प्रशासनिक दृष्टि से मान्य नहीं होते।

५. सांस्थानिक परिवर्तन

(क) परिवर्तन की प्रक्रिया—अभी तक हमने सामाजिक संस्थानों पर इसी दृष्टि से विचार किया है कि वे आर्थिक विकास के अनुकूल हैं अथवा नहीं। अब यह विचार करना उचित है कि संस्थान किस प्रकार बदलते हैं, और परिवर्तन किन्हीं पूर्व-निर्धारित विधियों से होता है अथवा नहीं।

यह शुरू से ही ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक परिवर्तन केवल

संस्थानिक परिवर्तनों का ही परिणाम नहीं होते। आर्थिक विकास पूंजी-निर्माण में वृद्धि के फलस्वरूप भी हो सकता है, या नये औद्योगिक ज्ञान के उपलब्ध होने पर, या अन्य ऐसे कारणों से भी हो सकता है जो संस्थानिक परिवर्तन से पैदा नहीं होते, इसका स्पष्ट उदाहरण तब देखने को मिलता है जब विदेशियों द्वारा नया ज्ञान या नयी पूंजी लाने पर आर्थिक विकास होने लगता है। इनमें से किसी एक घटक के कारण वृद्धि होने से संस्थानों में लगभग निश्चय ही परिवर्तन होता है। दूसरी ओर, ऐसे संस्थानिक परिवर्तन भी हैं जो आर्थिक परिवर्तन का परिणाम नहीं होते, जैसे धर्म, राजनीति, या प्राकृतिक उथल-पुथल से उत्पन्न परिवर्तन। यदि यह मान लिया जाए कि सभी सामाजिक उथल-पुथल आर्थिक कारणों से ही होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य केवल आर्थिक स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं, जोकि बिलकुल गलत है। इस खण्ड में हम संस्थानिक परिवर्तनों की प्रकृति, कारण और प्रभावों का ही अध्ययन करेंगे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यही आर्थिक परिवर्तन के बुनियादी या एकमात्र कारण हैं।

संस्थानों और आर्थिक विकास की परस्पर अनुकूलता का अध्ययन करने से हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि संस्थान उस सीमा तक विकास में सहायता देते हैं जहाँ तक व आर्थिक प्रयत्न के अनुरूप पारिश्रमिक देने का समर्थन करते हैं विशेषज्ञता और व्यापार को क्षेत्र प्रदान करते हैं और आर्थिक अवसरों को खोजने और उनका उपयोग करने की आजादी देते हैं। भिन्न-भिन्न देशों के संस्थान इन मामलों में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। साथ ही, हर देश के संस्थान निरन्तर बदलते रहते हैं, भले ही परिवर्तन की गति कितनी ही धीमी या तेज हो। ये संस्थान आर्थिक विकास की अनुकूल दिशाओं में भी बदल सकते हैं या आर्थिक विकास की प्रतिकूल दिशाओं की ओर भी जा सकते हैं।

आर्थिक विकास की दृष्टि से संस्थानों का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण सम्भवत इनके द्वारा आर्थिक कार्यों के लिए दी गई आजादी की मात्रा है। एक बार लोगों को आर्थिक अवसरों का उपयोग करने दिया जाए तो फिर विकास का मार्ग खुल जाता है, और जैसे-जैसे विकास के चरण बढ़ने लगते हैं संस्थान स्वयं प्रेरणाओं के संरक्षण और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए अपने अन्दर अनुकूल परिवर्तन करते जाते हैं। इसके विपरीत यदि आर्थिक अवसर कम कर दिए जाएँ तो आर्थिक विकास में गिरावट आने लगती है और संस्थान गतिरोध के अनुकूल होने लगते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी ऐसे समुदाय में सोने का पता लगता है जिसके सभी संस्थान विकास के प्रतिकूल हैं—जहाँ सम्पत्ति की सकल्पनाएँ आदिम है, जहाँ परिवार आत्म-निर्भर हैं,

और जहाँ नये काम करने पर बेहद बन्दिश है जो कभी-कभी ही हटाई जाती है। ऐसी स्थिति में मान लीजिए कोई व्यक्ति—निजी या सरकारी कर्मचारी—सोना खोदने, मजदूरों को काम पर रखने, और सामग्री और असले के आयात की अनुमति पा जाता है। इतना-भर संस्थानों में क्रान्ति लाने के लिए पर्याप्त है। फिर देखते-देखते परिवारों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाएगी, देशी और विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि होगी, सम्पत्ति के सम्बन्ध सूक्ष्म और जटिल हो जाएँगे, और इसी प्रकार के और परिवर्तन होंगे। लोगों को अवसरों का उपयोग करने दिया जाए तो वे स्वयं पाकर अपने सारे संस्थानों में अनुकूल परिवर्तन कर लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि परिवर्तन स्वभाव से सचयी है। एक बार आर्थिक विकास का श्रीगणेश हो जाए तो संस्थान विकास की अनुकूल दिशा में अधिकाधिक बदलने लगते हैं, और इसमें विकास का बल देने वाली शक्तियाँ मजबूत होती जाती हैं। इसके विपरीत, यदि आर्थिक विकास की गति घटने लगे तो संस्थानों की विकास के प्रति अनुकूलता कम हो जाती है, लोग एकाधिकारों को मानने लगते हैं और वे सरलता से बने रहते हैं, परिवार अधिक आत्मनिर्भर हो जाते हैं, उदग्र *गतिशीलता कम हो जाती है*, और आर्थिक मामलों में सामाजिक स्थिति अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है, यहाँ तक कि फिर से सामन्तवाद स्थापित करने के प्रयत्न होने लगते हैं।

यह समझना सरल है कि ये प्रक्रियाएँ सचयी क्यों हैं। किसी सामाजिक संस्थान के एक विशेष रूप में बने रहने के कारण तीन हैं—उसकी सुविधा, उसकी सचाई के प्रति लोगों का विश्वास और ज़ोर-ज़बरदस्ती। यदि विकास होने लगता है तो ये सारी बातें ढह जाती हैं। संस्थान सुविधाजनक नहीं रह जाता, क्योंकि वह आर्थिक उन्नति के अवसरों में बाधक सिद्ध होने लगता है। तब उसके प्रति लोगों का विश्वास हट जाता है। पुरोहित, वकील, अर्थशास्त्री, और दूसरे दार्शनिक, जो पहले अपनी भिन्न-भिन्न हठधर्मिताओं के आधार पर संस्थान का समर्थन करते थे, वे ही अब पुरानी हठधर्मिताओं को छोड़ने लगते हैं, और उनके स्थान पर बदलती हुई परिस्थिति के अधिक अनुकूल नये आग्रहों की स्थापना करने लगते हैं। राजनीतिक शक्ति का सन्तुलन भी बदलने लगता है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप नए लोग धनाढ्य और हैसियत वाले हो जाते हैं, वे पुराने शासक-वर्गों को चुनौती देते हैं, कम या अधिक क्रान्तिकारी तरीकों से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करते हैं, और पुराने संस्थानों के स्थान पर नये संस्थानों की नींव डालते हैं। एक बार आर्थिक विकास होने लगे तो फिर निश्चय ही पुराने संस्थान ढह जाते हैं, और विकास में वृद्धि के अनुकूल नये संस्थान जन्म लेते हैं। इसी प्रकार, जब विकास रुक जाता है

तो विकासशील अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल संस्थान अधिक दिन तक उपयोगी नहीं रह पाते। लोगों का उनके प्रति विश्वास टूट जाता है, पुरोहित, वकील, अर्थशास्त्री और दार्शनिक उनके विरुद्ध हो जाते हैं और यथापूर्व स्थिति चाहने वाले शक्तिशाली समूह आर्थिक विकास के प्रतिकूल परिवर्तन लाने में सफल हो जाते हैं।

यदि आर्थिक अवसरों की अपेक्षा स्वयं संस्थानों में परिवर्तन शुरू हो जाएँ तो भी उपर्युक्त संबंधी शक्तियाँ इसी प्रकार काम करती हैं। लोगों के अन्दर अवसरों का लाभ उठाने की इच्छा या गुंजाइश बढ़ जाने पर नये-नये आर्थिक अवसर स्वयं पैदा होने या दिखाई देने लगते हैं, और नये अवसरों के सामने आने पर विश्वासों और संस्थानों में परिवर्तन होने लगते हैं। आर्थिक अवसरों, विश्वासों और संस्थानों की परस्पर संबंधी अन्तःक्रिया के कारण ही यह बताना प्राय बड़ा कठिन होता है कि किसी परिवर्तन का 'बुनियादी' कारण क्या था—उदाहरण के लिए, यह बताना बहुत कठिन है कि तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच पश्चिमी यूरोप में हुए धर्मशास्त्रीय परिवर्तन (जिनकी परिणति सुधार और प्रतिसुधार में हुई) वहाँ बढ़ते हुए आर्थिक अवसरों का परिणाम थे या बदलती हुई धर्मशास्त्रीय संकल्पनाओं ने ही लोगों को उपलब्ध आर्थिक अवसरों का उपयोग करने की अनुमति दी। इस प्रकार के सभी प्रश्नों का समाधान प्राय असम्भव है।

'बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल संस्थानों का समंजन एक कष्टकर प्रक्रिया हो सकती है। यह न तो संतुलित होती है और न पूर्ण होती है। विश्वासों और सम्बन्धों के जाल में कहीं एक स्थान पर परिवर्तन का श्रीगणेश होता है और वहीं से इसका बाहर की ओर प्रभाव पड़ने लगता है। परिणाम यह होता है कि संस्कृति के कुछ विश्वास या आदर्श पूरी तरह बदल जाते हैं जबकि दूसरी मजबूती से जड़ जमाए रहती हैं। नयी और पुरानी बातें बेढंगे तरीके से और विविध अनुपातों में घुल-मिल जाती हैं जिन्हें लेकर भिन्न-भिन्न समाजों में बड़े अन्तर पाए जाते हैं और पूरी तरह तालमेल तो कभी नहीं हो पाता। यही कारण है कि आज भी पश्चिम के पूँजीवादी देश एक दूसरे से इतने भिन्न हैं। उनमें पूर्व-पूँजीवादी विचार कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में बचे हुए हैं और भाईचारे के सम्बन्धों की निरन्तरता, अवसर की समानता, निजी उद्यमशीलता के प्रति दृष्टिकोण, निजी धन के प्रति दृष्टिकोण और ऐसे ही अन्य मामलों में परस्पर भिन्नता है। ऐसे समाज में सदा ही बहुत अधिक असंगतियाँ पाई जाती हैं जिनमें पिछली कुछ ही शताब्दियों में तेज़ी से विकास हुआ होता है। लोगों को मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के अनुसार चलन को जानने में, मुद्रा से अभिव्यक्त अवसरों का लाभ उठाना सीखने में और मुद्रा प्राप्त

होने पर उसे खर्च करने या रखने की आदत डालने में काफी समय लगता है। उन्हें नैतिकता के नये मानदण्ड बनाने पड़ते हैं जिनकी स्थापना में बड़ा समय लगता है, बात यह है कि उनके समुदाय का वह रूप समाप्त हो चुकता है जिसमें दायित्व हैसियत पर आधारित होते हैं और अब वे ऐसे सामुदायिक जीवन में प्रवेश कर रहे होते हैं जिसमें दायित्व संविदा पर और ऐसे लोगों के साथ बाजारी सम्बन्धों पर आधारित होते हैं जिनसे उनका प्रायः कोई भाईचारे का रिश्ता नहीं होता। परिणामस्वरूप ऐसा समुदाय जो अब तक बहुत ईमानदार था, तब तक निहायत बेईमानी का आचरण करता रह सकता है जब तक वह यह नहीं सीख लेता कि मुद्रा में अभिव्यक्त संविदों को पूरा करने के निमित्त नितान्त अपरिचितों के लिए भी ईमानदारी से मेहनत करना या उन्हें ठीक-ठीक माल देना आवश्यक है। सामाजिक मूल्यों को भी नये अर्थ देने होते हैं, लोग पुरानी ऊँची हैसियत का सम्मान करना छोड़ देते हैं, अगुओं, दादाओं और गुरुजनों को स्वयमेव सम्मान मिलना बन्द हो जाता है। नेतृत्व की दिशाओं में परिवर्तन हो जाता है और नये नेताओं को पुराने लोगों के बराबर इज्जत पाने या इज्जत पाने योग्य बनने में काफी समय लगता है। पुरानी नैतिकता का पतन आर्थिक परिवर्तन के बड़े कष्टकर पहलुओं में से है और यह भी एक कारण है कि नीतिशास्त्रज्ञ और मानवविज्ञानवादी प्रायः परिवर्तन के या कम-से-कम द्रुत परिवर्तन के विरुद्ध होते हैं। वे जानते हैं कि द्रुत परिवर्तन में पुराने विश्वास और संस्थान बड़ी जल्दी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जबकि उनके स्थान पर नये विश्वासों और संस्थानों को जड़ें जमने में काफी समय लगता है। असंगति का एक दूसरा उदाहरण, जिसकी इन दिनों जोर-शोर से चर्चा की जाती है, जन्म-दर और मृत्यु-दर के बीच संतुलन का अभाव है जो आर्थिक विकास के आरम्भ के कुछ ही समय बाद पैदा होने लगता है और जिससे आबादी में वृद्धि होने लगती है (आर्थिक गिरावट के साथ आबादी कम होने पर भी ऐसी ही जोरदार चर्चा होती है)। गतिरुद्ध समाज में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही लगभग बराबर और ऊँची होती हैं। इसके बाद जब आर्थिक विकास होने लगता है तो मृत्यु-दर कम होने लगती है। इसके आरम्भिक कारण तो यह हैं कि संचार-साधनों और व्यापार में वृद्धि होने से स्थानीय दुर्भिक्ष पड़ने बन्द हो जाते हैं और बाद के कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपाय और चिकित्सा में सुधार हैं। जन्म-दर में गिरावट शुरू होने से बहुत पहले ही मृत्यु-दर कम होने लगती है और इस बीच आबादी ६० साल से लेकर ३० साल तक में दूनी होने लगती है। कुछ समय बीत जाने पर ही लोग यह समझ पाते हैं कि यदि उन्हें मृत्यु-दर पर नियन्त्रण करना है तो साथ ही जन्म-दर पर नियन्त्रण करना भी आवश्यक है (इस विषय की और चर्चा

अध्याय ६ में की जाएगी।)

परिवर्तन की असंगतियों को देखते हुए अनेक लोगों ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि क्या सामाजिक परिवर्तन का 'संतुलित' ढंग से नियमन नहीं किया जा सकता, अर्थात् क्या कुछ विश्वासों और संस्थाओं को दूसरों की अपेक्षा अधिक तेजी से बदलने से नहीं रोका जा सकता? हमें लगता है कि यह असम्भव है। किसी संस्कृति के बेशुमार पहलुओं को साथ-साथ और समान अनुपातों में बदलना सम्भव नहीं है। कुछ पहलुओं पर दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है और वे दूसरे पहलुओं को अपने साथ न्यूनाधिक मात्रा में बदलते हुए स्वयं समाप्त हो जाते हैं। हम हमेशा यह नहीं बता सकते कि कौन-सा पहलू पहले बदलेगा, क्योंकि परिवर्तन की यह प्रक्रिया भिन्न-भिन्न समाजों में उनके इतिहास और परम्पराओं के अनुसार होती है न हम यह बता सकते हैं कि संस्कृति के कौनसे पहलू किस सीमा तक बदलेंगे, या किन अनुपातों में बदलेंगे। असंतुलित परिवर्तन को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि परिवर्तन होने ही न दिया जाए, लेकिन यह किसी के बस का नहीं है।

यह तो सही है कि किसी विशेष घटना के परिणामस्वरूप होने वाले सभी परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम परिवर्तन की दिशा को किसी रूप में प्रभावित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, हमें पता है कि भूतकाल में उद्योगीकरण से अनेक देशों में शहरों के अन्दर गंदी बस्तियां बन गईं, लेकिन हम यह भी जानते हैं कि अगर नगर-आयोजन के उचित उपाय अपनाए जाएँ तो गन्दी बस्तियों के बिना भी उद्योगीकरण किया जा सकता है। हमें पता है कि कुछ दूसरे स्थानों में उद्योगीकरण होने से बहुत बड़ी संख्या में श्रमिक गाँवों से शहर में चले आए हैं और फिर वापस चले गए हैं, और हमें पता है कि इस पर भी नियन्त्रण करके रोक लगाई जा सकती है (देखिए अध्याय ८, खण्ड ३ (ग))। पारिवारिक सम्बन्ध, कबीले की सत्ता के प्रति आदर, धर्माचरण, या सविदाजन्य दायित्वों के पालन-सरीखे मामलों में मानवीय प्रवृत्तियाँ किस प्रकार बदलेंगी इसका पूर्वानुमान करना दरअसल अधिक कठिन है। कुछ लोगों को इसी बात का भय होता है कि आर्थिक विकास की नयी मदिरा जब सामाजिक सुरक्षा की पुरानी बोतलों में ढलने लगती है तो पुराने नैतिक मूल्य छिन्न भिन्न हो जाते हैं। पुराने सम्बन्ध किस सीमा तक छिन्न-भिन्न होते हैं यह सवाल शायद इस पर निर्भर है कि विकास का आरम्भ किस प्रकार किया गया है। यदि विकास का आरम्भ विदेशी पूंजीपति और सरकारों द्वारा किया जाता है, जिनसे पुराने राजनैतिक, धार्मिक और पारिवारिक नेताओं के प्रति अनादर की भावना होती है, तो पहले से स्थापित सत्ता उस स्थिति की अपेक्षा अधिक जल्दी और प्रभावपूर्ण तरीके

में दृष्टा दी जाती है जिसमें विकास का आरम्भ पूर्व-प्रतिष्ठित नेतृत्व के अधीन होता है। जापानियों के बारे में कभी-कभी यह कहा जाता है कि उन्होंने पश्चिम के पूंजीवाद को जीवन की अपनी विधि के अनुकूल बनाकर अपनाया है लेकिन यह सन्देहास्पद है कि यह प्रक्रिया जान-बूझकर हुई है। बात दरअसल यह है कि जापान में पूंजीवाद का आरम्भ वहां के पूर्व प्रतिष्ठित नेताओं द्वारा ही किया गया है जिसके परिणामस्वरूप पुरानी सत्ता और नये तरीकों के बीच संघर्ष कम-से-कम हुआ है। प्रवृत्तियों और सामाजिक सम्बन्धों पर आर्थिक विकास के प्रभाव इस स्थिति में सबसे कम क्रान्तिकारी होते हैं जबकि वर्ग-भावना पर भी इसके प्रभाव कम-से-कम उग्र होते हैं मतलब यह है कि जब पुराने राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक पदसोपानों द्वारा ही नये उद्यमशील तनाया का सामने लाकर उन्हें मान्यता दी जाती है। आर्थिक विकास के प्रति एशिया और अफ्रीका की प्रतिक्रियाओं में यह भी एक बड़ा अन्तर है। अफ्रीका की तुलना में एशिया के अन्दर पुरानी धार्मिक और राजनीतिक प्रणालियों की जड़ें अधिक मजबूत थीं, और पश्चिम के प्रभाव में वे पूरी तरह नष्ट नहीं हो सकीं। इसके विपरीत अफ्रीका में यूरोपीय पूंजीपतियों और सरकारों ने वहां की स्थापित प्रथाओं, धर्मों और जीने की विधियों आदि उन सभी बातों के प्रति, जो पश्चिमी हितों के विरुद्ध थीं, बड़ा अनादर प्रकट किया, और उनके विरोध में कार्रवाई की, जिसका फल यह हुआ कि वहां विच्छिन्नता अधिक व्यापक पैमाने पर हुई।

एक बार संस्थाओं में परिवर्तन शुरू हो जाए तो यह ऐसे तरीकों से होता है जो एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। पुराने विश्वास और सम्बन्ध बदल जाते हैं, और नये विश्वास और संस्थान धीरे-धीरे एक-दूसरे के अनुकूल होने लगते हैं और उसी दिशा में परिवर्तन को बल प्रदान करते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि एक बार आरम्भ होने पर विकास के चरण सदा ही आगे बढ़ते रहेंगे, या पीछे हटना आरम्भ होने पर कभी रोके नहीं जा सकेंगे।

पहली बात तो यह है कि हर विकास गणितीय पद्धति से होता है, अर्थात् धीरे-धीरे शुरू होता है, तेजी पकड़ता है, और फिर धीमा हो जाता है। इसका कारण यह है कि विकास का हर नया पहलू अन्ततः अपनी सम्भावनाओं की सीमा पार कर लेता है। एक कल्पित उदाहरण देकर हम इसे समझाएंगे। जब पहले-पहल रेडियो बाजार में आते हैं तो जनता को उनकी सम्भावनाओं का ज्ञान नहीं होता, और वे उन्हें लेने में हिचकते हैं, शुरू में बहुत थोड़े रेडियो बिकते हैं लेकिन धीरे धीरे ये लोकप्रिय होते जाते हैं, और फिर इनकी धड़ाधड़ बिक्री होने लगती है। जब हर घर में रेडियो हो जाता है तो एक सीमा आ जाती है। इस सीमा के आ जाने पर बिक्री तेजी से घटने लगती है। सम्भव

है बाजार में आने के दूसरे साल पहले साल की अपेक्षा दूनी बिक्री हो, तीसरे साल तिगुनी बिक्री हो, और चौथे साल चौगुनी बिक्री हो, लेकिन सदा ही प्रतिवर्ष बिक्री दूनी होती रहना सम्भव नही है, क्योंकि खरीदारों की संख्या इतनी अधिक होती ही नहीं। यही बात सास्थानिक परिवर्तन पर भी लागू होती है। किसी नये सिद्धान्त के सामने आने पर पहले उसका विरोध होता है। कुछ समय बाद वह जोर पकड जाता है और सामाजिक सम्बन्धों के अधिकाधिक व्यापक दायरे मे उत्साह के साथ लागू किया जाने लगता है। लेकिन कभी-न-कभी ऐसा समय अवश्य आता है जब यह उन सभी मामलों मे लागू हो चुकता है जिनसे यह सगत है। विकास क्रमिक प्रेरकों का परिणाम है जिनमें से प्रत्येक अन्तत अपनी सीमा को पहुँचता है। अत सुस्थिर गति से विकास तभी होगा जब सयोगवश नये प्रेरक ठीक उसी समय पैदा हो जबकि पिछले प्रेरक लुप्त हो रहे हो। व्यवहार मे, हम विकास की सुस्थिर गति से होने की आशा नही कर सकते। अधिक-से-अधिक यही आशा की जा सकती है कि विकास मे क्रमिक ऊँचाइयाँ आएँगी जिनके बीच अपेक्षाकृत मन्द गति के काल होंगे।

अनुभव से पता चलता है कि कभी अधिक और कभी कम विकास वाली अवस्था भी बाद मे समाप्त हो सकती है। कुछ समाजों मे बडी तेजी से आर्थिक विकास हुआ है, जिसके बाद गतिरोध और गिरावट के ऐसे समय आए हैं जब उन समाजो के पास बरबादी के अलावा और कुछ नही बचा। जिस प्रकार विकास के बाद गतिरोध की स्थिति आ सकती है, ठीक उसी तरह गतिरोध के बाद विकास हो सकता है। इतिहास मे त्वरण और मन्दन के क्रमिक मोड पाए जाते हैं। परिवर्तनशील प्रक्रियाओ के सभी विश्लेषणों मे ये मोड सबसे अधिक दिल॰चस्प होते हैं, क्योंकि इन मोडों के तुरन्त बाद पैदा होने वाली सचयी प्रक्रियाओं का समझना अपेक्षाकृत सरल होता है। इसलिए हमें सबसे अधिक ध्यान इन्ही मोडों के अध्ययन को देना चाहिए।

पहले हम त्वरण की अवस्थाओ को लें। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विकास के लिए बुनियादी चीज अवसरो का उपयोग है। इस प्रकार विकास में त्वरण का कारण या तो यह हो सकता है कि नये अवसर पैदा होने लगे हैं, या यह हो सकता है कि सास्थानिक परिवर्तन पहले से मौजूद अवसरों का उपयोग करने की आजादी देने लगे हैं, या दोनों कारण हो सकते हैं।

नये अवसर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। नये आविष्कारों से नयी वस्तुओं को जन्म मिल सकता है, या पुरानी वस्तुओं के उत्पादन की लागत कम हो सकती है। नयी सड़कें, नये जहाजी रास्ते, या सचार-साधनों में अन्य सुधार व्यापार के नये अवसर प्रदान कर सकते हैं। युद्ध या क्रान्ति से नयी माँग पैदा

हो सकती है। देश के अन्दर आने वाले विदेशी लोग नये व्यापार आरम्भ कर सकते हैं, नया पूंजी-निवेश कर सकते हैं, या रोजगार के नये अवसर प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार के नये अवसर काफी हद तक वर्तमान संस्थाओं से स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन पूर्ण रूप से ऐसा नहीं होता। आगे आने वाले अध्यायों में हम आविष्कार की दर या विदेशी पूंजी-निवेश आदि मामलों पर संस्थाओं के प्रभाव का अध्ययन करेंगे। वैसे जहां तक ये मामले देश के संस्थाओं से स्वतन्त्र होंगे वहां तक संस्थाओं में कोई परिवर्तन हुए बिना ही अवसरों में त्वरित गति से वृद्धि हो सकेगी, और संस्थानिक परिवर्तन अवसरों की त्वरित वृद्धि के बाद हो जाएँगे।

यह भी सम्भव है कि सम्बन्धित आर्थिक घटकों में कोई परिवर्तन हुए बिना ही संस्थानिक परिवर्तन लोगों को आर्थिक चातुर्य की अधिक आजादी देने लगें। इनका एक सम्भव उदाहरण, जो कभी-कभी ही देखने में आता है, शासक का हृदय-परिवर्तन है, जिससे प्रेरित होकर वह लोगों को उन मार्गों से आर्थिक चातुर्य करने की अनुमति दे सकता है जो पहले निषिद्ध माने जाते थे। इससे अधिक व्यावहारिक उदाहरण राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन है जो युद्ध, दुर्भिक्ष, तूफान, भूकम्प, प्लेग, या दूसरी आपत्ति के फलस्वरूप देश को पहुँचने वाले आघात से पैदा होता है। इस प्रकार के आघात कभी-कभी यथापूर्व स्थिति के पक्षपाती शासक-वर्ग की पकड़ को ढीला कर देते हैं, और लोगों को ऐसे हाथों में चले जाने का मौका देते हैं जिनमें परिवर्तन के प्रति रुचि होती है।

इस प्रकार, त्वरण आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आने के कारण भी हो सकता है जिससे नयी परिस्थितियों को जन्म मिलता है, या संस्थानिक परिवर्तनों के कारण भी हो सकता है जो उपलब्ध परिस्थितियों के उपयोग की पूर्वापेक्षा अधिक आजादी प्रदान करने लगते हैं। व्यवहार में, त्वरण की शुरुआत के साथ प्रायः दोनों प्रकार के परिवर्तन सम्बन्धित रहते हैं। आर्थिक स्थिति सम्भवतः इसलिए विकास के अनुकूल हो जाती है कि विदेश-व्यापार के अवसर बढ़ जाते हैं, और इसीसे उन लोगों के हाथ मजबूत हो जाते हैं जो अधिक आजादी देने वाले संस्थानिक परिवर्तन लाना चाहते हैं।

नवीन प्रक्रिया करने वाले ये लोग संख्या में सदा ही थोड़े होते हैं। नये विचार पहले पहल एक या दो या बहुत थोड़े लोगों द्वारा लागू किये जाते हैं, चाहे ये प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित नये विचार हों, या संगठन के नये रूप हों, या नयी वस्तुएँ हों, या और नयी-नयी चीजें हों। सम्भव है बाकी जनसंख्या इन विचारों को तेजी से अपना ले। लेकिन शुरु में अधिकतर इन्हें हिचक और अविश्वास की दृष्टि से ही देखा जाता है, और इन्हें अपनाने के लिए यदि कुछ प्रयत्न होते भी हैं तो वे बहुत ही धीमे होते हैं। लेकिन कुछ समय बाद जब

नये विचार सफल होने लगते हैं तो अधिकाधिक लोग इन्हें मानने लगते हैं। इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि परिवर्तन लाना समुदाय के ऊँचे लोगों का काम है, या परिवर्तन की मात्रा समुदाय के नेतृत्व की कोटि पर निर्भर है। यदि इसका यह अर्थ है कि अधिकांश जनसंख्या नवीन प्रक्रिया करने वाली नहीं होती बल्कि केवल और लोगों के किये हुए काम का अनुसरण करने वाली होती है, तो यह उक्ति काफी सही है, लेकिन अगर इसका यह अर्थ है कि कोई विशिष्ट वर्ग या समूह ही सारे नये विचारों को जन्म देता है तो यह किसी सीमा तक भ्रामक मानी जाएगी। सच यह है कि नवीन प्रक्रिया लागू करने वाला हर व्यक्ति स्वयं में अकेला होता है और कुछ बातों में प्रगतिशील होते हुए भी दूसरी बातों में बिलकुल प्रतिक्रियावादी हो सकता है, इसके अलावा नवीन प्रक्रिया लागू करने वाले दूसरे लोगों के साथ उसका वर्ग, भाईचारे या किसी अन्य प्रकार का रिश्ता नहीं होता। लेकिन कभी-कभी देखने में आता है कि नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों का एक अलग समूह होता है, या वे एक समूह बनाने के लिए विवश हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात का बोध होने लगता है कि उनके हित समान हैं। वस्तुतः उनकी उन्नति में जो रुकावटें होती हैं उनसे विवश होकर उन्हें आत्मरक्षा या आक्रमण की दृष्टि से एक सूत्र में बंधना पड़ता है। नये विचार किसी एक ही वर्ग में उत्पन्न नहीं होते, लेकिन समाज की ओर से नवीन प्रक्रियाओं का जो विरोध होता है उसका सामना करने के प्रयत्न में नवीन प्रक्रिया लागू करने वाले अपने को एक नये वर्ग के रूप में बना पाते हैं।

आर्थिक विकास के सिद्धान्त का यह सामान्य निष्कर्ष बड़ा उपयोगी है कि इस मोड़ पर 'नये लोग' ही परिवर्तन लाने में सबसे महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। इसका अर्थ यह है कि अपेक्षाकृत अधिक गतिरोध वाली पिछली स्थिति में शासक-वर्ग शायद ही कभी नये अवसरों का उपयोग करते या ऐसे संस्थागत परिवर्तन करते पाए जाते हैं जिनसे आर्थिक कामुक के लिए आजादी में वृद्धि होती है। पहली बात तो यह है कि शासक-वर्ग प्रायः यथापूर्व स्थिति से सन्तुष्ट होते हैं, उन्हें नये अवसरों को खोजने की जरूरत महसूस नहीं होती। वर्तमान व्यवस्था में निराश लोग ही अपनी शक्तियों के उपयोग और महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि के लिए दूसरे रास्ते ढूंढते हैं। जहाँ एक ओर यह सही है कि समुदाय के सबसे ऊँचे स्तर के लोग परिवर्तन में पहल नहीं करते, वहाँ यह भी सही है कि सबसे नीचे के स्तर के लोग भी परिवर्तनों की शुरु-आत नहीं करते। समाज के सबसे निचले स्तर के लोग शासन, दृष्टि-शासन या अत्याचार की चक्की में पिस जाते हैं, और उनमें नए अवसरों का उपयोग करने की शक्ति नहीं रह जाती, या यह भी सम्भव है कि वे दलित स्थिति

हो, बिलकुल निरक्षर हों, या उनमें साहस या उद्यम की परम्पराओं का अभाव हो। नये लोग वस्तुतः समाज के मध्यवर्गों से आते हैं, जो साधनों की दृष्टि से उच्च वर्ग के काफी नजदीक होते हैं जिन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और जिनके अन्दर काम करने की परम्परा होती है। जापान में १८६८ के नये लोग रजवाड़ों के निचले स्तर के आदमी थे, जो पुराने विशेषाधिकारों के छिन जाने पर खीझे हुए थे। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप के नये लोग भूतपूर्व कृषि-दास या उनके वंशज थे जो संरक्षण के लिए शहरों में भाग गये थे। अफ्रीका के नये लोग कबीलों से निकले हुए हैं जिन्होंने थोड़ी-बहुत पश्चिमी शिक्षा पाई है और जो कबीले के पुराने रंग-ढंगों को पसन्द नहीं करते। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त सामान्य निष्कर्ष सर्वत्र सही नहीं बैठता। दो-एक नये लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो पुराने अभिजात-वर्ग से आये हों, और दो-एक ऐसे भी हो सकते हैं जो निम्नतम वर्गों से आये हों। बात यह है कि वर्ग के सामान्य लक्षणों के इक्का-दुक्का अपवाद हमेशा पाए जाते हैं। हमारा सामान्य निष्कर्ष केवल यह है कि अधिकांश नये लोग मध्य-वर्ग से आते हैं।

दूसरी बात यह है कि नये अवसर वर्तमान शासक-वर्ग की आर्थिक सत्ता को चुनौती दे सकते हैं। वे भूमि के मूल्य को परिवर्तित कर सकते हैं जिस पर शासक-वर्ग के धन का दारोमदार है। यह भी सम्भव है कि वे कृषि-दासत्व या दासत्व को चुनौती दे दें, या रोजगार के नये अवसर प्रदान करके मजदूरी में वृद्धि कर दें, जिससे शासक-वर्ग के छक्के छूट जाएँ। ऐसी स्थिति में शासक-वर्ग नये अवसरों के विरुद्ध हो जाता है, और तब सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष या गृह-युद्ध तक हो सकता है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि नये अवसरों से शासक-वर्ग को आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की हानि होने का भय तो न हो, अर्थात् उनके धन में कोई कमी आने की सम्भावना न हो, लेकिन वे अन्ततः राजनीतिक दृष्टि से उन्हें परेशान करने वाले हों, अर्थात् नये व्यक्तियों के धनी हो जाने पर उनकी ओर से समान प्रतिष्ठा या राजनीतिक सत्ता की माँग किये जाने का भय हो। ऐसी स्थिति में समझौते की सम्भावना रहती है। हो सकता है शासक-वर्ग नये अवसरों का उपयोग करने में नये लोगों का अनुकरण करने लगें (ब्रिटेन के कोयला और लोहे के उद्योगों के आरम्भिक विकास में वहाँ के पुराने भूस्वामी अभिजात-वर्ग का योगदान उल्लेखनीय है)। इसके अलावा वे अन्तर्वर्गीय विवाह करके या सामन्त पद देकर कुछ नये लोगों को अपने वर्ग में मिलाने के लिए भी राजी हो सकते हैं। इस प्रकार, चरम अवस्था में नये अवसरों का विकास गृह-युद्ध पैदा कर सकता है, पर यह भी सम्भव है कि कम उग्र और कटु संघर्षों के बिना ही

समझौते के आधार पर नये अवसरों का विकास किया जा सके।

उदारतावादी इतिहासकारों ने परिवर्तन लाने में क्रान्ति के योग को नाटकीय रूप देने का प्रयत्न किया है जबकि अनुदारतावादी इतिहासकारों ने इसके महत्त्व को कम करने की कोशिश की है। उदारदल के समर्थकों की दृष्टि में क्रान्ति परिवर्तन की अनिवार्य चरम परिणति है—इसी प्रकार जैसे कि बच्चा पैदा करने के लिए अण्डे का फूटना या किसी का जन्म देने के लिए गर्भावस्था का समाप्त होना आवश्यक है। दूसरी ओर अनुदार दल वालों का कहना है कि क्रान्तिकारी परिवर्तन बहुत कुछ गृह-युद्ध के बिना ही हो जाते हैं। पुराने शासक वर्ग नये विचार अपना लेते हैं और नये शासक-वर्ग के लोग बन जाते हैं या वे नये लोगों से समझौता करके उन्हें अपने पुराने शासक वर्ग में सम्मिलित कर लेते हैं। यदि क्रान्ति होती भी है तो वे नये लोगों के पहले-पहल सामने आने के बहुत बाद—कभी-कभी शताब्दियों बाद—होती है। बात यह है कि क्रान्ति तभी होती है जब नये लोग इतने शक्तिशाली सिद्ध हो चुकते हैं और उन्हें अपने पैर जमाये हुए इतना लम्बा समय हो चुकता है कि वे सरकार को चुनौती देने और हराने के लिए काफी सेना को अपने आदेशों पर चलाने की स्थिति में आ जाते हैं। इस प्रकार का समय आने तक नये लोगों के अधिकांश अधिकार स्वीकार किये जा चुकते हैं। लेकिन ये सामान्य निष्कर्ष सब मामलों में ठीक नहीं बैठते। ये इंगलैंड के गृह-युद्ध, फ्रांस की क्रान्ति और उत्तर और दक्षिण अमरीका के स्वातन्त्र्य युद्ध पर इस रूप में भली प्रकार लागू होते हैं कि इन क्रान्तियों से ऐसी धारणाओं की स्थापना हुई जिन्हें बाद की एक या दो पीढ़ियाँ बिना युद्ध के मान सकती थीं। लेकिन ये सामान्य निष्कर्ष हायतियन क्रान्ति, जापान में पुनःस्थापन, चीनी क्रान्ति (१९१२) रूसी क्रान्ति या तानाशाहों को जन्म देने वाले यूरोप या लैटिन अमरीका के बीसवीं शताब्दी के श्रमिक जागरणों पर लागू नहीं होते। सम्भव है कुछ क्रान्तियाँ इस दृष्टि से 'अनावश्यक' रही हों कि इतिहास अपने आप उस दिशा में जा रहा था लेकिन अन्य क्रान्तियों ने अतीत की परम्पराओं को एकबारगी ही तोड़ दिया और [illegible] पिछली प्रवृत्तियों को उलट ही दिया।

एक दूसरा प्रभाव यह है कि आर्थिक विकास के दौरान में शहर के निवासियों का सदा ही निर्णायक योग रहता है। यह शायद सच है कि शहर के लोग गाँव के लोगों की अपेक्षा परिवर्तन लाने में अधिक योग देते हैं जिसका कारण यह नहीं है कि वे जीवात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट होते हैं बल्कि यह है कि उनका पर्यावरण या अवसर विकास के अधिक अनुकूल होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में मध्ययुग की अन्तिम शताब्दियों में आर्थिक स्वतन्त्रता के

लिए किये गए संघर्ष का नेतृत्व शहरों ने किया, लेकिन शहर के लोगों की प्रवृत्ति अधिकतर राजनीतिक आन्दोलनों के संगठन में प्रमुख भाग लेने की होती है। इसका कारण अधिक आज़ादी प्राप्त करना हो या कुछ और हो, क्योंकि शासन-कार्य प्रायः शहरों में होता है और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा वाले लोग शहरों में खिंचकर चले आते हैं। यह स्वाभाविक है कि शहर के लोग व्यापार, विनिर्माण और परिवहन आविष्कार की उन्नति में आगे बढ़कर हिस्सा लें साथ ही यह भी स्वाभाविक मालूम होता है कि पिछली शताब्दियों में हुई वैज्ञानिक क्रान्ति से पहले तक खेती की टेक्नीक में सुधार करने का अधिकांश काम देहात के लोगों पर निर्भर रहा है। यह भी कहा जाता है कि शहरों का वातावरण विकास के अनुकूल प्रवृत्तियों और विचारों के पक्ष में अधिक होता है। प्रतियोगी जीवन-संघर्ष के लिए लोग बड़ी संख्या में शहरों में केन्द्रित हो जाते हैं जिससे उनके भाईचारे के बन्धन और हैसियत के प्रति परम्परागत आदर-भाव शिथिल हो जाते हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध और व्यापार की जो भी अनुकूल परिस्थितियाँ सामने आएँ उनके उपयोग की इच्छा को बढ़ावा मिलता है और बुद्धि पैनी होती है। हाँ, इन और दूसरे ऐसे मामलों में व्यावसायिक शहरों और सैनिक, धार्मिक या राजनीतिक शहरों के बीच भेद करना वांछनीय मालूम होता है। इसके अलावा, शहरों के अन्दर कला और मनोरंजन का व्यापक वातावरण होने से रुपया खर्च करने के अवसर वस्तुतः असीमित होते हैं, धन को उतना ही महत्त्व प्राप्त होता है जितना ऊँचे वंश में जन्म को होता है, और महत्त्वाकांक्षा को बढ़ावा मिलता है। यह भी कहा जाता है कि शहर के लोग अधिक स्वतन्त्र मस्तिष्क के होते हैं और देहात वालों की अपेक्षा उनके अन्दर अन्धविश्वास कम होते हैं, और इसीलिए वे टेक्नीकों में सुधार लाने वाली वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल की अधिक अनुकूल स्थिति में होते हैं। देहात का आदमी प्रकृति की शक्ति से आतंकित होता है क्योंकि सूखा, बाढ़, तूफान, फसलों की महामारियों, और शक्ति के अन्य प्रदर्शनों के रूप में प्रकृति प्रायः उनके काम को तहस-नहस कर देती है। इसके विपरीत शहर मनुष्य की कृतियाँ हैं जिसने प्रकृति के रहस्यों का काफी हद तक पता लगाकर बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी की हैं, बड़े-बड़े तालाबों में पानी को बाँधा है, और जहाँ आवश्यकता समझी है उसे ले गया है, अपनी सेवा के लिए आकाश से बिजली ली है और इसी प्रकार के दूसरे बड़े-बड़े काम किये हैं। यही कारण है कि शहर के आदमी में बड़ी सरलता से यह विश्वास करने की भावना पाई जाती है कि मनुष्य जो चाहे कर सकता है, बशर्ते कि वह काफी मेहनत करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शहर में बहुत से लोगों के एक साथ रहने के कारण शहरी आदमी की प्रवृत्ति देहात के आदमी से बहुत से मामलों में भिन्न होती

है। यह भी निश्चय है कि इसके फलस्वरूप शहर का जीवन विकास के विशेष अनुकूल होता है। लेकिन शहरों ने मन्दन लाने में भी अपना भाग अदा किया है। बात यह है कि शहर में बहुत लोग इकट्ठे रहते हैं, और उनके अन्दर ऐसे-ऐसे आतंकवादियों को शक्ति में लाने की प्रवृत्ति होती है जो राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने की धुन में आर्थिक स्वाधीनता के अवसरों को कम कर देते हैं। शहर ही एकाधिकारों के अड्डे हैं—व्यापारियों के संघ, श्रेणियाँ, श्रमिक संघ—जिनका उद्देश्य अवसरों पर बन्दिश लगाना और नये लोगों को प्रकाश में आने से रोकना होता है। परिवारों के आकार को कम करने में भी शहर आगे रहता है, जिससे कभी तो प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाने में सहायता मिलती है और कभी इससे प्रतिव्यक्ति आय में गिरावट आ जाती है। इसके अलावा अपना काम अच्छी-से-अच्छी तरह करने के बजाय बेदिली और आक्रोश के साथ करने और काम की मात्रा घटाने के आन्दोलनों में भी शहर ही आगे रहते हैं। अतः जहाँ एक ओर यह कहा जा सकता है कि गतिरोध से विकास की दिशा में ले जाने के लिए शहर नेतृत्व करते हैं, वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि शहर ही समुदाय को विकास से गतिरोध की ओर ले जाते हैं।

एक दूसरा और कुछ-कुछ इससे उलटा सुझाव यह है कि आर्थिक विकास सबसे अधिक जोश के साथ आर्थिक 'सीमाओं' पर होता है। इस अर्थ में 'सीमा' की परिभाषा करना कठिन है, इसके एक भाव तो यह है कि यह वह स्थान है जो देश की व्यापारिक राजधानी से दूरी पर होता है और दूसरा भाव यह है कि यह मनुष्य और प्रकृति के बीच की सीमा है, अर्थात् वह स्थान है जो अभी बहुत कम बसा हुआ है। सीमाओं द्वारा आर्थिक विकास में वृद्धि करने की आशा इस आधार पर की जाती है कि एक तो वहाँ आत्मशासन की गुंजाइश बहुत होती है, और दूसरे, वह राजधानी से इतनी दूर पर होते हैं कि वहाँ कानून, रस्म या संगठित समूहों के दबाव के कारण किसी प्रकार का नियन्त्रण लागू करना आसान नहीं होता। इसलिए सीमाओं के संस्थान मुक्त और सम्वर्धनशील होते हैं। अवसर और स्वाधीनता के इस संयोग से आकर्षित होकर ऊर्जावान लोग जो संकीर्ण परिस्थितियों से निराश होते हैं, अधिक बसे हुए हिस्से से सीमाओं की ओर आने लगते हैं। यह सामान्य निष्कर्ष शायद ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध नहीं किया जा सकता। देश के साधन सीमाओं के क्षेत्र में स्थित हों या नहीं और, देश साधनसम्पन्न होगा तो वहाँ आप्रवासी अवश्य आकर्षित होंगे, और यदि देश के अन्दर आप्रवासियों की संख्या काफी है तो उनके सामाजिक संस्थान भी लचीले होंगे। जैसे-जैसे देश के साधन समाप्त हो जाएँगे, या उसकी भूमि पर बसावट होती जाएगी, या उसके

तुलनात्मक लाभों में कमी आती जाएगी, वैसे-वैसे आप्रवासन कम होता जाएगा और उस देश के सम्भान अधिक अनम्य होने लगेंगे। यहाँ तक तो ठीक मालूम होता है लेकिन देश की सीमाओं के साथ इसका सम्बन्ध होने के कोई विशेष कारण दिखाई नहीं देते। सीमाओं पर कभी-कभी आकर्षक साधन पाए जाते हैं, और कभी नहीं भी पाए जाते। पिछले हजारों साल के इतिहास में संसार के हर देश की इन अर्थों में सीमाएँ रही हैं, लेकिन बहुत ही थोड़े देश ऐसे हैं जिनकी सीमाओं ने आर्थिक विकास को गति देने में महत्त्वपूर्ण योग दिया हो।

यह सुझाव अधिक संगत मालूम होता है कि सामान्य राजनीतिक या सांस्कृतिक अर्थ में जहाँ दो राष्ट्र या दो संस्कृतियाँ मिलती हैं वे सीमाएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसका कारण विदेशियों द्वारा आर्थिक विकास में दिया गया निर्णायक योग है। दरअसल बहुत ही थोड़े देश ऐसे मिलेंगे जिनमें विकास का त्वरण केवल देश के अन्दर के क्रमिक विकास से ही हो गया हो। इसके उदाहरण पाँच हजार वर्ष पहले के चीन का उपजाऊ क्रीसेण्ट और नवजागरणकाल (रिनेसाँ) का इटली है। बाकी अधिकतर देश विदेशियों के सम्पर्क से ही अधिकांश त्वरण कर पाए हैं। विदेशी व्यक्ति सामाजिक व्यवहार और सामाजिक सम्बन्धों के नये विचार लेकर आते हैं जो स्थापित रीतियों को चुनौती देते हैं, और उनके प्रति नैतिक आग्रहों में विश्वास शिथिल कर देते हैं। विदेशी लोग व्यापार या रोजगार के नये अवसर भी प्रदान करते हैं। यह भी सम्भव है कि वे वर्तमान शासक-वर्ग के शिकंजे को शिथिल कर दें जिससे नये लोगों को आर्थिक चातुर्य करने में या राजनीतिक विप्लव करने में आसानी हो। विदेशी यह काम युद्ध की धमकी देकर, या युद्ध करके, या देश को जीतकर, या चरम स्थिति में वर्तमान शासक-वर्ग को पदच्युत करके भी कर सकते हैं। विजेता का व्यवहार दूसरा होता है और इससे परिवर्तन की सम्भावनाओं में बड़ा अन्तर आ सकता है। कुछ विजेता वर्तमान शासकों से समझौता कर लेते हैं और विरोधी समूहों का सामना करने के लिए इन शासकों का समर्थन करते हैं, कुछ विजेता ऐसे भी होते हैं जो शासक-वर्ग का तख्ता उलटने के लिए विरोधियों का समर्थन करते हैं। हाल की शताब्दियों में इस मामले में ब्रिटेन और फ्रांस वालों के बीच दिलचस्प अन्तर देखने में आए हैं। भारत और अफ्रीका के उन भागों में, जिनमें शासक-वर्ग प्रबल थे, जैसे उत्तरी नाइजीरिया में, वहाँ ब्रिटेन की प्रवृत्ति शासक-वर्गों का समर्थन और नये लोगों से खराब सम्बन्ध रखने की रही है। यही कारण है कि नये लोगों ने साम्राज्यवाद को प्रतिक्रिया और गतिरोध का ही दूसरा नाम बताया है—सामान्यतया साम्राज्यवादियों के विरुद्ध यह आरोप सही नहीं है। दूसरी ओर, फ्रांस ने नये लोगों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखे हैं, और अफ्रीकियों या एशियावासियों को

फ्रांसीसी बनाने तक के प्रयत्न किये हैं, और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का एक भाग मानकर ऊँचे से-ऊँचे पद दिये हैं। वैसे यह नहीं समझना चाहिए कि हम विजेताओं की बात पर ही जोर दे रहे हैं, क्योंकि विदेशी व्यापारी भी, युद्ध करके या बिना युद्ध के, इतना ही महत्त्वपूर्ण या इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं।

विदेशी प्रभाव का एक अप्रत्यक्ष परिणाम राष्ट्रीयता की वृद्धि है, जिसने इन दिनों महत्त्वपूर्ण आर्थिक नतीजे प्रकट किये हैं। हम राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलनों का सम्बन्ध उन देशों से जोड़ते हैं जो अभी पिछले दिनों तक उपनिवेश थे या आज भी हैं, लेकिन राष्ट्रीयता की भावना इन्हीं देशों तक सीमित नहीं है। आजकल लगभग सभी पिछड़े हुए देश अपने पिछड़ेपन के विरोधी हैं, और विकास को बढ़ावा देने के इच्छुक हैं, और पिछड़ापन चूंकि बिलकुल सापेक्ष शब्द है अतः लोगों की यह इच्छा कि उनका देश आर्थिक विकास की दौड़ में दूसरे देशों से पीछे न रहे, ब्रिटेन से लेकर चीन तक भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक नीतियों में महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर रही है।

राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाएँ कभी-कभी विकास को बढ़ावा देती हैं, लेकिन सदा ही ऐसा नहीं होता। बात यह है कि राजनीति के नये लोग और आर्थिक क्षेत्र के 'नये लोग' एक ही नहीं होते, न अनिवार्य रूप से एक ही वर्ग से आये होते हैं और न सदा एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते हैं। असल तो सभी राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ आर्थिक विकास के पक्षपाती नहीं होते। गांधी-जैसे कुछ लोग 'पाश्चात्यवाद' के विरोधी रहे हैं और पुराने तरीकों को ही फिर से अपनाना पसन्द करते रहे हैं। यह अवश्य है कि राष्ट्रीय नेताओं में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है। दूसरे, आर्थिक क्षेत्र के नये लोगों में से अनेक विदेशी हैं, और राष्ट्रीय नेता उनके प्रति शंकालु हैं या उन्हें पसन्द नहीं करते और इसीलिए उन्हें प्रोत्साहन देने के बजाय उनके मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। इसके अलावा अनेक राष्ट्रीय नेता समाजवाद की ओर झुके हुए हैं, अतः वे अपने ही देश के बुर्जुआ वर्ग के प्रति शंकालु हैं और उनकी गतिविधियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी राष्ट्रीय सरकारें अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं का 'आधुनिकीकरण' करने की दिशा में प्रयत्नशील होती हैं, उनमें से कुछ शिक्षा-सुविधाएँ बढ़ाती हैं, कुछ अत्याचारी जमींदारों से किसानों का बचाव करती हैं, कुछ सड़क, पानी या दूसरी लोक-सेवाओं में पूंजी-निर्माण की योजनाएँ आरम्भ करती हैं, कुछ उदग्र गतिशीलता के मार्ग में आने वाली जाति या दूसरी रुकावटों के विरोध में कार्रवाई करती हैं, कुछ पन्थविश्वासी पुरोहितवाद की शक्ति को कम करती हैं और कुछ दूसरे तरीकों से परिवर्तन लाने के प्रयत्न करती हैं। राष्ट्रीयता एक खतरनाक शक्ति है, क्योंकि यह

प्राय: आम जनता के अन्दर ईर्ष्या या घृणा की भावनाएँ ज्यादा पैदा की जाती हैं, लेकिन कभी-कभी राष्ट्रीयता में निर्माण की शक्ति भी होती है और उससे आर्थिक विकास के अनुकूल संस्थानिक परिवर्तन करने में बड़ा सहयोग मिलता है।

इससे हम फिर वहीं आ जाते हैं जहाँ से हमने चर्चा आरम्भ की थी, अर्थात आर्थिक विकास केवल व्यक्तियों के चातुर्य का ही परिणाम नहीं होता, बल्कि सरकारों की कार्यवाहियों का भी परिणाम होता है। अत: स्थगन में नया मोड़ तभी आ सकता है जब लोगों का कोई ऐसा समूह—उदाहरणार्थ राष्ट्रवादियों का—शक्ति में आ जाता है जो आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है और इस काम के लिए ठोस कदम उठाता है। इन मामलों की मौलिकवादी कल्पना में नये निजी उद्यमकर्ता पहले सामने आकर सरकार का हथियार लेते हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करते हैं। यह भी सम्भव है कि नये निजी उद्यमकर्ताओं और राज्य के नये शासकों के बीच विशेष सम्बन्ध न हो, इनमें से कोई पहले आ सकता है और कोई बाद में, और ये एक-दूसरे के विरोधी या एक-दूसरे के प्रति उदासीन हो सकते हैं। यदि सरकार दृढ़प्रतिज्ञ हो और समझदार हो तो वह लोकसेवा में सुधार करके, शिक्षा के माध्यम से संस्थानों में सुधार करके, नये उद्योगों को बढ़ावा देकर, या नयी प्रौद्योगिकी के उपयोग में अग्रगामी बनकर आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में बड़ा योगदान कर सकती है। अन्तिम अध्याय में हम इन मामलों पर ब्यौरे से विचार करेंगे।

अब हम उन मोड़ों की चर्चा करेंगे जहाँ से आर्थिक विकास की गति में मन्दन आने लगता है। यहाँ भी आर्थिक अवसर कम होने से पैदा होने वाला मन्दन और आर्थिक अवसरों में कमी हुए बिना ही आर्थिक चातुर्य की आज़ादी पर प्रतिबन्ध लगाने वाले संस्थानिक परिवर्तनों के कारण होने वाला मन्दन अलग अलग देखना होगा। अवसर कम होने से संस्थानों में प्रतिकूल परिवर्तन हो सकता है, लेकिन हम इसमें और उस संस्थानिक परिवर्तन में भेद करना चाहते हैं जो संस्थानों के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप होता है, न कि आर्थिक परिस्थितियों के बदलने से।

आर्थिक परिस्थितियों में प्रतिकूल परिवर्तन अनेक कारणों से हो सकते हैं। प्राकृतिक साधन समाप्त हो सकते हैं या जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ या घट सकती है। यह भी सम्भव है कि बेहतर साधनों वाले दूसरे देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उग्र प्रतियोगी के रूप में सामने आ गए हों या देश की पूँजी या कुशल लोग भारी परिमाण में नये विकासशील देशों में जाने लगे हों। प्राकृतिक आपदाएँ भी आ सकती हैं—जैसे भूकम्प या तूफान—या युद्ध के भी

ऐसे ही प्रभाव हो सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि देश के सर्वोत्कृष्ट लोगों के बाहर चले जाने से, या घटिया लोगों के देश में आ जाने से, या उत्कृष्ट लोगों के घटिया लोगों के साथ अन्तर्विवाह कर लेने से जनन-सम्बन्धी प्रतिकूल परिवर्तन पैदा हो सकते हैं। लेकिन इस विषय में हमारा इतना ज्ञान नहीं है कि हम इस पर गम्भीरता से विचार कर सकें। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अमीर होने के साथ-साथ लोगों के अन्दर कम काम करने की जो प्रवृत्ति पैदा होती है उससे भी गतिरोध की अवस्था आना स्वाभाविक है। कुछ लोगों के अनुसार गतिरोध का कारण यह है कि लोग बहुत अधिक व्यय करने लगते हैं जबकि दूसरों के अनुसार कारण यह है कि वे बहुत अधिक बचाने लगते हैं या सरकार और दलालों में बहुत ही धन नष्ट होने लगता है, या भुक्खड़ नौकरशाही बढ़ने लगती है या इसी प्रकार की और बातें पैदा हो जाती हैं। ये बातें अपरिहार्य हैं या नहीं और इनके प्रभाव क्या हो सकते हैं इस पर हम बाद के अध्याय में विचार करेंगे। इस समय तो यही ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि इनमें से किसी कारण से अर्थ-व्यवस्था में गिरावट आ सकती है और पुराने जमाने में प्रायः आई है।

हमारी वर्तमान दिलचस्पी पिछले पैरा में उल्लिखित बातों के कारण नहीं, बल्कि केवल सांस्थानिक परिवर्तन के कारण पैदा होने वाली आर्थिक गिरावट पर विचार करने में है। इस दृष्टि से आर्थिक गिरावट का कारण अवसर और उनसे लाभ उठाने की शक्ति के बीच बढ़ता हुआ अन्तर हो सकता है, या व्यापार के अवसरों में बढ़ते हुए प्रतिबन्ध हो सकते हैं, या आर्थिक स्वाधीनता पर बढ़ती हुई पाबन्दियाँ हो सकती हैं। हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्हें इस प्रकार की रुकावटें डालने में दिलचस्पी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें दूसरों के परिश्रम के फल में से अधिकाधिक भाग लेने के रूप में लाभ हो सकता है, उदाहरण के लिए जमींदार और कृषि दासों या दासों के होने वाले स्वामी, ये लोग क्रान्ति करके भी राजनीतिक सत्ता प्राप्त करते और फिर से आर्थिक शोषण की स्थिति को लाने के प्रयत्न कर सकते हैं। ऐसे लोग भी होते हैं जो अपना आभिजात्य की मान्यता को कायम रखना चाहते हैं और आरोही करारोपण, निःशुल्क शिक्षा, मृत्युकर जैसे उपायों से अवसरों की अधिकाधिक समानता पैदा करने के विरोधी होते हैं, ये लोग भी सदा हमेशा रहे हैं। इनके अलावा व्यवसायी एकाधिकारी भी होते हैं जो ऐसे कार्य भी स्वीकार हो सकते हैं जिनसे किसी को प्रतियोगिता से हानि पहुँचती हो, इस दायरे में लगभग सभी लोग आ जाते हैं, क्योंकि उत्पादक के रूप में हम सभी को प्रतियोगिता से हानि पहुँचती है, और लाभ केवल दूसरे लोगों की तैयार की हुई चीज़ों के खरीदार के रूप में मिलता है, और इस प्रकार व्यापारी और

दक्षिणपन्थी दोनों प्रकार के राजनीतिज्ञों को प्रतियोगिता, व्यापार, परिवर्तन और विकास पर प्रतिबन्ध लगाने के समान आधार मिल जाते हैं। अन्त में, आयोजक भी, चाहे वे वामपन्थी हों या दक्षिणपन्थी, प्रायः आर्थिक स्वाधीनता के परिणामों को पसन्द नहीं करते और प्रबन्धकों, श्रमिकों और साधनों के नियन्त्रकों पर इस प्रकार के व्यापक विनियम लागू करते हैं जिनसे परिवर्तन की गति कम हो जाती है। यह अनिवार्य नहीं है कि आर्थिक विकास एक बार प्रारम्भ होने पर सदा जारी ही रहे।

इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि संस्थानिक परिवर्तन केवल स्थूल पर्यावरण, प्रौद्योगिकी, या अन्य भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तनों पर ही निर्भर नहीं होते। इन चीजों में परिवर्तन होने से प्रायः संस्थानों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं, लेकिन यह भी सम्भव है कि भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुए बिना संस्थान स्वयं बदलने लगें। इसका उदाहरण हायतियन क्रान्ति है, जिसने दासत्व पर आधारित समृद्धि को नष्ट करके उसके स्थान पर निर्धनता और आजादी की स्थापना की—यह क्रान्ति प्रौद्योगिकी या पर्यावरण-सम्बन्धी परिवर्तन का परिणाम नहीं थी। इसके विपरीत विचार आर्थिक प्रवृत्ति की राजनीतिक और दूसरे सामाजिक विश्वासों और सम्बन्धों पर आधिपत्य जमा लेने की शक्ति को दिये गए अत्यधिक महत्त्व पर आधारित है। आर्थिक प्रवृत्ति जिस क्रिया के विकास के अनुकूल हो राजनीतिक प्रवृत्ति, या सामाजिक दृष्टिकोणों की प्रवृत्ति, या प्रथाओं और निषेधों की प्रवृत्ति उसकी बिलकुल विपरीत दिशा में हो सकती है। समृद्धि का नाश करने के लिए इतना ही काफी है कि लोग ऐसी आदतों और विश्वासों को अपना लें जो आर्थिक विस्तार के अनुकूल न हों, या ऐसे समूहों के हाथ में सत्ता आ जाए जो संस्थानों में प्रतिकूल परिवर्तन लागू करने के पक्ष में हों।

समाज अपने विभिन्न समूहों को प्रतिबन्धक उपाय करने के लिए राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने देगा अथवा नहीं, यह बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि उस समाज के लोग राजनीतिक और आर्थिक मामलों में कितने शिक्षित हैं। अगर काफी लोग मुक्त अर्थ-व्यवस्था को महत्त्व देते हों, और उसे सुरक्षित रखने के लिए जागरूक हों तो अर्थ-व्यवस्था मुक्त रहती है। इस बात का समाधान करने के लिए कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक सुगमता से आजादी किस प्रकार प्राप्त कर लेते हैं या सुरक्षित बनाए रखते हैं बड़ी खोज की आवश्यकता है, और उससे शायद कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सकते। हमारे प्रयोजनों के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि कुछ समुदायों के इतिहास और परम्पराओं में आजादी के बराबर दर्शन होते हैं जबकि दूसरे समाजों में सत्तावादी नियमन का लम्बा इतिहास और परम्परा

पाई जाती है। जिस देश में आज़ादी की लम्बी परम्परा रही है वह अपने संस्थानों को आज़ाद रखने में जागरूक होता है और यदि वह इसमें असफल हो जाए तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह युद्ध, या आर्थिक साधनों की कमी आदि गम्भीर कठिनाइयों में पड़ गया है, जिनके कारण आज़ादी में उसका विश्वास उठ गया है। दूसरी ओर जिस देश में अनुदार संस्थानों की लम्बी परम्परा रही है उसे अपनी आज़ादी प्राप्त करने और उसे बनाये रखने में कठिनाई होती है।

इतिहास और परम्परा के ये अन्तर कभी-कभी भौगोलिक कारणों पर आधारित होते हैं। बात यह है कि जिस प्रकार विदेशी प्रभाव विकास का श्रीगणेश करने में बड़ा सहायक होता है, उसी प्रकार वह गिरावट लाने के लिए भी बड़ी हद तक जिम्मेवार हो सकता है। जिस देश तक पहुँचना आसान हो उसके संस्थानों का आज़ाद बना रहना बहुत सम्भव होता है, क्योंकि तब सामाजिक रचना का कठिन बना रहना मुश्किल हो जाता है। लोगों का आना-जाना लगा रहता है और इसी प्रकार वस्तुओं और विचारों का आवागमन भी चलता रहता है। नये अवसरों के कारण नये-नये लोग अमीर-गरीब बनते रहते हैं, और उनसे ऊँची सामाजिक गतिशीलता बनी रहती है। नये विचार गन्दे अन्धविश्वासों को जड़ जमाने से रोकते हैं। अपरिचितों का निरन्तर सम्पर्क होने के कारण लोगों से हैसियत की बजाय उनके गुणों के आधार पर व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है। और इसी प्रकार की और बातें भी होती हैं। सुगम होने से देश की आज़ादी बने रहने की गारण्टी नहीं मिल जाती, इसमें विदेशियों द्वारा आधिपत्य जमा लेने का खतरा भी बढ़ सकता है। लेकिन ऐसे देश में आज़ादी के दुश्मनों को पैर जमाना मुश्किल होता है, और विदेशी विजेता तक को देश के आर्थिक विकास में बाधक न बनना लाभप्रद दिखाई दे सकता है।

(ख) परिवर्तन का चक्र—इस अध्याय का उद्देश्य एक विशिष्ट दृष्टिकोण से संस्थानों का अध्ययन करना है, अर्थात् हम यहाँ प्रयत्न और पारिश्रमिक के सम्बन्ध, विशेषज्ञता की सुविधा, या आर्थिक स्वतन्त्रता की वृद्धि के जरिए विकास में सहायता देने या उस पर प्रतिबन्ध लगाने की दिशा में संस्थानों के क्रमिक विकास का अध्ययन कर रहे हैं। हम इस क्रमिक विकास के कारण, और उससे पैदा होने वाली सचयी प्रक्रियाओं का अध्ययन कर चुके हैं, और हम यह भी देख चुके हैं कि मन्दन की स्थिति भी आ सकती है, और ह्रास की दिशा में उससे भी सचयी प्रभाव होते हैं। अब हमें सामाजिक क्रमिक विकास के सिद्धान्तों पर विचार करना है। क्या संस्थानिक परिवर्तन अनिवार्य रूप से किसी एक ही तरीके से होते हैं? क्या परिवर्तन की निश्चित क्रमिक अवस्थाएँ

हैं ? क्या 'उन्नति' अनिवार्य है ? या इतिहास की गति किसी चक्रीय क्रम के अनुसार होती है ?

बहुत से लोगों ने ऐतिहासिक घटनाओं से यह समझाने की कोशिश की है कि हर समुदाय को क्रमिक विकास की कुछ निश्चित अवस्थाओं से गुज़रना आवश्यक है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हर लेखक ने इन अवस्थाओं की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। यदि उसे इसमें दिलचस्पी है कि लोग किस प्रकार अपनी जीविका कमाते हैं तो उसने समुदाय को अनिवार्य रूप से खाना-बदोशी की स्थिति, उसके बाद एक स्थान पर बसकर खेती करने की स्थिति, फिर व्यापार और उसके बाद उद्योग की अवस्थाओं से गुज़रते हुए पाया है, और उसने सस्थाना में इस प्रकार के परिवर्तन ढूँढने की कोशिश की है जो जीविका कमाने के उपर्युक्त हर तरीके के अनुकूल आते चले गए हैं। यदि उसे वर्ग-सम्बन्धों में दिलचस्पी है तो वह आदिम समुदायवाद, दासत्व, कृषि-दासत्व, सर्वहारावाद और 'समाजवाद' की क्रमिक अवस्थाओं के दर्शन कर सकता है। यदि वह धार्मिक परिवर्तनों का अध्ययन करना चाहे तो सर्वात्मवाद और पितृ-पूजा से लेकर एकेश्वरवाद और हेतुवाद तक की अवस्थाएँ देख सकता है। या राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में परिवार से गाँव, फिर राष्ट्र, साम्राज्य और अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में बढ़ती हुई निष्ठा के दर्शन करने का दावा कर सकता है।

अवस्थाओं की अनिवार्य क्रमिकता अब लोकप्रिय विचार नहीं रहा है। अब साम्यवादियों तक ने यह विचार छोड़ दिया है कि हर देश को समाजवाद तक पहुँचने के लिए पूँजीवाद से होकर गुज़रना आवश्यक है, या चीन में साम्यवाद स्थापित होने के बाद से साम्यवाद की स्थापना केवल शहरी सर्व-हारा-वर्ग ही कर सकता है, किसान-वर्ग नहीं कर सकता। अब यह स्पष्ट हो गया है कि कोई समुदाय इनमें से एक या एक से अधिक अवस्थाओं को लाँघ सकता है, उदाहरण के लिए वह 'कृषि-दासत्व' से 'समाजवाद' तक सीधी 'छलाँग' लगा सकता है। और यह भी उतना ही स्पष्ट हो गया है कि समुदाय जिस प्रकार 'आगे' बढ़ सकता है उसी प्रकार 'पीछे' भी हट सकता है, उदाहरण के लिए राजनीति में साम्राज्यवाद से जातिवाद की ओर जा सकता है या राष्ट्रीयता से प्रान्तीयता के प्रति निष्ठा की ओर जा सकता है। अवस्थाओं को अब अनिवार्य न मानने का एक कारण यह है कि हम एक समुदाय के दूसरे समुदाय पर पड़ने वाले प्रभाव को समझ गए हैं। पहले जब समुदाय अधिक अलग-थलग थे तब शायद हर समुदाय शेष संसार की घटनाओं से प्रभावित हुए बिना ही क्रमिक अवस्थाओं से गुज़र सकता था, लेकिन आजकल कुछ शक्तिशाली राज्यों का प्रभाव सारे संसार पर व्याप्त है, और अधिक-से अधिक

आदिम समुदाय तक भिन्न-भिन्न 'अवस्थाओं' में होते हुए भी सबसे अधिक उन्नतिशील देशों का अनुसरण करते हैं। साथ ही जो अपने को सर्वाधिक उन्नत विचारों वाला समझते हैं वे अपने प्रचार की टेक्नीकों को भी अजेय मानते हैं साम्यवादियों का विश्वास है कि वे हर अवस्था वाले समाज को साम्यवाद में ढाल सकते हैं, हेतुवादी समझते हैं कि हेतुवाद सबके लिए अच्छा है, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी अपने आदर्शों को दूर बसे हुए और आत्म-निर्भर गाँवों में भी ले जाने का प्रयत्न करते हैं। अवस्थाओं की अनिवार्यता के विचार का विरोध सबसे अधिक वे लोग करते हैं जिनका विचार है कि वे सबसे अगली अवस्था में पहुँच चुके हैं।

अवस्थाओं का विचार कुछ सीमा तक इस विश्वास से भी सम्बन्धित था कि हर समुदाय में उन्नति होना अनिवार्य है। यह विचार उक्त विश्वास के ढहने के साथ ही समाप्त हो गया। उन्नति का विचार मानव-इतिहास के लिए अपेक्षाकृत नया है। १८वीं शताब्दी से पहले प्रायः यह विश्वास प्रचलित था कि भूतकाल स्वर्णिम युग था, और इतिहास मनुष्य के पतन का साक्षी है। इसके बाद दो शताब्दियों तक मनुष्य उन्नति की अनिवार्यता में विश्वास करते रहे, यह विश्वास तब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जब शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के संयोग को पूरा करने के लिए जीवात्मक क्रमिक विकास के सिद्धान्त सामने आए—मस्तिष्क का क्रमिक विकास हेतुवाद की दिशा में हुआ, और आत्मा का उदारतावाद की दिशा में। अब शायद ही कोई व्यक्ति उन्नति की अनिवार्यता में विश्वास करता है, और बहुत से लोग तो इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि विकास कोई सार्थक संकल्पना है। इस चर्चा को अपने विषय की परिधि में लाने के लिए हम इतना ही कहेंगे कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि संस्थान विकास की अनुकूल दिशाओं में सबकी रूप से विकसित होते हैं, क्योंकि स्पष्टतः भूतकाल में अनेक ऐसे समय आए हैं जब-कि इसके विपरीत घटनाएँ हुई हैं—दासता ने आज़ादी का स्थान लिया है, या व्यापार पर निरन्तर बढ़ती हुई रुकावटों ने विशेषज्ञता में कमी की है या सामाजिक वर्गों और जातियों के बढ़ते हुए बन्धनों ने आर्थिक चातुर्य के अवसर कम कर दिए हैं। आर्थिक विकास अनिवार्य नहीं है, और बड़े-से-बड़ा ज़ोरदार विकास भी दबाया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आशावादी तो अच्छी तरह समझते थे कि भूतकाल में विकास प्रायः दबा दिया गया है, क्योंकि वे उनका विश्वास इस विचार पर आधारित था कि लोग—या कम-से-कम यूरोपीय जातियों के लोग—अपनी शक्ति ज्ञान के बल पर ऐतिहासिक परिणामों में बदल सकते हैं। यह धारणा तब अधिक सही मालूम होती है जब हम कहते हैं कि पुराने ज़माने में विकास

इसलिए दबाया जा सका कि लोगो को उसके बारे मे पर्याप्त ज्ञान नहीं था, या लोग उन तरीको को ठीक से नही जानते थे जिनसे विकास दबाया जाता था। उन्हे अपनी आजादी इसीलिए खोनी पडी क्योंकि उन्हे अपनी आजादी पर होने वाले आक्रमणो को पहचानने और प्रतिरक्षा के अजेय उपाय करने लायक राजनीतिक ज्ञान नही था। या उन्होने आर्थिक विकास को दबाने वाले उपाय इसी कारण लागू हो जाने दिए क्योंकि उन्हे अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान नही था। समाज-विज्ञानो के ज्ञान के सचय और लोगों मे उसके प्रसार, और मानवीय सम्बन्धो मे तर्क की अधिकाधिक प्रयुक्ति से आगे आने वाले समय मे विकास की सम्भावनाएँ अधिक निश्चित रहेगी। मानव-मामलो मे तर्क की शक्ति के प्रति यही विश्वास बीसवी शताब्दी मे लुप्त हो गया है। हम समझते है कि मानव मामले मनुष्य की इच्छाओं से नियमित होते हैं, और तर्क देकर उन्हे सही या गलत सिद्ध नही किया जा सकता, या केवल युक्तिसगत प्रदर्शनो से इनका प्रतिरोध सम्भव नही है।

विकास या गिरावट की अनिवार्यता से इन्कार करने का यह अर्थ नही है कि हम चक्रीय सकल्पनाओ को मान रहे है। इस मामले मे निष्पक्ष दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है, अर्थात् न तो विकास की अनिवार्यता को स्वीकार किया जाए और न चक्रीय गति की अनिवार्यता को सही माना जाए। बात यह है कि विकास की दर मे परिवर्तन केवल सस्थानो के क्रमिक विकास पर ही निर्भर नही होते। एक बार फिर हम बदलते हुए आर्थिक अवसरो के कारण होने वाले परिवर्तन और सस्थानो के क्रमिक विकास के कारण होने वाले परिवर्तन का भेद स्पष्ट कर दें। इस प्रकार, विकास की गति धीमी होने का कारण यह भी हो सकता है कि जनसख्या साधनो की तुलना मे अधिक बढ रही हो, या देश मे कोई प्राकृतिक आपदा आ गई हो, या ससार के व्यापार मार्गों मे परिवर्तन हो गया हो, या जिस वस्तु के उत्पादन मे देश को विशेषज्ञता प्राप्त हो उसकी मांग ससार मे कम हो गई हो, या और ऐसे कारण पैदा हो गए हो जो आन्तरिक सस्थानो के परिवर्तन से सम्बन्धित नही है। इस बात मे विश्वास किए बिना ही कि सास्थानिक परिवर्तन का चक्र अनिवार्य है, इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि उपर्युक्त प्रकार के किसी-न-किसी कारण से कम या अधिक समय मे विकास की गति का अन्त अवश्यम्भावी है। वैसे, इस अध्याय मे हम केवल सस्थानो के क्रमिक विकास से होने वाले परिवर्तनो पर ही विचार कर रहे हैं, दूसरे कारणों से होने वाले परिवर्तनों पर बाद के अध्यायो मे विचार किया जाएगा।

सास्थानिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त इस बात पर ज़ोर देते हैं कि विकास के ही फलस्वरूप सकोच की स्थिति आती है और सकोच के फलस्व-

रूप विकास प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस चक्र का दीर्घकालीन प्रभाव यह होता है कि रहन-सहन के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आता। बात यह है कि चक्रीय गति दीर्घकालीन विकास या गिरावट के काफी अनुकूल होती है। इन सिद्धान्तों में इस बात पर भी जोर नहीं दिया जाता कि विकास की दिशा में गति और गिरावट की दिशा में गति की मात्राएँ बराबर होनी चाहिएँ। इनका आशय केवल यही है कि विकास के बाद गिरावट की स्थिति आनी चाहिए और गिरावट के बाद विकास की।

सांस्थानिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त तीन प्रकार के हैं—एक जीव विज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित है, दूसरा सामाजिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र से और तीसरा सामाजिक समूह विभाग से।

जीवन विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों का कहना है कि एक दिशा में होने वाली गति एक प्रकार के जीवात्मक लोगों से सम्बन्धित है और दूसरी दिशा में गति दूसरे प्रकार के जीवात्मक लोगों से सम्बन्धित है। एक प्रकार की जीवात्मकता वाले लोग विकास को बढ़ावा देने वाले संस्थानों पर अनुकूल प्रभाव डालते हैं जबकि इससे विपरीत प्रकार के लोग विकास पर प्रतिबन्ध लगाने वाले संस्थानों के पक्ष में होते हैं। और इन सिद्धान्तों के अनुसार इन दो प्रकार की जीवात्मकता वाले लोग बारी-बारी से प्रभाव में आते हैं। जब प्रगतिवादी लोग शक्ति में होते हैं तो वे विकास को बढ़ावा देते हैं। लेकिन शासक-वर्ग में अनिवार्य रूप से प्रगति विरोधी लोग आ मिलते हैं। ऐसा क्यों होता है यह स्पष्ट नहीं है। शायद प्रगतिवादी लोगों का पूर्ण रूप से पुनरुत्पादन नहीं हो पाता—समाज के शासक-वर्गों में अन्य वर्गों की तुलना में प्रायः कम बच्चे होते हैं या शायद शासक-वर्ग के लोग प्रगति विरोधी लोगों के साथ अन्तर्विवाह कर लेते हैं। मानव जीवात्मकता और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्धों के बारे में हम काफी जानकारी नहीं है अतः इस विषय पर अधिक विचार करना हमारे लिए उपयोगी नहीं होगा।

सामाजिक प्रवृत्तियों का चक्र जीवात्मक भेदों से मेल नहीं खाता बल्कि इसका सम्बन्ध हममें से हर व्यक्ति के अन्दर मौजूद विरोधी आग्रहों से है। हममें से हर व्यक्ति को विकास के लाभ और स्थिरता के लाभ मालूम होते हैं। हममें से हर व्यक्ति आज़ादी भी चाहता है और नियन्त्रण भी चाहता है। हममें से हर व्यक्ति भौतिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है और साथ-ही यह भी अच्छी तरह समझता है कि आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक पदार्थ महत्त्वहीन हैं, आदि आदि। जब विकास प्रारम्भ होता है तो हम इसके प्रति उत्साही होते हैं लेकिन कुछ समय बाद उत्साह फीका पड़ जाता है। तब हम स्थिरता की इच्छा करने लगते हैं, भौतिकवाद को ठुकराकर आध्यात्मिक

चिन्तन मे लग जाते हैं, और इसी प्रकार की अन्य बातें करते हैं। इस तरह सामाजिक प्रवृत्तियाँ एक बार विकास का पक्ष लेती हैं और दूसरी बार उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाती हैं, और इन्ही की दिशाओं मे सामाजिक संस्थान भी बदलते हैं। लेकिन जब तक हम प्रवृत्तियों मे परिवर्तन और संस्थानो मे परिवर्तन का सम्बन्ध सिद्ध नहीं करते तब तक इस प्रकार का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन के कारण बतलाने मे असमर्थ है। बात यह है कि संस्थान लोगो के समूहो के प्रयत्नो के फलस्वरूप बदलते हैं, जो प्राय इसलिए किये जाते हैं कि लोगो को इन संस्थानो को बदलने मे हित (भौतिक, राजनीतिक धार्मिक) दिखाई देता है, और परिवर्तन का विरोध वे दूसरे समूह करते हैं जिन्हें यथापूर्व स्थिति बनी रहने से लाभ होता है। अत सामाजिक परिवर्तन के प्रत्येक सिद्धान्त के लिए आवश्यक है कि वह विरोधी हितों (जिनका भौतिक होना जरूरी नहीं है) वाले सामाजिक समूहों के व्यवहार की व्याख्या प्रस्तुत कर सके।

सामाजिक समूह-विन्यास के चक्रीय सिद्धान्त आदर्शवादी हो सकते हैं या भौतिकवादी भी हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि अभी ऊपर कहा गया है कि ये आदर्शवादी सिद्धान्त भी इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य के विश्वास दो विरोधी बिन्दुओं के बीच झूलते रहते हैं। कभी हम परिवर्तन का पक्ष लेते हैं, और कभी स्थिरता का, कभी आजादी चाहते हैं और कभी सत्ता के अधीन रहना पसन्द करते हैं, कभी सासारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं और कभी ईश्वर विषयक मामलो मे गहन रुचि दिखाते हैं। किसी समय विशेष मे जो प्रवृत्ति अधिक बलवती होती है वही अपना प्रभाव जमा लेती है, उस प्रवृत्ति के पक्षपाती लोग प्रभाव मे आ जाते हैं और सत्ताधीश हो जाते हैं, और उन्हीं की दृष्टि के अनुसार संस्थानो मे परिवर्तन होने लगते हैं। कुछ समय बाद लोग जीवन के प्रति इनके दृष्टिकोण का विरोध करने लगते हैं। जिस उत्कट प्रेरणा के साथ इन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्थापित किया था वह ध्वस्त होने लगती है, भ्रष्टाचार बढ जाता है, और इनके विचारो की खामियाँ अधिक स्पष्ट होने लगती हैं। परिणाम यह होता है कि विरोधी सम्प्रदाय जन्म लेने लगते हैं, और उसके बाद पुराने तन्त्र को उखाड फेंकने मे बस इतनी कसर रह जाती है कि कोई उग्र व्यक्तित्व पैदा हो जो जनता को अपने प्रभाव के जादू म लेकर एक 'नये' विश्वास की स्थापना कर सके। फिर धार्मिक पुनरुत्थान होता है, या कोई राजनीतिक क्रान्ति होती है, या और ऐसी ही कोई उथल-पुथल होती है। ये आदर्शवादी सिद्धान्त इस पूर्व-धारणा पर आधारित हैं कि लोग आदर्श जीवन व्यतीत करने के विचारों से प्रेरित होते हैं—ये विचार राजनीतिक या धार्मिक या रोमानी किसी प्रकार

वे हो सकते हैं—और भौतिक हितों से मेल न खाने की स्थिति में भी ये विचार स्वयं सामाजिक परिवर्तन लाने की सामर्थ्य रखते हैं, या यदि ये विचार आर्थिक हितों से मेल खाते हैं तो भी इन विचारों का महत्त्व प्राथमिक है और इनसे सम्बन्धित भौतिक हित सामाजिक परिवर्तन लाने में केवल गौण योग देते हैं। (उदाहरणतः इन सिद्धान्तों के अनुसार हम कहेंगे कि हिटलर ने वित्तीय पोषक आकर्षित किये, न कि वित्तीय पोषकों ने हिटलर को जन्म दिया।)

दूसरी ओर, भौतिकवादी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन का कारण मुख्यतया बदलते हुए सामाजिक हित मानते हैं। इन सिद्धान्तों के दो आधार हो सकते हैं। या तो ये इस बात पर ज़ोर दे सकते हैं कि विकास की दर में स्खलन लाने वाला नया आर्थिक वर्ग—अर्थात् 'नये' लोग—समय पाकर और अधिक परिवर्तन के विरुद्ध हो जाते हैं। या इन सिद्धान्तों का ज़ोर इस बात पर हो सकता है कि विकास से जिन लोगों की हानि होती है उनमें प्रतिरोध की भावना जागती है, और समय पाकर ये लोग और अधिक विकास पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अपने-आपको संगठित कर लेते हैं।

भौतिकवादी सिद्धान्तों के पहले आधार को इस प्रकार समझाया जा सकता है। जिस समय नये लोग शक्ति और प्रभाव में आ रहे होते हैं उस समय वे 'मुक्त अवसरों' का बहुत अधिक समर्थन करते हैं। वे प्रतियोगिता, अधिकाधिक व्यापार, उदग्र गतिशीलता आदि के पक्षपाती होते हैं। लेकिन एक बार अपनी जड़ें जमा चुकने पर ये दूसरों के लिए मुक्त अवसर प्रदान करने की अपेक्षा अपनी ही स्थिति के संरक्षण में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो पहले मुक्त व्यापार के समर्थक थे वे ही अब टेरिफों की वकालत करने लगते हैं। जो पहले प्रतियोगिता में विश्वास रखते थे वे ही अब एकाधिकार स्थापित करने के प्रयत्न करते हैं। जो पहले प्रगतिशील सामाजिक विचारों वाले थे वे ही अब अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में भेजने लगते हैं जहाँ सब वर्गों के बच्चे प्रवेश नहीं पा सकते और उन्हें आर्थिक क्षेत्र में विशेषाधिकार-पूर्वक प्रवेश दिलाने के पक्के प्रबन्ध करने की कोशिश करते हैं। अपरूपी अनुदार विचार वाले हो जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रणाली में कठोरता आने लगती है। साथ ही, आर्थिक परिस्थितियाँ भी बदलती हैं। जिन अवसरों के फलस्वरूप नया वर्ग धनी और शक्तिशाली बना था वे समाप्त होने लगते हैं, क्योंकि प्रौद्योगिकी, माँग या सप्लाई के साधनों में परिवर्तन आ गए होते हैं। विकास क्रमिक प्रेरकों का फल है जिनमें से हर प्रेरक के लिए पिछले प्रेरक से भिन्न व्यवहार की आवश्यकता होती है। सम्भव है यह वर्ग इन क्रमिक परिवर्तनों के अनुसार अपने को न ढाल सके, उसे अपने धन की समाप्ति का खतरा पैदा हो जाए, और वह प्रतिकूल परिवर्तनों को रोकने के उपाय करने

बिज़िनेस (व्यवसाय पर समाज का नियन्त्रण), द्वितीय सम्स्करण, न्यूयार्क, १९३९ डब्लू० ए० लुई की ओवरहेड कॉस्ट्स (ऊपरी लागत), लन्दन १९५०, ई० ए० जी० राबिन्सन की मोनोपली (एकाधिकार) लदन, १९५३, जे० ए० शम्पीटर की सोशलिज़्म, कैपीटलिज़्म एण्ड डेमोक्रेसी (समाजवाद पूँजीवाद और प्रजातन्त्र) न्यूयार्क, १९५३, टी० वेबलेन की एवसेंटी ओनरशिप (दूरस्थ स्वामित्व) न्यूयार्क १९२३ पढ़ी जा सकती हैं।

सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक विकास के सम्बन्धों पर जे० वजवुड की दी इकॉनॉमिक्स ऑफ इनहेरिटेन्स (उत्तराधिकार का अर्थशास्त्र), लदन १९२९, एच० पिरेन की इकॉनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ मिडीवियल यूरोप (मध्यकालीन यूरोप का आर्थिक और सामाजिक इतिहास), लदन, १९३६ एम० जे० लेवी का इकॉनॉमिक डेवलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज (आर्थिक विकास और सांस्कृतिक परिवर्तन), अक्तूबर, १९५३ में 'चीन और जापान के आधुनिकीकरण की विपरीत बातें' शीर्षक लेख देखिए।

कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन में पी० टी० बावर की दी रबर इण्डस्ट्री (रबर उद्योग), लदन, १९४८, खाद्य और कृषि संगठन की दी कन्सॉलिडेशन ऑफ फ्रेगमेण्टेड एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स (विखण्डित कृषि-जोतों की चकबन्दी), वाशिंगटन, १९५०; और कैडेस्ट्रल सरवेज़ एण्ड रिकॉर्ड्स ऑफ राइट्स इन लैंड्स (भूमि-अधिकारों के मालगुज़ारी सर्वेक्षण और अभिलेख), रोम, १९५३; डब्लू० ए० लुई का जर्नल ऑफ एग्रीकल्चरल इकॉनॉमिक्स (कृषि-अर्थशास्त्र का जर्नल), जून १९५४ में 'भूमि पर बसाने के सम्बन्ध में विचार' शीर्षक लेख, सी० के० मीक की लैंड लॉ एण्ड कस्टम इन दी कॉलोनीज़ (उपनिवेशों में भूमि-सम्बन्धी कानून और प्रथा), लदन, १९४९, ए० पिम की कॉलोनियल एग्रीकल्चरल प्रोडक्शन (उपनिवेशों का कृषि-उत्पादन), लदन, १९४६, पी० रुप्रोप, स०, की एप्रोचेज़ टू कम्यूनिटी डेवलपमेंट (सामुदायिक विकास के प्रति दृष्टिकोण), हग, १९५३; संयुक्त राष्ट्र संघ की लैंड रिफॉर्म : डिफेक्ट्स ऑफ एग्रेरियन स्ट्रक्चर (भूमि-सुधार : कृषि-रचना के दोष), न्यूयार्क, १९५१ और रूरल प्रोग्रेस थ्रू कोऑपरेटिव्स (सहकारी समितियों के माध्यम से ग्रामोन्नति) न्यूयार्क, १९५४ से सहायता लीजिए।

धर्म के बारे में अध्याय २ के अन्त में दिए गए सदर्भ पढ़िए। दास-प्रथा पर वी० फेरिंग्टन की ग्रीक साइंस (ग्रीक विज्ञान), लदन, १९४४, जे० ई० केरनेस की दी स्लेव पॉवर (दास-शक्ति), लदन, १८६३, एरिक विलियम्स की कैपिटलिज़्म एण्ड स्लेवरी (पूँजीवाद और दास-प्रथा), चेपल हिल, १९४५ देखिए। [illegible] उद्योगों पर उसका नियंत्रण ही प्राप्त करने के लिए ई० रुबेन

का क्वार्टरली जरनल ऑफ इकॉनॉमिक्स (अर्थशास्त्र का त्रैमासिक जर्नल), अगस्त १९४७ में 'जापान में छोटे पैमाने का उद्योग' शीर्षक लेख पढ़िए। जे० स्टेपनेक और सी० प्रियन का *पैसिफिक अफेयर्स (प्रशान्त के मामले)*, मार्च, १९५० में 'कम विकसित क्षेत्रों में ग्राम-उद्योगों का योग' शीर्षक लेख भी उपयोगी है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों पर अध्याय १ के अन्त में दिए गए सन्दर्भ पढ़िए। जे० जे० स्पेंगलर का 'सामाजिक-आर्थिक विकास के सिद्धान्त', जो आर्थिक अनुसंधान के राष्ट्रीय ब्यूरो के **प्रॉब्लम्स इन दी स्टडी ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ** (आर्थिक विकास के अध्ययन की समस्याएँ), न्यूयार्क, १९४९, में छपा है, पठनीय है। इसमें तत्सम्बन्धी साहित्य के अनेक सन्दर्भ भी दिये हुए हैं।

अध्याय ४

ज्ञान

आर्थिक विकास के तात्कालिक कारण तीन हैं—मितोपयोग का प्रयत्न, ज्ञान का सचय, और पूंजी का सचय। पिछले दो अध्यायो मे हमने मितोपयोग के प्रयत्न पर विचार किया, जिनमे हमने उन मूल्यों की भी चर्चा की है जिनके कारण लोग मितोपयोग करना ठीक समझते हैं और उन सस्थाओं पर भी विचार किया है जिनसे मितोपयोग के प्रयत्न को बढावा मिलता है या आघात पहुँचता है। इस अध्याय मे हम ज्ञान के सचय और उसकी प्रयुक्ति पर विचार करेंगे और अगले अध्याय मे पूंजी के सचय की चर्चा की जाएगी। परिचय के अध्याय मे हम इस बात पर पहले ही जोर दे चुके हैं कि उपर्युक्त तीनो कारण केवल विश्लेषण की दृष्टि से अलग किये गए हैं, वैसे, इन सबका एक-सा महत्व है और ये एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

आर्थिक विकास एक ओर से वस्तुओ और जीवधारियो के विषय मे प्रौद्योगिक ज्ञान पर निर्भर है, और दूसरी ओर यह मनुष्य और उसके साथियो के आपसी सम्बन्धो के सामाजिक ज्ञान पर आश्रित है। इस सन्दर्भ मे अक्सर पिछली बात पर ही अधिक जोर दिया जाता है, लेकिन दूसरा पहलू भी उतना ही महत्वपूर्ण है, क्योकि आर्थिक विकास जितना नये बीज तैयार करने या बडे-बडे बाँधो को बनाने की विधि निकालने पर निर्भर है, उतना ही इन बातो पर भी निर्भर है कि बडे पैमाने के उद्योगो का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाए या आर्थिक प्रयत्न के अनुकूल सस्थान किस प्रकार जन्म लें।

यह अध्याय तीन भागो मे बँटा हुआ है। पहले भाग मे हम यह देखेंगे कि ज्ञान मे वृद्धि किस प्रकार होती है, दूसरे भाग का सम्बन्ध उत्पादन मे ज्ञान की प्रयुक्ति से है, और [illegible] भाग मे प्रशासन की चर्चा की गई है। यहां भी यह विभाजन वि[illegible] से ही किया गया है। ज्ञान की वृद्धि और उसकी प्रयुक्ति ए[illegible] है और इनमे से एक पिछड जाए तो
दूस[illegible]

१ ज्ञान में वृद्धि

ज्ञान में वृद्धि इसलिए होती है कि मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु और प्रयोगशील है। यह उसकी जिज्ञासु-भावना का ही परिणाम है कि वह जो बातें देखता है उनके बारे में जाँच करने की कोशिश करता है, भले ही उसकी व्यावहारिक समस्याओं से उनका कोई तात्कालिक सम्बन्ध न हो। उसके हाथ में जो व्यावहारिक काम होता है उसमें आने वाली कठिनाइयों को हल करने के लिए भी उसे प्रयोग करने की प्रेरणा मिलती है।

क्योंकि हर पीढ़ी अपने पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान को ही आगे बढ़ाने का प्रयत्न करती है, इसलिए ज्ञान के संचय में सबसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार लेखन-कला का है। जब तक लेखन-कला का आविष्कार नहीं हुआ था हर पीढ़ी अपनी संतति को केवल उतना ही ज्ञान सौंप पाती थी जितना उसे स्मरण होता था। इस प्रकार दिया गया ज्ञान कितना थोड़ा होता था यह आसानी से समझा जा सकता है, यदि हम आदिम समाजों के, जहाँ इतिहासकारों को विशेष रूप से नियुक्त किया जाता था, अपढ़ इतिहासकारों से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री की तुलना उस सामग्री से करें जो पढ़े-लिखे समाज में उपलब्ध होती है। हम १९वीं शताब्दी के इतिहास से ही इसी प्रकार के दो उदाहरण निकालकर उनकी तुलना कर सकते हैं। सूक्ष्म विचारों को प्रकट करने में लेखन-कला की सामर्थ्य और भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, गणित में लेखन-कला के बिना कोई प्रगति नहीं की जा सकती (अनेक अपढ़ समाजों में शुरू की १० संख्याओं से अधिक को व्यक्त करने के लिए शब्द ही नहीं हैं)। इसी प्रकार विज्ञान के अन्य प्रत्येक क्षेत्र में अनपढ़ लोग सूक्ष्म विश्लेषण के आरम्भिक चरणों से आगे नहीं बढ़ पाते।

दूसरा आविष्कार, जिससे ज्ञान की वृद्धि में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, वैज्ञानिक विधि का आविष्कार है। इस आविष्कार का श्रेय दार्शनिकों को है। इसका आरम्भ प्राचीन ग्रीस में तर्कशास्त्र और अध्यात्मविद्या के आविष्कार के साथ हुआ था, लेकिन इसका उपयोग करीब दो सौ वर्ष पहले ही आरम्भ हुआ जबकि नवयुग (रिनेसाँ) में इस प्रकार की खोजबीन फिर से की जाने लगी। तब से निरन्तर अन्य बातों की अपेक्षा ज्ञान में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है।

ज्ञान की वृद्धि पर विचार करते समय तीन भिन्न-भिन्न कालों का परिचय मिलता है—साक्षरता से पहले का काल, वैज्ञानिक विधि के बिना ही लिखने का काल और वैज्ञानिक विधि का काल। इसी प्रकार समाजों का अन्तर स्पष्ट करते समय भी यह देखना चाहिए कि वे अपढ़ हैं या उनकी संस्कृति और दर्शन में वैज्ञानिक विधि का समावेश है।

ज्ञान की वृद्धि में सहायक परिस्थितियों की चर्चा करते समय हमें अधिकतर उन समाजों का अध्ययन करना होगा जो बीच की अवस्था में हैं, अर्थात् जो साक्षर तो हैं लेकिन वैज्ञानिक पद्धति में सम्पन्न नहीं हैं। यह प्रश्न बड़ा दिलचस्प है कि इस अवस्था के दौरान कुछ देशों में अन्य देशों की तुलना में अधिक प्रगति क्यों हुई, या एक ही देश में अन्य शताब्दियों की अपेक्षा कुछ शताब्दियों में अधिक प्रगति क्यों हुई ? इसी प्रकार के प्रश्न उन देशों के बारे में भी किए जा सकते हैं जो अपढ़ स्थिति में हैं। हालांकि इन प्रश्नों में बहुत सार नहीं है क्योंकि एक तो अपढ़ लोगों की उपलब्धियों में अधिक अन्तर नहीं पाए जाते (उनमें से सभी ने एक-से औज़ार, खेती, धातु-शासन और दूसरी तकनीकी प्रक्रियाओं का आविष्कार किया है, बड़े-बड़े अन्तर केवल कुछ ही बातों को लेकर हैं, जैसे उनमें से कौन लोग पहिये का प्रयोग करते थे और कौन लोग इमारत बनाने में पत्थर का प्रयोग करते थे), और जो अन्तर हैं भी उनके बारे में अधिक बताने के उपाय नहीं हैं क्योंकि इन समाजों के बारे में बहुत थोड़े प्रमाण उपलब्ध हैं। वैज्ञानिक विधि का अनुसरण न करने वाले किन्तु पढ़े-लिखे समाजों के बारे में अपेक्षाकृत अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं, और इनके अन्दर पाए जाने वाले अन्तर भी अधिक स्पष्ट हैं। वैसे इन प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है, और चूंकि इस युग की (अब तो सभी देशों को वैज्ञानिक क्रान्ति के परिणाम मालूम हैं) व्यावहारिक समस्याओं पर इनका कोई विशेष प्रभाव भी नहीं है, इसलिए हम इनके अध्ययन में अधिक समय नष्ट नहीं करेंगे।

(क) **विज्ञान-पूर्व के समाज**—मोटे तौर पर पढ़े-लिखे विज्ञान-पूर्व समाजों में ज्ञान की वृद्धि दो चीज़ों पर निर्भर रही है—एक तो उनकी दार्शनिक प्रवृत्तियों पर और दूसरे उनकी वर्ग-रचना पर।

ज्ञान की वृद्धि के लिए तर्कशील, जिज्ञासु और प्रयोग-प्रिय मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। यह प्रवृत्ति शायद कुछ विशेष पर्यावरणों में अधिक पनपती है, लेकिन वे पर्यावरण कौनसे हैं इसके बारे में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं, और इस विषय पर कोई पक्के नतीजे निकाले जाने की आशा नहीं की जा सकती। मस्तिष्क की जिज्ञासु-वृत्ति शायद उन देशों में अधिक दिखाई देती है जहाँ धार्मिक स्पर्धा अधिक होती है, अर्थात् जहाँ बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय होते हैं जिनमें से नागरिक जिसे चाहे चुनने के लिए स्वतन्त्र होता है। इसके विपरीत उन देशों में जिज्ञासु वृत्ति कम होती है जहाँ धार्मिक सत्ता और धार्मिक एकाधिकार स्थापित हैं। इसी प्रकार, मस्तिष्क की अन्वेषण-शक्ति उन समाजों में अधिक पुष्टि पाती है जहाँ राजनीतिक और आर्थिक अधिकार भली प्रकार विकेन्द्रित है और उनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया जाता है,

सामाजिक संस्थाओं के क्षेत्र में स्वतन्त्र मनोवृत्ति के लिए यह एक अनिवार्य परिस्थिति है। मस्तिष्क भी उसी पर्यावरण में तर्क करने की आदत को कायम रखता और बढ़ाता है जहाँ उसे निरन्तर तरह-तरह के अनुभव करने का मौका मिलता है। देहात की अपेक्षा शहर में, जहाँ तरह-तरह के लोग सारे देश से आते रहते हैं, मस्तिष्क को अधिक अनुभव करने का [illegible] भी मस्तिष्क की तर्कशीलता के अनुकूल होते हैं जो विदेशी व्यापार में लगे होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से रहने और काम करने के बारे में बराबर सुनते रहते हैं, इसी प्रकार ऐसे क्षेत्रों में भी, जहाँ अनेक प्रकार के प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं जिनके कारण बहुत तरह के धन्धे किये जाते हैं लोगों को संसार के बारे में अनेक प्रकार के दृष्टिकोण बनाने का मौका मिलता है। एक संस्कृति के दूसरी संस्कृति के साथ मिलने से भी ज्ञान में बड़ी वृद्धि होती है, इसलिए भौगोलिक स्थिति का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान मानना चाहिए। सम्भव है उस बारे में कोई शाश्वत विधान हो, जैसे, यह कहा जाता है कि एक नया और महत्वाकांक्षी राष्ट्र प्रयोगशील होता है जबकि वह राष्ट्र, जो सफलता पा चुका है, कुछ खास पद्धतियों में ढल जाता है, उसे बीते हुए जमाने, और अपनी जाति, धर्म और संस्थाओं पर गर्व होने लगता है, और बच्चे जिज्ञासु की भाँति ज्ञानार्जन में उसकी रुचि नहीं रह जाती। विज्ञान-पूर्व समाजों में जिज्ञासु मस्तिष्क के लिए परिस्थितियाँ किस प्रकार की थीं, इसके बारे में हमें मालूम नहीं है और भविष्य में भी जानने के उपाय नजर नहीं आते।

ज्ञान की वृद्धि पर लगभग यही प्रभाव वर्ग-रचना का पड़ता है। इसमें अगर हम यह मानकर चलें कि नयी-नयी प्रक्रियाओं का आविष्कार और उनकी प्रयुक्ति उच्च वर्ग द्वारा होती है तो हमें जो परिणाम मिलेंगे वे उनसे भिन्न होंगे जो यह मानकर विश्लेषण करने पर मिलते हैं कि आविष्कार किसानों और शिल्पियों के हाथों होता है। जहाँ तक उच्च वर्ग का सम्बन्ध है, यह दावा किया जाता है कि विज्ञान का विकास आरामतलब वर्ग के होने-न-होने पर निर्भर है, क्योंकि इसी वर्ग के लोगों को सूक्ष्म चिन्तन और प्रयोग के लिए समय मिलता है। लेकिन यह अनुमान भ्रामक है क्योंकि एक तो ऐसे समाजों में लगभग हर आदमी को वर्ष के कम-से-कम आधे हिस्से में फुरसत-ही-फुरसत होती है जब खेती का काम नहीं हो रहा होता, और दूसरे प्रौद्योगिकी के इस स्तर पर प्रगति सूक्ष्म चिन्तन की अपेक्षा काम करते-करते उस पर ध्यान देने और प्रयोग करने से होती है। यह भी कहा जाता है कि स्वतन्त्र समाजों की अपेक्षा दास-प्रथा वाले समाजों में उच्च वर्ग श्रम बचाने के उपाय निकालने में कम दिलचस्पी महसूस करते हैं, लेकिन हम पहले ही कह चुके हैं (अध्याय ३, खण्ड ८ (ग) में) कि यह तर्क व्यावसायिक दासत्व के मामले में लागू नहीं होता। जहाँ

तक किसानों और शिल्पियों की प्रवृत्ति का सवाल है शायद बहुत-कुछ इस पर निर्भर करता है कि इन लोगों को अपने परिश्रम का फल अपने पास रखने की कितनी स्वतन्त्रता मिली हुई है। अगर जमींदार और राजे-महाराजे इन लोगों के पास गुज़ारे लायक धन छोड़ने के बाद बची सारी-की-सारी आमदनी छीन लेते हैं, फिर चाहे ये कितना ही उत्पादन करते हों, तो इन लोगों के अन्दर उत्पादन बढ़ाने के तरीकों का आविष्कार करने या उन्हें अपनाने की प्रेरणा नहीं रह जाती। इन समाजों में प्रौद्योगिक उन्नति को प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा सामाजिक कारक शायद यही है, क्योंकि इन समाजों में काम पर लगे आदमियों की प्रवृत्ति ऐश-आराम करने वालों की सैद्धान्तिक अटकलों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। वर्ग-रचना को लेकर एक दूसरी बात जो इन समाजों में महत्त्व की रही होगी, यह है कि इसमें ज्ञान पर किस सीमा तक एकाधिकार था। हालांकि हम इन समाजों को पढ़ा-लिखा कहते हैं, लेकिन दरअसल जन-संख्या का एक छोटा-सा वर्ग ही पढ़ा-लिखा होता था, जिसमें अधिकतर पुजारी, प्रशासक और व्यवसायी लोग सम्मिलित थे। बहुत से समाजों में पढ़े-लिखे लोगों ने अपने रहस्यों को बड़ी सावधानी से छिपा रखा था। ऐसी जगहों पर सपड़ों ने भी अपनी श्रेणियां बनाकर अपने सब रहस्यों को छिपा रखने के प्रयत्न किये। यदि रहस्य केवल कुछ ही लोगों को बताए जाएँ तो ज्ञान में तेज़ी से वृद्धि नहीं हो सकती।

कारण चाहे जो रहे हों, समुदायों में इस बात को लेकर बड़े अन्तर पाए जाते हैं कि उनमें विद्वानों की स्थिति क्या थी, और विद्वानों को कितना आदर और स्नेह मिलता था—चीन या नवयुग (रिनेसाँ) के यूरोप में विद्वानों की ऊँची हैसियत इसका उदाहरण है। वैसे यह सन्देहजनक लगता है कि विद्वानों की हैसियत में पाए जाने वाले इन अन्तरों का प्रौद्योगिक उन्नति पर काफी प्रभाव पड़ता था, क्योंकि बहुत ही थोड़े विद्वानों को विज्ञान में दिलचस्पी थी और विज्ञान की जिन समस्याओं में उन्हें दिलचस्पी थी भी उनका प्रौद्योगिकी से कोई निकट का सम्बन्ध नहीं था। ज्ञात मानव इतिहास के दौरान प्रौद्योगिकी में जो कुछ विकास हुआ है उसके अधिकांश का आधुनिक अर्थों में पुकारे जाने वाले विज्ञान से बहुत थोड़ा सम्बन्ध रहा है, अर्थात् ज्ञान सूक्ष्म सिद्धान्तों की प्रयुक्ति के रूप में प्रौद्योगिकी का विकास कम ही देखने में आता है। आविष्कार दो वर्गों ने किये हैं—काम पर लगे कर्मी ने, और पेशेवर आविष्कर्त्ता ने। पहले वर्ग में वे सब लोग सम्मिलित हैं जिन्होंने अपने दैनिक काम के दौरान अपनी कार्य-पद्धतियों में सुधार करने के तरीके निकाले, या जो विचार उन्हें सूझे उन्हें लेकर प्रयोग किये। दूसरे वर्ग में हर काल में बहुत ही थोड़े लोग सम्मिलित रहे। ये अक्सर सावकाश-वर्ग के भद्र पुरुष थे जिन्हें अपने ज़माने के विज्ञान

में दिलचस्पी थी। उनकी अधिकांश दिलचस्पियाँ आध्यात्मविद्या-सम्बन्धी, धर्मशास्त्रीय या ज्योतिष को लेकर थीं, और जब कभी वे आविष्कार करने की दिशा में प्रयत्न करते भी थे तो उनके परिणाम कभी-कभार ही व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते थे। बात यह है कि दैनिक जीवन के व्यावहारिक कामों से सम्बन्ध न होने के कारण उन्हें यह जानकारी नहीं होती थी कि किन क्षेत्रों में सर्वाधिक लाभप्रद योग दिया जा सकता है। सबसे शुरू के ज़माने में इन 'वैज्ञानिकों' ने औद्योगिक समस्याओं पर बहुत ही कम ध्यान दिया। समय गुज़रने के साथ-साथ तकनीकी ज्ञान के संचय और इस विषय पर लिखे गए प्रारम्भिक ग्रन्थों से प्रभावित होकर अधिकाधिक विद्वानों ने इन बातों पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। पाँच शताब्दी ईसा-पूर्व के दौरान ग्रीक संसार में एक साथ अनेक मशीनी आविष्कार हुए। उसके बाद जहाँ तक हमें पता है, इन मामलों में विद्वानों की दिलचस्पी धर्मशास्त्र और दूसरे विवेचनों की अपेक्षा गौण हो गई, और नवयुग (रिनेसाँ) के बाद तक एक साथ इतने आविष्कारों का उदाहरण नहीं मिलता।

किसी एक देश में तकनीकी ज्ञान के विकास की गति क्यों मन्द हुई, यह बताना उतना ही कठिन है जितना इस मामले में एक देश और दूसरे देश के अन्तरों पर प्रकाश डालना है। इसके लिए शायद हमें उन कारणों का पता लगाना होगा जिनसे विद्वान प्रौद्योगिकी से विमुख हो जाते हैं, पूँजी-निवेश करने वालों को मेहनत बचाने के साधनों में दिलचस्पी नहीं रह जाती, या आम लोगों की उत्पादन बढ़ाने में दिलचस्पी समाप्त हो जाती है। इसके लिए हमें उसी प्रकार के समाधान देने होते हैं जो सांस्थानिक परिवर्तन की आम समस्या पर विचार करते समय अध्याय ३, खण्ड ४ में दिये जा चुके हैं। कोई जीवात्मक कारणों में इसका समाधान खोजता है कोई भौतिक वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन को इसका ज़िम्मेदार मानता है, कोई मुक्त खोज-बीन के मार्ग में बाधक राजनीतिक या धार्मिक प्रवृत्तियों के परिवर्तनों को उत्तरदायी ठहराता है, कोई आम लोगों पर बढ़ते हुए दबावों की चर्चा करता है जिनसे किसानों और शिल्पियों में अपना उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं रह जाती, या कोई अवधिक युद्ध या जनता के झगड़े को इसका कारण समझता है। ईसा से लगभग एक शताब्दी पूर्व ग्रीक संसार में प्रौद्योगिक उन्नति की स्पष्ट गिरावट का अध्ययन सर्वाधिक दिलचस्पी का विषय है, लेकिन इसके बारे में आज तक पूरी तरह सन्तोषजनक समाधान नहीं मिले। तकनीकी गतिरोध की सम्भावनाओं पर भी वर्तमान शताब्दी के सन्दर्भ में चर्चा की गई है जिस पर अध्याय ५ (खण्ड ३ (ग)) में विचार करेंगे।

(ख) आविष्कार और अनुसन्धान—प्रौद्योगिकी के इतिहास का तीसरा

चरण नवयुग (रिनेसाँ) के साथ आरम्भ होता है जिसने हर क्षेत्र में ज्ञान के विकास को बढ़ावा दिया। जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है नवयुग की बौद्धिक क्रिया के सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम ज्ञान के दर्शन, गणित, सामाजिक ज्ञान और मशीनी आविष्कार के क्षेत्रों में देखने में आए। ज्ञान के दर्शन में शुद्ध विज्ञान के विकास की नीवें रखी गईं जिन्होंने यद्यपि कुछ समय तक कोई परिणाम नहीं दिखाये लेकिन समय पाकर जिनका बुनियादी महत्त्व बहुत अधिक सिद्ध हुआ। गणित के क्षेत्र में तत्काल नयी बातें सामने आयीं हालाँकि इनके परिणाम भी बहुत बाद में मिले। सामाजिक विज्ञानों में भी तत्काल विकास हुआ क्योंकि उनमें तुरन्त ही राजनीतिक विमर्श शुरू हो गए जिनसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, विधिशास्त्र और समाजशास्त्र के आधुनिक अध्ययनों का श्रीगणेश हुआ। मशीनी आविष्कारों के क्षेत्र में फिर दिलचस्पी पैदा हुई, जो सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में बढ़ती गई, और अन्ततः उन्नीसवीं शताब्दी में आविष्कर्ताओं के वर्ग में ऐसे लोग पैदा हुए जो आविष्कार को अपने दैनिक कार्य का ही व्युत्पन्न अंग नहीं समझते थे, या जो अवकाश-वर्ग के जिज्ञासु लोगों में से नहीं थे, बल्कि सम्पत्ति कमाने के उद्देश्य से इसे पूर्णकालिक धन्धा मानकर काम करते थे। शुद्ध विज्ञान ने प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रारम्भिक योगदान रसायन-शास्त्र के माध्यम से किये जो सत्रहवीं शताब्दी में ही धीरे-धीरे सामने आने लगे थे, लेकिन जिनके चमत्कारिक प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर प्रकट हुए। इसके बाद बिजली से चलने वाली अनेक नयी चीज़ें निकाली गईं, और अब वर्तमान शताब्दी में भौतिकी की दूसरी शाखाओं के महत्त्वपूर्ण योगदान सामने आ रहे हैं।

विज्ञान और उद्योग के बीच आज जो विलक्षण सम्बन्ध है उसे समझने के लिए यह पृष्ठभूमि आवश्यक है। आम आदमी जिस संसार में रहता है कम-से-कम ऊपरी दृष्टि से उसे विज्ञान की देन समझता है, और उसे यह जानकर आश्चर्य होता है कि उद्योग के व्यापक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए वैज्ञानिकों का कोई उपयोग नहीं है (बल्कि वे उनसे घृणा भी करते हैं)। बात यह है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में जितने बड़े आविष्कार हुए—भाप का इंजन, कातने और बुनने की मशीनों के आविष्कार, फ़सलों के हेर-फेर की नयी प्रणाली, खनिज गलाने के नये तरीक़े, मशीनी औज़ार—वे सब वैज्ञानिकों द्वारा नहीं बल्कि उन व्यावहारिक लोगों द्वारा किये गए जो विज्ञान के बारे में कुछ नहीं जानते थे, या बहुत कम जानते थे। बीसवीं शताब्दी में आकर ही भावी आविष्कर्ता के लिए वैज्ञानिक शिक्षा आवश्यक हुई है, या प्रौद्योगिक उन्नति का श्रेय अधिकांशतः विज्ञान की खोजों को मिलने लगा है।

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने आविष्कार को कई तरीक़ों से प्रभावित किया

है । आज आविष्कर्त्ता के लिए वैज्ञानिक होना भी आवश्यक नही है, अब अनेक आविष्कार किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य से परे हैं, अत वैज्ञानिकों के दलो द्वारा प्रयोगशालाओं में किये जाते हैं। य सब कथन अभी पूरे नही कहे जा सकते। अब भी काम पर लगा श्रमिक मशीन का इस्तेमाल करते समय कार्य-पद्धति म सुधार करने के तरीके निकाल सकता है, और उपयोगी हेर-फेर सुभा सकता है। आज भी इस प्रकार की प्रगति की जा रही है, यद्यपि कुल आविष्कारो की तुलना म यह अधिक नही है। थोड़ा वैज्ञानिक ज्ञान और मशीनो के प्रति रुचि रखने वाला अकेला आविष्कर्त्ता आज भी काफी महत्त्वपूर्ण आविष्कार कर सकता है। यान्त्रिक इजीनियरी या पशु या वनस्पति-प्रजनन के क्षेत्र म सबसे अधिक आविष्कार अब भी शायद व्यक्तिगत आविष्कर्त्ताओं द्वारा किये जा रहे हैं। दल बनाकर आविष्कार करने का सर्वाधिक उपयोग पदार्थों की रसायनिकी और रेडियो और नाभिकीय विखण्डन की भौतिकी म किया जाता है।

औद्योगिकी अनुसधान के सगठन के बारे मे अब बहुत-कुछ कहा और लिखा जाता है—इससे हमारा आशय उस प्रकार के अनुसधानो से है जो खर्चीली प्रयोगशालाओ म आविष्कर्त्ताओं के दलो द्वारा होता है, वैसे व्यक्तिगत आवि-ष्कर्त्ता के काम पर विचार करना आज भी आवश्यक है। उसकी स्थिति म भी परिवर्तन आ गया मालूम पड़ता है। यद्यपि आज भी कुछ लोग अपने खाली समय में या पूरा समय देकर घर पर, या अपनी प्रयोगशालाओ म काम करते है, लेकिन अधिकाश आविष्कर्त्ताओं ने पूर्णकालिक आय के साधन के रूप म आविष्कार को बड़े जोखिम वाली चीज मानना शुरू कर दिया है। अधिकाश आविष्कर्त्ता दूसरे लोगो की नौकरी करना पसन्द करते हैं जो उन्हे प्रयोगशाला तैयार करके दें, वेतन दें और यदि सम्भव हो तो रॉयल्टी म भी हिस्सा दें। प्राय अनेक आविष्कर्त्ता एक ही प्रयोगशाला का उपयोग करते हैं, लेकिन उनम से हरेक अपने क्षेत्र का काम करता है। उनके ऊपर मालिको द्वारा इस मामले म प्रतिबन्ध लगाए जा सकते है कि वे किन विषयो पर आविष्कार करेंगे। स्वतत्रता की परिस्थिति से दल के रूप म काम करने की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न होती हैं। स्वान्त सुखाय आविष्कार करने वाले सावधान लोगो की सख्या अब बहुत कम रह गई है (पहले भी यह थोड़ी ही होती थी)।

दल के रूप मे अनुसन्धान का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ सगठन की नयी सम-स्याएँ सामने आती हैं। इस प्रकार का अनुसन्धान बहुत खर्चीला होता है और छोटी-छोटी फर्में इसका खर्च बरदाश्त नही कर सकतीं। अत इस प्रकार के अनुसधान का काम बहुत बड़ी फर्में ही शुरू करती हैं और इसके कारण छोटी और बीच के आकार की फर्मों की तुलना मे य प्रतियोगिता की दृष्टि से क-

फायदे में रहती है। हां, यदि अनुसन्धान का फर्म की दूसरी क्रियाओं से अलग कर दिया जाए और अनुसन्धान फर्मों के एक समूह के लिए या पूरे उद्योग के लिए किये जाएं तो यह फायदा कम हो जाता है। ब्रिटेन में अनुसन्धान इसी प्रकार किये जाने लगे हैं। एक ओर अनेक सहकारी अनुसन्धान-संस्थान स्थापित किये गए हैं जिनमें कुछ आर्थिक सहायता सरकार ने भी दी है और जिन पर उन फर्मों का स्वामित्व और नियन्त्रण है जो स्वेच्छापूर्वक इनके साथ सम्बन्ध स्थापित करके इनके खर्च में योगदान करती हैं। दूसरी ओर सरकारी अनुसन्धान-संस्थान भी अनेक हैं जिनका पूरा खर्च सरकार उठाती है और जिन पर नियन्त्रण भी सरकारी होता है, लेकिन जिनकी खोज और आविष्कार सब लोगों के उपयोग के लिए होते हैं। इस प्रकार के संस्थान वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान-विभाग के नियन्त्रण में चल रहे हैं। इन संस्थानों के अलावा सरकार विश्वविद्यालय के विभागों और निजी संस्थानों को भी विशेष अनुसन्धान के लिए अनुदान देती है, कृषि अनुसन्धान परिषद् या चिकित्सा अनुसन्धान परिषद जैसे संस्थान मुख्य रूप से इसी प्रकार अपना काम कर रहे हैं। फर्म से अलग रहकर दल के रूप में काम करने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं है, क्योंकि सामूहिक रूप से या सरकार के तत्त्वावधान में जो कुछ हो रहा है उसके अलावा बड़ी फर्में भी अपने निजी आविष्कर्त्ता दल और प्रयोगशालाएँ जारी रखे हुए हैं।

प्रौद्योगिक ज्ञान के विकास पर विज्ञान का दूसरा प्रभाव यह हुआ है कि आविष्कार की प्रक्रिया तीन अलग-अलग चरणों में विभाजित हो गई है। ये चरण हैं—वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रचना, इन सिद्धान्तों की विशिष्ट तकनीकी समस्याओं में प्रयुक्ति, और तकनीकी आविष्कारों का उस सीमा तक विकास, जहाँ उनका वाणिज्यिक उपयोग किया जा सके। इनमें से पहला चरण अर्थात् शुद्ध विज्ञान का विकास अब लगभग पूरी तरह विश्वविद्यालयों और दूसरे वाणिज्येतर संगठनों पर छोड़ दिया गया है। कभी-कभार कोई औद्योगिक फर्म किसी वैज्ञानिक को अपनी प्रयोगशालाओं में इस प्रकार के अनुसन्धान करने की छूट दे सकती है जिनका उसकी तकनीकी समस्याओं के साथ कोई तात्कालिक सम्बन्ध न हो, लेकिन यह बहुत कम होता है। दूसरा चरण, अर्थात् औद्योगिक अनुसन्धान, जिसका काम ज्ञात वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वाणिज्यिक समस्याओं के समाधान में प्रयोग करना है, निजी, सहकारी और सरकारी औद्योगिक अनुसन्धान-दलों और आविष्कर्त्ताओं की सहायता से विश्वविद्यालयों द्वारा किए गए काम को आगे बढ़ाता है। (इस प्रकार का कुछ काम विश्वविद्यालयों और तकनीकी कॉलेजों में भी किया जाता है, लेकिन यह उनका गौण काम ही माना जाएगा)। इस चरण में किये गए काम का परिणाम फार्मूलों, नील-नक्शों या

माडलों के रूप में सामने आता है। और तब इन परिणामों को ऐसा रूप देने की समस्या पैदा होती है जिसके आधार पर बड़ी मात्रा में और मानक किस्म की सस्ती चीज़ों का विनिर्माण किया जा सके। उत्पादन-सम्बन्धी यह समस्या, जिसे विकास का चरण कहते हैं, पिछले सब चरणों की भांति ही कठिन और खर्चीली होती है। उदाहरण के लिए जेट हवाई जहाज़ का विचार इस प्रकार के पहले हवाई जहाज़ की उड़ान से अनेक वर्ष पहले ही जन्म ले चुका था, लेकिन गर्मी सहने योग्य धातुएं चुनने, या जहाज़ की गति के उपयुक्त धड़ की डिज़ाइनें तैयार करने में और ऐसी ही दूसरी समस्याओं का समाधान खोजने में बहुत समय और द्रव्य लगा। विकास के चरण को तकनीकी अनुसन्धान के चरण से सदा ही बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकास की कुछ समस्याएं तकनीकी होती हैं, या कभी-कभी अनुसन्धानों और विकास के चरणों में काम करने वाले लोग एक ही होते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से ये दोनों चरण अलग किये जा सकते हैं।

उद्योग की सफलता पर विकास के चरण के प्रभाव लगभग वही समस्या उत्पन्न करते हैं जो अनुसन्धान के चरण के प्रभावों से पैदा होती है, अर्थात् कुछ मामलों में केवल बहुत बड़ी फर्में ही विकास का काम हाथ में ले सकती हैं, और इससे उन्हें छोटे प्रतियोगियों की तुलना में एक लाभ मिल जाता है। क्या इस समस्या का भी वही समाधान हो सकता है अर्थात् क्या विकास का काम फर्म की दूसरी जिम्मेदारियों से अलग किया जा सकता है? इसमें एक बाधा तो यह है कि विकास की दिशा में और आगे काम किया जाए या नहीं। यह मुख्यतया एक वाणिज्यिक निर्णय होता है जो पण्य विशेष की सम्भावी मांग के अनुमान को ध्यान में रखकर किया जाता है, जबकि विकास से पहले के चरणों में जो निर्णय लिये जाते हैं वे बहुत-कुछ वैज्ञानिक निर्णयों-जैसे होते हैं। शुद्ध विज्ञान की प्रगति वैज्ञानिकों के हाथ में होती है जिनका सिद्धान्त कुछ-कुछ यह होता है कि ज्ञान जितना भी अधिक-से-अधिक प्राप्त किया जा सके अच्छा है। यह सिद्धान्त सौभाग्य से लेकिन केवल गौण रूप से इस विचार से मेल खाता है कि समय पाकर एक-न-एक रूप में सारा वैज्ञानिक ज्ञान फल देता है। औद्योगिक अनुसन्धान के चरण में जो निर्णय लिये जाते हैं वे मात्र वैज्ञानिक ही नहीं होते, किन समस्याओं को सुलझाना लाभप्रद रहेगा यह तय करते समय कुछ वाणिज्यिक विवेक की भी आवश्यकता होती है, फिर भी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का बड़ा महत्त्व है और यदि औद्योगिक अनुसन्धान-सम्बन्धी निर्णय उन संस्थानों को सौंप दिए जाएं जो संयुक्त रूप से वैज्ञानिकों और व्यवसायियों के अधीन काम करते हैं तो कोई विशेष हानि की सम्भावना नहीं है। इस चरण में यह उपयुक्त ही रहता है कि जिनकी सम्भावनाओं का व्यावहारिक उपयोग

हो सकता हो उनमें वही अधिक सम्भावनाओं पर अनुसन्धान करने के लिए समय और द्रव्य खर्च किया जाए। वैसे एक बार अनुसन्धान के स्तर पर सम्भावनाएँ सामने ला देने के बाद वैज्ञानिक का काम लगभग समाप्त हो जाता है। इन सम्भावनाओं में से कौनसी उपयोगी हैं और किन्हें उपेक्षित कर देना है, यह निर्णय वाणिज्यिक होना है जिसे लेना उन लोगों का काम है जो उत्पादन-लागत और सम्भावी बिक्री के क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं।

निजी उद्योग की अर्थ-व्यवस्था में यह निर्णय निजी फर्म पर छोड़ दिया जाता है जिसे अपने अनुमान स्वयं लगाने पड़ते हैं और इन अनुमानों के सही या गलत होने पर फर्म के लाभ या हानि निर्भर करते हैं। एक विकल्प यह भी है कि सम्बन्धित उद्योग के सारे व्यवसायियों की एक समिति को निर्णय लेने का काम सौंप दिया जाए। इस स्थिति में सारा उद्योग मिलकर यह निश्चय करता है कि किन आविष्कारों का विकास करना है और समूचे उद्योग को ही विकास के चरण का खर्च उठाना होता है। इस प्रयोजन के लिए उद्योग की परिभाषा करना तो मुश्किल है ही, अनेक लोगों का यह भी विश्वास है कि इससे प्रगति में बाधा आती है। बात यह है कि तकनीकी परिवर्तन के परिणामों में वर्तमान निवेशों का बचाव करने के लिए उद्योग द्वारा ऐसे सामूहिक निर्णय भी ले लिये जाते हैं जो एकाधिकारी निर्णय के समान होते हैं, या नये विचारों के बारे में सामूहिक निर्णय अक्सर इतने गलत होते हैं कि हम यह कह सकते हैं कि सामूहिक विसहमति के बावजूद लोगों द्वारा लिये गए व्यक्तिगत निर्णय ही प्रगति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। निर्णय लेने का काम इस प्रयोजन के लिए स्थापित सरकारी समिति के सुपुर्द भी किया जा सकता है और उसे नये आविष्कारों का विकास करने के लिए द्रव्य दिया जा सकता है। इस प्रकार की एजेंसी ब्रिटेन में स्थापित की गई है, लेकिन उसे विकास के मामले में एकाधिकार प्राप्त नहीं है और वह केवल उन्हीं आविष्कारों के बारे में निर्णय ले सकती है जिन्हें विकसित करने का काम उसे सौंपा जाए। सरकारी समिति को निर्णय लेने का एकाधिकार देने से दोनों ही प्रकार की हानि हो सकती है, एक तो सामूहिक निर्णय लिये जाने से व्यक्तिगत पहल की भावना दब जाती है और दूसरे, चूँकि निर्णय लेने वाले अपना निजी पैसा खर्च नहीं कर रहे होते हैं इसलिए निर्णयों की लाभप्रदता पर समुचित ध्यान देने के लिए इन्हें कोई आर्थिक प्रेरणा नहीं होती। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विकास के चरण में सबसे अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए वाछनीय यही है कि जिस व्यक्ति को जो आविष्कार लाभप्रद दिखाई दे, वह उसे विकसित करने के लिए अपने साधनों का उपयोग करने में स्वतन्त्र हो या साथ में उन लोगों के साधनों का भी उपयोग कर सके जो जोखिम बाँटने के

लिए तैयार हों। जिन मामलों में विकास का खर्च बहुत होता है वहाँ लाभजनक स्थिति उन्हीं की रहती है जिनके पास साधन अधिक होते हैं। यदि इस लाभजनक स्थिति को समाप्त करने के लिए विकास का काम सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर किया जाए तो इसमें दूसरी हानियाँ होंगी। वस्तुतः किसी सामाजिक समस्या का निर्दोष समाधान नहीं मिल सकता। जो भी हो, कुछ क्षेत्रों में बड़े पैमाने के संगठन की लाभजनक स्थिति एक व्यावहारिक तथ्य है, हम चाहे जितना प्रयत्न करें पर इससे बच नहीं सकते।

आविष्कार की प्रक्रिया को चार चरणों अर्थात् शुद्ध विज्ञान, तकनीकी अनुसंधान और विकास में विभाजन करने से पेटेंट की समस्या पर प्रकाश पड़ने में सहायता मिलती है। शुद्ध विज्ञान की खोजों का पेटेंट नहीं कराया जा सकता। ये प्रायः गुप्त नहीं रखी जातीं जिसका कारण यह नहीं है कि कभी-कभी आविष्कर्ता अपनी खोज का गुप्त रूप से प्रयोग करके भी सम्पत्ति नहीं कमा सकता बल्कि मुख्य बात यह है कि खोजों को गुप्त रखना वैज्ञानिकों की आचारसंहिता के विपरीत है। विज्ञान की प्रगति के लिए आवश्यक है कि एक-दूसरे के विचारों से खूब लाभ उठा कर लोग समान समस्याओं पर दिमाग लगाएँ और यदि विचारों के मुक्त आदान प्रदान पर बाधा प्रतिबंध लगा दिया जाए तो निश्चय ही विज्ञान की प्रगति में बाधा आएगी। अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के लिए एक देश से दूसरे देश को जाने में वैज्ञानिकों पर इन दिनों काफी प्रतिबंध हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय रक्षा से विशेष सम्बन्ध रखने वाले क्षेत्रों के परिणामों के प्रकाशन पर भी प्रतिबंध हैं। ये प्रतिबंध अभी थोड़े ही हैं लेकिन बहुत से लोगों को भय है कि विचारों के मुक्त आदान प्रदान के सिद्धान्त का यदि एक बार उल्लंघन हो गया तो प्रतिबंध और अधिक लग जाएँगे। क्योंकि विचार किसी की निजी सम्पत्ति नहीं होती इसलिए वैज्ञानिक उन्हें बेचकर जीविका नहीं कमा सकते। यही कारण है कि शुद्ध विज्ञान की प्रगति मुख्यतः सार्वजनिक निधियों के बल पर होती है।

तकनीकी अनुसंधान के चरण में जो परिणाम निकाले जाते हैं उनका पेटेंट कराया जा सकता है। इसका कारण यह है कि तकनीकी अनुसंधान का खर्च मुख्यतः वे लोग उठाते हैं जिन्हें उनसे फायदा होने की आशा होती है और इसलिए उन्हें तकनीकी अनुसंधान से उत्पन्न विचारों की सफलता से निजी लाभ कमाने देना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी में जब आविष्कारक स्वतन्त्र अलग-अलग आविष्कार करते थे, कभी-कभी यह विचार व्यक्त किया जाता था कि [illegible] स्थिति में [illegible] आविष्कारों का [illegible] कम [illegible]। [illegible] कारण [illegible] आविष्कार [illegible]

बिना किसी लोक-मानव के काफी मात्रा में अनुसंधान कर सकते थे या शायद यह कारण था कि जो आविष्कर्ता अपने आविष्कार को गुप्त रखता था और उसका वाणिज्यिक उपयोग करता था। वह आविष्कार के खर्च को निकालने के लिए आरम्भिक अवस्थाओं में अपने आविष्कार से काफी एकाधिकारी लाभ कमा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी में उक्त दोनों तर्कों में से कोई तर्क मान्य नहीं रहा और आज तो और भी कम लोग इन्हें मानने को तैयार होंगे। यदि आविष्कार में निजी लोगों का पैसा लगता है तो इन्हें निजी सम्पत्ति करार दिया जाना चाहिए। यदि तकनीकी अनुसन्धान पर सार्वजनिक या वाणिज्येतर निधियों से पैसा लगता है तो निजी स्वामित्व की बात समाप्त हो जाती है, इस स्थिति में सब लोग निःशुल्क आविष्कार का उपयोग कर सकते हैं। लेकिन जब तक आविष्कार पर उन लोगों का पैसा लगता है जिनका उसमें आर्थिक हित है, तब तक यह आवश्यक है कि आविष्कार के परिणामों पर निजी स्वामित्व रहे। इस कारण से पेटेन्ट प्रणाली का लाभ यह है कि यह न केवल स्वामी को संरक्षण प्रदान करती है बल्कि उसे अपने आविष्कार को प्रकट करने के लिए भी बढ़ावा देती है और इस प्रकार वैज्ञानिक विचारों का मुक्त प्रवाह बना रहता है।

वैसे, हमारी पेटेन्ट प्रणाली न केवल आविष्कर्ता को एकाधिकार देती है बल्कि विकास करने वाले और उसके बाद वाणिज्यिक उत्पादक को भी एकाधिकार प्रदान करती है। विकास करने वाला दो तरह का एकाधिकार मांगता है—विकास पर एकाधिकार और बाद में उसके उत्पादन पर एकाधिकार। आविष्कर्ता जितने लोगों को चाहे विकास करने की अनुज्ञा दे सकता है, लेकिन अधिकांश मामलों में विकास करने वाले तभी विकास करना पसन्द करते हैं अगर कि इसके लिए केवल उन्हें ही अनुज्ञा दी जाए। वैसे, उत्पादन पर एकाधिकार विकास पर एकाधिकार की अपेक्षा अधिक संगत मालूम होता है। उत्पादन पर एकाधिकार के पक्ष में वही तर्क दिया जाता है जो आविष्कर्ता के एकाधिकार पर लागू है, अर्थात् क्योंकि विकास पर काफी खर्च करना होता है अतः जो लोग इस पर पैसा लगाएँ उन्हें इस बात का आश्वासन होना चाहिए कि विकास-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझा लेने के बाद उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त करके वे अपना पैसा वापस ले सकेंगे। लेकिन यह तर्क विकास पर एका-धिकार के पक्ष का समर्थन नहीं करता। जिस प्रकार सब आविष्कर्ता विज्ञान के सिद्धान्तों का निःशुल्क उपयोग करते हैं लेकिन पेटेन्ट पहले सफल आविष्कर्ता को ही मिलता है, उसी प्रकार बहुत से विकास करने वाले भी एक आविष्कार के ऊपर काम कर सकते हैं और उत्पादन का एकाधिकार पहले सफल विकास-कर्ता को दिया जा सकता है। पेटेन्ट-सम्बन्धी कानून की वर्तमान परिभाषाओं

के अनुसार यह एकाधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है यदि विकास के परिणाम-स्वरूप कुछ पेटेन्ट योग्य प्रक्रियाएँ सामने आएँ लेकिन जैसा कि शुरू में पेटेन्ट-सम्बन्धी कानून का आशय था, संरक्षण का और भी व्यापक बनाकर सभी नये उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता है। (और जैसा कि अब इन सब विकसित देशों में होता है जो नये उद्योगों को अग्रगामी की हैसियत देते हैं।) आज भी अनेक लोग ऐसे हैं जिनके अनुसार विकास या उत्पादन दोनों में से किसी को संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं है। इनका मुख्य तर्क यह है कि सफलता से ऐसे लाभ मिलते हैं कि संरक्षण न देने पर भी जोखिम उठाने वाले लोग काफी संख्या में सामने आते रहेंगे। कई उद्योगों के बारे में यह निश्चित रूप से सही है, लेकिन यह भी सही है कि कुछ उद्योगों में विकास के व्यय की तुलना में सफलता के लाभ बहुत थोड़े होते हैं और इसीलिए यदि इन उद्योगों में विकासकर्ताओं को अनन्य अधिकार न दिये जाएँ तो प्रगति में धीमापन आ सकता है।

आविष्कार की प्रक्रिया का शुद्ध विज्ञान, तकनीकी अनुसन्धान और विकास के रूप में तिहरा विभाजन यह निर्धारित करने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि भिन्न-भिन्न देशों को किन-किन बातों पर जोर देना है। उदाहरण के लिए, अब यह अक्सर कहा जाता है कि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन शुद्ध विज्ञान पर बहुत काफी खर्च करता है, लेकिन बाद के चरणों में यह पिछड़ जाता है। यदि पिछड़ने से तात्पर्य यह है कि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन में आबादी को देखते हुए प्रति-व्यक्ति आविष्कारों की संख्या कम है तो यह कहना सन्देह-जनक लगता है कि ब्रिटेन तकनीकी अनुसन्धान के क्षेत्र में अमरीका से पीछे है, इसके विपरीत, यदि हम हाल की प्रौद्योगिक उन्नति पर विचार करें—कृत्रिम रेशे, जेट इंजन, टेलीविज़न आदि—तो ब्रिटेन आविष्कारों के क्षेत्र में काफी आगे दिखाई देता है। हाँ यह नये आविष्कारों को बड़े वाणिज्यिक पैमाने पर उत्पादन करने की अवस्था तक लाने में अवश्य ही पिछड़ा हुआ है। निष्कर्ष यह है कि ब्रिटेन में अनुसन्धान या आविष्कार में किसी प्रकार की कमी नहीं है बल्कि नये ज्ञान के उपयोग के लिए प्रेरणाएँ कम हैं, हम इस पर वर्तमान अध्याय के दूसरे भाग में विचार करेंगे।

विकसित देशों की तुलना में निर्धन देशों में यह अन्तर पाया जाता है कि उन्हें शुद्ध विज्ञान की प्रगति पर अधिक पैसा खर्च करने की ज़रूरत नहीं होती। वे यह काम अधिकांशतः प्रौद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों पर छोड़ सकते हैं, जिनके परिणाम सबको निःशुल्क उपलब्ध होते हैं। अपवाद रूप में एकाध निर्धन देश ऐसे हो सकते हैं जिन्हें विज्ञान के कुछ पहलुओं में दूसरे पहलुओं की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी हो, लेकिन शुद्ध विज्ञान की दुनिया में

इसके उदाहरण ढूँढना बहुत मुश्किल है। शुद्ध विज्ञान की प्रगति तो वायु की भाँति होती है जो जिधर का रुख होता है उधर ही बहती है, और यह बड़ा सन्देहास्पद है कि अपेक्षाकृत निर्धन देशों को नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों की खोज पर पैसा खर्च करने से कोई लाभ हो सकता है। तकनीकी अनुसन्धान की बात इससे बिलकुल अलग है। विकसित देशों में किए गए अधिकांश तकनीकी अनुसन्धान और आविष्कार कम विकसित देशों पर भी उसी प्रकार लागू होते हैं और उनका ज्यों-का-त्यों अनुकरण किया जा सकता है। लेकिन विकसित देशों ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों को अपनी निजी समस्याओं के हल में ही लागू किया होता है जो कम विकसित देशों की समस्याओं से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए ताप-गति-विज्ञान के सिद्धान्तों की सहायता लकड़ी नहीं बल्कि कोयला जलाने के काम आने वाले ताप को अधिकतम करने के उपाय निकालने के लिए ली गई है, लेकिन अनेक निर्धन देशों के लिए इस तकनीकी अनुसन्धान का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि उनके पास कोयले के स्थान पर जलाने के लिए लकड़ी-ही-लकड़ी है। इसी प्रकार आनुवंशिकी के सिद्धान्तों को शकरकन्द की किस्म सुधारने की अपेक्षा गेहूँ की किस्म सुधारने में लागू किया गया है और शरीर-विज्ञान के सिद्धान्त उष्ण कटिबन्धों में रहने के उपाय निकालने की अपेक्षा शीतोष्ण कटिबन्धों में रहने के उपाय निकालने पर लागू किये गए हैं। अतः जिन मामलों में कम विकसित देश विकसित देशों से भिन्न हैं उनमें इन्हें तकनीकी अनुसन्धान करने की काफ़ी आवश्यकता है। अन्तिम बात यह है कि यदि विकासशील देशों में हुए तकनीकी अनुसन्धान के परिणाम कम विकसित देशों में लागू भी किए जा सकें तो उनकी वाणिज्यिक दृष्टि से विकास करने की समस्याएँ भिन्न होती हैं। जैसे, जिन देशों में कोयला, लोहा, पूँजी और कुशल श्रमिकों की बहुतायत है वहाँ उत्पादन की जो पद्धतियाँ लाभ देती हैं वे दूसरे ऐसे देशों में बिलकुल अलाभप्रद रहती हैं जिनके सामने बहुतायत से उपलब्ध अकुशल श्रमिकों और वहाँ सस्ते मिल सकने वाले कच्चे सामानों के सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग ढूँढने की समस्या है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम विकसित देशों की मुख्य कमियों में से एक यह है कि वे अनुसन्धान और अपनी परिस्थितियों के उपयुक्त नयी प्रक्रियाओं और पदार्थों के विकास पर काफ़ी पैसा खर्च नहीं कर पाते। इसका आंशिक कारण संस्थान-सम्बन्धी है। औद्योगिक देशों में निजी उद्यमकर्ता औद्योगिक अनुसन्धान पर बहुत पैसा खर्च करते हैं, क्योंकि उन्हें उम्मीद होती है कि इससे उनको लाभ मिलेगा। दूसरी ओर, कम विकसित देश कृषि-प्रधान होते हैं। जहाँ कृषि-कर्म में बड़ी वाणिज्यिक कम्पनियाँ लगी हैं वहाँ इन कम्पनियों ने निजी रूप में या सामूहिक आधार पर अनुसन्धान में पैसा लगाया है (जैसे रबड़,

मेंले, गन्ने की गती म) लेकिन कृषि के उस सारे क्षेत्र मे, जो बड़े पैमाने पर सगठित नही है (कृषि का अधिकाश छोटे पैमाने पर होता है) अनुसन्धान पर पैसा लगाने म निजी दिलचस्पी नही पाई जाती । परिणाम यह है कि इन देशो म अनुसन्धान का सारा खर्च (खनिज और वाणिज्यिक खेती-सम्बन्धी अनुसन्धान को छोड़कर) सरकार उठाती है। दूसरी ओर औद्योगिक देशो म अनुसन्धान मुख्यत निजी हित की वस्तु माना जा सकता है, जिसमे सरकार इधर-उधर की कमी को दूर करने के प्रयत्न कर सकती है। कम विकसित देशो म अनुसन्धान मुख्य रूप से सरकारो का काम है और यह उनका मुख्य काम होना भी चाहिए।

सरकारो को इस मद पर कितना धन खर्च करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नही है। ब्रिटेन म औद्योगिक अनुसन्धान और विकास का वर्तमान व्यय उद्योग द्वारा उत्पन्न आय के एक प्रतिशत से कुछ ही कम कूता जाता है। अमरीका म भी औद्योगिक अनुसन्धान पर लगभग इतना ही सरकारी खर्च होता है, जबकि कृषि-अनुसन्धान पर कृषि उत्पादन के निवल मूल्य का $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से भी कम व्यय होता है। इस आधार पर यदि कम विकसित देश सभी प्रकार के अनुसन्धान-कार्य (तकनीकी, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी आदि) पर अपनी राष्ट्रीय आय का (सरकारी खर्च का नहीं) $\frac{1}{2}$ से 1 प्रतिशत के बीच खर्च करें तो अनुचित नही होगा। उस सुझाव का कोई पक्का आधार नही है लेकिन इससे कम खर्च निश्चय ही बहुत थोड़ा मानना होगा।

अब तक हमने मुख्य रूप से प्रौद्योगिक ज्ञान की चर्चा की है, अब सामाजिक सम्बन्धो पर भी कुछ विचार कर लिया जाए। आविष्कार की मानव-प्रवृत्ति जिस प्रकार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र म सक्रिय रही है उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धो के क्षेत्र मे भी इसने बहुत-कुछ किया है। हाँ, आविष्कार की प्रक्रियाओ म कुछ भेद अवश्य है। पहला तो यह कि अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक आविष्कार व्यक्तियो द्वारा नही किये गए बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार अपने अन्दर सामजस्य करने की प्रक्रिया मे समाज अव्यक्त रूप से नये सामाजिक सस्थानो को जन्म देता है जिनका पता उनके सक्रिय हो चुकने के काफी बाद मे चलता है। लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमे हम निजी आविष्कर्ता का नाम और आविष्कार की तारीख तक कही-कही बता सकते है—उदाहरण के लिए, जब-जब कोई आविष्कार कानूनी प्रक्रिया द्वारा हुआ है, या प्रशासनिक कार्यवाही के माध्यम से जन्मा है (बेरोजगारी बीमा, सामूहिक खेत, केन्द्रीय बैंकिंग, ससदीय सरकार आदि), दूसरे, सामाजिक सम्बन्धो के आविष्कार की प्रक्रिया के चरण भिन्न होते हैं। यद्यपि इनमे भी हम सामान्य

सिद्धान्तों की स्थापना के चरण और इन सिद्धान्तों के विशिष्ट समस्याओं पर लागू होने के चरण की कल्पना कर सकते हैं, लेकिन वास्तव में इस क्षेत्र में उलटा ही सम्बन्ध पाया जाता है, अर्थात जिन लोगों के सामने किसी व्यावहारिक सामाजिक समस्या के हल निकालने का प्रश्न होता है वे प्रायः उसके लिए सामाजिक सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकांश मामलों में सामाजिक सिद्धान्त सामाजिक अनुसन्धान का परिणाम होते हैं, अनुसन्धान सिद्धान्त की प्रवृत्ति प्रायः नहीं होता। इसके अलावा, विकास की प्रक्रिया भी बहुत भिन्न होती है। सम्बन्धित व्यक्ति अपने विचार का प्रचार करने के लिए एक हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप विचार या तो धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया जाता है या कानून लागू कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक ज्ञान राजनीतिक प्रक्रिया से विकास करता है जो लोगों के विचारार्थ विशिष्ट समस्याएँ प्रस्तुत करती है और प्रस्तावित समाधानों को प्रस्तुत करना भी राजनीतिक समर्थन पर निर्भर रहता है। अतः सामाजिक ज्ञान और प्रौद्योगिक ज्ञान का भेद केवल ऊपरी है, इस अर्थ में दोनों एक ही हैं कि ये उन लोगों के समर्थन पर निर्भर करते हैं जिन्हें उनमें दिलचस्पी होती है। फिर भी, दोनों प्रकार के ज्ञान का अन्तर महत्वहीन नहीं है। यदि प्रौद्योगिक क्षेत्र का वैज्ञानिक अपने समर्थक को कोई ऐसा फार्मूला बेचता है जो इस अर्थ में झूठा है कि वह तकनीकी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होगा तो वह जल्दी ही पकड़ में आ जाता है। इसके विपरीत, सामाजिक क्षेत्र का वैज्ञानिक ऐसे झूठे फार्मूले देकर भी, जिनमें संसार का अवास्तविक चित्र सामने आता हो, इस रूप में बहुत अधिक सफल माना जा सकता है कि इनसे उसके समर्थक को अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के पूरा करने में सहायता मिलती है। सिद्धान्त की बात यह है कि एक ओर जहाँ प्रौद्योगिक ज्ञान के विकास का काम दिलचस्पी रखने वाले पक्षों के ऊपर छोड़ा जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक ज्ञान के विस्तार का काम मुख्य रूप से दिलचस्पी रखने वाले पक्षों पर छोड़ना खतरनाक है। समाज की रचना में हममें से हर व्यक्ति का एक निहित स्वार्थ होता है जो सामाजिक समस्याओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। यह जिस प्रकार और लोगों के बारे में सही है उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र के वैज्ञानिकों पर भी लागू होता है। जैसे, सामाजिक वैज्ञानिक अपने पेशे में ईमानदारी बनाए रखने के लिए आचार संहिता का पालन करते हैं, जिसके अनुसार उन्हें तथ्यों को प्रस्तुत करने और उनका विश्लेषण करने में अधिक-से-अधिक निष्पक्षता बरतने का प्रयत्न करना होता है। अतः समाज के बारे में सत्य को जानने और उसे आगे बढ़ाने का काम वे ही सामाजिक वैज्ञानिक सबसे अच्छी तरह कर सकते हैं जो उन संस्थानों में काम करते हैं जिनका

खर्च ऐसे उपायों से चलाया जाता है कि वैज्ञानिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे।

कम विकसित समाजों को अधिक विकसित समाजों से औद्योगिक आविष्कार लेने से जिस प्रकार लाभ होता है उसी प्रकार उनके सामाजिक आविष्कारों का अनुकरण करने से भी होता है। भ्रष्टाचार से अपेक्षाकृत मुक्त कुशल प्रशासनिक सेवा, निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा, मिट्टी की उर्वरता को बनाये रखने और पूंजी-निवेश को बढ़ावा देने वाली भूमि धारणाधिकार की प्रणाली ऐसे ही आविष्कारों के कुछ उदाहरण हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह पुस्तक भी उपयोगी सामाजिक आविष्कारों की एक सूची मानी जा सकती है। और, जिस प्रकार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनुकरण करते समय सावधानी बरतने की आवश्यकता है, उसी प्रकार सामाजिक आविष्कारों के क्षेत्र में भी है। कुछ सामाजिक आविष्कार कम विकसित देशों के वर्तमान विकास-स्तर के उपयुक्त नहीं होते (उदाहरण के लिए व्यापक बेरोज़गारी बीमा निर्धन के लिए उपयुक्त नहीं है), कुछ आविष्कार ऐसे होते हैं जिन्हें हेर-फेर करने के बाद ही अपनाना चाहिए (जैसे, उन देशों में निजी उद्यम पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता जहां निजी उद्यम का विकास नहीं हुआ है) और कुछ आविष्कार ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपनाना खतरनाक होता है (उदाहरण के लिए, उन देशों में परिवार भत्तों की अदायगी लागू करना जहां जनसंख्या पहले ही हर पच्चीस वर्ष में दूनी हो जाती है)। प्रायः ऐसा लगता है कि कम विकसित देशों में जिस प्रकार पूंजी या प्राकृतिक साधनों की कमी है, उसी प्रकार सामाजिक विचारों का भी अभाव है (और विचारों पर अमल करने वालों की भी कमी है)। अतः समाज के अध्ययन पर खर्च करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान की दूसरी शाखाओं के अध्ययन पर खर्च करना है।

विशेषज्ञ जिसे काम करने का सबसे प्रभावशाली ढंग समझते हैं और अधिकांश व्यक्ति वास्तव में जिस ढंग से काम करते हैं उसमें सदा ही अन्तर पाया जाता है। ज्ञान का विकास ही आवश्यक नहीं है

२. नये विचारों की प्रयुक्ति

उसका प्रसार और व्यवहार में प्रयुक्ति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान की प्रयुक्ति की गति कुछ तो लोगों की नए विचारों के प्रति प्रभाव-ग्राह्यता पर निर्भर होती है और कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि नये विचारों को अपनाने और उनसे फायदा उठाने में सरकार कितना सहयोग देती है। हम एक-एक करके इन दोनों मुद्दों पर विचार करेंगे।

(क) नवीन प्रक्रिया के प्रति रुख—नये विचार सबसे पहले ऐसे समाजों में अपनाए जाते हैं जिनमें लोग भिन्न-भिन्न ढंग अपनाने या परिवर्तन करने को

के सम्पन्न होते हैं, और इसीलिए जिनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी होता है। वैज्ञानिक खोज को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियों पर विचार करते समय (इस अध्याय के खण्ड १ (क) में) हम उन महत्त्वपूर्ण बातों पर पहले ही विचार कर चुके हैं जो इस प्रकार की परिस्थिति को जन्म देती हैं। वहां हमने राजनीतिक और धार्मिक कारणों पर जोर दिया था और सामाजिक स्थिति का महत्त्व भी स्वीकार किया था अनेक भिन्न-भिन्न धन्धों में लगे या संसार के अनेक भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले लोगों में एकता पैदा करती है। जो वर्ग अलग-थलग, गतानुगतिक, दम्भी और सत्तावादी होता है वह नए विचारों के सामने आने पर उन्हें जल्दी ही नहीं अपना पाता।

इस सामान्य पृष्ठभूमि के अलावा किसी नए विचार के अपनाए जाने की गति अंशतः स्वयं उस विचार पर निर्भर करती है। पहली बात तो यह है कि सभी नए विचार उपयुक्त नहीं होते, भले ही वे किसी दूसरे देश में बहुत अधिक उपयोगी रहे हों। उदाहरण के लिए, कोई नया बीज अच्छे मौसम में बहुत अधिक उपज दे सकता है, लेकिन यदि मौसम का उस पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो तो वह उस स्थान के लिए उपयुक्त नहीं रहेगा जहाँ वर्षा की मात्रा किसी साल कम और किसी साल बहुत होती है। कोई नया विचार इसलिए भी अनुपयुक्त हो सकता है कि किसी समाज-विशेष का औद्योगिक स्तर अभी उसके अनुकूल न हो। उदाहरण के लिए, कोई नया औज़ार तब तक नहीं अपनाया जा सकता जब तक कि स्थानीय लुहार या मिस्त्री उसे बना न सकें, या कम-से-कम उसमें टूट-फूट हो जाने पर उसकी मरम्मत न कर सकें। या यह भी सम्भव है कि किसी नये विचार को अपनाने के लिए पूंजीगत ढांचे में काफी परिवर्तन की आवश्यकता हो। उदाहरण के लिए, बहुत अधिक उपज देने वाला नया बीज अपनाने से उत्पन्न अनाज को पीसने के लिए उन्नत मिलों की स्थापना करना आवश्यक हो सकता है, या उसे रखने के लिए नये खलिहानों या ले जाने के लिए परिवहन की उन्नत सुविधाओं की आवश्यकता पड़ सकती है। इसी प्रकार नयी खादों का उपयोग तब तक स्थगित करना पड़ सकता है जब तक सूखी जमीन में सिंचाई करने के लिए पानी उपलब्ध न हो जाए। पुरानी प्रौद्योगिकी के साथ नये विचार का मेल बिठाने के लिए अक्सर यह आवश्यक होता है कि कारीगरी में कई प्रकार के परिवर्तन या पूंजी-निर्माण में हेर-फेर किये जाएं। दूसरे देश से आने वाले विशेषज्ञ में और जिन लोगों को सलाह देने के लिए वह आया है, उनमें अन्तर होने का भाव यही मुख्य कारण है। विशेषज्ञ उन सभी परिस्थितियों को मानकर चलता है जिन पर उसकी नवीन प्रक्रिया निर्भर करती है, हालांकि उनके बारे में उसका कोई विशेष ज्ञान नहीं होता और न वे उसके मस्तिष्क में मौजूद होती हैं। लेकिन

जिस व्यक्ति का वह सलाह देता है वह फौरन समझ जाता है कि यह विचार उसकी परिस्थितियों में सफलतापूर्वक काम नहीं करेगा या अगर वह तुरन्त नहीं भी समझता है तो ज्यों ज्यों उसके रास्ते में एक के बाद एक अप्रत्याशित बाधाएँ आती जाती हैं जिनके कारण कम व परिणाम प्राप्त नहीं होते जो आशा जगाए प्राप्त हुए होते हैं त्यों-त्यों वह निराश होता जाता है। ऐसी स्थिति में यही न्याय है कि विशेषज्ञ लोग प्रयत्न में काम लें और जिन लोगों को सलाह दी जा रही है वे प्रयोग आरम्भ करने के लिए उत्सुक रहें।

प्रौद्योगिक उलट फेर के अलावा नये विचार की प्रयुक्ति के दौरान सामाजिक परिवर्तन भी करने पड़ सकते हैं जिनकी वजह से नये विचार का विरोध हो सकता है। उदाहरण के लिए मज़ूर के घर में तेल निकालने का कारखाना मिल स्थापित करने से तेल का उत्पादन दूना हो जाता है लेकिन मिल स्थापित करने के फलस्वरूप पश्चिमी अफ्रीका के किसानों की पत्नियों की वह अतिरिक्त आमदनी समाप्त हो जाती है जो उन्हें अपने पतियों के लिए तेल निकालने की स्थिति में मिलती है और इसलिए वे बड़े जोर के साथ इसका विरोध करती हैं। मिल स्थापित करने से पति और पत्नी के बीच श्रम के विभाजन में भी परिवर्तन आ जाता है और इस प्रकार के किसी परिवर्तन के बड़े दूरगामी और अज्ञात परिणाम होते हैं। यह भी सम्भव है कि नवीन प्रक्रिया से समाज के उन सारे वर्गों को हानि पहुँचे जो किन्हीं विशेष तरीकों से उत्पन्न करके अपनी आजीविका चलाते रहे हों। ऐसे वर्गों के लोग नवीन प्रक्रिया का विरोध करते हैं। इंग्लैण्ड में ऐसा ही किया था और उनके व्यवहार का अनुकरण करते हुए आज हर समुदाय के श्रमिक या पूँजीपति या भूस्वामी उन परिवर्तनों के विरुद्ध सत्याग्रह करते हैं जिनसे उनके विशेष स्वार्थों को हानि पहुँचने की सम्भावना है। अत उन समुदायों में नवीन प्रक्रिया आसानी से लागू नहीं की जा सकती जहाँ स्थापित स्वार्थों के प्रति सम्मान भावना पाई जाती है यह उन स्थानों में सुभीते के साथ लागू हो जाती है जहाँ प्रतियोगिता को पसन्द किया जाता है और जहाँ एकाधिकार पैदा करने या बनाए रखने के प्रयत्नों को निश्चयतापूर्वक कुचल दिया जाता है।

यदि प्रचलित निषेधों या धार्मिक सिद्धान्तों से प्रत्यक्ष विरोध हो तो भी नवीन प्रक्रिया लागू होना कठिन होता है। ऐसी परिस्थितियों में नया विचार पहले-पहल प्राय एक धार्मिक जाति या राजनीतिक अल्पसंख्यक समूह द्वारा अपनाया जाता है जिनके सिद्धान्तों के साथ नये विचार का विरोध नहीं होता नये विचार का शुभारम्भ अल्पसंख्यक समूह के निराश या बहुमत विरोधी सदस्य भी कर सकते हैं जो कि अपनी असन्तुष्टि व्यक्त करने का एक साधन मान लेते हैं। यह भी एक कारण है कि विकास प्राय दूसरे लोगों के प्रयत्नों से नहीं होता

जिनके हाथ में सत्ता है, बल्कि उनके प्रयत्नों के विरोध-स्वरूप होता है।

बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर करता है कि विचार का श्रीगणेश कौन लोग करते हैं। यदि समाज के प्रभावशाली सदस्य श्रीगणेश करें तो नगण्य लोगों द्वारा आरम्भ किये जाने की अपेक्षा इस स्थिति में इनके अपनाए जाने की सम्भावना अधिक होती है। कुछ समाजों में सत्ता-सम्पन्न लोग प्रभावशाली माने जाते हैं—मुखिया, वयोवृद्ध, पुरोहित, मजिस्ट्रेट और अमीर लोग—और नवीन प्रक्रिया लागू करने वाले को सबसे पहले इन सत्ता-सम्पन्न लोगों की सहमति प्राप्त करनी होती है। अफ्रीका में अप्रत्यक्ष शासन स्थापित करने में ब्रिटेन के लोगों को शायद एक सहूलियत यह भी रही, एक बार मुखिया और वयोवृद्ध लोगों को राजी कर लिया गया, उनके बाद उन्होंने खुद लोगों को बता दिया कि उन्हें क्या करना है और नया विचार सर्वत्र अपना लिया गया, इसके विपरीत अधिक प्रजातान्त्रिक समाजों में नये विचार बड़ी कठिनाई से अपनाये जाते हैं। कुछ समाजों में शासक वर्ग और शासितों के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं होते, सम्भव है पुराने शासक प्रभावहीन हो गए हों और वास्तविक महत्त्व दूसरे लोगों को प्राप्त हो। नये विचारों को फैलाने वाले लोगों का पहला काम यह देखना होता है कि कार्य कहाँ से शुरू किया जाए। विदेशियों के प्रभाव में भी बहुत अन्तर पाए जाते हैं। यदि वे धनी और शक्तिशाली शासक-वर्ग के रूप में जम चुके हों तो लोग शायद उनका अनुकरण करना चाहेंगे और शासक-वर्ग के विचार जल्दी फैलेंगे। लेकिन यह भी सम्भव है कि प्रतिसाम्राज्यवादी कारणों से लोगों के मन में विदेशियों के प्रति घृणा की भावना हो, या नीच जाति का होने के कारण उन्हें हेय समझा जाता हो और उनके कुछ या सभी विचार जान-बूझकर ठुकरा दिए जाते हों। व्यवहार में, आज विदेशी ही नये विचारों को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के सबसे बड़े माध्यम हैं, चाहे उनका प्रभाव व्यक्तिगत हो, या उनके लेखों, फिल्मों, रेडियो कार्यक्रमों, या विदेश जाने वाले विद्यार्थियों और अन्य पर्यटकों के माध्यम से पड़ता हो।

(ख) ज्ञान और लाभ—नये ज्ञान को अपनाने और उत्पादन में प्रयुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह लाभप्रद हो और साथ ही अभिनव भी हो। ज्ञान प्राप्त करने में मेहनत पड़ती है और उसकी प्रयुक्ति के लिए अतिरिक्त साधनों और अतिरिक्त जोखिम उठाने की इच्छा की आवश्यकता होती है। अतः ज्ञान की प्रयुक्ति के लिए संस्थानिक रचना ऐसी होनी चाहिए जो प्रयत्नों के भेद के साथ पारिश्रमिक में भी भेद रख सके। सामान्य रूप से हम अध्याय तीन में ही इस पर विचार कर चुके हैं। यहाँ ज्ञान की प्रयुक्ति के विशिष्ट प्रसंग में संस्थानिक आवश्यकताओं पर कुछ शब्द कहने ही पर्याप्त होंगे।

मुख्य बात यह है कि कुशलता, उत्तरदायित्व और जोखिम उठाने की भावना के अन्तरों के अनुरूप पारिश्रमिक में भी अन्तर होना चाहिए। व्यवहार में, इन चीजों के लिए पारिश्रमिक में अन्तरों की सीमा आर्थिक विकास की मात्रा और गति के अनुसार घटती-बढ़ती है। जिन समाजों में प्रति-व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि नहीं हो रही होती वहाँ कुशल लोगों की माँग की अपेक्षा उनकी सप्लाई अधिक होती है। सभी योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों के लिए काम देना कठिन होता है और कुशलता के अनुरूप अदायगियों में थोड़ा ही अन्तर पाए जाते हैं। विकास आरम्भ होने पर यह स्थिति नहीं रहती। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की कुशलता वाले लोगों की माँग तेजी से बढ़ती है। विकास के साथ विशेषज्ञता में भारी वृद्धि होती है और उसी के साथ-साथ कौशल के प्रकार भी अनेक होते जाते हैं। इससे समन्वय की आवश्यकता बढ़ती है फर्म या दूसरे आर्थिक एकक का औसत आकार बढ़ता है और पर्यवेक्षक और प्रशासनिक अमले की माँग में वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्य वर्गों की तुलना में 'मध्यम' वर्ग तेजी से बढ़ने हैं। इस प्रक्रिया में कुशल और अकुशल, साक्षर और निरक्षर, पर्यवेक्षक और पर्यवेक्षितों के पारिश्रमिकों के अन्तर बढ़ने लगते हैं। यदि अधिक उन्नत देशों से कुशल लोगों को लाकर भरती करने की जरूरत पड़े तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से होती है कारण यह है कि बाहर से लाए जाने वाले लोगों को उन्हें अपने देश में मिलने वाले वेतनों से भी अधिक वेतन देने होते हैं और इसके साथ ही देशी कुशल व्यक्तियों की ओर से अधिक पारिश्रमिक की माँग की जाने लगती है जो किसानों या अकुशल मजदूरों की आमदनियों के मुकाबले अनुपात से कहीं अधिक होती है। इस प्रकार, इस अवस्था वाले समाजों में कम विकसित और अधिक विकसित दोनों प्रकार के समाजों की अपेक्षा पारिश्रमिकों में अन्तर अधिक होते हैं। रूस के वर्तमान ऊँचे अन्तर इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जैसे ही शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार से ऊँचा प्रशिक्षण पाये हुए लोगों की मात्रा बढ़ती जाती है यह स्थिति अपने-आप ठीक होने लगती है। अनिवार्य शिक्षा के लागू होते ही मात्र साक्षरता के आधार पर मिलने वाला अधिक पारिश्रमिक समाप्त हो जाता है। तकनीकी स्कूलों और शिल्पशालाओं के प्रबन्धों से बढ़इयों, मिस्त्रियों, इमारत बनाने वालों और दूसरे प्रकार के शिल्पियों की सप्लाई बढ़ जाती है। माध्यमिक स्कूलों से अनेक टाइपकार, क्लर्क, अध्यापक और भिन्न भिन्न प्रकार के वैयक्तिक सहायक तैयार होकर निकलने लगते हैं और विश्वविद्यालयों से उच्चतर स्तर के लिए आवश्यक लोग काफी संख्या में मिलने लगते हैं। जैसे-जैसे सप्लाई बढ़ती जाती है पारिश्रमिक के अन्तर कम होते जाते हैं। अन्तर अधिक होने से मशीनों के

प्रयोग को भी बढ़ावा मिलता है। जिन कामों के लिए पहले कुशल आदमियों की आवश्यकता होती थी उनके लिए मशीनों का उपयोग होने लगता है और इन मशीनों को चलाने के लिए कम कुशल और कम मजदूरी वाले लोग रख लिए जाते हैं। इसके अलावा सम्बन्धों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं। शुरू में अपनी आमदनियाँ बढ़ाने के लिए अधिकांश कुशल श्रमिक ही मज़दूर संघ और व्यावसायिक संगठन बनाते हैं लेकिन धीरे-धीरे सभी प्रकार के श्रमिकों के संघ बन जाते हैं और यदि कुशल लोग नयी मशीनों पर काम करने वाले अकुशल लोगों से भय खाने लगते हैं तो वे स्वयं अकुशल लोगों के संगठन बना देते हैं और कुशल और अकुशल दोनों के पारिश्रमिकों के बीच अधिक अन्तर नहीं रहने देते। इन्हीं सब कारणों से भली प्रकार विकसित शिक्षा सुविधाओं वाले उन्नत देशों में पारिश्रमिकों के अन्तर अधिक नहीं पाए जाते। इनसे सामाजिक सम्बन्धों में खिंचाव भी पैदा होता है, क्योंकि मध्यम वर्ग इस बात से असन्तुष्ट अनुभव करते हैं कि आर्थिक सोपान में उनकी स्थिति गिरती जा रही है।

बहुत-कुछ यही उद्यमकर्ताओं की आमदनियों के मामले में भी होता है। विकास के प्रारम्भिक चरणों में नये कामों में जोखिम उठाने से लोग बहुत कतराते हैं। भूमि, व्यापार, महाजनी और शहरी आवास-निर्माण पर आसानी से रुपया लगता चला जाता है। लेकिन देशी पूँजीपति जब तक इस बात से आश्वस्त नहीं हो जाते कि लाभ बहुत अधिक मिलेगा, तब तक खानों, लोकोपयोगी सेवाओं, वाणिज्यिक खेती या विनिर्माण में पैसा लगाने के लिए तैयार नहीं होते। यह बात भी है कि उन्हें नये कामों के बारे में जानकारी थोड़ी होती है। अतः ये क्षेत्र विदेशियों के हाथ में रह जाते हैं जो उत्पादन और संगठन की नयी टेक्नीकें भी साथ लाते हैं, और जिनके आकर्षण का मुख्य कारण उनका यह विश्वास होता है कि अपने देश की अपेक्षा इस नये देश में पूँजी लगाने से वे बहुत अधिक लाभ कमा सकेंगे। विकास के प्रारम्भिक चरणों में राष्ट्रीय आय में लाभों का अनुपात बढ़ता जाता है, और इसी के साथ-साथ बचतें भी बढ़ती हैं (अध्याय ५ में इस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है)। विदेशी उद्यमकर्ताओं का अनुकरण करते-करते ऐसी स्थिति आ जाती है जब देशी उद्यमकर्ताओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि अर्थ-व्यवस्था को विदेशी उद्यमशीलता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। इसके फलस्वरूप आर्थिक स्वाधीनता की स्थिति पैदा होती है, और बाद में वह देश स्वयं पूँजी और उद्यमकर्ताओं का निर्यात करने लगता है।

कृषि के क्षेत्र में पर, जो पारिवारिक आकार के आधार पर चलाई जा सकती है आर्थिक विकास तब तक अत्यन्त मन्द रहता है जब तक नये विचारों

को खोजने और उन्हें लागू करने के जोखिमों को उठाने के लिए तत्पर उद्यम-कर्ताओं की सप्लाई काफी न हो। अतः निजी उद्यम की अर्थ-व्यवस्था तब तक प्रगति नहीं कर सकती जब तक कि उसमें व्यवसायी काफी संख्या में उपलब्ध न हों या उनमें जोखिम उठाने की भावना पर्याप्त न हो क्योंकि या तो वे पूँजी इकट्ठी न कर सकते हों, या स्वभाव से साहसहीन हों, या जोखिम की मात्रा के साथ-साथ पारिश्रमिक में उचित अन्तर न हो। उदाहरण के लिए, हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा था कि अनेक लोग ब्रिटेन और अमरीका की तुलना करते हुए यह कहते हैं कि ब्रिटेन में नवीन प्रक्रियाओं को अपनाने की गति अपेक्षा-कृत धीमी है। इस प्रसंग में हमने कहा था कि यह आविष्कार की कमी के कारण नहीं है, क्योंकि नयी वस्तुओं और प्रक्रियाओं के आविष्कार में ब्रिटेन भी काफी आगे रहा है। यदि कोई कमी है तो वह नयी वस्तुओं को बड़े पैमाने के उत्पादन की स्थिति तक पहुँचाने के प्रयत्नों की गति में अन्तर है। यह कमी अनुसन्धान की नहीं बल्कि उद्यमशीलता की है जिसका परिणाम यह है कि किसी कारणवश ब्रिटेन के उद्यमकर्त्ता नये आविष्कारों का उपयोग करने में उतने फुर्तीले नहीं हैं जितने उनके अमरीकी साथी हैं।

उद्यमकर्त्ताओं को नवीन प्रक्रिया अपनाने के लिए बढ़ावा इन बातों से मिलता है—सामाजिक सफलता की इच्छा से मोटे लाभ कमाने की आशा से, या नवीन प्रक्रिया न अपना सकने पर भारी हानि होने के भय से। इनमें से पहले प्रेरक का प्रभाव उन समाजों में कम होता है जहाँ व्यावसायिक सफलता को विशेष ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता, दूसरा प्रेरक उन समाजों में महत्त्व-हीन है जहाँ लाभों और पूँजीगत फायदों पर भारी कर लगाए जाते हैं, और तीसरा प्रेरक उस स्थिति में समाप्त हो जाता है जब अर्थ-व्यवस्था का सामान्य वातावरण प्रतियोगितात्मक के स्थान पर एकाधिकार-प्रधान बन जाता है। यदि यह सही है कि अमरीकी उद्यमकर्त्ताओं की अपेक्षा ब्रिटिश उद्यमकर्त्ता कम उद्यमी हैं—हर व्यक्ति इस तथ्य को मानता भी नहीं है—तो इसका समाधान ऊपर के किन्हीं प्रेरक तत्त्वों में ढूँढ़ा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक विकास की उत्कट इच्छा लेकर उठने वाले अनेक कम विकसित देश 'मध्य' वर्गों और किसानों, विदेशियों और देशी लोगों, या लाभों और दूसरी आमदनियों के बीच आय की असमानता की समस्या से परेशान हैं। बात यह है कि आज का वातावरण सामान्य आय अन्तरों, और विशेषकर विदेशी आय अन्तरों, और चरम अवस्था में मोटे लाभों के विपरीत है। पैसे, ये विकास की कीमत का भाग हैं। इस समस्या से निबटने का एक उपाय तो यह है कि विकास की गति पर अंकुश लगा दिया जाए और उतना ही विकास होने दिया जाए जितना देश के कुल लोगों की सहायता से किया

जा सके, और जहाँ तक सरकार निजी उद्यमशीलता का स्थान ग्रहण कर सके। दूसरा उपाय यह है कि इन अन्तरों को अधिक द्रुत विकास का अस्थायी मूल्य मान लिया जाए। दोनों ही परिस्थितियों में सबसे प्रभावशाली उपाय अधिक-से अधिक तेज़ी से ऐसे कुशल लोगों को तैयार करना है जिन पर विकास सर्वाधिक निर्भर है, क्योंकि इससे विकास की सम्भावना भी बढ़ती है और असमानता का मूल्य भी कम-से-कम चुकाना पड़ता है।

३. प्रशिक्षण कार्य-क्रम

(क) आवश्यकताएँ—आर्थिक विकास के दौरान सभी स्तरों पर शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। प्राथमिक शिक्षा की माँग में वृद्धि हो जाती है जिसका अन्तिम लक्ष्य यह होता है कि स्कूल जाने वाली अवस्था के हर बच्चे को अनिवार्य शिक्षा मिलनी चाहिए। स्वयं माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य से ही, या विश्वविद्यालयों के लिए विद्यार्थी तैयार करने की दृष्टि से, या सचिवों, अध्यापकों, या तकनीकी सहायकों के प्रशिक्षण के लिए विद्यार्थी तैयार करने की दृष्टि से अधिकाधिक माध्यमिक स्कूलों की ज़रूरत पड़ती है। शिल्पियों, कृषि-सहायकों, अध्यापकों, नर्सों, सचिवों और मिस्त्रियों के लिए अनेक प्रकार की प्रशिक्षण-सुविधाएँ जुटानी पड़ती हैं। इन संस्थानों के क्षेत्र से परे वयस्क शिक्षा का क्षेत्र है जो साक्षरता आन्दोलनों या कृषि-विस्तार से लेकर साक्षर बनाने वाली कक्षाओं तक फैला होता है। और सारी शिक्षा-प्रणाली के ऊपर ज्ञान की लगभग हर शाखा में विश्वविद्यालय के स्तर पर लोगों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है।

इन सभी सुविधाओं की 'उचित' व्यवस्था करना किसी कम आय वाले देश के बजट की सामर्थ्य से बाहर होता है। अतः इनमें से कुछ को चुनना पड़ता है। थोड़े-से अच्छी प्रकार प्रशिक्षित लोग तैयार करना ठीक रहेगा, या अनेक अर्द्ध-प्रशिक्षित लोग तैयार करना उचित होगा? या तकनीकी और माध्यमिक, वयस्क और प्राथमिक, या मानव-शास्त्रीय और प्रौद्योगिकीय के बीच क्या अग्रताएँ निर्धारित करनी होंगी?

पहले अग्रताओं के प्रश्न को लें। शिक्षा के बारे में एक कठिनाई यह है कि यह उपभोग की वस्तु भी है और पूँजी-निवेश भी। पूँजी-निवेश के रूप में इससे उत्पादन-वृद्धि में प्रत्यक्ष योगदान मिलता है। ऐसे भी देश हैं जिनमें सब प्रकार की शिक्षा को शंका की दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि इससे राजनीतिक, धार्मिक, जाति या बिरादरी की वर्तमान सत्ता को हानि पहुँचने की सम्भावना होती है। लेकिन अधिकांश देशों को यह निर्णय करने में अधिक कठिनाई नहीं होती कि उत्पादन में प्रत्यक्ष वृद्धि करने वाली सभी शिक्षा-सुविधाएँ जितनी बढ़ायी जा सकें अच्छा है, क्योंकि इन सुविधाओं पर खर्च को

जाने वाली राशि उसी प्रकार का पूंजी-निवेश है जैसा कि सिंचाई की सुविधाओं में किया जाता है। कठिनाई तब पैदा होती है जब हमें शिक्षा के उन प्रकारों के बीच अन्तर करना होता है जिनमें उत्पादन की अपेक्षा आनन्द में वृद्धि अधिक होती है। साधारणतः इसका उदाहरण है। समुदाय के कुछ लोगों के लिए साक्षर होना आवश्यक है, अन्यथा वे अपना काम नहीं कर सकते। लेकिन अधिकांश किसानों, कुलियों, नाइयों या घरेलू नौकरों को साक्षर बनाने पर जितना खर्च आएगा उस हिसाब से उनकी उत्पादकता में वृद्धि नहीं होगी। इन सब लोगों के लिए शिक्षा की मांग पूंजी-निवेश के रूप में नहीं बल्कि उपभोक्ता पदार्थ के रूप में की जाती है क्योंकि हम समझते हैं कि इससे उन्हें कुछ चीज़ों (पुस्तकें, अखबार) का अधिक आनन्द लेने, या कुछ कामों को और अच्छे ढंग से करने में सहायता मिलेगी। (यह नहीं कि इससे वे निश्चय ही अधिक सुख अनुभव करेंगे, हाँ, उनके मानव-गुणों में वृद्धि अवश्य हो जाएगी)। आर्थिक दृष्टि से वह शिक्षा, जो लाभप्रद पूंजी-निवेश नहीं है, उसी प्रकार का उपभोक्ता पदार्थ मानी जाएगी जैसे कपड़े, मकान या ग्रामोफोन हैं। समुदाय के हर आदमी की सभी तरह की आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य राष्ट्रीय आय में नहीं होती।

जिन दिनों शिक्षा निःशुल्क अनिवार्य और राष्ट्रीयकृत नहीं थी तब हर परिवार स्वयं इन समस्याओं को सुलझाता था, और अपनी आमदनी, अपने निवेश-कार्यक्रम और दूसरी आवश्यकताओं को देखते हुए जितना खर्च कर सकता था निजी अध्यापकों से शिक्षा दिलाने पर खर्च करता था। क्योंकि अशिक्षित लोग शिक्षा के फ़ायदे और नुकसानों के बारे में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते, अतः परिवार द्वारा लिये गए निर्णय गलत होते थे। शायद वे शिक्षा के महत्त्व को पूरी तरह नहीं आंक पाते थे—जो भी हो, ऐसे समुदायों में कुल जनसंख्या को देखते हुए शिक्षा पाने वाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। *लेकिन आजकल शिक्षा सार्वजनिक सेवा के रूप में उपलब्ध है,* और इसीलिए इसके बारे में लिये गए अधिकांश निर्णय राजनीतिक चर्चा का विषय होते हैं।

शिक्षा सम्बन्धी अपेक्षाओं के बारे में राजनीतिक विचार बदल रहे हैं। पचास वर्ष पहले अधिकांश राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों का ज़ोर साक्षरता के विस्तार पर था, शिक्षा-सम्बन्धी नीति का सबसे मुख्य उद्देश्य स्कूल जाने योग्य आयु के सभी बच्चों को शिक्षा दिलाना था। शिक्षा को मुख्य रूप से उपभोक्ता सेवा माना जाता था, कुछ शिक्षा उत्पादन बढ़ाने में भी सहायक हो जाती थी, लेकिन उत्पादन पर चाहे जो प्रभाव हो, समुदाय को साक्षर बनाना राष्ट्रीय गौरव की वस्तु समझी जाती थी। आजकल अपेक्षाएँ बदल रही हैं, और पूंजी-

निवेश के प्रकार की शिक्षा पर अब जितना जोर दिया जा रहा है उतना पहले कभी नहीं दिया जाता था। उदाहरण के लिए, अनेक देशों में कृषि-विस्तार-सेवाओं और तकनीकी संस्थानों के द्रुत विस्तार पर काफ़ी पैसा ख़र्च किया जा रहा है। साथ ही वयस्क शिक्षा भी महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है। आज ऐसे भी शिक्षाशास्त्री हैं जिनका कहना है कि वर्तमान स्थिति में बच्चों की अपेक्षा उनके माता-पिताओं को पढ़ाना अधिक उपयोगी है। कहा जाता है कि बच्चे जो-कुछ स्कूल में सीखते हैं वह घर आने पर अपने अज्ञानी माता-पिताओं की संगति के कारण या तो भूल जाते हैं या उसकी उपेक्षा कर देते हैं और पाँच या छः साल तक अनिवार्य शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद स्कूल छोड़ने के तीन वर्ष के अन्दर ही बहुत से बच्चे पढ़ना भूल जाते हैं। इसके विपरीत, यदि माता-पिताओं को पढ़ना लिखना सिखाया जाए तो उनके बच्चे भी किसी-न किसी रूप में पढ़ लिख जाएँगे और माता-पिताओं को अपने कारखानों या फ़ार्मों पर बैठे-बैठे ही उत्पादकता में सुधार करने के तरीके सिखाए जा सकते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि साक्षरता पर इतना अधिक ज़ोर देना बेकार है, लोगों को अपने पर्यावरण का अधिकाधिक लाभ उठाना सिखाना चाहिए—उन्हें प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के तरीके सिखाने चाहिए, या शिल्प-शिक्षा देनी चाहिए, या शिशु-पालन या पोशाकें तैयार करना बताना चाहिए। यह उपयोगी भी अधिक है और लोगों को साक्षर बनाए बिना ही सिखाया जा सकता है।

उच्चतर शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को लेकर भी इसी प्रकार का वाद-विवाद उठाया जा रहा है। विद्यार्थी विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा को पूँजी-निवेश समझते हैं, इसे उच्चतर सामाजिक स्थिति और अपेक्षाकृत अधिक आय कमाने का साधन माना जाता है। वकीलों की हैसियत ऊँची होने से, और अधिकांश सफल वकीलों की आमदनी बहुत अधिक होने से, क़ानूनी शिक्षा लेने वाले विद्यार्थी अनुपात से कहीं अधिक संख्या में पाए जाते हैं। यह भी एक कारण है कि अधिकांश बहुत कम आमदनियों वाले देशों में वकीलों की संख्या बहुत अधिक होती है, और विश्वास किया जाता है कि कुछ वकील जीविका कमाने के लिए गन्दी हरकतें भी करते हैं। जिन देशों में विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा व्यापक पैमाने पर उपलब्ध है वहाँ क़ानून का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक होती है कि अनेक विद्यार्थियों को दूसरे सकायों में दाख़िला लेना पड़ता है। यदि इसके साथ ही समुदाय का आर्थिक विकास नहीं हो रहा होता है और इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, या डाक्टरों की माँग नहीं बढ़ रही होती है, तो देश के अन्दर कला-सकाय के स्नातकों की बाढ़ आ जाती है। ये स्नातक जो भी काम मिले करने के लिए विवश हो जाते हैं और अत्यन्त असन्तुष्ट दिखाई देते हैं, जिससे राजनीतिक आन्दोलन को बढ़िया मसाला

मिलता है, क्योंकि अपनी उच्चतर शिक्षा को देखते हुए उनका वेतन या जो सामाजिक स्थिति उन्हें अपने योग्य जँचती है मिल नहीं पाती ।

विश्वविद्यालय की शिक्षा उपभोक्ता पदार्थ मानी जाए या पूंजी निवेश यह सामाजिक दृष्टि से उक्त शिक्षा की मांग और सप्लाई पर निर्भर करता है । उन कम आमदनी वाले देशों में, जहां प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में कला-स्नातक निकलते हैं, जिनके लिए काम मिलना सम्भव नहीं है विश्वविद्यालय की शिक्षा मुख्यतया उपभोक्ता-सेवा ही है और इसका समर्थन नहीं किया जा सकता । समर्थन करने का कारण यह है कि विश्वविद्यालय के स्नातक को प्रशिक्षित करने पर इतनी लागत बैठती है कि यदि शिक्षा को उपभोक्ता-सेवा ही मान लिया जाए तो थोड़े-से लोगों को विश्वविद्यालय की शिक्षा देने की बजाय करों की आय से अधिक प्राथमिक स्कूल या अधिक माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करना अधिक उपयुक्त होगा । जिन देशों में आर्थिक विकास काफी तेजी से हो रहा है वहां की बात दूसरी है । इन स्थानों में डॉक्टरों, इंजीनियरों, जीवशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्वविद्यालय के सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए मांग बराबर बढ़ती जाती है, यहां तक कि प्राथमिक शिक्षा बढ़ाने से भी विश्वविद्यालय से निकले विद्यार्थियों की मांग बढ़ती है । क्योंकि प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाने के लिए प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की संख्या बढ़ानी पड़ती है, प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की संख्या बढ़ाने का अर्थ यह है कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी अधिक तैयार किये जाएं, इसके लिए माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों की संख्या बढ़ानी होती है, जिससे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की मांग बढ़ती है, प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा एक पिरामिड की भांति है जिसके सभी स्तरों का बारी-बारी से विस्तार होना आवश्यक है । यदि कोई निर्धन देश, जिसके केवल दस प्रतिशत बच्चे ही प्राथमिक शिक्षा पा रहे हों, एक विश्वविद्यालय बनाने पर काफी पैसा खर्च करता है तो यह 'प्रगति' कोई प्रगति नहीं मानी चाहिए ।

बदलते हुए मतों का खास प्रभाव शिक्षा-सम्बन्धी बजटों में निर्धारित की गई प्राथमिकताओं पर पड़ता है । पचास साल पहले मुख्य ज़ोर प्राथमिक शिक्षा पर था, लेकिन आज अनेक बजटों में उच्चतर शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, या वयस्क शिक्षा (कृषि-विस्तार सहित) पर अधिक ज़ोर दिया जाता है । वर्तमान प्रवृत्ति इन शिक्षाओं को पूंजीगत खर्च के रूप में समझने की है, और इनको सर्वाधिक वरीयता दी जाती है, जबकि प्राथमिक शिक्षा को अपने लिए धन जुटाने में सड़कों, स्वास्थ्य और सरकार द्वारा दी जाने वाली दूसरी सुविधाओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है ।

भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षाओं की महत्ता के प्रश्न के सम्बन्ध में हर जगह की

शिक्षा की कोटि का प्रश्न भी सामने आता है। प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों का पाँच वर्ष तक दी जाए या उनमें से केवल आधे बच्चों को दस वर्ष तक दी जाए? क्या प्राथमिक स्कूलों के सभी अध्यापक माध्यमिक शिक्षा और उसके बाद दो वर्ष का विशेष प्रशिक्षण पाये हुए लोग होने चाहिएँ—इस तरह के लोगों की संख्या कम ही होगी—या छोटे-छोटे पाठ्यक्रम पास किये हुए ऐसे अध्यापकों की संख्या तेजी से बढ़ाई जाए जो लिखना-पढ़ना और हिसाब ये तीन ही बातें जानते हों लेकिन जो प्राथमिक स्कूल-प्रणाली के द्रुत विस्तार में सहायक हो सकते हों? रूस ने कोटि की अपेक्षा संख्या को अधिक महत्त्व दिया और अर्द्धशिक्षित अध्यापकों, कृषि-सहायकों, दन्त-चिकित्सा सहायकों, चिकित्सा-सहायकों और इसी प्रकार के अन्य लोगों की संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि की। ऐसा करने के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं। इनमें से अधिक प्रबल तर्क गति से सम्बन्धित है। लोगों को अपने शिल्प के उच्चतम स्तरों का प्रशिक्षण देने के लिए समय और खर्च दोनों अधिक चाहिएँ। अतः यदि केवल पूरी तरह योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों को ही काम करने दिया जाएगा तो अधिकांश जनसंख्या को किसी प्रकार की दन्त, डाक्टरी, कृषि या शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ नहीं मिल पाएंगी, जबकि यदि अर्द्धशिक्षित लोगों की सेवाएँ उपलब्ध कर दी जाएँ तो लोगों को कहीं अधिक राहत मिलेगी। दूसरा तर्क यह है कि पूरी तरह प्रशिक्षित लोगों द्वारा किये जाने वाले अधिकांश काम अर्द्धप्रशिक्षित लोग भी उतनी ही खूबी के साथ कर लेते हैं। अतः यदि इस बात पर जोर दिया जाय कि केवल पूरी तरह प्रशिक्षित लोग ही काम करें तो यह कौशल की बरबादी होगी। इसके विपरीत मुख्य राजनीतिक तर्क राष्ट्रीय गौरव पर आधारित है। कई देशों में जब अर्द्धशिक्षित लोगों को भी काम करने देने का प्रस्ताव किया गया तो वहाँ के समाचार-पत्रों और राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों ने इसे यह कहकर ठुकरा दिया कि राष्ट्रीय गौरव को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि "हमारे डॉक्टर (अध्यापक आदि) भी उतने ही योग्य होने चाहिएँ जितने कि इंगलैंड के हैं"—या किसी अन्य उन्नत देश के हैं जो वहाँ आदर्श देश माना जाता हो। व्यवसायी संघ भी इसका विरोध करते हैं, लेकिन यदि राष्ट्रीय गौरव का प्रश्न खड़ा न कर दिया जाए तो शायद इनका प्रभाव अधिक न होगा।

इस बात को लेकर भी लोगों की राय बदल रही है कि किसी कौशल को सिखाने में कितना समय लगता है। व्यावसायिक संघों और मजदूर संघों के प्रभाव के कारण अब तक शिक्षुता और प्रशिक्षण की अवधियाँ लम्बी रखने पर ही जोर दिया जाता रहा है। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, जब सफलता के लिए गति का महत्त्व सबसे अधिक था, यह पता चला कि अब तक जिन कामों को सीखने पर काफी समय लगाया जाता रहा है उनके चौथाई

समय में ही उन कामों की मुख्य-मुख्य बातें सीखी जा सकती हैं। युद्ध के दौरान जल्दी-जल्दी प्रशिक्षण देने के लिए नयी-नयी टेक्नीकें निकाली गईं जिनके सर्वाधिक चमत्कारिक परिणाम तो शायद साक्षर बनाने और विदेशी भाषाएँ सिखाने के क्षेत्रों में उपलब्ध हुए, लेकिन शिल्पियों और मिस्त्रियों को प्रशिक्षण देने के लिए अपेक्षित अवधि को छोटा करने के मामले में भी काफी उपयोगी परिणाम सामने आए। जिन स्थानों पर कुशल लोगों की कमी के कारण विकास में रुकावट आ रही हो वहाँ इन पद्धतियों को अपनाकर लाभ उठाया जा सकता है।

प्रशिक्षण-कार्यक्रमों पर व्यवसायियों के नियन्त्रण को समाप्त करने का एक और परिणाम यह हुआ है कि अब शिक्षा मुख्य रूप से व्यवसायियों पर ही निर्भर नहीं है। 'सार्वजनीन शिक्षा' कार्यक्रम इस सिद्धान्त पर चलाए जाते हैं कि हर आदमी जो कुछ सीखता है वह दूसरों को भी सिखाए और व्यापक वयस्क साक्षरता-आन्दोलनों के लिए ऐसी नयी टेक्नीकें निकाली गई हैं जिनसे अपेक्षाकृत थोड़े ही प्रशिक्षित अध्यापक अपने पढ़ाये हुए विद्यार्थियों की उत्तीर्ण संख्या के रूप में आश्चर्यजनक परिणाम दिखा सकते हैं। हर वयस्क शिक्षा-आन्दोलन की सफलता का रहस्य विद्यार्थियों के अन्दर उत्साह जगाने में है—आन्दोलन चाहे साक्षरता के क्षेत्र में हो, कृषि के क्षेत्र में हो, शिशु-पालन के क्षेत्र में हो या चीनी साहित्य के अध्ययन से सम्बन्धित हो। उत्साह पैदा हो जाने पर विद्यार्थी विषय के अध्ययन में अपना समय और मन तो लगाते ही हैं, साथ ही दूसरे साथियों को भी उत्साहित करते हैं और उन्हें अपना ज्ञान देते हैं। यह उत्साह उस स्थिति में और भी अधिक पैदा होता है जब विद्यार्थी और अध्यापक के बीच व्यावसायिक खाई बनाए रखने के स्थान पर कार्यक्रम विद्यार्थी को इस तरह अपने साथ एकाकार कर लेता है कि उसके अन्दर प्रचारक की भावना भी आ जाती है।

अकुशलता एक निरन्तर बनी रहने वाली समस्या है, क्योंकि प्रौद्योगिक उन्नति निरन्तर पुराने कौशलों को व्यर्थ करती जाती है और नये कौशलों को जन्म देती चलती है। उसका यह प्रभाव होता तो हर हालत में है लेकिन तब यह अधिक होता है जब स्थापित होने के साथ ही हर कौशल पर उन लोगों का एकाधिकार होने लगता है जो ऊँची स्थिति और मोटा पारिश्रमिक पाने की इच्छा से इन व्यवसायों में आने वाले लोगों की संख्या सीमित करके काम के पृथक्करण की जटिलताओं और शिष्यता के नियम बना लेते हैं। अपने को बचाने के लिए एकाधिकार हमेशा नये आविष्कार को चुनौती देता है। इस रूप में हर कौशल का एक जीवन-वृत्त होता है, वह जन्म लेता है, अपनी मान्यता स्थापित करता है, अनेक विनियमों में बँधता है, विरोध और उपेक्षा का सामना करता है, अपने क्षेत्र में अतिक्रमण करने वाले नये कौशलों के विरुद्ध

संघर्ष करता है, और अन्तत समझौता कर लेता है या समाप्त हो जाता है, इस सारी प्रक्रिया के दौरान गौरव, आक्रोश, श्रम और शोक की अनेक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं।

अब कई देश ऐसे हैं (जैसे गोल्ड कोस्ट), जिनमें विकास के लिए निर्धारित रुपया सारे का सारा इस कारण खर्च नहीं हो पाता कि वहाँ अपेक्षित कौशल का अभाव है। इन परिस्थितियों में विकास की गति कुशल लोगों की कोटि और उचित-अनुचित को देखकर रोक दी जाएगी, या अर्द्धशिक्षित लोगों की संख्या तेजी से बढ़ाकर विकास के मार्ग की रुकावट दूर कर दी जाएगी, यह राजनीतिक निर्णयों पर निर्भर करेगा।

(ख) कृषि-विस्तार—ऊपर जिन मुद्दों की चर्चा हमने की है—अर्थात् अग्रता की समस्या, आंशिक रूप से प्रशिक्षित लोगों का योग, और उत्साह का महत्त्व—उनका अच्छा उदाहरण कृषि-सम्बन्धी शिक्षा के रूप में मिलता है।

जहाँ तक अग्रता का सम्बन्ध है, अपेक्षाकृत निर्धन कृषि अर्थ-व्यवस्थाओं में इससे अधिक उत्पादक पूँजी-निवेश शायद दूसरा नहीं होता कि किसानों को नयी बातों की जानकारी कराने पर खर्च किया जाए। कारण यह है कि अधिकांश स्थानों में भूमि की उत्पादकता बढ़ाना राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करने का सबसे अचूक और द्रुत उपाय है। उदाहरण के लिए, कुछ कृषि-विशेषज्ञों का कहना है कि वर्तमान टेक्नीकों की प्रयुक्ति से भारत में कृषि की प्रति एकड़ उपज दुगुनी की जा सकती है—उपज बढ़ाने के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन अच्छे बीजों का चयन और उन पर नियंत्रण, कृत्रिम खाद का अधिकाधिक उपयोग, कीटनाशकों का अधिकाधिक प्रयोग, और पानी की सप्लाई का बेहतर संरक्षण और उपयोग हैं। ऐसी भारी सम्भावनाएँ हर देश में नहीं हैं, क्योंकि विशेषज्ञों के ज्ञान और किसानों द्वारा अपनायी गई पद्धतियों में सर्वत्र इतना अन्तर नहीं पाया जाता। वैसे, बहुत से स्थानों में इसका कारण यही है कि खाद्यान्न के उत्पादन के बारे में आवश्यक अनुसन्धान नहीं किये जा रहे। पूर्वोक्त कारणों से उष्णकटिबन्धीय देशों में अधिकांश कृषि-अनुसन्धान औद्योगिक देशों को निर्यात की जाने वाली वाणिज्यिक फसलों (गन्ना, कोको, रबर, चाय आदि) पर ही केन्द्रित रहा है, और देशी उपभोग की वस्तुओं (शकरकन्द, कसावा, बरी आदि) के बारे में शायद कोई अनुसन्धान नहीं किये गए, हालाँकि इनमें से लगभग सभी अर्थव्यवस्थाओं में वाणिज्यिक फसलें उगाने वाले लोगों की अपेक्षा खाद्यान्न पैदा करने वाले लोगों और क्षेत्रफलों का अनुपात चार गुना या इससे भी अधिक है।

कृषि-विस्तार से पहले अनुसन्धान आवश्यक है। अत जहाँ अभी बुनियादी अनुसन्धान ही नहीं हुआ है वहाँ कृषि-विस्तार की कोई गुन्जाइश नहीं है। वैसे, एक बार जानकारी हासिल हो जाने पर विस्तार-कार्यकर्ताओं की

माँग बहुत बढ़ जाती है। यदि यह मान लिया जाए कि खेती के काम में अर्धबेकार ढंग से लगे प्रति एक हज़ार लोगों पर एक विस्तार-कार्यकर्ता होना चाहिए, इस प्रकार लगे लोगों की संख्या कुल जनसंख्या का दो-तिहाई भाग है, और एक विस्तार-कार्यकर्ता पर एक किसान की आमदनी का चार या पाँच गुना खर्च होता है, तो पर्यवेक्षक अमले पर होने वाले खर्च-सहित कृषि-विस्तार-सेवा की लागत राष्ट्रीय आय के ½ प्रतिशत से कुछ अधिक बैठती है। इसमें कृषि-अनुसन्धान का उचित खर्च (देखिए इस अध्याय का खण्ड १ (ख)) भी जोड़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुसन्धान और शिक्षा पर कृषि-विभाग राष्ट्रीय आय का ½ और एक प्रतिशत के बीच खर्च करता है। अमरीका कृषि-आय और कृषि-विस्तार-सेवा पर किये जाने वाले खर्च का लगभग यही अनुपात कायम रखता है, वहाँ कृषि में अर्धबेकार ढंग से लगे प्रति सात सौ व्यक्तियों पर एक विस्तार-कार्यकर्ता है, और वहाँ निवल कृषि-उत्पादन का लगभग ½ प्रतिशत कृषि-विस्तार और अनुसन्धान पर खर्च किया जाता है। ब्रिटेन में भी विस्तार-कार्यकर्ता का अनुपात १ : ७०० है, लेकिन संसार के अपेक्षाकृत निर्धन देशों में इतना खर्च करने वाला देश केवल जापान है। (और यही देश ऐसा है जिसने किसान की उत्पादकता में चमत्कारी वृद्धि कर दिखाई है।)

यदि राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत प्रतिवर्ष खर्च करने पर कृषि की उत्पादकता में एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि की जा सके (राष्ट्रीय आय के ½ प्रतिशत के बराबर) तो यह बहुत उत्पादक पूँजी-निवेश माना जाएगा, क्योंकि इस निवेश का प्रतिफल पचास प्रतिशत प्रतिवर्ष बैठता है। उत्पादकता में वृद्धि का श्रेय केवल कृषि-विस्तार-सेवाओं को ही नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पानी की सप्लाई औज़ार, खाद आदि के लिए भी पूँजी लगानी पड़ती है। लेकिन, दूसरी ज़रूरतों का ध्यान रखते हुए भी, कृषि-प्रधान देशों के लिए निवेशों का यह योग सर्वाधिक लाभप्रद है। जो दरें हमने ऊपर दी हैं वे सम्भावनाओं की सीमा में हैं। १८८० और १९३० के बीच जापान की प्रति एकड़ उत्पादकता १.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की संचयी वार्षिक दर से बढ़ी थी। इंग्लैंड और अमरीका में भी एक प्रतिशत की दरों में वृद्धि हुई है। जिन देशों में इस समय विशेषज्ञों की जानकारी और किसानों द्वारा अपनायी गई पद्धतियों में काफ़ी अधिक अन्तर है उन्हें कृषि-विस्तार-सेवाओं पर होने वाले खर्च से उपज में चमत्कारी वृद्धि करना कठिन नहीं होना चाहिए।

इस दर पर कृषि-सेवा की व्यवस्था करने के लिए कृषि-अधिकारियों की संख्या में भारी वृद्धि करनी होगी। अनुसन्धान के लिए, और विस्तार-सेवा के पर्यवेक्षण के लिए उच्च प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता होगी, लेकिन सर्वा-

धिक वृद्धि विस्तार-कार्यकर्ताओं की संख्या में ही करनी होगी, क्योंकि हर पांच से दस गांवों के बीच एक कार्यकर्ता रखना पड़ता है। यदि हर विस्तार-कार्यकर्ता को कृषिशास्त्र की पूरी विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा दी जाए तो इतने कार्यकर्ता उपलब्ध करना सम्भव न होगा। इस काम के लिए विश्वविद्यालयों के स्नातक रखना अनावश्यक और अवांछनीय भी है। अनावश्यक इसलिए है कि विस्तार-कार्यकर्ता का काम किसानों को उन टकनीकों की जानकारी कराना-भर है जिन्हें लेकर व्यापक पैमाने पर प्रयोग किये जा चुके हैं। वह चतुर होना चाहिए और उसे कृषि का पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए अन्यथा वह किसानों को प्रभावित नहीं कर सकेगा। इसके लिए सबसे अच्छा प्रशिक्षण यही हो सकता है कि विस्तार-कार्यकर्ता ने स्वयं खेत पर काम करके खेती से सम्बन्धित हर क्रिया की जानकारी पाई हो, और बाद में नयी टकनीकों का प्रशिक्षण लेने के लिए एक या अधिक-से-अधिक दो साल लगाए हों। कृषि-अधिकारी के लिए भी विश्वविद्यालय का स्नातक होना अवांछनीय है क्योंकि उसकी मुख्य समस्या किसानों से सम्पर्क स्थापित करने और उनके बीच अपनी मान्यता स्थापित करने की है, और ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा, जिसका पिछला जीवन किसानों के बीच बीता हो, विश्वविद्यालय के स्नातक के लिए इसमें सफलता पाना बहुत कठिन होता है।

विस्तार-अधिकारी की मुख्य समस्या सम्पर्क स्थापित करना है, केवल सामाजिक सम्पर्क ही नहीं, जिसे स्थापित करना ग्राम-समुदायों में बड़ा आसान होता है, बल्कि मानसिक सम्पर्क भी जिससे प्रेरित होकर लोगों में अनुकरण की भावना पैदा होती है। उदाहरण के लिए, एक समय था जब विस्तार-अधिकारियों का मुख्य काम कृषि-सेवा के स्वामित्व और संचालन में प्रदर्शन फार्म तैयार करना होता था। इन फार्मों पर उत्तम पौधे सबसे अच्छे तरीकों से लगाए जाते थे और किसानों से आग्रह किया जाता था कि वे आकर खुद उनके परिणाम देखें। प्रदर्शन-फार्मों की उपज बहुत अधिक होने पर भी किसान सदा ही उनका अनुकरण नहीं करते थे। उनका तर्क होता था कि प्रदर्शन-फार्म पर जो परिणाम उपलब्ध हुए हैं वे ही उनकी जोतों पर भी उपलब्ध होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि हो सकता है प्रदर्शन-फार्म मिट्टी या दूसरे गुणों की दृष्टि से रखकर विशेष रूप से चुना गया हो, शायद ऐसे उपस्कर प्रयोग में लाए जा रहे हों जो साधारण किसान के पास नहीं होते, शायद फार्म पर काम करने वाले लोगों को विशेष प्रशिक्षण दिया गया हो, या उनका विशेष रूप से पर्यवेक्षण किया जा रहा हो जो किसानों की जोतों पर मिलना सम्भव नहीं है। किसान के इन तर्कों का समाधान करने के लिए आधुनिक विस्तार टकनीकों के अन्तर्गत प्रदर्शन-फार्म तैयार करने के साथ ही कुछ किसानों से भी आग्रह किया

जाता है कि वे अपनी जोतों पर खुद नवीन प्रक्रिया लागू करके देखें। ऐसी स्थिति में बाकी किसानों को यह तसल्ली हो जाती है कि उन्हीं-जैसे किसानों ने उन्हीं-जैसी जोतों पर अच्छे परिणाम उपलब्ध किये हैं। वे समझ जाते हैं कि यह सफलता दूर से नियन्त्रित सस्थान की सफलता ही नहीं है बल्कि यह उनके पड़ोसियों की सफलता है, और फिर इस सफलता को लेकर बातचीत, दिलचस्पी पूछताछ, चर्चा और अनुकरण आरम्भ हो जाता है। नये-नये काम पर आए विकास-अधिकारी का एक पहला काम यह पता लगाना होता है कि जिले के अन्दर सर्वाधिक प्रतिष्ठित किसान कौनसे हैं जिनका अनुकरण किए जाने की सर्वाधिक सम्भावना है, और फिर अपने कार्यक्रम में इन किसानों का सहयोग प्राप्त करना होता है।

उस समुदाय में, जहाँ किसान तकनीकी परिवर्तन के विचार के अभ्यस्त नहीं होते और उस पर्यावरण में जहाँ किसान अपनी समस्याओं के समाधान के लिए स्वभावतः वैज्ञानिक का सहारा लेते हैं, आकाश-पाताल का अन्तर पाया जाता है। इंगलैंड या अमरीका-जैसे उन्नत समुदाय में किसानों को यह पता है कि प्रजनन-शास्त्री नयी किस्मों की नस्ल तैयार कर रहे हैं, कीटविज्ञानी और शरीरविज्ञानी कीटों और बीमारियों पर नियन्त्रण रखने के तरीके निकाल रहे हैं और मशीनों के निर्माता निरन्तर उन्नत उपस्कर प्रस्तुत करने के काम में लगे हैं। उन्हें इन चीजों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की उत्कण्ठा रहती है, और इसीलिए वे कृषि-सम्बन्धी पत्रिकाएँ मँगाते हैं, किसानों के लिए प्रसारित किये जाने वाले रेडियो-कार्यक्रम सुनते हैं, और किसानों के क्लबों में जाकर बैठकों में भाग लेते हैं। इन तरीकों से नये विचार बड़ी तेजी से फैलते हैं। पिछड़े हुए समुदायों में विस्तार की समस्या ऐसा ही वातावरण तैयार करने की है जिसमें किसान अपने जीवन को अधिक सुखी बनाने के लिए नियुक्त कृषि-अधिकारी को कृषि-समुदाय का मुख्य अंग मानने लगें। इस समस्या को सुलझाने का एक उपाय यह है कि किसानों को कृषि-समितियाँ बनाने के लिए प्रेरित किया जाए, जिनका उद्देश्य परस्पर चर्चा, सदस्यों को एक-दूसरे के फार्मों पर ले जाकर जानकारी प्राप्त कराना और उपयोगी प्रदर्शन करना हो। दूसरा उपाय किसानों को कुछ ठोस सहायता पहुँचाना है। यदि विस्तार-अधिकारी किसानों को परेशान करने वाली कोई समस्या—जैसे कोई रोग—सफलतापूर्वक सुलझा देता है तो वह उनका विश्वास जीत सकेगा, दूसरी ओर यदि उसकी सलाह लेने से किसान को कोई लाभ न हो तो वे उसकी बात पर ध्यान नहीं देंगे।

किसानों के उत्साह की पृष्ठभूमि में कभी-कभी राजनीति का भी हाथ रहता है। जिन स्थानों के किसान पीढ़ियों से जमींदारों, महाजनों और व्यापारियों के शोषण से त्रस्त रहे आए हैं वहाँ उन्नत नयी टेक्नीकों के बारे में उत्साहित करना

कठिन होता है, विशेषकर यदि उन्हें शंका हो कि इनका मुख्य परिणाम उनके शोषकों के लाभ में वृद्धि करना होगा। इसलिए कृषि-विस्तार की सफलता के लिए पहले भूमि-सुधार के उपाय करना आवश्यक होता है। यदि देश के राजनीतिक नेता किसानों की समस्याओं में वास्तविक दिलचस्पी लेने लगते हैं—प्रायः ऐसी दिलचस्पी देखने में नहीं आती—और अपने कामों एवं बातों से यह प्रकट करते हैं कि वे किसानों की सहायता करना चाहते हैं, तो किसान नयी टेक्नीकें अपनाने के लिए आसानी से तैयार हो जाते हैं। अपेक्षित राजनीतिक परिवर्तनों और राजनीतिक उत्साह के बिना कृषि-विस्तार का कार्यक्रम बिलकुल असफल हो सकता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि नयी टेक्नीकें लागू करने के लिए केवल आर्थिक और सामाजिक रचना में ही नहीं बल्कि पूंजी के प्रबन्ध और नये कौशल सीखने के क्षेत्रों में भी अनेक परिवर्तन करने होते हैं। अतः कृषि विस्तार भी कृषि-सुधार के व्यापक कार्यक्रम का ही एक अंग माना जाना चाहिए। कृषि-सुधार में ऐसी दूसरी चीजें भी सम्मिलित हैं, जैसे सड़कें, कृषि-उधार, पानी की सप्लाई, कुशल विपणन, भूमि-सुधार, फालतू श्रमिकों को काम देने वाले नये उद्योगों का विकास, सहकारी समितियां, आदि-आदि। आर्थिक विकास के लिए सदा ही व्यापक परिवर्तन करने होते हैं और ग्राम-जीवन के बारे में यह सर्वाधिक सत्य है।

(ग) उद्योगों की ओर रुझान—आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप दूसरे प्रकार के रोजगारों की तुलना में कृषि का महत्त्व कम होता जाता है। अतः दूसरे उद्योग निरन्तर कृषि-क्षेत्र से मजदूर भरती करते रहते हैं (यदि जनसंख्या स्थिर हो तो निरपेक्ष अर्थ में, और यदि जनसंख्या तेजी से बढ़ रही हो तो सापेक्ष अर्थ में)।

यह सार्वदेशिक अनुभव है कि जब श्रमिक पहले-पहल देहात से उद्योग (या खान खोदने के काम) में आता है तो उसकी उत्पादकता लम्बे अर्से से उद्योग में काम कर रहे श्रमिकों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उद्योगों का जीवन कृषि-क्षेत्र के जीवन से बिलकुल भिन्न होता है। कृषि में व्यक्ति को कुछ समय के लिए सुबह से शाम तक घोर परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम के ये दिन रोपण के या फसल काटने के होते हैं। इनके बाद बेकारी या फुरसत के कामों के लम्बे समय आते हैं जिनमें मौसम कृषि के प्रतिकूल होता है। इनके विपरीत, उद्योग में व्यक्ति को पूरी साल सप्ताह में पांच या छः दिन आठ या नौ घण्टे प्रतिदिन समान गति से काम करना होता है। इसके अलावा किसानों खेती में हर आदमी अपने काम का मालिक भी होता है, वह जन्म से ही खेती करना जानता है,

और हर समय अनेक निर्णय लेता रहता है। फैक्टरी में मनुष्य नये ढंग का काम आरम्भ करता है, उसे दूसरे लोगों के पर्यवेक्षण में रहना पड़ता है, जैसा बता दिया जाए ठीक वैसा ही काम करना पड़ता है, और वह एक जटिल यंत्र के दाँतें की भाँति काम करता जाता है, उसे यह तक पता नहीं होता कि वह क्या बना रहा है और किसके लिए बना रहा है। यहाँ का समुदाय भी दूसरी तरह का होता है। खेतों में व्यक्ति अकेला काम करता है, या अपने कुछ चुने हुए मित्रों के साथ काम करता है। इसके विपरीत फैक्टरी में व्यक्ति को बड़ी भीड़ के साथ काम करना पड़ता है जिसे चुनने में उसका कोई हाथ नहीं रहा होता। जीवन की इन नयी विधियों का अभ्यस्त होने में, और औद्योगिक जीवन के लिए अपेक्षित नियमितता की आदत डालने में काफी समय लगता है। लोगों का कहना है कि वयस्क पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ और बच्चे अधिक जल्दी समंजन कर लेते हैं, और यह भी एक कारण है कि औद्योगिक क्रान्तियों की शुरू की अवस्थाओं में यदि नियंत्रण न लगा दिये जाएँ तो बाल और स्त्री श्रमिक भारी संख्या में भरती किए जाते हैं। कृषि-क्षेत्र से उद्योग की ओर संक्रमण उस स्थिति में भी सफलतापूर्वक हो जाता है जब लोगों का जीवन-दर्शन पहले से ही अनुशासन-प्रणाली, और सामुदायिक सम्बन्धों में आज्ञापालन के अनुकूल होता है क्योंकि इसकी सहायता से वे अपने-आपको उस अत्यधिक नियमित जीवन के लिए आसानी से तैयार कर लेते हैं जो बड़े औद्योगिक उपक्रमों के लिए आवश्यक है। कुछ इतिहासकारों का विश्वास है कि इसी कारण जर्मन-निवासियों और जापानियों को उद्योगीकरण के अनुकूल बनने में आसानी हुई।

यह काम और औद्योगिक जीवन की पृष्ठभूमि का अन्तर ही है जिससे नये भरती हुए लोगों को दूसरे कामों की अपेक्षा कुछ काम करने में बड़ी आसानी होती है। उदाहरण के लिए, कृषि के मामले में किसी व्यक्ति में चाहे जितना ज्ञान और उत्तरदायित्व सँभालने की सामर्थ्य हो लेकिन फैक्टरी का उत्तरदायित्व निभाने की दृष्टि से वह बेकार है क्योंकि यहाँ उससे बिलकुल भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। यहाँ वर्षा और पशु या पौधों के व्यवहार के बारे में विभिन्न अन्तःप्रेरणाओं के स्थान पर मशीनों प्रक्रियाओं के बारे में विभिन्न अन्तःप्रेरणाओं की आवश्यकता होती है जो उसे गलती करने से बचाती है या सुधार के अवसरों का लाभ उठाने के लिए सचेत करती हैं। इन अन्तःप्रेरणाओं के न होने पर नये रंगरूट को सारे काम एक-एक करके सिखाने पड़ते हैं, और कम-से-कम उसके अन्तर्विवेक पर छोड़ा जाता है, जहाँ कई भिन्न भिन्न काम करने और उनके समन्वय की आवश्यकता होती है वहाँ उसे नहीं रखा जा सकता। श्रमिक जितने ही कम कुशल होते हैं श्रम का विभाजन उतना ही अधिक करना पड़ता है। इसके अलावा विभाजित कामों

का समन्वय करने के लिए पर्यवेक्षक भी अनुपात में अधिक रखने पड़ते हैं। जिन देशों में उद्योगीकरण नया-नया होता है वहाँ भी पर्यवेक्षक अपना अनुपात में बहुत अधिक रखना पड़ता है, और यदि ये पर्यवेक्षक विदेशों से लाने पड़ें तो पर्यवेक्षण पर होने वाला खर्च इतना अधिक बढ़ जाता है कि मजदूरियों के निम्न स्तर को देखते हुए इन देशों में उत्पादन की लागत जितनी कम होनी चाहिए उतनी नहीं रह पाती। दूसरी ओर बहुत अकुशल श्रमिकों को रखने से मशीनीकरण को बढ़ावा मिलता है क्योंकि कामों का इतना उप-विभाजन कर दिया जाता है कि उसकी अनेक छोटी-छोटी प्रक्रियाएँ बन जाती हैं, और दूसरा कारण यह भी है कि मशीन कुछ कामों को इतने ठीक नाप-तोल से कर देती है जितने की अकुशल मजदूरों से आशा नहीं की जा सकती। कुछ लोगों के अनुसार यह भी एक कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड की अपेक्षा अमरीका ने मशीनीकरण में अधिक तेजी से वृद्धि की।

पृष्ठभूमि के इन अन्तरों से यह भी समझ में आ जाता है कि उद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरणों में अनुशासन इतना कठोर और कष्टदायक क्यों होता है। अनेक बातें, जिन्हें करने की देहात के श्रमिकों में सहज प्रवृत्ति होती है, कुशल उद्योग के प्रतिकूल पड़ती हैं, और सहज प्रवृत्तियों को बदलकर नयी प्रवृत्तियाँ पैदा करना छोटे बच्चों को पालकर बड़े करने से कम कठिन काम नहीं है। अधिकांश औद्योगिक अनुशासन भद्दा और अपने प्रभाव को स्वयं नष्ट करने वाला होता है क्योंकि अनुशासन लागू करने वाले लोग प्रस्तुत समस्या या सम्पर्क में आने वाले लोगों को ठीक से नहीं समझते, लेकिन उद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कष्टकर अनुशासन से पूरी तरह नहीं बचा जा सकता।

समय बीतने के साथ श्रमिक नये पर्यावरण के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं, और नये प्रकार का ज्ञान और प्रवृत्तियाँ पैदा कर लेते हैं। वे केवल इसी दृष्टि से अधिक कुशल नहीं हो जाते कि उन्हें अधिक काम करने आ जाते हैं बल्कि इस दृष्टि से भी कुशल बन जाते हैं कि उन्हें अपेक्षाकृत अधिक समस्याओं के समाधान में अपना अन्तर्विवेक इस्तेमाल करने की छूट दी जा सकती है—पहले उन्हें पता नहीं होता था कि क्या गलत और क्या सही है, लेकिन अब होने लगता है। शहर में बसे श्रमिकों की पहली पीढ़ी की तुलना में दूसरी पीढ़ी की उत्पादकता विशेष तेजी के साथ बढ़ती है। यदि नये आये हुए श्रमिकों को कृषि-कर्म के साथ पूरी तरह सम्बन्ध तोड़कर शहरी जीवन अपनाने के लिए आजादी और बढ़ावा दिया जाता है तो यह प्रक्रिया जल्दी होती है, लेकिन यदि उद्योग में ऐसे श्रमिक रखे जाते हैं जो एकाध साल काम करके फिर अपने गाँवों को चले जाते हैं तो यह प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है।

उद्योग में प्रवासी श्रमिकों के उपयोग की समस्या सरल नहीं है। इस

प्रसंग में हमारे सामने कुछ विशिष्ट उदाहरण हैं। जैसे जापानी लड़कियाँ सूती वस्त्र-उद्योग में काम करने के लिए गाँवों से आती हैं और कुछ समय उपरान्त विवाह करने के लिए गाँवों को वापस लौट जाती हैं। स्त्री श्रमिकों के आवर्त की ऊँची दर लगभग हर जगह पाई जाती है चाहे वे प्रवासी हों या न हों। खान खोदने वाले अस्थायी समुदाय इसके दूसरे विशिष्ट उदाहरण हैं यदि स्वयं उद्योग ही अस्थायी हो तो वह स्थायी श्रमिक तैयार नहीं कर सकता। इन विशिष्ट उदाहरणों को छोड़कर कुछ उद्योगपतियों का यह भी विश्वास है कि अस्थायी श्रमिक रखना अधिक सस्ता पड़ता है। उनका विचार है कि एक मौसम के लिए ही गाँव छोड़कर आने वाले युवक अधिकतर साहस की भावना लेकर आते हैं, अतः कम मजदूरियों पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं, ये लोग अविवाहितों की सस्ती और कष्टकर बैरकों में रहने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं क्योंकि इन्हें केवल थोड़े ही दिन काम करना होता है, श्रमिकावर्त की ऊँची दर रहने से प्रबल मजदूर संघ-आन्दोलन खड़ा नहीं हो पाता, और यदि श्रमिकों की संख्या में कमी करने की आवश्यकता होती है तो बेकारी वेतन दिये बगैर ही इन लोगों को अपने गाँवों में वापस भेजा जा सकता है। इन तर्कों की सत्यता बड़ी सन्देहास्पद है। केन्द्रीय अफ्रीका की खानें खोदने वाली कम्पनियाँ भी, जिन्होंने पहले प्रवासी श्रमिक रखकर काम शुरू किया था, अब स्थायी श्रमिक रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। अनुभवी और स्थायी रूप से लगे हुए श्रमिक को रखने पर खर्च किया गया पैसा प्रायः सबसे अच्छा पूँजी-निवेश होता है। यदि उद्योग में एकदम मन्दी या दूसरे उतार-चढ़ाव आते हों तो सारों को काम न दे सकने की स्थिति में उनके गाँवों को वापस लौटाना अधिक सुविधाजनक मालूम दे सकता है, लेकिन इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादकता में निरन्तर सुधार की आशा करना व्यर्थ है।

नये औद्योगिक श्रमिक, स्थायी हों या प्रवासी, प्रायः गन्दी बस्तियों में भर दिए जाते हैं जहाँ उन्हें शहरी जीवन की सुविधाएँ या लाभ उपलब्ध नहीं होते। ऐसे पर्यावरण में श्रमिक की गाँव के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ने की बहुत कम इच्छा रह जाती है। कोई कारण नहीं है कि नये औद्योगिक शहर अच्छी तरह आयोजित और पारिवारिक आकार के मकानों, स्कूलों, बाजारों, पूजा-स्थलों, सिनेमाओं और दूसरी ऐसी सुविधाओं से लैस न हों, जिनसे आकर्षित होकर अधिकांश मनुष्य गाँव को छोड़कर शहर में रहने के लिए उत्सुक हो जाएँ। समाज-सेवाओं—डाक्टरी सेवाएँ, बेकारी वेतन, पेंशनें आदि—का व्यापक पैमाने पर विकास न करने के भी कोई कारण समझ में नहीं आते। इन सेवाओं के न होने से औद्योगिक श्रमिक को विवश होकर गाँव से अपना सम्बन्ध बनाए रखना पड़ता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह गाँव वापस जा

सके। इन सबकी यदि समुचित व्यवस्था कर दी जाए तो अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, अधिक स्थायी रूप से बने हुए और काम में सुधार करने के इच्छुक श्रमिक तैयार किए जा सकते हैं। ये चीज़ें खर्चीली अवश्य हैं लेकिन उत्पादकता और मानव-सुख में वृद्धि के रूप में इनका प्रतिफल मिल जाता है।

नये भरती हुए श्रमिक की उत्पादकता के लिए स्वास्थ्य और आहार का विशेष महत्त्व है। अपेक्षाकृत निर्धन देशों में अधिकांश लोग एक-न-एक बीमारी, जैसे मलेरिया या अंकुश कृमि के शिकार होते हैं जो उनकी ऊर्जा घटा देती हैं और उत्पादकता कम कर देती हैं हालांकि लोग काम पर बराबर आते रहते हैं। जो औद्योगिक कम्पनियाँ निःशुल्क चिकित्सा-सेवा, अपने श्रमिकों के लिए अच्छे मकान और उनके घरों में नियमित रूप से डी० डी० टी० छिड़कवाने की व्यवस्था करती हैं उन्हें इससे लाभ होता है। श्रमिकों के लिए उचित आहार की व्यवस्था करने की दृष्टि से कैंटीनों में मुफ्त या सस्ता भोजन देना भी लाभप्रद रहता है। यूरोप या उत्तरी अमरीका की अपेक्षा निर्धन देशों में फैक्टरी के अन्दर अच्छी कल्याणकारी सेवाएँ जुटाना और भी ज्यादा ज़रूरी है। उत्पादकता में अन्तर होने का बहुत-कुछ कारण श्रमिकों के अस्वस्थ और अपुष्ट शरीर हैं।

श्रमिकों की उत्पादकता उन्हें मिलने वाले प्रशिक्षण पर भी निर्भर है। अब अपेक्षाकृत निर्धन देशों में भी सब प्रकार के कुशल कारीगरों—जैसे इमारती श्रमिक, मिस्त्री, बिजली का काम करने वाले आदि—के लिए नये तकनीकी संस्थान स्थापित करने पर बहुत पैसा खर्च किया जा रहा है। ये संस्थान एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, क्योंकि आर्थिक विकास के दौरान कुशल व्यक्तियों की भारी कमी हो जाती है।

वैसे, अधिकांश औद्योगिक श्रमिक ऐसे कुशल या अकुशल लोग होते हैं जो अपना काम किसी संस्थान में सीखने के बजाय काम करते-करते ही सीखते हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण अधिकांशतः ठीक से नहीं दिया जाता, नवागन्तुक को किसी एक श्रमिक के सुपुर्द कर दिया जाता है जिसके ज़िम्मे उसे काम सिखाना होता है, यह प्रणाली असन्तोषजनक है क्योंकि बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं काम करने में होशियार होने के साथ-साथ किसी दूसरे को काम सिखाने में भी पटु होते हैं। अधिकतर यह पटुता तभी आती है जब लोगों को काम सिखाने का कुछ प्रशिक्षण दिया जाता है, या वे इसमें विशेष दिलचस्पी रखते हैं। अधिक कुशल फर्में इस प्रयोजन के लिए ऐसे ही श्रमिक चुनती हैं जिनमें काम सिखाने के प्रति विशेष रुझान और रुचि पाई जाती है। साथ ही वे नवागन्तुकों के लिए विशेष प्रशिक्षण कक्ष भी चला सकती हैं और इस निमित्त विशेष अधिकारी भी नियुक्त कर सकती हैं।

प्रशिक्षण के सम्बन्ध में ये आक्षेप शिक्षुता की संगठित प्रणालियों पर भी उतने ही लागू होते हैं। शिक्षुता की प्रणाली उन सभी व्यापारों के लिए आवश्यक है जिनमें कारीगर के लिए अनुभवी होना अनिवार्य है। लेकिन शिक्षुता की अधिकांश प्रणालियाँ धाँधली बनकर रह जाती हैं। स्वार्थी संघ शिक्षुता की अवधि आवश्यकता से अधिक बढ़ा देते हैं ताकि इस काम को अपनाने वाले लोगों की संख्या कम रहे और वे दुर्लभता कमाई करते रह सकें। शिक्षुता की इस अनावश्यक रूप से लम्बी अवधि का दुरुपयोग किया जाता है—शिशु को दुकान के मशीने फर्श झाड़ने, औज़ार उठाने, चाय बनाने, या इसी तरह के और झंझटों में गुज़ारने होते हैं। जिस जर्नीमैन के सुपुर्द शिक्षु किया जाता है वह भी अच्छा बुरा या उदासीन हो सकता है। अतः यह बड़ा आवश्यक है कि शिक्षुता की प्रणालियों का समय-समय पर पुनर्विलोकन किया जाए, शिक्षुता के साथ अंशकालिक या सन्ध्याकालीन अनुदेश की व्यवस्था की जाए, और जो फर्में शिक्षुता में सहयोग देती हैं वे शिक्षुओं को काम सिखाने वाले श्रमिकों का चुनाव करते समय विशेष सावधानी बरतें।

अन्त में, उत्पादकता इस पर भी निर्भर है कि श्रमिक अपने काम में कितनी दिलचस्पी लेता है। इसका सम्बन्ध अंशतः वेतन, अंशतः पदोन्नति की सम्भावनाओं, और अंशतः फैक्टरी के सामाजिक वातावरण से है। जहाँ तक वेतन का सम्बन्ध है मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि कुशलता, बेहतर उत्पादन और उत्तरदायित्व को देखते हुए भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों के वेतन में पर्याप्त अन्तर होना चाहिए ताकि श्रमिक अच्छे-से-अच्छा काम करने के लिए उत्साहित हों, और अच्छे काम के लिए पुरस्कृत अनुभव करें। ये प्रेरणाएँ व्यक्तिगत हों या श्रमिकों के समूह के निष्पादन पर आधारित हों, यह गौण बात है, जिसका निर्णय परिस्थितियों को देखकर किया जा सकता है। पदोन्नति का सम्बन्ध अपेक्षाकृत थोड़े श्रमिकों से ही होता है। अधिक लोगों से सम्बन्ध तब हो सकता है जब रंग-भेद, धर्म, लिंग, राष्ट्रीयता या अन्य ऐसे ही किसी आधार पर श्रमिकों के साथ व्यापक पैमाने पर भेद-भाव बरता जाता हो। इस तरह के व्यापक भेद-भाव से सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ने के साथ ही आर्थिक विकास की गति में भी कमी आती है, क्योंकि जिन लोगों के साथ भेद-भाव बरता जाता है उनमें से अच्छी प्रतिभा वाले लोगों का लाभ समाज को नहीं मिल पाता। जो भी हो, यदि पदोन्नति का सम्बन्ध केवल कुछ ही लोगों से है तो भी यह अल्पसंख्या बड़े महत्व की है, क्योंकि उत्तरदायित्व के पद पर काम करने वाले लोगों के निष्पादन से कुल उत्पादन की मात्रा और कोटि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, अतः यह महत्त्वपूर्ण है कि श्रमिकों में यह भावना रहे कि उनमें से योग्य पात्रों के लिए पदोन्नति का मार्ग खुला

है। जहाँ तक फैक्टरी के अन्दर सामाजिक वातावरण का सम्बन्ध है, यह विषय बड़ा जटिल है जिस पर हम अध्याय ३ में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। इसका सम्बन्ध असल फर्म के आकार, अथवा फैक्टरी के अन्दर उत्तम सुविधाओं अथवा सलाह लेने के अवसर और अथवा श्रमिकों और उनके पर्यवेक्षकों के बीच परस्पर विश्वास की मुक्त भावना से है। सारे औद्योगिक समुदाय इस समस्या से उलझ रहे हैं और अभी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इसका शायद सार्वदेशिक समाधान सम्भव है। अधिकांश प्रेक्षक इस बात पर सहमत हैं कि फैक्टरी फोरमैन की स्थिति बड़ी निर्णायक होती है चाहे हम अच्छे मानव-सम्बन्ध कायम करने की बात को लें या उत्पादकता के उच्च स्तर तक पहुँचने की समस्या को लें। अतः चुनाव और पदोन्नति की प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि फोरमैनों के उपयुक्त गुणों वाले लोगों का जल्दी ही पता लग सके और उनके पद के महत्त्व को देखते हुए उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जा सके।

औद्योगिक जीवन के अनुसार समजन करने की अनेक समस्याओं की पृष्ठभूमि में आचार-संहिताओं के समजन की बड़ी समस्या छिपी है। कबीले के वातावरण से उद्योग के वातावरण में आने वाले रैंगरूट की आचार-संहिता बहुत अधिक व्यापक होती है जिसमें भाईचारे, आयु, राजनीतिक या धार्मिक स्तर के आधार पर लोगों के बड़े दायरे के प्रति दायित्व निभाने पर ज़ोर होता है। यदि वह ऐसे समाज से आ रहा है जो रुपये-पैसे से परिचित नहीं है तो उसकी आचार-संहिता में मालिक और नौकर, क्रेता और विक्रेता, या मज़दूर और उसके सेठ के बीच के सम्बन्धों को लेकर कोई नियम निर्धारित नहीं होंगे; 'उचित दिन की मज़दूरी के लिए उचित काम', या 'उचित दिन के काम के लिए उचित मज़दूरी' जैसे नियम उसकी आचार-संहिता के लिए नये होते हैं, और नयी परिस्थितियों के उपयुक्त नयी आचार-संहिता अपना लेने पर ही वह इनके अर्थ समझ पाता है। उसके लिए इससे भी नया अनुभव कठोर पर्यवेक्षण में प्रति-सप्ताह छः दिन नौ घण्टे रोज़ के हिसाब से निरन्तर काम करने का विचार होता है। नैतिक संहिताओं का संघर्ष कष्टकर होता है, और इसके परिणाम संघर्षी संहिताओं में से किसी एक संहिता में पला हुआ व्यक्ति नहीं समझ सकता। अतः यह और भी वाञ्छनीय हो जाता है कि नये औद्योगिक विकास वाले क्षेत्रों में एक नये और सार्थक सामुदायिक जीवन की स्थापना के लिए विशेष प्रयत्न किये जाएँ, अन्यथा जो समुदाय अनुशासित सुखी और उत्पादक बन सकता था वह धार्मिक, राजनीतिक और औद्योगिक तीनों दृष्टियों से रोगग्रस्त हो सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, जीवन के नये ढंग की स्थापना के साथ धर्म के क्षेत्र में भी नयी उथल-पुथल होती है। औद्योगिक क्रान्ति के दौरान इंगलैंड और वेल्स के नये औद्योगिक नगरों में पद्धतिवाद के विस्तार ने इन नये समुदायों में

उनको पैदा करने में बड़ी मदद की। पद्धतिवाद से ही नगर-जीवन अपनाने वाले नवागन्तुकों को ऐसी विचार-प्रणाली मिली जो उनकी नयी ज़िन्दगियों के अनुकूल थी और जिससे उनके जीवन अर्थपूर्ण हो उठे। निस्सन्देह अन्य औद्योगिक क्रान्तियों में भी धर्म की नवीनप्रक्रिया का इसी प्रकार का योग देना है।

(घ) व्यवसाय का प्रबन्ध—आर्थिक विकास से व्यवसाय और लोकोपयोगी सेवा दोनों में सक्षम प्रशासकों की भारी माँग पैदा होती है। अपेक्षाकृत निर्धन देशों में व्यवसाइयों की संख्या—विशेषकर छोटे व्यापारियों की—बहुत काफ़ी होती है जिनमें सस्ते-से-सस्ते बाज़ार में माल खरीदकर और तेज़-से-तेज़ बाज़ार में बेच कर पैसा बना लेने की भली प्रकार विकसित प्रवृत्ति पाई जाती है, साथ ही वे अधिक-से-अधिक दर पर रुपया उधार देकर धन कमाना भी ख़ूब जानते हैं। इनके अन्दर उद्यम की भावना कम नहीं होती, केवल प्रशासन के अनुभव का अभाव होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन से आय में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है यदि केवल ऐसे लोग मिल सकें जिन्हें कुशलतापूर्वक बड़े उद्यमों के प्रबन्ध का अनुभव हो—इसमें बड़ी संख्या में लोगों और बड़ी मात्राओं में स्थूल साधनों का प्रबन्ध भी शामिल है। *निर्धन देशों में सबसे अधिक कमी बड़े पैमाने के प्रशासन की समस्याओं की जानकारी और अनुभव का अभाव ही है।*

महान् उद्यमकर्ता पैदा होते हैं बनाये नहीं जा सकते। नयी वस्तुओं या संगठन की नयी प्रणालियों को जन्म देने वाले लोग—कोई या कुमन्त्रयं—थोड़े ही होते हैं, और इच्छानुसार *इनकी संख्या बढ़ाई नहीं जा सकती।* लेकिन अधिकांश व्यवसाइयों को केवल सामान्य प्रकार के काम करने होते हैं, जिनके लिए *अपेक्षित योग्यता, जानकारी और अनुभव प्राप्त करके हासिल की जा सकती है।*

कुछ ज्ञान व्यावसायिक स्कूलों के ज़रिए भी प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन महत्वपूर्ण बातें केवल काम के प्रत्यक्ष अनुभव से ही सीखी जा सकती हैं, और शेष बातें व्यक्ति की प्रकृति और चरित्र-सम्बन्धी गुणों पर निर्भर करती हैं। व्यावसायिक स्कूल अभिलेख रखने की पद्धतियाँ सिखा सकते हैं (माल, ऑर्डर, जमा नामे आदि के अभिलेख), स्थूल साधनों के सँभालने की विधियाँ सिखा सकते हैं (फैक्टरी-विन्यास, मशीनों की देखभाल, फैक्टरी में काम की सुचारुता), और लोगों का प्रबन्ध करने की तरकीबें बता सकते हैं (अमले का चुनाव, कर्मियों का प्रतिनिधान, प्रशिक्षण-पद्धतियाँ आदि)। लेकिन वे किसी व्यवसायी को यह नहीं सिखा सकते कि वह अपने अमले के साथ किस प्रकार निर्वाह करे जिससे कि अमला उसके प्रति निष्ठावान भी रहे और काम-कुशल भी—यह तो व्यवसायी स्वयं ही अनुभव से ही सीख सकता है बशर्ते कि उसकी प्रकृति इसके अनुकूल हो। न वे व्यवसायी को वह व्यापार बुद्धि दे सकते हैं जिसके उपयोग से कारबारी सीखी जा सकती है, उत्पादन की गति के

तथा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यवसायियों की ईमानदारी पर ही भरोसा करते हैं, दस में से नौ मामलों में धोखा खा जाते हैं। ऐसे देशों में आप्रवासी व्यवसायियों के अपेक्षाकृत अधिक सफल होने का एक कारण सम्भवतः यह है कि माल सप्लाई करने वाले विदेशी लोगों, बैंकों और देशी जनता तक का यह अनुभव है कि आप्रवासी अधिक विश्वसनीय होते हैं। शायद 'सुनाम' का महत्त्व (या यह बात कि 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है') सीखने में समय लगता है, और प्रतियोगिता और व्यावसायिक नैतिकता की नयी संहिता का विकास ही सुनाम को समुदाय की परम्पराओं में पिरोता है। इस बीच इस भावना के सापेक्ष प्रभाव के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सरकारी संस्थान छोटे व्यवसायियों को कर्ज देकर, या सविदों या व्यक्तिगत विश्वसनीयता पर आधारित दूसरे तरीकों से सहायता करते समय बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाएं।

व्यवसाय-प्रबन्ध के प्रशिक्षण का दूसरा क्षेत्र सहकारिता-आन्दोलन है जो यदि प्रजातान्त्रिक आधार पर चलाया जाए तो अनेक लोगों को व्यावसायिक समस्याओं की गहरी जानकारी और वाणिज्य प्रबन्ध का अनुभव प्रदान करता है। सहकारिता आन्दोलन का यह शायद सबसे मूल्यवान पहलू है। उपज का विपणन, बचतों के उपयोग की व्यवस्था, सफाई करने के लिए सामान की खरीद और इसी प्रकार के अन्य काम जितनी कुशलता से सहकारी संगठन करते हैं उतनी ही कुशलता से प्राय निजी उद्यम या सरकारी एजेंसियां भी कर सकती हैं लेकिन इन दूसरी एजेंसियों का शैक्षिक मूल्य सहकारी संगठन के बराबर नहीं है। व्यापक दृष्टि से देखने पर यह इसी तथ्य का एक दूसरा उदाहरण मालूम पड़ता है कि प्रशासनिक क्षमता और उद्यमशीलता उन देशों में अधिक व्यापक पैमाने पर पाई जाने की सम्भावना है जहां निर्णय लेने का काम थोड़े लोगों के बजाय अधिक लोगों के बीच विकेन्द्रित होता है। यह प्रजातन्त्र के पक्ष में दिए जाने वाले बड़े तर्कों में से एक है और जिस प्रकार राज-प्रशासन पर लागू होता है उसी प्रकार वाणिज्यिक जीवन पर भी लागू है। उन देशों की तुलना में, जहां राजनीतिक शक्ति थोड़े ही लोगों के हाथ में है, वाणिज्यिक जीवन वहां अधिक सशक्त पाया जाता है जहां लोक-प्रशासन विकेन्द्रित और प्रजातान्त्रिक है, और जहां लोगों को गांव के स्तर से ही अपने सभी मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने का अभ्यास है। यह प्रतियोगिता के पक्ष में दिये जाने वाले प्रबल तर्कों में से भी एक है जो वाणिज्य जीवन में निर्णय लेने के काम और प्रशासनिक अनुभव को इसी प्रकार विकेन्द्रित कर देता है।

एक अन्य कारण से भी प्रतियोगिता इस हालत में व्यावसायिक कुशलता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यवसायियों ने प्रशिक्षण और सलाह की सुविधाओं का लाभ उठाया की, और अपनी क्षमता बढ़ाने के सभी उपायों को खोजने की

भाग उसी स्थिति में की जा सकती है जब उन्हें ऐसा करने की प्रेरणा हो। सबसे शक्तिशाली सकारात्मक प्रेरणा सफलता की आशा है, और सबसे शक्तिशाली नकारात्मक प्रेरणा दिवालिया होने का भय है। ये दोनों प्रेरणाएँ प्रतियोगिता होने पर ही पैदा होती हैं। स्वयं प्रतियोगिता व्यवसाय को सर्वकुशल नहीं बना सकती लेकिन यदि प्रतियोगिता को कायम न रखा जाए तो कोई और साधन भी सर्वकुशलता पैदा नहीं कर सकता।

सन्दर्भ टिप्पणी

आविष्कार की सामाजिक पृष्ठभूमि पर एच० जी० बरनट की इन्नोवेशन, दी बेसिस ऑफ कल्चरल चेंज (नवीन प्रक्रिया, सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार) न्यूयार्क १९५३, जे० डी० बर्नल की साइन्स एण्ड इण्डस्ट्री इन दी नाइनटीन्थ सेंचुरी (उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और उद्योग) लन्दन, १९५३, एच० बटरफील्ड की दी ऑरिजिन्स ऑफ मॉडर्न साइन्स (आधुनिक विज्ञान का उद्भव), लन्दन, १९५०, बी० फेरिंग्टन की ग्रीक साइन्स (ग्रीक विज्ञान) लन्दन, १९४९, एस० सी० गिलफिलन की दी सोशयॉलॉजी ऑफ इनवेंशन (आविष्कार का समाजतत्त्व), शिकागो, १९३५, एच० एस० हैटफील्ड की दी इनवेंटर एण्ड हिज वर्ल्ड (आविष्कर्ता और उसका संसार), लन्दन, १९५३, जी० लिले की मेन, मेशींस एण्ड हिस्ट्री (मनुष्य, मशीन और इतिहास), लन्दन, १९४८ और ए० पी० अशर की ए हिस्ट्री ऑफ मेकेनिकल इनवेंशन्स (मशीनी आविष्कार का इतिहास), न्यूयार्क, १९२९ देखिए। पेटेन्ट-सम्बन्धी चर्चा पर सबसे अच्छा परिचयात्मक लेख एफ० मेकलप और ई० पेनरोज का है जो जर्नल ऑफ इकॉनामिक हिस्ट्री (आर्थिक इतिहास का जर्नल) मई, १९५० में 'उन्नीसवीं शताब्दी में पेटेन्ट विवाद' शीर्षक से छपा है। सार्वजनीन शिक्षा पर संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन द्वारा पेरिस से प्रकाशित फण्डामेंटल एजुकेशन, ए क्वार्टर्ली बुलेटिन (मूल शिक्षा, त्रैमासिक बुलेटिन) के १९४९ से अब तक के अंक देखिए। कृषि-विस्तार पर ई० एस० ब्रूनर, आई० टी० सैंडर्स और डी० एन्समिंगर द्वारा सम्पादित फार्मर्स ऑफ दी वर्ल्ड (संसार के किसान), न्यूयार्क, १९४५, और एग्रीकल्चरल एक्सटेंशन एण्ड एडवाइजरी वर्क, विद स्पेशल रेफरेंस टू दी कॉलोनीज (कृषि-विस्तार और सलाह-कार्य, उपनिवेशों के विशेष प्रसंग सहित), हिज मेजेस्टीज स्टेशनरी ऑफिस, लन्दन १९४९ पढ़िए। श्रमिक प्रवृत्तियों के अनुकूलन पर डब्लू० ई० मूर की इण्डस्ट्रियलाइजेशन एण्ड लेबर (उद्योगीकरण और श्रम), न्यूयार्क, १९५१ में चर्चा की गई है। छोटे व्यवसाइयों को सहायता देने के उदाहरण का वृत्तान्त मेरी सरकारी रिपोर्ट इण्डस्ट्रियलाइजेशन एण्ड गोल्ड कोस्ट (उद्योगीकरण और गोल्ड कोस्ट), अक्रा, १९५३ में मिलेगा।

अध्याय ५

पूंजी

इस अध्याय में हम आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त पूंजी की मात्रा, बचत के मुख्य स्रोत और पूंजी के निवेश की प्रक्रिया पर अलग अलग विचार करेंगे।

आर्थिक विकास का सम्बन्ध प्रति व्यक्ति पूंजी में वृद्धि से है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसका सम्बन्ध अन्य कई बातों से भी है। इसका सम्बन्ध उन संस्थाओं से है जो प्रयत्न के लिए प्रेरणा देती हैं; उन प्रवृत्तियों से है जो आर्थिक कुशलता का मूल्यांकन करती हैं और बढ़ते हुए तकनीकी ज्ञान प्राप्ति से है।

१ पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताएं

आर्थिक विकास के लिए एकमात्र पूंजी ही काफी नहीं है; यदि पूंजी उपलब्ध करा दी जाए परन्तु साथ ही उस पूंजी के उपयोग के लिए कोई लाभप्रद [illegible] न हो तो पूंजी व्यर्थ जाएगी। इस अध्याय को लिखते समय इन दूसरे विषयों पर पहले कही गई बातों को सही मान लिया गया है। अतः अब हम इस बात का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं कि यदि पूंजी के उपयोग के लिए उपयुक्त स्थिति विद्यमान हो तो उससे क्या लाभ हो सकते हैं।

पूंजी कितनी लाभप्रद है? इस बात का उत्तर देना बहुत कठिन है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। पिछली शताब्दियों में पूंजी और आय में हुई वृद्धि के सम्बन्ध में हमारे पास कुछ अनुमान अवश्य हैं परन्तु ये अनुमान औद्योगिक दृष्टि से उन्नत थोड़े-से देशों के बारे में ही हैं। सच पूछा जाए तो आय और पूंजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जो जानकारी हमें प्राप्त है उसका श्रेय प्रोफेसर साइमन कुजनेट्स और डा० कोलिन क्लार्क द्वारा किए गए कार्य को है और इस खण्ड में जो-कुछ कहा गया है वह बहुत-कुछ उनके निष्कर्षों पर आधारित है।

पूंजी और आय [illegible] के सम्बन्ध में उल्लेखनीय समानता पाई जाती है। पहली बात यह है कि यदि पूंजी प्रधान

और पूंजी-न्यून उद्योगों को मिलाकर देखा जाए तो औद्योगिक देशों में पूंजी के मूल्य और उत्पादन के मूल्य का अनुपात सीमान्त पर बिलकुल स्थिर-सा दिखाई पड़ता है, और दूसरी बात यह है कि यदि भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों के मूल्य को पूंजी में से निकाल दिया जाए और बाह्य परिसम्पत्तियों का मूल्य पूंजी और आय दोनों में से निकाल दिया जाए, तो यह सीमान्त अनुपात ३ से १, और ४ से १ के बीच रहता है। इस परिणाम को कई प्रकार से प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि औसतन १०० पौंड के निवेश पर राष्ट्रीय आय में २५ पौंड से ३३ पौंड तक की वृद्धि प्रतिवर्ष होती है या राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत वार्षिक सचयी वृद्धि का अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आय के ६ प्रतिशत से १२ प्रतिशत तक का वार्षिक निवल निवेश किया गया है। वास्तव में औद्योगिक देशों में मूल्य-ह्रास की व्यवस्था के अतिरिक्त १० प्रतिशत से १५ प्रतिशत नव निवेश करने की प्रवृत्ति होती है, और उनकी आय में २ प्रतिशत से ४ प्रतिशत तक वार्षिक वृद्धि होती है।

गणित के विचार से पूंजी की वर्तमान राशि और आय का अनुपात (अर्थात्, औसत जो सीमान्त अनुपात से भिन्न है) निवेश की गई राष्ट्रीय आय, निवेशों की औसत अवधि, और आय की वृद्धि की दर के परस्पर सम्बन्ध का परिणाम-मात्र है। इस प्रकार, यदि कुल आय स्थिर हो और १५ वर्ष की अवधि वाले निर्माणों में प्रतिवर्ष कुल १२ प्रतिशत का निवेश किया जाए और ८ प्रतिशत का निवेश दस वर्ष की अवधि वाले उपस्करों में किया जाए, तो पचास वर्ष बाद पूंजी-आय का औसत अनुपात ३.४ होगा (विद्यमान निर्माणों की मूल लागत हर समय राष्ट्रीय आय की ६.० गुना होगी, और उपस्करों की मूल लागत राष्ट्रीय आय की ०.८ गुना होगी, यह मानकर कि औसतन पूंजी का आधा ह्रास हो चुका है, उसका औसत मूल्य राष्ट्रीय आय का ३.४ गुना होगा)। इसमें विद्यमान स्टॉक की मद के रूप में अगर ०.५ जोड़ दें तो अनुपात ३.६ हो जाएगा। आय की वृद्धि की दर में परिवर्तन होने से उतना अन्तर नहीं पड़ता जितने की आशा की जाती है, उदाहरण के लिए, यदि हम यह मान लें कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ३ प्रतिशत की वृद्धि होती है, और अन्य पूर्वधारणाएँ यथावत् रहें, तो वर्तमान स्टॉक समेत पूंजी-आय का अनुपात घटकर केवल ३.० रह जाता है (इसमें कुछ अधिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि पहले वाली पूंजी, जिसका इस समय आने से अधिक ह्रास हो चुका है, सचयी वृद्धि के कारण, बाद वाली पूंजी से, जिसका ह्रास आधे से कम ही हुआ है, बहुत कम है)। यदि पूंजी की औसत अवधि मालूम हो, तो पूंजी-आय अनुपात निर्धारित करने का मुख्य आधार राष्ट्रीय आय का वह

व्यवस्था बड़ी आसानी से खराब हो सकती है। परन्तु ध्यान रहे कि विकसित और कम विकसित दोनों प्रकार के देशों में ऐसा होने की सम्भावना समान होती है। मशीनरी के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं, उदाहरण के लिए, इसके काफी प्रमाण हैं कि १९३०-१९३६ के बीच इंजीनियरी उत्पादन में अमरीका की तुलना में रूस की स्थिति अपेक्षाकृत कम अच्छी थी। इसके विपरीत जहां निर्माण-व्यय देश के अन्दर ही करना होता है, मशीन आयात भी की जा सकती है और इस प्रकार देशी उत्पादन की तुलनात्मक अलाभ-प्रदता से बचा जा सकता है। इन सब बातों के होते हुए भी यह आशा करना युक्तियुक्त ही दिखाई पड़ता है कि कम विकसित देशों में पूंजी-लागत व्यय की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक होती है लेकिन इसमें शायद अधिक सार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि पूंजी-आय अनुपात अधिक होने की आशा पूंजी की अधिक बरबादी के कारण की जाती है। इस सम्बन्ध में शंका की अधिक गुंजाइश नहीं है। पूंजी की बरबादी इस अर्थ में होती है कि पूंजीगत माल का प्रयोग उतनी सावधानी से नहीं किया जाता, जितनी सावधानी से अधिक विकसित देशों में किया जाता है। कारीगर कम निपुण होते हैं, और अपने औज़ार का प्रयोग पूरी सावधानी से नहीं करते, शाफर और इंजन के ड्राइवर अपनी मशीन सीमा से अधिक तेज चलाते हैं और सड़कों, इमारतों तथा अन्य साज-सामान की देख-भाल उतनी अच्छी तरह नहीं की जाती। अतः कम विकसित देशों में मूल्य-ह्रास की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती है। लोगों का कहना है कि त्रुटिपूर्ण निवेश के कारण भी पूंजी की बरबादी बहुत अधिक होती है, क्योंकि लोगों को सम्भावनाओं के बारे में पता नहीं होता। कम विकसित देशों में मिट्टी, वर्षा, खनिज आदि साधनों के बारे में विश्वसनीय जानकारी नहीं होती, और देश के भीतर तथा विदेश के सम्भाव्य लाभप्रद बाजारों के बारे में भी उतना अधिक ज्ञान नहीं होता। अतः बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ होती हैं और अनुभव बड़ा मँहगा पड़ता है (इस प्रकार के हजारों उदाहरणों में सबसे अधिक प्रसिद्ध उदाहरण टांगानिका में मूँगफली की खेती करने के प्रयत्न का है, इस काम में सरकार की अपेक्षा गैर-सरकारी उद्यमकर्ताओं की संख्या अधिक थी)। पूंजी की बरबादी का एक अन्य कारण यह है कि पूंजी में अपने पुराने घिसे पिटे रास्ते पर ही चलते रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका फल यह होता है कि कुछ उद्योगों में मात्रा से अधिक पूंजी का निवेश हो जाता है और कुछ में पूंजी जरूरत से भी कम रह जाती है। यह सत्य है कि पूंजी का यह अपव्यय सापेक्ष है, क्योंकि विकसित देशों में भी पूंजी का अपव्यय होता है। उदाहरण के लिए, यदि प्रत्यक्ष ह्रास की दर कम हो, तो वस्तुएँ जल्दी-जल्दी अप्रचलित होने लगती हैं। फिर भी, यह लगभग निश्चित-सा है कि जिस देश के पास जितना ही कम अनुभव

होता है, उस दशा में उतना ही अधिक अपव्यय होता है।

तीसरी बात यह कही जा सकती है कि कम विकसित दशा में पूंजी कम उत्पादक होगी क्योंकि पूंजी का लाभप्रद उपयोग निरन्तर उन्नतिशील प्रौद्योगिकी पर निर्भर होता है और कम विकसित दशा में ज्ञान की वृद्धि मन्द गति से होती है। यह बात कई ढंग से कही जा सकती है। इसके कहने का एक ढंग यह है कि विकसित दशा में आय की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है क्योंकि वहाँ ज्ञान बढ़ता रहता है और वहाँ पूंजी की वृद्धि चाहे बन्द हो जाए परन्तु आय बढ़ती ही जाएगी जबकि कम विकसित दशा में प्रौद्योगिकी की प्रगति बहुत धीरे धीरे होती है और इससे आय की वृद्धि में बहुत कम सहायता मिलती है। एक अन्य ढंग से इस बात को यों कहा जा सकता है कि पूंजी का उपयोग प्रायः नये प्रौद्योगिकों को शुरू करने के लिए किया जाता है अतः जहाँ प्रौद्योगिकी की प्रगति धीरे धीरे होती है वहाँ पूंजी कम लाभप्रद होती है। इसके विपरीत यह बात भी उतनी ही सत्यपूर्ण है कि प्रौद्योगिकी की अत्यन्त पिछड़ी अवस्था में भी शानदार प्रगति सम्भव है, क्योंकि यदि अधिक पिछड़े देशों में पूंजी का निवेश किया जाए और साथ ही शिक्षा तथा प्रशिक्षण पर क्रमशः धन खर्च किया जाए तो अधिक विकसित देशों की तुलना में इस दशा में भी तीव्र गति से विकास किया जा सकता है। अतः बहुत से विचारकों का विश्वास है कि विकास की उच्च अवस्था को पहुँचे हुए देशों की तुलना में वे देश अधिक तेजी से अधिक विकास कर सकते हैं जो अभी इसके आरम्भिक चरणों में हैं। ये लोग अपने कथन की पुष्टि के लिए रूस और जापान की अत्यन्त अधिक वृद्धि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार साधन सम्बन्धी बात के बारे में भी हम किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते हैं। जिस प्रकार विद्यमान टेक्नीक से उच्च कोटि की नयी टेक्नीक का आरम्भ करने में लगाई जाने वाली पूंजी विशेष रूप से लाभप्रद सिद्ध होती है उसी प्रकार पहले से काम में लाए जा रहे साधनों का बेहतर उपयोग करने के लिए लगाई जाने वाली पूंजी की अपेक्षा नये समृद्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग आरम्भ करने के लिए लगाई जाने वाली पूंजी अधिक लाभप्रद होती है। अतः कभी कभी यह कहा जाता है कि अधिक विकसित देशों की तुलना में कम विकसित देश पूंजी का अधिक लाभप्रद प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु जरूरी नहीं कि हर मामले में ऐसा ही होता हो। पहली बात तो यह है कि यह जरूरी नहीं है कि कम विकसित देशों के साधन अधिक विकसित देशों के साधनों से हर दृष्टि से अधिक समृद्ध हों। एशिया और अफ्रीका के सम्बन्ध में अभी यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि मिट्टी, ईंधन या अन्य खनिज पदार्थों की दृष्टि से ये स्थान बहुत समृद्ध हैं और यह बात किसी भी रूप में स्पष्ट नहीं है कि एशिया या अफ्रीका के नए साधनों में निवेश की जाने वाली पूंजी से होने वाला लाभ

उस लाभ से अधिक होगा जो उत्तरी अमरीका के ज्ञात साधनों में पूंजी-निवेश करने से होगा। इस प्रसंग में हमें महाद्वीप-जैसे बड़े-बड़े क्षेत्रों को न लेकर सीमित क्षेत्रों की विशिष्ट प्रायोजनाओं को लेना चाहिए। कम विकसित संसार के कुछ भागों में अनेक समृद्ध साधन हैं, जिनका अभी पता लगाना बाकी है, जबकि अन्य भागों में और अधिक पूंजी केवल बेहतर तकनीकों का लाभ उठाने के काम में ही लगाई जा सकती है। दूसरी बात यह है कि पूंजी का झुकाव उसी तरफ होता है जहां पहले से काफी पूंजी लगी हुई हो। किसी भी नये व्यापार का अपने उत्पादन के लिए अन्य कई कारोबारों की सेवाओं (लोकोपयोगी सेवा, इंजीनियरी सेवा, कच्चा माल सप्लाई करने वालों, आदि) पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः अधिकांश मामलों में अधिक लाभप्रद यही होता है कि जो स्थान अभी विकसित न हों, उनमें पूंजी का निवेश करने की बजाय उन स्थानों पर नयी पूंजी का निवेश किया जाए, जहां पहले से ही काफी पूंजी लगी हुई हो। इस सीमा तक विकसित देशों को कम विकसित देशों की तुलना में अधिक लाभ है, और यह भी कोई स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है कि कम विकसित देशों में पूंजी की उत्पादन-क्षमता अधिक होती है। फिर भी यदि पहले से लगी हुई पूंजी ही महत्त्वपूर्ण है तो कम विकसित देश ज्यों ही अपना पूंजी-निवेश बढ़ा देंगे त्यों ही उनकी स्थिति अनुकूल हो जाएगी। दुर्भाग्यवश, कम विकसित देशों के साधनों, या पूंजी के वर्द्धमान या ह्रासमान प्रतिफलों के महत्त्व के बारे में हम इतना थोड़ा जानते हैं कि इन विषयों के सम्बन्ध में विश्वासपूर्वक कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

अगली बात यह है कि तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देशों की अपेक्षा धीरे-धीरे बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देशों में पूंजी-आय का अनुपात अधिक होने की आशा की जा सकती है। यह धारणा 'ह्रासमान प्रतिफल के नियम' पर आधारित है, जिसके अनुसार श्रम की मात्रा थोड़ी के बजाय यदि अधिक हो, तो पूंजी से अधिक प्रतिफल मिलने की सम्भावना रहती है। यहां यही नहीं मान लेना चाहिए कि सारे कम विकसित देशों में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, उदाहरण के लिए उत्तरी अमरीका की जनसंख्या एशिया की जनसंख्या की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है। इसके विपरीत यदि जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ रही हो, जैसा कि फ्रांस में है, तो वहां मकानों के लिए कम पूंजी की जरूरत होती है, जिसका कि पूंजी-आय-अनुपात काफी अधिक है, और यह बात सम्भवतः अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के सापेक्ष महत्त्व पर आधारित तर्कों की चर्चा हम कुछ अधिक विश्वास के साथ कर सकते हैं। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पूंजी-आय-अनुपात में बहुत भिन्नता होती है। इस प्रकार, विनिर्माण-

सम्बन्धी क्षेत्र की तुलना में लोकोपयोगी सेवाओं के क्षेत्र में यह अनुपात बहुत अधिक होता है किसी उन्नत औद्योगिक देश में भी यह पाँच या छः गुना अधिक होता है और आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो यह अनुपात और भी अधिक होता है क्योंकि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने के काम से होने वाला मोटा लाभ आर्थिक विकास की वृद्धि के साथ-साथ इस अनुपात को तेजी से गिराता जाता है। इसके विपरीत लोकोपयोगी सेवाओं में निवेश की गई पूंजी केवल उसी क्षेत्र की नहीं बल्कि शेष अर्थ-व्यवस्था की भी उत्पादन-क्षमता बढ़ा सकती है अतः सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर इसका परिणाम यही होता है कि पूंजी-आय का अनुपात कम रहता है। कृषि और विनिर्माण की पूंजीगत आवश्यकताओं में भी बहुत अन्तर होता है। अधिक विकसित देशों में विनिर्माण सम्बन्धी अनुपात की तुलना में कृषि-सम्बन्धी अनुपात अधिक होता है, परन्तु यह सम्भव लगता है कि कम विकसित देशों में कृषि में यंत्रों का अधिक प्रयोग न होने के कारण इसका अनुपात विनिर्माण-सम्बन्धी क्षेत्र (कम-से कम हस्तशिल्प-उद्योग को छोड़कर) के अनुपात से कम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में जबकि हमें विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अनुपात दिखाई देते हैं और यह भी पता चलता है कि अधिक विकसित और कम विकसित देशों में विभिन्न क्षेत्रों के बीच बिलकुल भिन्न भिन्न अनुपात होते हैं यह स्वाभाविक ही है कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को लेकर अनुपात बहुत भिन्न-भिन्न मिलेंगे। विकसित देशों की तुलना में कम-विकसित देशों में कृषि का महत्त्व निर्माण-उद्योगों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। उत्पादन-क्षमता के निचले स्तरों पर अर्थकर धन्धों में लगी जनसंख्या में से ६० से ७० प्रतिशत जनसंख्या की जरूरत कृषि में होती है ताकि देश की जनता के भोजन के लिए अन्न पैदा किया जा सके, इसकी तुलना में इसी काम के लिए विकसित देशों में १२ से १५ प्रतिशत जनसंख्या पर्याप्त होती है। (परन्तु यह सब तुलना उन सारी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए है जो जनगणना का वर्गीकरण करते समय सामने आती हैं इनका उल्लेख हमने अध्याय ६ खण्ड १ (ग) में किया है)। निचले स्तरों पर भी कृषि में (भूमि को छोड़कर) बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं होती। पानी के सम्बन्ध में अर्थात् नहरें बनाना, भूमि को कृषि योग्य बनाना, सिंचाई या बाढ़-नियन्त्रण के लिए भारी रकम की जरूरत पड़ सकती है। कम जनसंख्या वाले कम विकसित देश भी प्रति-व्यक्ति कृष्य क्षेत्र को बढ़ाने के लिए यंत्रों का उपयोग करके लाभ उठा सकते हैं, परन्तु घनी जनसंख्या वाले देशों को कृषि में यंत्रों का अधिक प्रयोग करने से केवल थोड़ा ही सीमान्त लाभ होगा, क्योंकि यंत्रों के व्यापक प्रयोग से उत्पादन में जितनी वृद्धि होगी, उससे कहीं अधिक मात्रा में बेरोजगारी बढ़ जाएगी (देखिए अध्याय ३, खण्ड ३ (ग))।

जल-संरक्षण में पूंजी के योगदान को छोड़कर, कम विकसित देशों में कृषि की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि पूंजी की बजाय नयी टक्नीक (रासायनिक खाद, बीज, कीटनाशक दवाइयां, फसलों की अदल-बदल आदि) पर अधिक निर्भर करती है। विनिर्माण-सम्बन्धी उद्योगों के विकास में बहुत अधिक मात्रा में पूंजी की जरूरत होती है। यह बात सच है कि कुटीर उद्योगों का जहां-तहां विकास वाछनीय है वहां उसमें अधिक पूंजी की जरूरत नहीं पड़ती, परन्तु फैक्टरी उद्योग के विकास की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती और विकास के इन स्तरों पर कृषि की तुलना में फैक्टरी उद्योग के लिए बहुत अधिक मात्रा में पूंजी की जरूरत होती है। चूंकि कृषि और विनिर्माण-सम्बन्धी उद्योगों में रोजगार देने की क्षमता में (६ १ से १० १ तक) इतना अधिक अन्तर है, और चूंकि कृषि की उन्नति पूंजी की बजाय कृषि-विस्तार और अनुसंधान पर होने वाले आर्थिक व्यय पर कहीं अधिक निर्भर करती है, अतः यह निष्कर्ष निकालना समीचीन प्रतीत होता है कि औद्योगिक देशों की तुलना में कम विकसित देशों में पूंजी में थोड़ी-सी ही वृद्धि करके आय में एक निश्चित मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत, कम विकसित देशों को लोक-निर्माण तथा लोकोपयोगी सेवाओं (बन्दरगाहों, रेलवे, सड़कों, बिजली, स्कूलों आदि) पर बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ता है, औद्योगिक देशों में आय का जितना भाग इन सेवाओं पर खर्च होता है, शायद उससे अधिक अनुपात में कम विकसित देशों में खर्च होगा, अतः विभिन्न क्षेत्रों के सापेक्ष महत्त्व के प्रभाव के फलस्वरूप हो सकता है कि पूंजी-आय-अनुपात में अधिक अन्तर न पड़े।

अन्त में, हम पूंजी की तुलनात्मक कमी से उत्पन्न होने वाली भिन्नता की बात को लेते हैं। कम विकसित देशों में पूंजी को विकसित देशों की तुलना में अधिक सभाल कर खर्च करना लाभप्रद होता है। इस प्रकार, यदि कोई ऐसी प्रक्रिया अपनाना सम्भव हो जिसमें आरम्भ में भारी मात्रा में पूंजी-निवेश करना पड़े और बाद में सचालन-व्यय कम हो, अथवा इसके बदले में कोई ऐसा उपाय चुनना हो जिसमें आरम्भ में थोड़ी पूंजी का निवेश करना पड़े और उस पर वार्षिक खर्च अधिक हो, तो प्रायः बाद वाला उपाय अपनाना अधिक उपयुक्त होता है। पचास वर्ष के लिए कोई निर्माण करने की बजाय बीस वर्ष के लिए निर्माण करना अधिक अच्छा है, ऐसे उपाय अपनाना अधिक अच्छा है जिनमें मशीन की बजाय हाथ की मेहनत लगे, और सामान्यतया श्रम की तुलना में पूंजी में किफायत करना अधिक अच्छा है। परन्तु इन सब बातों को निरपेक्ष नहीं बल्कि सापेक्ष माना जाना चाहिए, इसके पीछे तर्क यह नहीं है कि पूंजी बिलकुल खर्च ही नहीं की जानी चाहिए, बल्कि तर्क यह है कि चूंकि ऐसे देशों में अधिक विकसित दशा की तुलना में पूंजी अधिक दुर्लभ होती है, अतः इसे बची

किफायत से खर्च किया जाना चाहिए। यह तर्क सब कम विकसित देशों पर लागू होता है परन्तु उन देशों पर यह विशेष रूप से लागू होता है जिनमें भौतिक साधनों की तुलना में श्रम का आधिक्य है क्योंकि इन देशों में पूंजी में कोई वृद्धि या टेक्नीक में कोई सुधार किए बिना ही श्रमिकों की अपेक्षा कुछ कम संख्या उत्पादन का वर्तमान स्तर कायम रख सकती है। मध्य-पूर्व और दक्षिण एशिया के कुछ देश ऐसी स्थिति में हैं जैसे आस्ट्रेलिया जिनके बारे में यह धारणा है कि वहाँ की कुल कृषि योग्य भूमि पर वर्तमान उत्पादन और टेक्नीक के साथ खेती करने के लिए जितने व्यक्तियों की जरूरत है उनसे लगभग २५ प्रतिशत अधिक लोग खेती के काम में लगे हुए हैं। ऐसे देशों में श्रम के स्थान पर पूंजी लगाना बेकारी है और कृषि निर्माण सम्बन्धी काम इमारत और भवन निर्माण या अन्य कामों में केवल उन्हीं अवस्थाओं में मशीन का इस्तेमाल किया जाना चाहिए जब मशीन के इस्तेमाल से उत्पादन में ऐसी वृद्धि सम्भव हो जो कि केवल अधिक श्रम के प्रयोग से न हो पाए। इस विवेचन का उपसिद्धान्त यह है कि अधिक विकसित देशों की तुलना में कम विकसित देशों में आय में वृद्धि करने के लिए पूंजी का योग कम-से-कम होना चाहिए।

विकसित और कम विकसित देशों में पूंजी आय का सीमान्त अनुपात भिन्न-भिन्न क्यों होना चाहिए, इस सम्बन्ध में हम आधा दर्जन कारणों पर विचार कर चुके हैं। सम्पूर्ण विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि किसी कम विकसित देश में पूंजी आय का सीमान्त अनुपात क्या है यह हम नहीं जानते और हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि अमरीका की तुलना में किसी देश का अनुपात कम है या अधिक। साथ ही यदि किसी अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में हम औद्योगिक देशों में पाए गए अनुपात के आधार पर इसका पता लगाएँ तो हमें पता लग जाएगा कि कम विकसित देशों में आय में इतनी मन्द गति से वृद्धि क्यों होती है। अनुमान है कि भारत जैसा देश अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग ४ या ५ प्रतिशत का प्रतिवर्ष निवेश करता है। इन आंकड़ों की तुलना औद्योगिक देशों के आंकड़ों से करना भ्रामक है क्योंकि कम विकसित देशों के आंकड़ों के सम्बन्ध में हमें पक्की जानकारी नहीं है। उदाहरण के लिए हमें यह नहीं मालूम कि गाँव के लोग मकान बनाने, खेती विस्तार करने में, नयी भूमि को खेती के योग्य बनाने में, नहर-व्यवस्था या भूमि-संरक्षण में और अपने मकान की मरम्मत आदि में स्वयं कितनी पूंजी लगाते हैं। ऐसा यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजी निर्माण के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया गया है वह वास्तविक से कम है। किन्तु यदि हम इन आंकड़ों को स्वीकार कर लें तो ४ या ५ प्रतिशत का वार्षिक निवेश जिससे उत्पाद शक्ति में [illegible] से १½ प्रतिशत की वृद्धि [illegible]

जनसंख्या इस समय बढ़ रही है। यदि निवेश थोड़ा हो और उसका अधिक अंश आवास-व्यवस्था में लगाया गया हो और उत्पादक निवेश कुल निवेश का थोड़ा अंश रह गया हो तो राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर इससे भी कम हो सकती है। ऐसी स्थिति में वर्तमान निवेश जनसंख्या की वृद्धि को निबाहने-भर के लिए ही होगा, और रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिए कुछ नहीं बचाया जा सकेगा। यदि भारत अपना रहन-सहन का स्तर प्रतिवर्ष १ प्रतिशत बढ़ाना चाहे तो उसे अपने निवेश की वर्तमान दर लगभग दुनी करनी होगी। भारत और अमरीका के रहन-सहन के स्तर का अन्तर प्रतिवर्ष बढ़ रहा है, इस अन्तर को आगे बढ़ने से रोकने के लिए भारत के रहन-सहन के स्तर को उसी दर से बढ़ाना होगा जिस दर से अमरीका का रहन-सहन का स्तर बढ़ता है अर्थात् लगभग १½ से २ प्रतिशत वार्षिक दर से। ऐसा करने के लिए भारत को अपने निवल निवेश की दर राष्ट्रीय आय के ४ या ५ प्रतिशत से बढ़ाकर लगभग १२ प्रतिशत तक करनी होगी।

इससे यह प्रश्न भी पैदा होता है कि पूंजी की उत्पादकता को कम किये बिना ही पूंजी-निर्माण की गति किस प्रकार तेज की जा सकती है। इस समय जो अपेक्षाकृत विकसित देश हैं, उन्होंने भूतकाल में कभी पूंजी-निर्माण की गति को तेजी से बढ़ाया था—अपने वार्षिक निवल निवेश की ५ प्रतिशत या उससे कम की दर को १२ प्रतिशत या उससे अधिक कर दिया था। इसे ही औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है। दुर्भाग्य से ऐसे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, जिनके आधार पर हम किसी विशेष मामले के बारे में यह बतला सकें कि इस संक्रमण में कितना समय लगा, या इस संक्रमण की अवधि में पूंजी की उत्पादन-क्षमता पर क्या प्रभाव पड़ा। जापान, जर्मनी, उत्तरी रोडेशिया और रूस-जैसे देशों में हमने बहुत तेजी से (अर्थात् लगभग १० वर्षों में) संक्रमण होते देखे हैं परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि परिवर्तन की गति के प्रयत्नों ने उत्पादन-क्षमता को कम किया या नहीं। साथ ही पूर्व-सिद्ध आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कोई देश उत्पादक ढंग के पूंजी-निर्माण बढ़ाने की दिशा में एक निश्चित सीमा से आगे नहीं जा सकता। इनमें से दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सीमाएँ (वित्त, उपयुक्त प्राकृतिक साधन, और उपयुक्त संस्थाओं के होते हुए भी) कौशल की कमी और लोकोपयोगी सेवाओं की अपर्याप्तता हैं।

कौशल की कमी के कारण केवल इतना ही नहीं कि लोग उत्पादक ढंग से पूंजी का इस्तेमाल नहीं कर पाते, बल्कि इसके फलस्वरूप यह भी हो सकता है कि लोग उसे किसी भी रूप में इस्तेमाल ही न कर सकें। अभी हम देखेंगे कि आधे से अधिक पूंजी निर्माण इमारतों तथा निर्माण कार्य के रूप में होता है। अतः इमारत तथा निर्माण-कार्य जितना बढ़ाया जाएगा, उसी के अनुसार

पूंजी-निर्माण भी बढ़ेगा। यदि बढ़ई, राजगीर, बिजली-मिस्त्री और इंजीनियर न हों, तो कोई योजनाएं पूरी नहीं की जा सकती, फिर चाहे वे सड़कों, पुलों, बांधों, कारखानों, बिजली के कारखानों व मकानों या अन्य किसी भी निर्माण-कार्य से सम्बन्धित हों। अतः इस प्रश्न में से कि पूंजी-निर्माण का काम कितनी तेजी से बढ़ाया जा सकता है, पहले यह प्रश्न पैदा होता है कि कितनी शीघ्रता से इमारती उद्योग का विस्तार किया जा सकता है। दूसरी सीमा जो कि लोकोपयोगी सेवाओं की अपर्याप्तता की है इसलिए लागू होती है कि नये उद्यमों को सवारी-सुविधा, गोदी-सुविधा, जल-सम्भरण-व्यवस्था बिजली शक्ति तथा ऐसी ही अन्य सेवाओं की जरूरत पड़ती है। परन्तु लोकोपयोगी सेवाओं के विस्तार (यह मानकर कि वित्त उपलब्ध है) के प्रश्न में यह प्रश्न पैदा होता है कि किस दर से इन सेवाओं का निर्माण किया जा सकता है, यह प्रश्न वैसा ही है कि निर्माण-उद्योग का विस्तार किस दर से किया जा सकता है। अतः अधिकाधिक पूंजी लगाने के मार्ग में सबसे मुख्य कठिनाई कौशल की कमी है।

कौशल के लिए या तो बाहर से लोगों को बुलाया जा सकता है, या देश के लोगों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है। उत्तरी रोडेशिया में कारीगरों को जरूरत के मुताबिक बाहर से बुलाया गया था, और इसीलिए पूंजी-निर्माण का काम बिना किसी प्रत्यक्ष बाधा के तेजी से आगे बढ़ाया जा सका। अन्य स्थानों पर कौशल का विस्तार काफी सीमा तक प्रशिक्षण पर निर्भर होता है, यद्यपि हर मामले में कारीगरों को बाहर से बुलाने से, चाहे उन्हें केवल प्रशिक्षण के प्रयोजन के लिए ही बुलाया जाए, पूंजी-निर्माण का काम अधिक आसान हो जाता है। किसी भी प्रशिक्षण-कार्यक्रम में राजगीरों और पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण का काम बहुत बड़ा होता है, पर इसके अलावा और भी कई प्रकार के लोगों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। उन लोगों को भी प्रशिक्षण देना पड़ता है जिन्हें पूंजी की स्थापना के बाद उसे इस्तेमाल में लाना होता है। विकास-कार्यक्रम से पहले यदि उनके लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं की गई तो बड़ी निराशा उठानी पड़ती है। यद्यपि ये कार्यक्रम राष्ट्रीय आय को देखते हुए कदाचित् ही बड़े होते हैं, फिर भी उनको पूरा करने में अक्सर कठिनाई आती है, और वे उतनी गति से आगे नहीं बढ़ पाते जितनी गति से उन्हें आगे बढ़ना चाहिए। इसके विपरीत यदि प्रशिक्षण का एक बृहद् कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जाए, जैसा कि रूस में हुआ, या जैसा कि युद्ध आरम्भ होने पर सेनाओं के शीघ्र विस्तार के साथ-साथ चलता है, तो कोई कारण नहीं है कि दस वर्षों के भीतर पूंजी-निर्माण की गति को दूना करने में कौशल की कमी के कारण बाधा पैदा हो। यदि प्रशिक्षण-सुविधाओं की व्यवस्था कर दी जाए और यदि अन्य देशों से अनुभवी पर्यवेक्षकों को बुलाने का ध्यान रखा

की मात्रा उनकी आय की तुलना में बहुत कम होती है। औद्योगिक देशों में पुनरुत्पादन में लगी पूँजी की मात्रा राष्ट्रीय आय से तीन गुना से भी अधिक होती है जबकि अल्पविकसित निर्धन देशों में कृषि को छोड़कर पूँजी की मात्रा राष्ट्रीय आय से कम होती है या उससे बहुत अधिक नहीं होती। अतः ऐसे देशों में मूल्य-ह्रास के लिए राष्ट्रीय आय का केवल २ या ३ प्रतिशत जरूरी होता है जबकि अत्यधिक धनी देशों में मूल्य-ह्रास के लिए राष्ट्रीय आय का ७ से १० प्रतिशत तक जरूरी होता है। ज्यों-ज्यों विकास निरंतर होता है त्यों-त्यों पूँजी की मात्रा और मूल्य-ह्रास का अनुपात दोनों तेजी से बढ़ते जाते हैं।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों के बीच पूँजी-निवेश का विभाजन किस प्रकार होता है। हमारे पास अधिकतर उन्नतिशील औद्योगिक देशों के आँकड़े हैं, ऐसे देशों में कुल निवेश कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग २० प्रतिशत होता है। ऐसे देशों के बीच परस्पर भी अंतर पाया जाता है, परन्तु यदि हम किसी सामान्य अर्थ-तन्त्र को विचार में रख कर देखें तो हम पाएँगे कि कुल नियत निवेश (अर्थात् परिसम्पत्तियों का जोड़कर) का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

आवास-व्यवस्था	लगभग २५ प्रतिशत
लोक निर्माण और सार्वजनोपयोगी सेवाएँ	३५ "
विनिर्माण और कृषि	" ३० "
अन्य वाणिज्य	" १० "
	१०० प्रतिशत

ये आँकड़े लम्बी अवधियों का औसत हैं, भिन्न भिन्न वर्षों में इनमें बहुत अधिक घट-बढ़ होती रहती है, जिसकी चर्चा करने की इस समय आवश्यकता नहीं है।

इन आँकड़ों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। सबसे पहले आवास-व्यवस्था को लीजिए। सामान्यतया लोगों को यह जानकर आश्चर्य होता है कि देश की जनता के रहने की व्यवस्था मात्र पर कुल निवेश का इतना बहुत बड़ा भाग खर्च किया जाता है, परन्तु कम-से-कम औद्योगिक देशों का यह एक सामान्य लक्षण है। जनसंख्या की वृद्धि की दर के अनुसार इसका अनुपात घटता-बढ़ता रहता है। ऐसे देशों में भी यह अनुपात सम्भवतः बहुत अधिक होता है जहाँ अभी भी लोग कृषि से हटकर उद्योग की ओर जा रहे हैं क्योंकि इसके लिए नगरों का तेजी से विस्तार करना जरूरी होता है। शायद इसी कारण ग्रेट ब्रिटेन में यह अनुपात लगभग २० प्रतिशत है और अमरीका में लगभग ३० प्रतिशत। आवास-व्यवस्था पर [illegible]

की बड़ी आसानी से उपेक्षा हो जाती है, ऐसा लगता है कि रूस में पहली पंचवर्षीय योजना बनाते समय इनकी उपेक्षा हो गई थी। कम विकसित देशों को आवास-व्यवस्था में अपने निवेश के २५ प्रतिशत से भी अधिक खर्च करने की जरूरत होती है यदि वे चाहते हैं कि विकास आरम्भ होने ही जिन शहरों में लोग आकर बसने लगेंगे उनकी अवस्था वैसी ही न हो जाए जैसी कि प्रायः औद्योगिक क्रान्ति के समय शहरों की हो गई थी।

ये आंकड़े यह भी बताते हैं कि लोक-निर्माण और लोकोपयोगी सेवाओं (सड़कों, गोदियों, परिवहन, जल, बिजली, स्कूल, अस्पताल, सरकारी इमारतों) का कितना महत्त्व है। औद्योगिक देशों में भी इस मद में लगने वाली पूंजी विनिर्माण-कार्यों में लगने वाली पूंजी से अधिक होती है। हम इस बारे में और अधिक जानना चाहेंगे कि आर्थिक विकास के दौरान यह अनुपात कैसे घटता-बढ़ता है परन्तु जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे हम कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। ऐसे कारण विद्यमान हैं, जिनके आधार पर विश्वास किया जा सकता है कि विकास की शुरू की दशाब्दियों में यह अनुपात विशेष रूप से अधिक होता है, और उसके बाद कम होता जाता है। इसका कारण यह है कि आरम्भिक विकास की अवस्था में लोकोपयोगी सेवाओं की स्थापना करनी पड़ती है, और यद्यपि उनके अनुरक्षण, सुधार और व्यवस्था के विस्तार पर भी धन खर्च करना जरूरी होता है, परन्तु सम्भव है कि बाद में किये गए ये खर्च आरम्भ में किये गए खर्चों की तुलना में कम हों। यह वैसी ही धारणा है जो कुल निवेश की तुलना में निवल निवेश के कम होने की संदिग्ध प्रवृत्ति का समाधान खोजते समय हमारे सामने आई थी। कुल पूंजी-निवेश के अन्तर्गत उपस्कर के खर्च की तुलना में निर्माण-खर्च के कम होते जाने की प्रवृत्ति का समाधान करते समय हम फिर इस धारणा को देखेंगे। और आगे भी उन अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गए एक तर्क के रूप में हमारा इससे वास्ता पड़ेगा जिनका विचार है कि अच्छी तरह से विकसित देशों को अपनी 'परिपक्व' बचतों का निवेश करने के लिए पर्याप्त अवसर ढूंढने में अधिकाधिक कठिनाइयाँ होती जाएंगी।

लोक-निर्माण और लोकोपयोगी सेवाओं में पूंजी-निवेश के महत्त्व का एक और दिलचस्प उपसिद्धान्त यह है कि गैर-सरकारी निवेश की तुलना में सरकारी निवेश अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे देशों में, जिनमें सरकार लोकोपयोगी सेवाओं का काम गैर-सरकारी उद्यमकर्त्ताओं पर छोड़ देती है, सरकारी निवेश कुल निवेश का एक छोटा-सा भाग—१० प्रतिशत या इससे भी कम—होता है। परन्तु लोकोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह अनुपात बहुत अधिक बढ़ जाता है, और खनन और विनिर्माण में सरकारी पूंजी-

निवेश की चर्चा न भी करें तो सरकार द्वारा केवल आवास के खर्चे की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेने से ही यह अनुपात और भी तेज़ी से बढ़ जाता है। कम विकसित देशों में से बहुत से देशों ने इन निवेशों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर यह जाने बिना ले ली है कि इनमें खर्च होने वाली राशियों से सरकार पर खर्च का बोझ इतना अधिक बढ़ जाएगा कि वह उसे सम्भाल नहीं पाएगी।

निर्माण-क्षेत्र और कृषि के बीच निवेश का विभाजन क्या हो, यह इस बात पर निर्भर होता है कि किसी देश की अर्थ-व्यवस्था में इन दोनों का सापेक्ष महत्त्व क्या है। ग्रेट ब्रिटेन में कुल निवेश का केवल ४ प्रतिशत कृषि में लगाया जाता है, पर साथ ही वहाँ इसमें केवल ४ प्रतिशत लोगों को रोज़गार मिला हुआ है। अमरीका में कृषि में निवेश का अनुपात ८ से १० प्रतिशत के लगभग है। हर देश में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के बढ़ने से कृषि की तुलना में निर्माण-क्षेत्र का विस्तार होता है, क्योंकि ज्यों-ज्यों लोग अधिक धनी होते जाते हैं, वे खाद्य के उपभोग की तुलना में तैयार वस्तुओं की अधिक खरीद करने लगते हैं। अतः निर्माण-क्षेत्र में निवेश किये गए अनुपात के बढ़ने और कृषि में निवेश किये गए अनुपात के घटने की सहज प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त, सापेक्ष अनुपात किसी देश के प्राकृतिक साधनों और उसकी जनसंख्या की तुलना पर निर्भर करता है, क्योंकि इससे यह निश्चित होता है कि उस देश में जनसंख्या का आधिक्य है या नहीं, और उस देश को खाद्य के आयात के बदले में तैयार वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए अथवा समृद्ध बनने के लिए तैयार वस्तुओं के बदले में मूल वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए। जापान या भारत-जैसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में लोग यह आशा करते हैं कि विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्माण-क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक निवेश किया जाए, क्योंकि सब लोगों को रोज़गार देने या खाद्य के आयात के मूल्य का भुगतान करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसके विपरीत, बर्मा और स्याम-जैसे देशों में, जिनमें काफी मात्रा में उपजाऊ भूमि है, लोग आशा करते हैं कि इस प्रकार का निवेश अधिकाधिक किया जाए जिससे प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन बढ़े।

अन्त में, हम इस बात पर विचार करेंगे कि निर्माण, उपस्कर और भण्डार की वृद्धि करने के लिए पूँजी-निर्माण का विभाजन किस प्रकार होता है। सबसे पहले हम भण्डार की बात लेंगे, क्योंकि प्रायः इसकी उपेक्षा की जाती है। किसी भी समय वर्तमान भण्डार राष्ट्रीय आय के $\frac{१}{३}$ और $\frac{१}{२}$ के बीच होते हैं। अतः यदि राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि होती रहती है तो राष्ट्रीय आय का लगभग १ से १½ प्रतिशत तक भण्डारों में लगाना ही उचित रहता है, यह निवल निवेश का लगभग १२ प्रतिशत तक हो सकता है। विकास-सम्बन्धी योजना बनाने में प्रायः इस बड़ी मद की उपेक्षा की जाती है, जिसका परिणाम

ये आंकड़े कुछ गलत धारणाओं पर भी प्रकाश डालते हैं और इसी कारण महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, ये आंकड़े पूंजी-निर्माण में इमारतों, भण्डारों और आवास-व्यवस्था का महत्त्व स्पष्ट करते हैं जिसकी उपेक्षा करने के फलस्वरूप बहुत से विकास-कार्यक्रम संकट में फंस चुके हैं। यदि किसी देश में कोई व्यक्ति पूंजी-निवेश का कोई कार्यक्रम आरम्भ करना चाहे, तो साधनों और सम्भावनाओं के विस्तृत गवेषण के अलावा अन्य कोई चारा नहीं है, परन्तु अन्य देशों में जो कुछ हुआ है उसे देख लेना भी लाभप्रद होता है—कम-से-कम इतना तो पता लग ही जाता है कि किसी बड़ी मद की उपेक्षा तो नहीं हुई है।

२. बचत

(क) *बचत की आवश्यकता*—पिछले खण्ड में हमने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आर्थिक विकास के लिए निवेश बहुत जरूरी है। दूसरे ढंग से इसका मतलब यह है कि विकास के लिए बचत जरूरी है, क्योंकि बचत के अनुसार ही निवेश किया जा सकता है। फिर भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि लगातार निवेश करते रहने से क्या स्वयं जरूरत के मुताबिक बचत नहीं हो जाएगी, जिससे हम बचत की मात्रा के सम्बन्ध में चिन्ता किए बिना ही निवेश पर ध्यान केन्द्रित कर सकें। इतना ही नहीं, यह भी पूछा जा सकता है कि चूंकि बचत के फलस्वरूप वस्तुओं की बिक्री पर अंकुश लग जाता है, अत: क्या इससे निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, और क्या इसीलिए लोगों को रुपया बचाने के बजाय उसे खर्च करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाना चाहिए। ये प्रश्न काफी समय से पूछे जाते रहे हैं और बचत के गोणों की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व हमें इन प्रश्नों का उत्तर देना है।

लोगों की आय चाहे जितनी ही हो, परन्तु वे केवल वही उपभोक्ता-वस्तुएं खरीद सकते हैं जो उस समय उपलब्ध हों। चूंकि उनकी आय का स्रोत उपभोक्ता-वस्तुओं और निवेश-वस्तुओं का उत्पादन है, और चूंकि वे केवल उपभोक्ता-वस्तुएं ही खरीद सकते हैं, अत: उन्हें अपनी आय का उतना भाग बचाना चाहिए जितना उत्पादित निवेश-वस्तुओं के मूल्य के बराबर हो। इसका अर्थ यह है कि जितनी पूंजी का निवेश किया गया हो, उतना अवश्य बचाया जाना चाहिए। परन्तु यदि इस आधार पर बचत करने के लिए लोगों को बाध्य किया गया तो सम्भव है कि बचत उतनी न हो, जितनी वे चाहते हैं। यदि लोग अधिक बचत करना चाहेंगे, तो वे उपभोक्ता-वस्तुओं का खर्च कम कर देंगे और यदि वे कम बचत करना चाहेंगे, तो उपभोक्ता-वस्तुओं पर खर्च बढ़ा देंगे। दोनों ही अवस्थाओं में उनका खर्च तैयार की गई उपभोक्ता-वस्तुओं के मूल्य के ठीक बराबर नहीं होगा। यदि लोग पूंजी-निवेश से अधिक बचत

करना चाहते हैं तो उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादकों को घाटा होगा, क्योंकि लागत के रूप में अपनी आय का जो एक भाग उन्होंने खर्च कर दिया है, वह बिक्री के रूप में उनके पास वापस नहीं पहुँचेगा। और यदि लोग निवेश की गई पूँजी से कम बचत करना चाहते हैं तो उत्पादकों को अप्रत्याशित लाभ होगा। असन्तुलन की इन दोनों में से कोई भी अवस्था किसी भी दोष-निवारक उपाय का प्रभाव नष्ट कर देती है। यदि लोग पूंजी निवेश से अधिक बचत करना चाहते हैं, तो घाटे में चल रहे उत्पादक अपना परिव्यय कम कर देंगे, और इससे आय और रोज़गार में गिरावट आ जाएगी। इसके विपरीत, यदि बचत से अधिक पूंजी का निवेश होता है, तो उत्पादक अपना परिव्यय बढ़ा देंगे और इससे आय बढ़ जाएगी। इस आय के बढ़ने का असर यह होगा कि वास्तविक उत्पादन बढ़ जाएगा, और यदि श्रम, भूमि तथा पूंजी निष्क्रिय पड़ी होगी, तो उनका उपयोग हो जाएगा। परन्तु यदि लागत बढ़ाने के लिए आवश्यक स्रोतों में से कुछ या सब स्रोतों का अभाव हो, तो आय की वृद्धि होने के बजाय कीमतों में स्फीतिकारी वृद्धि हो जाएगी।

बचत का महत्त्व है या नहीं, इस प्रश्न का यही उत्तर है। निस्संदेह बचत का महत्त्व है। निवेश के एक विशेष स्तर पर यदि लोग बचत के लिए अत्यधिक इच्छुक हों, तो अवस्फीति पैदा हो जाएगी, और यदि उनमें बचत के लिए पर्याप्त इच्छा नहीं होगी, तो यदि सम्भव हुआ तो उत्पादन बढ़ जाएगा अन्यथा कीमतों में स्फीति पैदा हो जाएगी। निवेश के एक विशेष स्तर पर लोगों में बहुत अधिक या बहुत कम बचाने की इच्छा की सम्भावना समान होती है।

विक्टोरिया के शासन-काल में आम जनता के मन में ये समस्याएँ पैदा नहीं हुईं, क्योंकि लोग बचत के स्तर को अलग रखकर निवेश के स्तर की बात सोचने के अभ्यस्त नहीं थे। उनकी धारणा के अनुसार उद्यमकर्ता अपनी बचत का या उधार लेकर दूसरों की बचत का निवेश करते थे; जो नहीं बचता था उसके निवेश का प्रश्न ही नहीं था और जो बचता था वह पूरा-का-पूरा अपने-आप निवेश कर दिया जाता था। इस प्रकार बचत तथा निवेश दोनों सदैव समान रहते थे और बचत के अनुसार ही निवेश की मात्रा निर्धारित होती थी। चूंकि विक्टोरिया-काल के लोग निवेश बढ़ाना चाहते थे, अतः उन्होंने बचत बढ़ाने के उपायों पर ध्यान दिया। परन्तु हमारी वर्तमान धारणा के अनुसार सारी बचत का निवेश होना सदा ही आवश्यक नहीं है (कुछ बचत का निसंचय भी किया जा सकता है), और यह भी जरूरी नहीं है कि वर्तमान बचत के बराबर ही निवेश हो (हो सकता है कि निसंचित बचत निकालकर या अतिरिक्त मुद्रा बनाकर निवेश किया जाए)। अतः हम बचत और निवेश का निर्धारण करने वाले तत्त्वों का अलग अलग विश्लेषण करते हैं। और हमें

यह बात भी माननी पड़ेगी कि किसी समय के निवेश को देखते हुए बचत की मात्रा बहुत ही कम या बहुत अधिक भी हो सकती है।

निवेश निर्धारित करने वाले तत्त्वों का अध्ययन करते समय हमें एक अन्य सम्भावना दिखाई पड़ती है, जिसकी ओर विक्टोरियाकालीन अधिकांश लोगों ने ध्यान नहीं दिया था। यह काल्पनिक सम्भावना इस बात की है कि बचत में वृद्धि के फलस्वरूप निवेश अपने आप बढ़ जाने की बजाय घट भी सकता है, जैसा कि तत्कालीन लोग समझते थे। यह काल्पनिक तर्क इस पूर्व-धारणा पर आधारित है कि समाज की पूंजी और उसके उपभोग का अनुपात निश्चित है। अगर ऐसा न होता तो पूंजी-संचय उपभोग की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ रहा होता, और उपभोग की वृद्धि की दर में कोई कमी आने से पूंजी की वृद्धि की दर पर अनिवार्यतः कोई रुकावट न आती। क्या पूंजी और उपभोग का अनुपात निश्चित है? जरूरी नहीं कि ऐसा हो। पहली बात तो यह है कि उपभोक्ता-वस्तुएं पूंजी-प्रधान या पूंजी-न्यून दोनों प्रक्रियाओं से तैयार की जा सकती हैं। इनका चुनाव कुछ सीमा तक इस आधार पर होता है कि अन्य साधनों की तुलना में पूंजी कितनी सस्ती है, अर्थात् ब्याज की दर क्या है। मितव्ययिता बढ़ने से ब्याज की दर कम हो जाती है—यदि दर पहले ही कम हो तो उसमें बहुत अधिक कमी नहीं होती परन्तु यदि पहले ही बहुत ज्यादा हो, तो उसमें बहुत कमी हो जाती है। अतः मितव्ययिता बढ़ने से उत्पादकों को पूंजी-प्रधान प्रक्रियाएं काम में लाने के लिए प्रोत्साहन मिल सकता है और इसके साथ उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूंजीगत उत्पादन को भी बढ़ावा मिल सकता है भले ही उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बहुत धीरे-धीरे बढ़ रही हो। यह एक काल्पनिक सम्भावना है। उपभोग की रुकावट और ब्याज की दर में कमी, दोनों के प्रभाव प्रतिकूल होते हैं अतः हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते कि परिणाम क्या होगा। शायद इससे भी अधिक कठिनाई तब पैदा होती है जब यह पूछा जाता है कि उपभोग से अभिप्राय क्या है। जैसा कि हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं, समृद्ध औद्योगिक समुदायों में भी कुल नियत निवेश का केवल लगभग ३० प्रतिशत विनिर्माण-उद्योग और कृषि में जाता है, और इस प्रकार दुकानों में इन वस्तुओं की खपत से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। लगभग ६० प्रतिशत मकानों, लोकोपयोगी सेवाओं तथा सार्वजनिक निर्माणों में जाता है। इनकी मांग या इनमें निवेश की मांग का दुकानों में उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री से कोई निकट का सम्बन्ध नहीं होता, इसका कारण यही है कि ये दीर्घकालीन निवेश होते हैं और काफी अरसे के बाद इनमें पूंजी की जरूरत पड़ती है। ये निवेश भी अत्यधिक पूंजी-प्रधान होते हैं और इनमें पूंजी आय अनुपात विनिर्माण और कृषि के पूंजी-आय

अनुपात का पाँच या छः गुना होता है। और इस कारण ब्याज की दर के परिवर्तन का इस पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अब मितव्ययिता में वृद्धि होने से विनिर्माण में निवेश कम हो जाना और मकानों, लोकोपयोगी सेवाओं तथा सार्वजनिक निर्माणों में उसकी तुलना में निवेश घट जाना काफी तर्कसंगत लगता है। सिद्धान्त रूप से यह सम्भव है कि मितव्ययिता बढ़ने से निवेश को धक्का लगेगा परन्तु इतनी ही सम्भावना इस बात की भी है कि इससे निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा।

बचत-स्तर अत्यधिक बढ़ जाने की सम्भावना पर उन देशों का विचार करना चाहिए जिनके पास पहले से ही इतनी बड़ी मात्रा में पूँजी है कि उस पूँजी को लगाने के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं है, और इस बात का खतरा है कि निवेश के अवसरों का अभाव कहीं हमेशा ही न बना रहे। यह पूछा जा सकता है कि क्या ऐसे कोई देश हैं, क्योंकि सर्वाधिक धनी देश भी मकानों, सवारी-साधनों और अस्पतालों आदि के सम्बन्ध में अपनी इच्छा के अनुसार लगातार उसका स्तर ऊँचा उठा रहे हैं। इसके साथ ही वे नयी-नयी उपभोक्ता-वस्तुओं का और उत्पादन की नयी पद्धतियों का आविष्कार कर रहे हैं, जिनमें नयी पूँजी लगानी पड़ती है। ऐसे देशों की समस्या पर हम आगे (इस अध्याय के खण्ड ३ (घ) में) विचार करेंगे। कम विकसित देशों में ऐसा कोई खतरा नहीं है। इसके विपरीत यदि रुपया मिल सके तो निजी व्यक्ति तो निवेश के इच्छुक हैं ही, साथ ही सड़कों, जल-सम्भरण, बाढ़ नियन्त्रण, सिंचाई, बिजली, कारखानों, स्कूलों, मकानों अस्पतालों पर खर्च करने की अनेक प्रायोजनाएं भी सरकारों के हाथ में हैं। कम विकसित देशों में माँग की कमी निवेश में बाधक नहीं है बल्कि पैसा लगाने के लिए बचत ही थोड़ी है। इन देशों में कई दशाब्दियों तक राष्ट्रीय आय के लगभग १० प्रतिशत निवल का सार्वजनिक निवेश लाभप्रद ढंग से किया जा सकेगा। परन्तु लोग केवल ४ या ५ प्रतिशत बचत करना चाहते हैं। अब यदि बचत और निवेश के अन्तर को पूरा करने के लिए मुद्रा बनाई जाए, तो जिनके पास यह मुद्रा पहुँचेगी वे इसका अधिकांश भाग उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च कर देंगे, और स्फीति की प्रवृत्ति पैदा हो जाएगी। परन्तु इसके विपरीत यदि लोग स्वेच्छा से ही काफी बचत करेंगे तो बिना स्फीति के अधिकाधिक निवेश किया जा सकेगा। अधिक विकसित देशों के मामले में चाहे जो भी बात हो, परन्तु कम विकसित देशों में अधिकाधिक निवेश के रास्ते में कठिनाई यह है कि लोगों में बचत की प्रवृत्ति बहुत ही कम है।

कुछ लोगों का विचार है कि इन देशों में रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए निवेश की इतनी अधिक आवश्यकता है कि स्फीति का सकट मोल

लेकर भी निवेश किया जाना चाहिए। अतः यह जानने के लिए आगे और विश्लेषण करना आवश्यक है कि यदि स्वेच्छा से की गई बचत में अधिक राशि का निवेश किया जाए तो क्या परिणाम होगा।

सामान्य शब्दों में इसका उत्तर यही है कि द्रव्य के रूप में आय लगातार बढ़ती रहेगी जब तक कि वह उस स्तर पर नहीं पहुँच जाएगा जहाँ बचत और निवेश बराबर हो जाए। प्रस्तुत विश्लेषण का उद्देश्य यह पता लगाना है कि इस सन्तुलन बिन्दु पर कैसे पहुँचा जा सकता है, इसमें कितना समय लगता है और इस बीच की अवधि में कीमतों तथा उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

आइए हम सबसे पहले उत्पादन की बात लें। हमें इन दो बातों का अन्तर समझ लेना चाहिए कि इस प्रक्रिया से निर्माण किए गए नए पूंजीगत सामान जब लाभ देने लगते हैं तो तुरन्त क्या प्रभाव पड़ता है और कालान्तर में क्या प्रभाव पड़ता है। नए पूंजीगत सामान से होने वाला उत्पादन एक-सा ही होता है चाहे उसमें बचत का धन लगाया गया हो या नया द्रव्य बना करके लगाया गया हो। कीमत पर भी इसका प्रभाव समान है, अर्थात् इससे कीमत गिर जाती हैं। इस प्रसंग में उपयोगी पूंजीगत सामान के निर्माण के प्रयोजन से उत्पन्न की जाने वाली स्फीति तथा अन्य प्रकार की स्फीतियों में महत्त्वपूर्ण अन्तर माना जाना चाहिए। इनमें से अधिकांश लोग स्फीति का सम्बन्ध युद्ध जनित स्फीति से समझते हैं, जिसका उद्देश्य बाजार में माल न जाने देकर उन्हें विनाशकारी कामों में लगा देना होता है। ऐसी स्फीति का सामयिक प्रभाव और भी अधिक खराब हो सकता है, क्योंकि एक ओर धन की सप्लाई बराबर बढ़ती रहती है और दूसरी ओर माल की सप्लाई की दशा बराबर खराब होती जाती है। इसके विपरीत लाभप्रद पूंजी तैयार करने के प्रयोजन से की गई स्फीति ऐसा होती है जो अपने आप ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि इसके फलस्वरूप जल्दी ही या कुछ समय बाद बाजार में माल की सप्लाई बढ़ जाती है। जिन उद्यमों में इस प्रकार धन लगाया गया हो, उनकी प्रकृति पर ही यह निर्भर होता है कि उत्पादन कितने कम समय में और कितनी मात्रा में होगा। यदि स्कूलों या इमारतें बनवाने के कार्यक्रम में इस तरह धन लगाया जाएगा तो काफी अरसे तक कमी बनी रहेगी, और बाद में भी जब अधिक बच्चे स्कूल से पढ़कर निकलने लगेंगे तो इसके फलस्वरूप कीमतों में विशेष कमी नहीं होगी। परन्तु यदि देहातों में पानी एकत्र करने सम्बन्धी ऐसी योजनाओं पर नया धन खर्च किया जाए जिनके तैयार होने में केवल कुछ ही महीने लगें और लागत बहुत थोड़ा बैठे और इस जल से भावी फसलों का उत्पादन दूना हो जाए, तो स्फीति के कारण कीमतों में बहुत थोड़ी वृद्धि होगी और उसके बाद उत्पादन बढ़ने के कारण लाभ हो सामने पड़ने में न आ सकेगा कम

हो जाएँगी।

स्मरण रहे कि लाभदायक पूँजी का निर्माण करने के प्रयोजन से की गई स्फीति अन्ततोगत्वा स्वयं समाप्त हो जाती है। साथ ही इस बात पर भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है कि नयी पूँजी से लाभ मिलना शुरू होने से पूर्व की अन्तरिम अवधि में इसका क्या प्रभाव होता है। इस अवधि में उत्पादन पर, और परिणामस्वरूप कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि क्या अर्थ-व्यवस्था में कोई ऐसे निष्क्रिय साधन हैं जिनका उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए आसानी से किया जा सकता हो। औद्योगिक देशों में गिरावट के ज़माने में कारखाने बन्द हो जाते हैं और मजदूर बेकार हो जाते हैं। जब निवेश बढ़ा दिया जाता है तो नौकरी में लगाये गए लोग अपनी आय का एक भाग उपभोक्ता-वस्तुएँ खरीदने में खर्च करते हैं, जिससे उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादकों को अधिकाधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है। इससे रोजगार बढ़ता है, और फिर यह प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है। परन्तु कम विकसित देशों में अवस्था इससे भिन्न होती है। वहां उपयोगी उपस्करों से सुसज्जित ऐसी फैक्ट्रियाँ नहीं मिलेंगी जो निष्क्रिय हों, और यदि होंगी भी तो इक्का-दुक्का ही, और माँग का थोड़ा-सा दबाव पड़ते ही वे अधिकतम उत्पादन करने लगेंगी। इनमें से कुछ देशों में—विशेषतया अफ्रीका में—इस दृष्टि से बेरोजगारी बहुत कम है कि यदि प्रचलित मजदूरी पर रोजगार दिया जाए तो लोग आसानी से मिल जाएँगे। कुछ अन्य देशों में, विशेषतया एशिया में, प्रायः देहातों में जनसंख्या की अधिकता है, परन्तु सारी जनसंख्या को रोजगार दे सकने लायक उपस्कर नहीं हैं। यदि अधिक धन का सञ्चालन कर दिया जाए तो इससे कृषि और दस्तकारी-उद्योग का उत्पादन थोड़ा-सा बढ़ जाएगा, परन्तु बहुत ही जल्दी ये अपनी क्षमता के अनुसार अधिकतम उत्पादन करने लग जाएँगे, और द्रव्यरूपी आय में और अधिक वृद्धि करने पर उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने के बजाय कीमतें ही बढ़ेंगी।

जिन अर्थ-व्यवस्थाओं में खाद्य का उत्पादन करने के लिए भूमि न होने के कारण या वस्तुओं का विनिर्माण करने के लिए मशीनें न होने के कारण उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया नहीं जा सकता, उनमें भी भूमि या उपस्कर को अन्य कामों से हटाए बिना ही बेकार श्रमिकों को लगाकर कुछ विशेष प्रकार की पूँजी का निर्माण कराना सम्भव है। हम देख चुके हैं कि निर्माण-कार्य के रूप में लगभग ५० से ६० प्रतिशत तक नियत पूँजी लगी होती है। कई प्रकार का निर्माण-कार्य वस्तुतः बिना किसी दुर्लभ उपस्कर के हाथ द्वारा किया जा सकता है—पिरामिडों के निर्माण से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बनी रेलवे की लम्बी सुरंगें इसके उदाहरण हैं। किसी अन्य वस्तु का

उत्पादन घटाए बिना ही बेशी श्रमिकों का उपयोग सड़कों, सिंचाई की नहरों, पानी के तालाबों, मकानों तथा अन्य प्रकार के निर्माण-कार्यों में किया जा सकता है और इनमें से कुछ निर्माण-कार्यों से—विशेषतया खेतों की सिंचाई तथा भूमि को कृषि योग्य बनाने सम्बन्धी कार्यों से—शीघ्र और पर्याप्त मात्रा में लाभ होता है। अतः एक दृष्टि से बेशी श्रमिक वाले देशों की स्थिति उन देशों से अधिक अच्छी होती है, जिनमें बेशी श्रमिक नहीं होते। इसका कारण यह है कि जिन देशों में बेशी श्रमिक नहीं हैं उनमें उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में लगे मजदूरों को वहां से हटाए बिना पूंजी-निर्माण का काम नहीं बढ़ाया जा सकता, जबकि बेशी श्रमिकों वाले देश अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर बिना कोई दुष्प्रभाव डाले पूंजी-निर्माण बढ़ा सकते हैं।

ऐसे बेशी श्रमिकों के इस्तेमाल किए जाने के रास्ते में बाधा अचल पूंजी की कमी नहीं, बल्कि कार्यकर पूंजी की कमी है। यदि सिंचाई की किसी नहर की खुदाई में लगे मजदूरों को मजदूरी दी जाएगी, तो वे बाजार में जाकर उससे सामान खरीदेंगे। इस प्रकार द्रव्य की मात्रा तो बढ़ जाएगी लेकिन उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में उसी हिसाब से वृद्धि नहीं होगी। अतः कीमतें बढ़ने लग जाएंगी। मांग बढ़ जाने, और कीमतें बढ़ने से उपभोक्ता-वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे भुगतान-शेष पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, और यदि आयात और निर्यात पर कड़ा नियन्त्रण लगाकर इस प्रभाव को रोका न गया, तो परिणाम यही होगा कि देश में सचलित मुद्रा की मात्रा बढ़ जाएगी और इस प्रकार देश के भीतर कीमतों पर अधिक दबाव पड़ेगा।

कीमतों में इस वृद्धि का कारण और प्रभाव उपभोक्ता वस्तुओं का शेष अर्थ-व्यवस्था से हरण करके रोजगार में लगाये गए नये लोगों में पुनर्वितरण करना है। रोजगार में लगाये गए नये लोग पहले किसी तरह गुजारा कर रहे थे, हो सकता है कि अपने रिश्तेदारों के सहारे रह रहे हों। अब उनकी आर्थिक दशा पहले से अच्छी है (अन्यथा शायद उन्होंने यह रोजगार स्वीकार ही न किया होता), अतः अन्य लोगों की हालत निश्चय ही पहले से कम अच्छी होगी, क्योंकि उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई है। अतः कीमतों की वृद्धि तथा कराधान दोनों का प्रभाव एक-जैसा ही होता है। यदि सरकार सम्पूर्ण समुदाय पर कर लगा दे और उससे होने वाली आय को सिंचाई की नहर पर काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी पर खर्च करे, तो भी कीमतें बढ़े बिना परिणाम बिलकुल वैसा ही होगा। स्फीति और कराधान में किसको पसन्द किया जाए इसका निर्णय राजनीतिक आधार पर किया जाता है। सरकारें स्फीति का सहारा तभी लेती हैं जब वे देखती हैं कि इस प्रकार धन इकट्ठा करने में कराधान द्वारा उतना ही धन इकट्ठा करने की अपेक्षा

राजनीतिक कठिनाइयाँ कम हैं।

बिना स्फीति या कराधान के पूंजीगत निर्माण-कार्य कराने का एक दूसरा तरीका यह भी है कि लोगों को बिना मजदूरी काम करने के लिए राजी कर लिया जाए। हम देख चुके हैं (अध्याय ५ खण्ड २ (क)) कि ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा किया जाना व्यावहारिक है यदि वे काम पूर्णतः स्थानीय हित के हों और गांव के लगभग हर व्यक्ति को उनसे लाभ होने वाला हो। इसी बात नहीं है कि ऐसे कार्यों में सरकार को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। पहली बात तो यह है कि इस प्रयोजन के लिए प्रशासनिक व्यवस्था करनी होती है जिसका काम गांव में इन निर्माण-कार्यों के लिए प्रचार करना होता है, गांव के लोग जो कुछ करना चाहते हैं उस पर विचार विमर्श और उसकी योजना तैयार करने के लिए उन्हें संगठित करना होता है, काम का पर्यवेक्षण करना होता है और इन कामों से प्रभावित होने वाले अन्य सब सरकारी विभागों से सम्बन्ध बनाए रखना होता है (सामुदायिक विकास की दिशा में काम करने के लिए विशेष रूप से कर्मचारी रखे बिना कभी अधिक सफलता नहीं मिलती)। दूसरी बात यह है कि आम तौर से सरकार को ऐसे कच्चे माल का प्रबन्ध करना होता है जो वहां स्थानीय रूप से न मिल सकता हो, और साथ ही कारीगरों तथा अन्य तकनीकी सहायता के लिए भी धन खर्च करना होता है। देखा गया है कि इस प्रकार किये गए कामों में सरकार को उसकी पूरी लागत का ३० से ५० प्रतिशत तक खर्च करना पड़ता है, और शेष ५० से ७० प्रतिशत की पूर्ति श्रमिकों के मुफ्त काम से होती है। इन प्रयत्नों का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि इनमें लगी पूंजी से उत्पादन में वृद्धि होती है और हम स्फीति तथा कराधान दोनों से बचे रहते हैं बल्कि कई कारणों से इनका महत्त्व और भी अधिक है। ये काम इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं कि ये देहातों में सामुदायिक भावना को बढ़ावा देते हैं और गांववासियों में यह भावना पैदा करते हैं कि वे स्वतः अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। यह एक ऐसी भावना है कि यदि एक बार पैदा हो जाए तो अन्य अनेक दिशाओं में भी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। आयोजना तैयार करने का भी यह सर्वोत्तम ढंग है, क्योंकि गांव वालों को सामुदायिक आधार पर काम करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, उनको अपनी पसन्द की आयोजना पर काम करना होता है, इसके विपरीत सरकार के केन्द्रीय स्तर पर तैयार की गई तथा सरकारी सान्चे पर बनायी गई आयोजनाओं में चाहे दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों की बिल्कुल उपेक्षा न की गई हो परन्तु कम-से-कम जनता की वास्तविक जरूरतें उनमें प्रायः पूरी नहीं होतीं। सामुदायिक विकास से उनकी जरूरत के अनुसार सारे साधनों के लगाए जाने का पुनः समर्थन किया जा सकता है, परन्तु दूसरी ओर यह भी

समझ लेना चाहिए कि पूंजी-निर्माण में इससे मिलने वाला अंशदान बिलकुल सीमित ही होगा, क्योंकि लोग केवल उन्हीं आयोजनाओं पर काम करेंगे जो बिलकुल स्थानीय हित की होंगी। अतः इस उपाय को बड़े स्तर पर पूंजी-निर्माण के अन्य उपायों के स्थानापन्न के रूप में नहीं माना जा सकता। बिना मजदूरी दिये काम कराना उन देशों में भले ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाए जहाँ अनिवार्यतः काम लेने की प्रथा प्रचलित हो परन्तु अन्य देशों में इसकी अधिक गुंजाइश नहीं है।

द्रव्य बनाकर पूंजी-निर्माण करने सम्बन्धी उपर्युक्त धारणा के आधार पर ही अब हम उससे पैदा होने वाली स्फीति के परिणामों पर विचार करेंगे। हम देखेंगे कि पहला परिणाम यह होगा कि भुगतान-शेष प्रतिकूल हो जाएगा। यदि आयातों पर नियन्त्रण रखे बिना स्फीति को चालू रखा जाएगा, तो विदेशी मुद्रा की रक्षित निधियाँ बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाएँगी। निर्यात पर भी नियन्त्रण रखना जरूरी होगा यदि ऐसा न किया गया तो देश के अन्दर बढ़ती हुई माँग के कारण निर्यात की जा सकने वाली चीजें देश के भीतर ही खप जाएँगी। यदि निर्यात की वस्तुएँ ऐसी हों, जो देश के भीतर उपभोग में नहीं आतीं (रबर और कोको) तो यह कठिनाई नहीं पैदा होगी, परन्तु यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उपभोग देश के अन्दर भी किया जाता हो (चावल, कपास, तिलहन) तो स्थिति बड़ी चिन्तनीय हो जाएगी। निर्यात पर नियन्त्रण लगाना कोई सरल काम नहीं है, क्योंकि इसमें लाइसेंस और अधिग्रहण का झंझट होता है। बड़ी फैक्टरियों या बागानों पर इस प्रकार की शर्तें लागू करना आसान है पर हस्तशिल्पियों या किसानों पर लागू करना आसान नहीं है। इसके अलावा देश के भीतर कीमतें बढ़ने से निर्यात-व्यापार में भी कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। यदि कोई देश प्रतियोगिता के आधार पर निर्यात कर रहा हो, तो उसकी स्फीति के कारण संसार की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उस देश का उत्पादन संसार के उत्पादन का एक छोटा-सा भाग ही होता है और विश्व की कीमतों की तुलना में देश की उत्पादन-लागत बढ़ने के साथ उसका निर्यात घट सकता है। निर्यात के लिए निर्यात-उपदान जैसे अनेक उपाय किये जा सकते हैं, परन्तु बड़ी मात्रा में हुई स्फीति का अन्तिम परिणाम मुद्रा-अवमूल्यन ही होता है। किसी छोटे देश के लिए इसका कोई प्रतिकूल महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके व्यापार पर मुद्रा अवमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता और क्योंकि उसकी विदेशी परिसम्पत्तियों और देनदारियों का मूल्य सामान्यतया विदेशी मुद्रा के रूप में नियत होता है, परन्तु किसी बड़े देश के लिए अवमूल्यन अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। निर्यात-सम्बन्धी इन कठिनाइयों के अलावा पूंजी के समुद्र पार जाने पर

रोक लगाने की भी जरूरत है, स्फीति के कारण लोगों में घरेलू मुद्रा की बजाय विदेशी मुद्रा रखने के लिए प्रोत्साहन पैदा होता है, क्योंकि उन्हें घरेलू मुद्रा के अवमूल्यन का भय रहता है। इन सब बातों पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी मुद्रा की स्थिति पर ऐसा कोई पूर्ण नियन्त्रण रखना अत्यधिक कठिन है कि भुगतान शेष पर मुद्रा-स्फीति का कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पाए। पर कुछ देश अन्य देशों की तुलना में अधिक आसानी से स्थिति को सँभाल लेते हैं।

यह मानते हुए कि भुगतान-शेष की स्थिति खतरे नहीं होने दी जाती हम अपना विश्लेषण जारी रखते हैं। इसके बाद हम देखते हैं कि कुछ कम विकसित देशों में उत्पादन को स्थिर रखते हुए कीमतों पर दबाव डाले बिना थोड़ी-बहुत मुद्रा बढ़ाई जा सकती है। यह उस अर्थ-व्यवस्था में सम्भव है जिसमें मुद्रा-प्रणाली का अभी विस्तार हो रहा होता है अर्थात् गुज़ारे के लायक उत्पादन या अदल-बदल की प्रणाली के स्थान पर मुद्रा का उपयोग बढ़ रहा होता है। लोगों को लेन-देन के लिए जितनी मुद्रा की और जरूरत होती है उतनी मुद्रा कीमतों पर दबाव डाले बिना ही बढ़ाई जा सकती है। इसी प्रकार किसी भी ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें उत्पादन बढ़ रहा हो, कीमतों को बढ़ाए बिना अधिक मुद्रा-संचलन में लाई जा सकती है—उत्पादन बढ़ने का कारण चाहे जनसंख्या बढ़ना हो, या कृषि के अधीन अधिक भूमि का आ जाना हो, या उत्पादन-क्षमता का बढ़ जाना हो। हर ऐसी अर्थ व्यवस्था में, जिसमें आर्थिक विकास हो रहा हो, लोगों का अधिक धन रखने की जरूरत होती है, अतः सरकार कीमतों को बढ़ाए बिना अधिक मुद्रा चला सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से धन का यह स्रोत वस्तुतः बहुत बड़ा नहीं है। सक्रिय संचलन की मुद्रा और राष्ट्रीय आय का अनुपात हमेशा एक से काफी कम ही रहता है। अतः चाहे विनिमय-व्यवस्था के अन्तर्गत किया गया उत्पादन प्रतिवर्ष २ प्रतिशत की दर से बढ़ रहा हो, परन्तु कीमतों पर दबाव डाले बिना राष्ट्रीय आय के लगभग १ प्रतिशत से अधिक भाग को निवेश में नहीं लगाया जा सकता।

निवेश में पैसा लगाने के लिए यदि इससे अधिक मुद्रा का सृजन किया गया तो निवेश की मात्रा बचत से अधिक हो जाएगी। ऐसी अवस्था में मुद्रा-रूपी आय तब तक लगातार बढ़ती जाएगी, जब तक कि बचत निवेश के बराबर नहीं हो जाती। इस नये सन्तुलन तक पहुँचने में जितना समय लगेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि बचत की मात्रा का सम्बन्ध मुद्रा रूपी आय से है या वास्तविक आय से है। यदि बचत का सम्बन्ध केवल वास्तविक आय से है, तो मुद्रा रूपी आय में वृद्धि करके बचत नहीं बढ़ायी जा सकती। अतः जब तक नए पूँजीगत पदार्थों की सहायता से उपभोक्ता-पदार्थों की वृद्धि नहीं

होने लगता तब तक इस सन्तुलन पर नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु यदि स्फीति के फलस्वरूप बचत न करने वाले वर्ग को आय बचत करने वाले वर्ग को मिलने लगती है तो वास्तविक आय में कोई वृद्धि हुए बिना और नयी उप भोग्य-वस्तुओं के बाजार में आने से पहले ही सन्तुलन तक पहुँचा जा सकता है।

इसलिए हम इस बात पर और अच्छी तरह से विचार करें कि बाजार में आने वाली उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन न बढ़ने पर भी स्फीति का अपने आप ही समाप्त हो जाने की क्या सम्भावना हो सकती है। इस दृष्टिकोण से सबसे अधिक उपयुक्त स्थिति इस प्रकार समझाई जा सकती है। मान लीजिए किसी नदी पर बाँध बनाने और सिंचाई की नहर बनाने के लिए सरकार बेरोजगार लोगों को नौकरी पर लगा लेती है। ये लोग अपनी मजदूरी के पैसों से बाजार में सामान खरीदते हैं। इसके परिणामस्वरूप कीमत बढ़ जाती है। यदि हम यह मान लें कि इसका एकमात्र परिणाम यह होता है कि लाभों में वृद्धि हो जाती है और लाभ की सारी रकम दबाकर रख ली जाती है या इससे सरकारी बाण्ड खरीद लिए जाते हैं तो स्फीति समाप्त हो जाएगी। निवेश की गई राशि के बराबर कीमतें बढ़ी हैं लेकिन साथ ही बचत में भी उतनी ही वृद्धि हुई है और इसीलिए निवेश की प्रक्रिया चलती रहने पर भी कीमतें और नहीं बढ़ेंगी। यह एक सन्तुलन अवस्था है। इसी उदाहरण का दूसरा चरम अवस्था दिखाने के लिए हम यह मानना होगा कि कीमतों के बढ़ने से समाज के सब लोग अपनी वास्तविक आय तथा उपभोग में कोई परिवर्तन न होने देने के लिए अधिक मजदूरी, वेतन और ब्याज की माँग करने लगते हैं और उनकी माँग मान भी ली जाती है। ऐसी स्थिति में तब तक सन्तुलन तक नहीं पहुँचा जा सकता जब तक उपभोग्य-वस्तुओं का नया उत्पादन बाजार में उपलब्ध नहीं हो जाता क्योंकि स्फीतिक प्रक्रिया के फलस्वरूप धन बचाने तथा उसे दबाकर रखने वाले वर्ग को बढ़ी हुई आय के रूप में स्थान मुद्रा नहीं पहुँच पाती।

इसका अर्थ यह हुआ कि व्यावहारिक रूप में मुद्रास्फीति का सीमित रहना इन बातों पर निर्भर होता है—(क) मुद्रास्फीति से बचत करने वाले वर्ग की आय बढ़ती है अथवा नहीं, (ख) इस वर्ग के लोग इस बचत का क्या करते हैं, (ग) कितनी जल्दी उपभोग्य वस्तुओं का नया उत्पादन उपलब्ध हो जाता है।

जहाँ तक ऊपर (क) का सम्बन्ध है आम तौर से मुद्रास्फीति का लाभ उद्यमकर्ता-वर्ग, किरायेदार और कुछ मामलों में सरकार को मिलता है। उद्यम कर्ताओं के लाभ का कारण यह है कि जो वस्तुएँ वे बेचते हैं उनकी कीमत मजदूरी, वेतन, किराया, डिबेंचर ब्याज, पेंशन तथा अन्य कुछ खर्चों की अपेक्षा

में अधिक तेजी से बढ़ती हैं। किसानों को इसलिए लाभ होता है कि अन्य कीमतों की तुलना में खाद्यान्नों की कीमतें अधिक तेजी से बढ़ती हैं क्योंकि उनकी मांग मूल्य-निरपेक्ष होती है। किसान और उद्यमकर्त्ता समाज के अन्य वर्गों के लोगों की तुलना में अधिक मितव्ययी होते हैं, इसलिए मुद्रास्फीति से बचत में वृद्धि अवश्य होती है। इससे विपरीत धारणा वाले लोगों पर ही लागू होती है। इनके अनुसार मुद्रास्फीति से वेतन भोगी मध्यवर्ग की बचत कम हो जाती है, क्योंकि इससे उनकी वास्तविक आय घट जाती है। कुछ तो इस आधार पर और कुछ इस कारण कि दूसरे वर्गों की तुलना में मध्यवर्ग के अन्दर अपनी बात को दूसरों के सामने रखने का माद्दा अधिक होता है यह बहुत सुनने में आता है कि मुद्रास्फीति के कारण बचत कम हो जाती है। परन्तु हमेशा ऐसा नहीं होता। मध्यवर्ग की वास्तविक आय में जितनी कमी होती है, उद्यमकर्त्ता और किसान-वर्ग की वास्तविक आय में उतनी ही वृद्धि हो जाती है, और मध्यवर्ग की अपेक्षा उद्यमकर्त्ता व किसान-वर्ग में बचत करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस बात पर विचार करना भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकारी बचतों पर स्फीति का क्या प्रभाव पड़ता है। सरकारी राजस्व पर पड़ने वाला प्रभाव भिन्न-भिन्न मामलों में अलग-अलग होता है। यह इस बात पर निर्भर है कि करों के रूप में ली गई आय का सीमान्त अनुपात करों की औसत आय से अधिक है या कम। यदि सीमान्त कराधान औसत कराधान से बढ़ जाए, तो मुद्रा-रूपी आय बढ़ने से करों के रूप में वसूल की गई राष्ट्रीय आय का हिस्सा बढ़ने लगता है, इस प्रकार अपने खर्चों को चलाने के लिए मुद्रा-विस्तार का श्रीगणेश करने वाली सरकार अन्त में एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाती है जहाँ उसका राजस्व इतना अधिक बढ़ जाता है कि मुद्रा और बढ़ाए बिना ही खर्च के वर्तमान स्तर को कायम रखा जा सकता है। अनेक आधुनिक सरकारें इस अवस्था में पहुँच चुकी हैं (जैसे ब्रिटेन, अमरीका और रूस), इसके विपरीत अन्य बहुत से देशों में स्फीति के कारण मुद्रा-रूपी आय जिस प्रकार बढ़ती है, सरकारी आय में तदनुरूप वृद्धि नहीं हो पाती। इसका परिणाम यह होता है कि स्फीति के कारण सरकार का घाटा कम होने की बजाय बढ़ता चला जाता है।

जहाँ तक प्रश्न (च) का सम्बन्ध है, यद्यपि स्फीति से बचत बढ़ जाती है, परन्तु जब तक बचतों का निवेश नहीं किया जाता या स्फीति पैदा करने वाले निवेश में लगाने के लिए अधिक नयी मुद्रा के बदले इस बचत का उपयोग नहीं किया जाता, तब तक स्फीति समाप्त नहीं होती। यदि उद्यमकर्त्ता अपने नये लाभ को नये निवेश में लगा दें, जैसी उनकी प्रवृत्ति होती है, तो पूंजी-निर्माण के लिए यह बहुत ही अच्छा है, परन्तु इससे स्फीति बनी रहती है।

इसके विपरीत यदि वे अपने लाभ से सरकारी बाण्ड खरीद लें तो अपने कार्य-क्रम में पैसा लगाने के लिए सरकार को नयी मुद्रा बनाने की जरूरत नहीं रहेगी। (अगर स्फीति उद्यमकर्त्ताओं द्वारा बैंकों से लिये गए ऋण के कारण पैदा हुई हो तो वह तभी समाप्त हो सकती है जबकि स्फीति में लाभ कमाने वाले उद्यम-कर्त्ता अपने लाभ को बैंक के ऋण अदा करने में खर्च करें या उसे निसंचित कर या उनसे नया निवेश करने वाले उद्यमकर्त्ताओं के ऋणपत्र खरीद लें)। किसान अपने लाभ का धन ऋण चुकाने और अधिक भूमि खरीदने में लगाता है अतः इसका प्रभाव इस बात पर निर्भर होता है कि साहूकार और जमीन बेचने वाले इस धन का क्या इस्तेमाल करते हैं। साहूकार सम्भवतः धन निस-चित करते हैं और लाभप्रद समय (अर्थात् वह समय जब किसानों को पुनः धन की कमी पड़ती है) की प्रतीक्षा करते हैं जबकि भूमि बेचने वाले उस धन का उपयोग कई प्रकार से कर सकते हैं। यदि सरकार व्यय का (वास्तविक) नया उच्च स्तर बनाए रखते हुए स्फीति को जल्दी-से जल्दी समाप्त करना चाहती है, और यदि वह बचत करने वालों की निसंचित बचतों पर निर्भर नहीं कर सकती, तो उसे चाहिए कि कर लगाकर या सरकारी बाण्डों के लिए अनुकूल शर्तें प्रस्तुत करके किसी तरह से बचतों को अपने कब्जे में कर ले।

इसी प्रकार बैंक उधार भी निरन्तर बढ़ते रहने के बजाय बीच बीच में संकुचित कर दिया जाता है। इस प्रकार नयी मुद्रा का प्रसार मुद्रा-स्फीति पैदा किये बिना और मुद्रा के सरकारी कोष्ठों में जनता का विश्वास गिराए बिना पूंजी निर्माण के काम में योग दे सकता है। अनुकरणीय पद्धति यह है कि यदि पूंजी निर्माण के लिए स्फीति का उपाय अपनाना हो तो लगातार न करके समय समय पर थोड़ी थोड़ी मात्रा में मुद्रा प्रसार किया जाए।

जहाँ तक ऊपर (ग) का सम्बन्ध है हम देख चुके हैं कि लाभप्रद पूंजी के निर्माण हेतु की गई स्फीति अपने आप ही समाप्त हो जाती है क्योंकि कुछ समय के बाद नयी पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में नयी उपभोक्ता वस्तुएं पैदा करती है जिससे या तो कीमतों की वृद्धि रुक जाती है या कीमतें कम हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त वास्तविक उत्पादन में होने वाली इस वृद्धि से बचत में वृद्धि हो सकती है और इस प्रकार हुई बचत से निवेश का अंश पहले से ऊंचा स्तर बनाये रखा जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वास्तविक उत्पादन बढ़ने से बचत भी बढ़े क्योंकि बचत की मात्रा प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय के स्तर से नहीं बल्कि आय के वितरण से सम्बन्धित है। इस बात पर यहां अधिक चर्चा करने की जरूरत नहीं है क्योंकि आगे चलकर बाद में हम बचत के कारणों पर विचार करेंगे।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि पूंजी निर्माण के लिए स्फीति का सहारा लेना हो तो स्फीति थोड़े थोड़े क्रम से बाद और थोड़ी थोड़ी मात्रा में ही की जानी चाहिए। साथ ही यह भी अनुकरणीय है कि स्फीति का सहारा केवल उस निवेश के लिए ही लिया जाना चाहिए जिसे जल्दी से पूरा किया जा सके और साथ ही जो बहुत उत्पादक हो। इस बात का समर्थन आसानी से किया जा सकता है कि नयी मुद्रा को किसी ऐसी कृषि विस्तार योजना पर खर्च किया जा सकता है जिससे अधिक उत्पादन के लिए नयी तकनीकी ज्ञान का प्रसार हो या सिंचाई के छोटे साधनों पर खर्च किया जा सकता है जिसमें नदियों पर कोई दीर्घकालीन या बहुत अधिक सामान का निर्माण कार्य न करना पड़े या अगर सफाई, नहर-व्यवस्था और भूमि को समतल बनाने वाली छोटी योजनाओं पर खर्च किया जा सकता है जिससे नये उपजाऊ क्षेत्र को शीघ्र ही खेती के योग्य बनाया जा सके। इसके विपरीत ऐसी योजनाओं में नयी मुद्रा को लगाना उपयुक्त नहीं होगा जिनमें काफी मात्रा में विदेशी मुद्रा की जरूरत हो। (जैसे फैक्टरियों के लिए मशीनरी की खरीद) या जिनके पूरा होने में बहुत समय लगे (जैसे बहुमुखी नदी घाटी योजनाएं) या जिनमें उत्पादन की तुलना में पूंजी का अनुपात बहुत अधिक हो। (जैसे रेल लाइनों का निर्माण)। यदि सोना चांदी इकट्ठी करके पूंजी निर्माण के कामों में लगाई

जाती है अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त विशेष रूप से अर्थपूर्ण नहीं है और यह बताना बेकार है कि कार्यक्रम की कौनसी योजनाएँ स्वेच्छा-बचत के पैसे से चल रही हैं और किनमें नयी मुद्रा बनाकर लगाई गई है। इसलिए बेहतर तरीका शायद यही है कि ऐसी किसी भी योजना में पैसा न लगाया जाए जिसमें उत्पादन को बढ़ाने हेतु अधिक लागत लगे या जिसके पूरे होने में बहुत समय लगे या जिसमें अधिक विदेशी मुद्रा की जरूरत हो। ऐसी स्थिति में सीमान्त योजनाएँ वे ही होंगी जो इस दृष्टि से सबसे कम वांछनीय होंगी, और निर्मित मुद्रा सदा इन्हीं सीमान्त योजनाओं में लगायी जाती है। परन्तु व्यवहार में ऐसी बात नहीं है। इन कसौटियों का ध्यान रखे बिना ही बहुत सी योजनाएँ निवेश-कार्यक्रम में रख दी जाती हैं (जैसे लोक-स्वास्थ्य-योजनाएँ, या उद्योगीकरण योजनाएँ), और किसी भी दृष्टि से यह बात सच नहीं है कि रद्द की गई योजनाएँ सम्मिलित योजनाओं की अपेक्षा अनिवार्य रूप से अधिक स्फीति पैदा करने वाली होती हैं। अतः पूंजी-निवेश का कार्यक्रम तैयार करते समय पहले तो यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इसके लिए मुद्रा-प्रसार नहीं करना पड़ेगा, और बाद में अगर कुछ स्फीति करना अनिवार्य दिखाई दे तो कार्यक्रम में ऐसी योजनाएँ सम्मिलित की जानी चाहिएँ जो पहले रद्द की गई योजनाओं में से सबसे कम स्फीति पैदा करने वाली हों। (स्फीति की बात छोड़कर, यदि अन्तिम परिणाम बराबर लाभप्रद हो तो ऐसे निवेशों को भी अमान्य नहीं कहा जा सकता जिनका लाभ मिलने में काफी समय लगने की सम्भावना हो। इन तथा अन्य निवेशों में से किसे चुना जाए यह बात ब्याज की दर पर ही निर्भर करती है।)

(ख) आन्तरिक साधन—इस अध्याय के पहले खण्ड में हम देख चुके हैं कि जिन समुदायों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ नहीं रही है वे प्रति वर्ष अपनी राष्ट्रीय आय का ४ या ५ प्रतिशत या इससे कम निवेश करते हैं, जबकि उन्नत देश प्रतिवर्ष १२ प्रतिशत या इससे अधिक निवेश करते हैं। आर्थिक विकास के सिद्धान्त में मुख्य समस्या उस प्रक्रिया को समझना है जिसके द्वारा ५ प्रतिशत बचत करने वाला कोई देश बढ़ते-बढ़ते १२ प्रतिशत बचत करने वाला बन जाता है—साथ ही उनकी प्रवृत्तियों, संस्थानों और टेक्नीकों में भी परिवर्तन हो जाता है।

आमतौर से इस परिवर्तन का कारण मितव्ययिता की वृद्धि और बचतों का अधिक लाभप्रद प्रयोग बताया जाता है। यह बात सच है कि मितव्ययिता बढ़ जाती है, लेकिन इससे यह अभिप्राय निकालना बहुत भ्रामक होगा कि समाज के सब वर्ग अधिक मितव्ययी या कम फिजूलखर्च बन जाते हैं। वस्तुतः मौलिक परिवर्तन तो समाज में एक नये वर्ग—लाभ कमाने वाले उद्यमकर्ता—

का उद्भव है, जो समाज के अन्य सभी वर्गों (ज़मींदार, मज़दूरी कमाने वाले किसान, वेतनभोगी मध्य वर्ग) की अपेक्षा अधिक मितव्ययी होता है और राष्ट्रीय आय में इस वर्ग का अंश अन्य सभी वर्गों की तुलना में अधिक होता है। निजी पूंजीवाद में इन उद्यमकर्त्ताओं ने निजी लाभ कमाया है और निजी लाभ में ही पुनः उसका निवेश कर दिया है जबकि रूस में वर्द्धमान लाभों को 'पण्यावर्त्त कर' के रूप में वसूल कर लिया गया है और बाद में सार्वजनिक कामों में पुनः निवेश कर दिया गया है। परन्तु दोनों ही मामलों में ५ प्रतिशत से बढ़कर १२ प्रतिशत बचत हो जाने की सारभूत विशेषता यह रही है कि राष्ट्रीय आय में लाभों की रकम बहुत बढ़ गई है।

लाभों का बढ़ना और आय के वितरण की असमानता बढ़ना अनिवार्य रूप से एक ही चीज नहीं है क्योंकि लाभों में वृद्धि होने के साथ किरायों से होने वाली आमदनी का सापेक्ष महत्व उतना ही कम हो सकता है। सच तो यह है कि आय का अत्यधिक असमान वितरण उन समुदायों में नहीं पाया जाता जहाँ बड़े लाभों वाली धनी अर्थ-व्यवस्थाएँ स्थापित हैं, बल्कि उन गरीब और जनाधिक्य वाली अर्थ-व्यवस्थाओं में पाया जाता है जहाँ किराए बहुत अधिक हैं। श्रीलंका या पोर्टोरिको में आय कमाने वाले लोगों में से ऊपर के १० प्रतिशत लोग कुल व्यक्तिगत आय का लगभग ४० प्रतिशत कमाते हैं, जबकि ब्रिटेन या संयुक्त राज्य अमरीका में ऊपर के १० प्रतिशत लोग कराधान से पहले, लगभग ३० प्रतिशत पाते हैं। ये आँकड़े कुछ भ्रामक हैं क्योंकि व्यक्तिगत आय के निर्धारण में कम्पनियों के अवितरित लाभों को सम्मिलित नहीं किया जाता। यदि अवितरित लाभों को सम्मिलित कर लिया जाए, तो हो सकता है कि दोनों स्थितियों में अधिक अन्तर न रह जाए। कुछ भी हो, आय के वितरण की असमानता के मामले में अधिक विकसित और कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच कोई सामान्य तुलना करना सम्भव नहीं है। स्वयं कम विकसित देशों में इस सम्बन्ध में बड़ा अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर इस बात पर निर्भर होता है कि उनमें भूमि की कमी है या बहुतायत है, भूमि बहुत से लोगों में बँटी हुई है या कुछ थोड़े-से लोग सारी भूमि के स्वामी हैं और खानों या बागानों-जैसे पूंजीवादी उद्यमों का पर्याप्त विकास हुआ है या नहीं। उधर अधिक विकसित देशों में भी आपस में बड़ा अन्तर पाया जाता है और व्यक्तिगत आय के वितरण में उनमें २० साल पहले की अपेक्षा आज कम असमानता (कराधान से पहले) पाई जाती है। (यद्यपि इसका मुख्य कारण यही है कि वितरित लाभों की अपेक्षा अवितरित लाभ बढ़ गए हैं।) इस तरह से हमारे निष्कर्ष की और भी पुष्टि हो जाती है कि इस मामले में अधिक विकसित और कम विकसित देशों में कोई असाधारण अन्तर नहीं है।

राष्ट्रीय आय और बचत का अनुपात केवल असमानता का ही परिणाम नहीं है, सच तो यह है कि यह राष्ट्रीय आय और नाना का परिणाम है।

किराये की आय अधिक होने से बचत नहीं होती क्योंकि भूस्वामी अभिजात-वर्ग अपनी आय को उत्पादक-निवेश में लगाने की बात नहीं सोचता—कम-से-कम तब तक तो सोचना ही नहीं जब तक कि अनुकरण करने के लिए कोई पूंजीवादी उदाहरण उसके सामने न हो। परम्परा के अनुसार किराये की आय को अधिकाधिक भूमि खरीदने, बहुत से नौकर-चाकर रखने (यदि केन्द्रीय सरकार कमजोर हो तो निजी सेना रखने), गिरजाघर, मन्दिर, मकबरे व स्मारक बनवाने, दान देने और जी खोलकर मनोरंजन करने पर खर्च किया जाता है। समय के साथ-साथ पूंजीवादी दबाव के कारण ये आदतें बदलती हैं, यदि किरायों पर कर लगा दिया जाए और लाभप्रद पूंजीवादी निवेश का उदाहरण सामने हो, तो जमींदार-वर्ग और भी अधिक मितव्ययी हो जाते हैं और उन्नत पूंजीवादी समाज में यह भी सम्भव है कि किराया उत्पादक निवेश के लिए बचत का एक साधन (एक सम्पूर्ण साधन ही सही) बन जाए। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब ऊपर बताई गई स्थिति पैदा हो जाए। अतः हम यह नहीं कह सकते कि जमींदारों में मितव्ययिता बढ़ने के कारण ही किसी समुदाय में ५ प्रतिशत से बढ़कर १२ प्रतिशत बचत होने लगी है।

किसान-वर्ग के बारे में भी यही बात है। इस वर्ग के लोगों में स्वभाव से ही मितव्ययी होने और ऋण लेने की प्रवृत्ति का विचित्र मिश्रण मिलता है। मितव्ययी वे इसलिए हो जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि कभी भी संकट के शिकार हो सकते हैं। कुछ देशों में तो शायद ही ऐसा कोई साल बीतता है जब बाढ़ या सूखा न पड़े, या टिड्डियों का आक्रमण न हो, या पशुओं की बीमारी न फैले, या अन्य कोई ऐसा ईश्वरीय प्रकोप न हो जिसके कारण केवल ऐसे कुछ किसानों को छोड़कर जो बुरे दिनों के लिए कुछ बचाकर रख लेते हैं, बाकी सब किसान बेघरबार हो जाते हैं। उनकी ऋण लेने की प्रवृत्ति का आधिक कारण बार-बार आने वाले ये संकट हैं। साथ ही, जो किसान कुछ धन बचाते हैं, वे या तो अधिक गरीब किसानों को ऋण देने में या भूमि खरीदने में उस धन को लगा देते हैं और दोनों में से किसी भी अवस्था में उनकी बचत से पूंजी-निर्माण में कोई वृद्धि नहीं होती। भूमि खरीदने से उसकी कीमत बढ़ जाती है और भूमि के वितरण में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु इससे भूमि की उत्पादन-शक्ति नहीं बढ़ती। यदि किसानों के पास भूमि हो तो वे भूमि को सुधारने में अपनी बचत लगा सकते हैं। परन्तु भूमि में सुधार करने की अधिकांश टेकनीकें (परती भूमि पर खेती करना, फसलों का हेर-फेर, वन लगाना, घास की पट्टी लगाना, भूमि के कटाव को रोकना) ऐसी हैं जिनमें

कारण उपज में अस्थायी रूप से कमी हो जाती है और जिन क्षेत्रों में भूमि पर पर्याप्त दबाव है वहाँ लाभप्रिय नहीं है। किसान पशुओं में भी निवेश करना चाहते है, परन्तु एशिया और अफ्रीका में अधिकतर किसान पशुओं को व्यापार की वस्तु नहीं मानते। अतः बहुत से मामलों में यह निवेश लाभ का साधन बनने की बजाय बोझ बन जाता है। किसानों की ऐसी सम्पूर्ण स्थिति और जमीन व पशुओं के प्रति उनके गैर-व्यावसायिक दृष्टिकोण को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि किसान जितना निवल पूंजी निर्माण करते हैं वह राष्ट्रीय आय का एक बहुत ही थोड़ा भाग होता है।

मजदूरी और वेतन पाने वाले वर्गों की आय किसानों की अपेक्षा अधिक नियमित होती है और शहर का अकुशल मजदूर भी औसत किसान की तुलना में अधिक कमा लेता है। फिर भी इन वर्गों के लोग बहुत थोड़ा बचाते हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति बचत करने की बजाय खर्च करने की होती है। मजदूरों की बचत बहुत थोड़ी होती है। वेतनभोगी मध्यवर्ग काफी-बहुत बचत कर लेता है, परन्तु इस समुदाय में मध्यवर्ग अपने वेतन से जो बचाता है उससे उत्पादक निवेश में बहुत थोड़ी वृद्धि होती है। इस दशा में विशेष रूप से ऐसा होता है जिसमें शासक-वर्ग मध्य वर्ग के लोगों से भिन्न जाति का हो क्योंकि ऐसी स्थिति में मध्य-वर्ग शासक-वर्ग की बराबरी करने की धुन में प्रदर्शन उपभोग पर अधिक खर्च करने लगता है। (देखिए अध्याय ७ खण्ड ४ (ग))। लगभग सभी देशों में वेतनों से होने वाली बचत बहुत थोड़ी होती है। मध्य-वर्ग के अधिकांश लोग अपने परिवार के पालन के लिए ही निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं और उनके लिए यही बहुत बड़ी बात है कि वे बचत करके उस मकान को खरीद सकें जिसमें वे रहते हैं। वे अपने बच्चों की शिक्षा के लिए या अपने बुढ़ापे के सहारे के लिए बचत कर सकते हैं परन्तु जितनी बचत वे करते हैं उतनी ही राशि पहले बचे धन में से इन प्रयोजनों पर खर्च करते रहते हैं। परन्तु यदि आय या जनसंख्या बढ़ रही हो तो नयी बचतों की राशि पुरानी खर्च की गई बचतों से अधिक रहेगी, क्योंकि इस पीढ़ी द्वारा बचत करके रखी गई राशि पहली पीढ़ी द्वारा बचत करके रखी गई और इस समय खर्च की जा रही राशि से अधिक होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बचत करने वाले व्यक्तियों के लिए इन बचतों का बड़ा महत्त्व है। कल्याणकारी राज्य में भी संकट के दिनों के लिए कुछ बचत करके रखना ठीक ही है और समाज-सुधारक लोगों को बचत करने के लिए ठीक ही प्रोत्साहन दे रहे हैं। परन्तु उत्पादक निवेश की दृष्टि से ऐसी बचतों का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि ऐसी बचतें किसी भावी उपभोग के लिए होती हैं और बाद में व्यक्ति विशेष उपभोग पर किये जा रहे वर्तमान व्यय के कारण इनका प्रभाव नष्ट होता रहता है।

वेतनभोगी मध्य-वर्ग की बचतों का स्तर नीचा होने से यह बात भी सिद्ध होती है कि बचत और आय की असमानता में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। औद्योगिक देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों में मध्य-वर्ग की बचत औसत बचत की तुलना में, या छोटे किसानों व अकुशल मजदूरों की बचतों की तुलना में काफी अधिक होती है। इसका आंशिक कारण यह है कि कम विकसित देशों में मध्यवर्गीय कारीगरों की बहुत कमी होती है परन्तु कुछ हद तक इसका कारण यह भी है कि मध्य-वर्ग में धनी और निर्धन देशों के बीच गतिशीलता अधिक होती है और धनी देश का मध्यवर्गीय कारीगर निर्धन देश में उतने ही ऊँचे रहन-सहन के स्तर की मांग करता है, जितना वह अपने देश में पा सकता है। वास्तव में चूंकि निर्धन देशों को धनी देशों के मध्यवर्गीय कारीगरों को अपनी ओर आकृष्ट करना होता है, इसलिए धनी देशों में मध्य-वर्ग के लोगों में अधिक ऊँचे स्तर से रहने की प्रवृत्ति होती है। अतः आय की असमानता का कारण यह है कि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग मध्य-वर्ग के उपभोग पर खर्च हो जाता है।

मजदूरी, वेतनों और किसानों की आय में से होने वाली बचतों के बारे में हमारे पास बहुत ही कम प्रमाण हैं। जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह पता लगता है कि अधिक-से-अधिक धनी देशों में भी बचत कदाचित् ही राष्ट्रीय आय के ४ प्रतिशत से अधिक होती है। इस सम्बन्ध में जापान एक विलक्षण अपवाद है, जहां बचत के आंकड़े ८ या १० प्रतिशत तक बताये गए हैं। अभी तक की गई गणना के अनुसार कम विकसित देशों में छोटी बचतें राष्ट्रीय आय के १ प्रतिशत के आसपास होती हैं। कहना न होगा कि राष्ट्रीय आय आय की १ या २ या ३ प्रतिशत बचत को कोई छोटी बात नहीं कहा जा सकता। छोटी बचतों को १ से २ या ३ प्रतिशत तक बढ़ाने के उपायों को अमल में लाना उपयुक्त ही है। ये उपाय संस्थाओं, प्रचार तथा वित्तीय प्रेरणा के माध्यम से किये जा सकते हैं। बचत करने वाली अनेक प्रकार की संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं, जैसे डाकघर बचत, मैत्री-समितियां, सहकारी उधार समितियां, सहकारी मुद्रा समितियां, बीमा पालिसियां, गृह-निर्माण समितियां और इसी प्रकार की अन्य समितियां। अनुभव से पता लगा है कि बचत की मात्रा अंशतः इस बात पर निर्भर होती है कि ये सुविधाएं कितनी व्यापक हैं, यदि ये सुविधाएँ हर आदमी के बिलकुल पास तक पहुँचा दी जाएँ, यहां तक कि गली-गली में और फैक्टरी-फैक्टरी में बचत-समूह स्थापित किए जाएँ, या आय के स्रोत से ही बचत की राशियां काटने की व्यवस्था कर दी जाए, तो लोग उस अवस्था की तुलना में अधिक बचत करेंगे जबकि नजदीक-से-नजदीक वाली बचत-संस्था भी थोड़ी-बहुत दूर होती है। बचत भी एक आदत है, जो कुछ हद

तरह प्रचार द्वारा पैदा की जा सकती है। यदि लोगों को बचत का कोई उपयुक्त कारण बताया जाए तो वे अधिक बचत करते हैं। युद्ध-काल में लोग अधिक बचत करते हैं इसका एक कारण यह है कि उन्हें बताया जाता है कि ऐसा करना देश-भक्ति है। विकास-कार्यक्रम आरम्भ करने वाले देशों में यदि लोग कार्यक्रमों का महत्त्व समझ जाएँ और उन्हें आग्रहपूर्वक बता दिया जाए कि वे बचत करके भी इन कार्यक्रमों में अपना सहयोग दे सकते हैं तो सम्भव है लोग अधिक बचत करने लगें। इसके अतिरिक्त लोगों को समझाया जा सकता है कि वे अपने व्यक्तिगत या परिवार के हित के लिए शिक्षा के लिए बुढ़ापे के लिए मकान खरीदने के लिए विवाह या दाह-संस्कार के लिए या बीमारी अथवा किसी संकट के समय उपयोग में लाने के लिए बचत करें। यद्यपि ऐसी बचत अधिकांशतया उपभोग पर व्यय हो जाती हैं फिर भी आत्म-निर्भरता की आदत डालना और निराश्रयता का परिहार करना अपने आपमें इतना महत्त्वपूर्ण है कि इनके निमित्त बचतों को बढ़ावा देने के लिए जो-कुछ भी किया जा सकता है किया जाना चाहिए। बीमा का सिद्धान्त ग्रामीणों में लोगों को आकृष्ट कर रहा है अतः जीवन बीमा की सस्ती व सुसंगठित प्रणाली बचत को बढ़ावा देती है। इसके अतिरिक्त बचत के लिए विशेष प्रेरणा भी पर्याप्त होनी चाहिए अर्थात् ब्याज की दर अच्छी होनी चाहिए। छोटी बचतों पर सामान्यतया २ से ३ प्रतिशत तक ही ब्याज दिया जाता है जिसका एक कारण यह है कि छोटी बचतों को इकट्ठा करने और उनको उपयोग में लाने पर व्यय बहुत बैठता है परन्तु इस बात का समर्थन किया जा सकता है कि छोटी बचतों पर नियत काल बाद ब्याज की दर के लिए कुछ सरकारी सहायता दी जाए ताकि इन पर अधिक ऊँची दर से ब्याज दिया जा सके। यदि पूँजी निर्माण के लिए समुचित मुद्रा-स्फीति का सहारा भी न रहा हो जिसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम हो रहा हो तो छोटी बचतों के वास्तविक मूल्य की गारण्टी दी जानी चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो छोटी बचत करने वालों के साथ अन्याय होगा (क्योंकि कीमतों के बढ़ने के साथ-साथ अन्य परिसम्पत्तियों का मूल्य बढ़ जाता है) और छोटी बचतों के लिए लोगों का उत्साह कम हो जाएगा।

किसानों में बचत की भावना को बढ़ावा देना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आर्थिक विकास में कृषि को महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप कृषि से सम्बन्धित सभी गतिविधियों का विस्तार होता है—इसका कारण यह है कि खाद्य की माँग की आय-लोच एक से कम होती है। इसलिए तुलनात्मक दृष्टि से अन्य व्यवसाय इससे उन्नति करते रहते हैं और इन व्यवसायों में काम करने वालों को [illegible]

वाले किसानों की उपज में से ही खिलाना पड़ता है। अतः आर्थिक विकास के लिए यह जरूरी है कि किसानों की प्रति व्यक्ति उपज अवश्य बढ़े ताकि गैर-किसानों को खिलाने के लिए प्रति किसान अधिकाधिक अन्न बचाया जा सके। उत्पादकता निम्नतम रहने की अवस्था में भी हर किसान परिवार जितना अनाज पैदा करता है। वह अपनी आवश्यकता के अलावा, गैर-कृषि परिवार का पेट और भर सकता है जबकि उत्पादकता अधिकतम होने की अवस्था में हर किसान-परिवार इतना अधिक अनाज पैदा करता है कि उसमें उसके तथा सात अन्य परिवारों का पालन हो सकता है।

इस प्रक्रिया में बचत से सम्बन्धित प्रश्न दो प्रकार से पैदा होते हैं। पहली बात तो यह है कि कृषि-उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि करने के लिए प्रायः यह आवश्यक होता है कि कृषि में अधिक पूंजी का निवेश किया जाए। इस प्रयोजन के लिए सरकार कुछ रकम बजट से निकालकर ग्राम-बैंकों या उधार-समितियों की मार्फत किसानों को कर्ज दे सकती है। यह नीति अपनाने से अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों से हटकर पूंजी कृषि में चली जाती है (जब तक कि यह धन जमींदारों पर कर लगाकर ही वसूल न किया गया हो), और चूंकि अन्य क्षेत्र भी साथ-साथ पूंजी की मांग करते रहते हैं, अतः किसान अपने पास से जितनी पूंजी का इन्तजाम कर सकें उतना ही अच्छा है। इससे ग्राम-क्षेत्रों में बचत आन्दोलन तथा बचत संस्थाओं की विशेष उपयोगिता सिद्ध होती है।

बचत का प्रश्न दूसरे ढंग से भी पैदा होता है। यदि कृषि-उत्पादन बढ़ रहा हो और शहरी जनसंख्या को खिलाने के लिए अधिकाधिक तेजी से अन्न उपलब्ध हो रहा हो, तो सरकारें प्रायः कर लगाकर यह बचत किसानों से छीनकर लोकोपयोगी सेवाओं या विनिर्माण आदि दूसरे क्षेत्रों के विस्तार में लगा देने का प्रयत्न करती हैं। इससे दोहरे प्रयोजनों की सिद्धि होती है, एक तो किसानों पर कर लगाने से नितान्त आवश्यक राजस्व का नया स्रोत खुल जाता है, और दूसरे, यदि किसानों पर कर न लगाया जाए तो उनकी वास्तविक आय इतनी बढ़ सकती है कि कृषि-क्षेत्र से अन्य क्षेत्रों में श्रमिक आकर्षित करने के लिए शहरों में और दूसरे धन्धों में वास्तविक मजदूरियां और वेतन बढ़ाने पड़ सकते हैं, जिससे लाभों में गिरावट होकर राष्ट्रीय आय में बचत की राशि कम हो सकती है। इसलिए अनेक मामलों में कृषि की उत्पादकता की वृद्धि के साथ ही किसानों पर भारी कर लगाये गए हैं, और इस प्रकार प्राप्त धन अन्य क्षेत्रों के पूंजी निर्माण में लगाया गया है। उसके बारे में दरअसल ठीक ही कहा गया है कि अन्य क्षेत्रों से लेकर कृषि में पूंजी लगाने की बात तो दूर, किसानों को औद्योगिक क्रान्ति के लिए स्वयं पैसा लगाने के लिए मजबूर होना

निर्माणों की सहायता से नहीं बल्कि सुधरे हुए बीजों, उर्वरकों तथा कृमिनाशक औषधियों और पानी की सहायता से बढ़ाई जानी चाहिए। इसके पीछे भी एक राजनीतिक समस्या यह है कि जिस दशा में किसानों के हाथ में राजनीतिक अधिकार है क्या वे इस प्रकार का कार्यक्रम शुरू कर सकते हैं? अध्याय ७ में इस विषय पर फिर विचार करेंगे।

ऐसे मामलों को छोड़कर सिंचाई कार्यों के निर्माण के लिए धन की व्यवस्था करने हेतु किसानों से पैसा वसूल किया जाता है किसी भी अर्थ-व्यवस्था में बचत का मुख्य स्रोत वितरित या अवितरित लाभ होता है। यदि कोई व्यक्ति यह जानने का प्रयत्न करे कि लाभ कमाने वाला वर्ग मितव्ययिता करने और उत्पादक कामों में पूंजी-निवेश करने के लिए अन्य सभी वर्गों की अपेक्षा अधिक प्रवृत्त क्यों होता है तो इस बात का उत्तर शायद यही है कि समाज-सोपान में इस वर्ग की स्थिति ही ऐसी होती है। वेतनभोगी मध्यवर्ग के विपरीत पूंजीपतियों को अन्य लोगों पर अपने सामाजिक महत्त्व का रंग जमाने के लिए प्रदर्शन उपभोग नहीं करना पड़ता, क्योंकि लाभ कमाने वालों के रूप में और दूसरे लोगों के मालिक के रूप में उनकी स्वतन्त्र हैसियत और धनाढ्य के रूप में उनकी प्रसिद्धि उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है। मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लोगों की वास्तविक आय चाहे कितनी ही बढ़ जाए पर वे कभी भी अधिक बचत नहीं कर सकते, क्योंकि वे अपने से अधिक धनी-वर्ग के लोगों के उपभोग-स्तर का सदैव अनुकरण करते रहते हैं, जबकि धनी लोग इसलिए बचत कर सकते हैं कि उनकी आय उनके उपभोग के मान्य स्तर के लिए पर्याप्त से अधिक होती है। लाभ कमाने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा भूस्वामी अभिजात-वर्ग की तुलना में कम होती है, परन्तु वे जानते हैं कि केवल दिखावे की वस्तुओं पर खर्च करके वे अभिजातवर्गीय प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते। अतः उनमें से केवल कुछ ही लोग ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं। अभिजातवर्गीय लोगों की ही भांति उनमें भी शक्ति प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा होती है, पर शक्ति प्राप्त करने का उनका मार्ग भिन्न होता है। अभिजात-वर्ग अपनी सम्पदा को बढ़ाकर और (सामन्तवादी तथा प्राचीन पूंजीवादी युग में) उच्चतम राजनीतिक, सैनिक और धार्मिक पदों पर एकाधिकार जमाकर शक्ति प्राप्त करता है। इसके विपरीत लाभ कमाने वाला जानता है कि उसकी शक्ति उसके धन में है, अतः वह धन बचाता है और अधिकाधिक लाभप्रद ढंग से उसका निवेश करता है। उसका कुछ धन किसान के धन की भांति दूसरे लोगों के उपभोग पर खर्च होता है, या भूमि खरीदने में लग जाता है। ये दोनों प्रकार के 'निवेश' ऐसे हैं जिनसे पूंजी-निर्माण में वृद्धि नहीं होती। परन्तु लाभ कमाने वाला जानता है कि सबसे अधिक लाभप्रद निवेश वे होते हैं जिनसे नयी टेक्नोलोजी का उपयोग या

नये साधनों की उपलब्धि मे सहायता मिलती है, और ये निवेश उसकी शक्ति अर्जित करने की महत्त्वाकांक्षा को भी उभारते हैं क्योंकि उसका उत्पादन-निवेश जितना ही ज्यादा होगा उतने ही ज्यादा आदमी उसके अधीन काम करेंगे। अतः पूंजीपति ही ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी महत्त्वाकांक्षा उसे अपनी आय को कारखाने खड़े करने में खर्च करने की प्रेरणा देती है। अन्य वर्गों के लोग दूसरे ढंग से अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करते हैं—वेतनभोगी मध्यवर्ग प्रदर्शन उपभोग द्वारा, और कृषक-वर्ग भूमि खरीद करके या पद प्राप्त करके। पूंजीवाद की बाद की अवस्थाओं में ये अन्तर बहुत कम हो जाते हैं, पूंजीपति किसी-न-किसी तरह से भूस्वामी अभिजात-वर्ग के साथ सम्बन्ध स्थापित करते और राजनीतिक पद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर भूस्वामी बड़े-बड़े शहरों में आकर अपनी रियाया की आमदनी को उत्पादन-कार्यों में लगाते हैं, और किसान तक को भी इस बात का ज्ञान हो जाता है कि अपनी वर्तमान भूमि को सुधारने में धन लगाना उतना ही उपयोगी है जितना और अधिक भूमि खरीदने में धन लगाना। बाद की अवस्थाओं में मितव्ययिता और उत्पादक निवेश का प्रसार समुदाय के सभी वर्गों में हो जाता है परन्तु मूलतः उत्पादक पूंजी-निवेश पूंजीवादी वर्ग का ही काम है।

करना मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। यदि अधिकतम उत्पादन करना और साथ ही उसमें से बचत करना हमारा नैतिक कर्तव्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि बची उत्पादन करना भी हमारा एक नैतिक कर्तव्य है। परन्तु यह मन-स्वता भी प्राटेस्टेन्ट धर्मशास्त्र तक ही सीमित नहीं है। पूंजीवादी दर्शन की स्पष्ट विशेषता उसका तीसरा सूत्र है जिसमें इस बचत का एक विशिष्ट उप-योग उत्पादक पूंजी-निवेश निर्धारित किया गया है। अन्य धर्मशास्त्रों में अन्य उपयोग बताए गए हैं—बचत का उपयोग दान के लिए या भव्य-से-भव्य नौकर-चाकर रखने के लिए या युद्ध करने के लिए या पिरामिड या मकबरे या देहात में मकान या मन्दिर या गिरजाघर बनवाने के लिए या विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए किया जाना चाहिए। केवल पूंजीवादी दर्शन ही ऐसा है जो उसमें से बचत या श्रम में अध्यवसाय की सिफारिश करने के साथ-साथ बचत का उत्पादक-निवेश में लगाने की वांछनीयता पर जोर देता है। ये सिफारिशें अन्त में धार्मिक धारणा का रूप लेती हैं, जिसमें मितव्ययिता एक गुण और शानशौकत अथवा आमोद का चरित्र नष्ट करने वाली मानी जाती है। परन्तु उत्पादक ढंग से निवेश करने की महत्त्वपूर्ण सिफारिश का सच्चा समाधान धार्मिक पुस्तकों में ढूंढने की बजाय समाज-संगठन में पूंजी-पतियों के स्थान और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के विश्लेषण में ढूंढना अधिक उपयुक्त होगा।

यदि बचत का मुख्य स्रोत लाभ है, तो किसी अर्थ-व्यवस्था की बचत ५ प्रतिशत से बढ़कर १२ प्रतिशत तक हो जाने का कारण यही हो सकता है कि उसकी राष्ट्रीय आय में लाभ का भाग बढ़ गया है। यह कैसे होता है?

एक सहज उत्तर यह है कि यह पूंजीवादी लाभों के निरन्तर पुनर्निवेश के फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पूंजीपति क्षेत्र में होने वाले विकास का परिणाम है। कम विकसित देशों में बहुत कम पूंजी होती है, और पूंजीपति बहुत थोड़े व्यक्तियों को काम-धन्धा दे पाते हैं। पूंजीपति क्षेत्र का विस्तार होने पर यह वर्ग कई स्रोतों का उपयोग करने लगता है। अर्थ-व्यवस्था में सामान्यतया श्रमिकों की भरमार होती है, क्योंकि किसान की अपनी जोत में उसके परिवार के सब व्यक्तियों के लिए पूरा काम नहीं होता, और लोग पूंजी-गत उद्यमों में काम करने के लिए शहरों की तरफ चले जाते हैं। इसी प्रकार हस्तशिल्प उद्योग से भी लोग शहरों की ओर चले जाते हैं, विशेष रूप से तब यदि पूंजीपति ऐसी नयी टेक्नीकों का प्रयोग कर रहे हों जिनसे हस्तशिल्प-उत्पादकों का महत्त्व घटता हो। पूंजीपतियों के यहां अनेक नौकरों को काम मिलता है, और गरीब लोगों की स्त्रियां व लड़कियां भी उनके यहां काम पाती हैं, और इस प्रकार जनगणना करने वालों की दृष्टि में 'अर्थकर

धन्धों में लगी हुई वयस्क महिलाओं का अनुपात बढ़ जाता है। यदि किसी समुदाय में जनाधिक्य हो तो वहाँ ऐसे श्रमिक बड़ी संख्या में होते हैं जिन्हें कभी-कभार काम मिल जाता है या जो छोटे-छोटे फुटकर व्यापार में लगे होते हैं। ये वही श्रमिक गुजारे लायक मजदूरी लेकर भी स्थायी रोज़गार में लगने के लिए खुशी से तैयार हो जाते हैं। इसके अलावा यदि जनसंख्या बढ़ रही हो तो अन्य क्षेत्रों से लोगों को आकृष्ट किए बिना ही बढ़ने वाली जनसंख्या का कुछ भाग पूंजीगत रोज़गार में खपाया जा सकता है। एडम स्मिथ और उसके बाद के संस्थापक अर्थशास्त्री इस बात पर जोर देते थे कि आर्थिक विकास के कारण मजदूर गैर-पूंजीगत रोज़गार से पूंजीगत रोज़गार में चले जाते हैं—इसे उन्होंने 'अनुत्पादक' से 'उत्पादक' रोज़गार की ओर संक्रमण बताया—और मजदूरों के इस स्थानान्तरण की गति बचत की मात्रा और पूंजी के विकास की दर पर निर्भर होती है। यदि थोड़ा भी उत्पादक निवेश हो तो अर्थ-व्यवस्था का पूंजीगत क्षेत्र अवश्य बढ़ता है। अब पूंजीगत क्षेत्र का विकास सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास-अनुपात में ही हो रहा है अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर होता है कि शेष अर्थ-व्यवस्था का किस दर से विकास हो रहा है—जनसंख्या की वृद्धि की दर पर, और विशेष रूप से इस बात पर कि अर्थ-व्यवस्था के कृषक-क्षेत्र में भी उत्पादन-क्षमता बढ़ रही है या नहीं। यह अनिवार्य नहीं है कि पूंजीगत क्षेत्र शेष अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेज़ी से ही उन्नति करेगा।

पहली बात यह है कि पूंजी-निवेश की राजनीतिक सुरक्षा पर बहुत-कुछ निर्भर होता है। अधिकांश पूर्व-पूंजीवादी सभ्यताओं में पूंजीपति शासकीय अभिजात-वर्ग की दया पर निर्भर होते हैं। उनसे आशा की जाती है कि वे रईसों की फिजूलखर्ची के उपभोग के लिए और महत्वाकांक्षी रजवाड़ों के सैनिक प्रयोजनों के लिए ऋण दें, और यदि वे अपने धन का निवेश विशेष लाभप्रद कामों में करते हैं तो उन पर अचानक ही और मनमाने ढंग से कर लगा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में पूंजीपति बहुत सावधानी से कदम बढ़ाते हैं, सबसे पहले तो वे वैधानिक ऋणों में अपनी अधिकांश सम्पत्ति फंसा कर शक्तिशाली सामन्तों का संरक्षण प्राप्त करते हैं, और वे अचल पूंजी-निर्माण के रूप में अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की बजाय ऐसी सम्पत्तियों में भी पैसा लगाते हैं जिन्हें आसानी से छिपाया जा सके और आसानी से कहीं भी ले जाया जा सके, जैसे सोना या हीरे-जवाहरात। अतः अर्थ-व्यवस्था के पूंजीगत क्षेत्र का तेज़ी से विस्तार तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उत्पादक निवेश मनमाने करारोपण से समुचित रूप से सुरक्षित न हो।

यदि निवेश के अवसर बहुत लाभप्रद हों तो, राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त होने पर, पूंजीगत क्षेत्र के तीव्र विकास की सर्वाधिक सम्भावना होती है। पूंजी

गत विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में पहले बताए साधनों से केवल गुज़ारे-भर की मजदूरी पर बहुत अधिक संख्या में मजदूर मिल जाते हैं, इसका कारण यह है कि पूंजीगत रोज़गार कुल जनसंख्या की तुलना में कम ही होता है, और यदि अर्थ-व्यवस्था में जनाधिक्य हो, या जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही हो, तो और भी अधिक संख्या में मजदूर मिल जाते हैं। ऐसी अवस्था में पूंजीगत क्षेत्र में उत्पादकता में होने वाली वृद्धि का सारा फायदा वस्तुतः लाभ में ही जाता है। उत्पादकता में यह वृद्धि प्रौद्योगिकी में उन्नति के कारण हो सकती है, या संचार-साधनों में सुधार होने या भौगोलिक खोज के फलस्वरूप व्यापार के अवसरों के बढ़ जाने से भी हो सकती है। उत्पादक निवेश के लिए जितनी तेज़ी से अवसर बढ़ेंगे, उतनी ही तेज़ी से लाभ बढ़ेगा, और उतनी ही तेज़ी से पूंजी का संचय होगा। जिस समुदाय में प्रौद्योगिकी में परिवर्तन या भौगोलिक खोज नहीं हो रही होती, वहाँ लाभ धीरे-धीरे बढ़ता है, पूंजी धीरे-धीरे बढ़ती है, और सम्भव है कि इनकी वृद्धि शेष अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेज़ न हो। परन्तु एक बार यदि निवेश के लिए लाभप्रद अवसर पैदा हो जाएँ तो यह लगभग निश्चित है कि लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ जाएँगे, और इसलिए राष्ट्रीय आय का बार-बार निवेश किया जाने वाला भाग लगातार बढ़ता जाएगा।

इसका अर्थ यह है कि किसी 'औद्योगिक क्रांति' अर्थात् पूंजी निर्माण की दर में आकस्मिक त्वरण का मूल कारण धन कमाने के अवसरों में आकस्मिक वृद्धि है, ये नये अवसर चाहे नये आविष्कार हों, या ऐसे सांस्थानिक परिवर्तन हों जिनसे विद्यमान सम्भावनाओं का लाभ उठाया जा सके। ब्रिटेन, जापान और रूस की औद्योगिक क्रान्तियाँ इसी प्रकार की हैं। ऐसे हर मामले में तात्कालिक परिणाम यह होता है कि बढ़ती हुई उत्पादन-क्षमता का फायदा उन वर्गों को नहीं मिलता जो अपना उपभोग बढ़ाते हैं, जैसे किसान तथा मजदूरी कमाने वाले, बल्कि निजी लाभों या लोक-करों में चला जाता है, और इस प्रकार हुई आय को आगे पूंजी-निर्माण में लगाया जाता है। अधिकाधिक मजदूरों को मजदूरी पर काम दिया जाने लगता है, परन्तु वास्तविक मजदूरी को उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ने दिया जाता जितनी तेज़ी से उत्पादकता बढ़ती है।

पूंजीगत लाभ की इस वृद्धि को स्फीति से भी बढ़ावा मिलता है जोकि सभी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं में नियमित रूप से पैदा होती है—चाहे व्यापार चक्र के प्रसार की अवस्था में हल्के रूप में हो, या युद्धों और सरकार की फिजूलखर्ची के कारण उग्र रूप में हो। स्फीति से अन्य आयों की अपेक्षा लाभ बढ़ जाते हैं, और धन को इमारतों या कारखानों में लगाने की प्रेरणा मिलती

है। इस स्फीति के बाद अवस्फीति आती है और उस समय लाभ कम हो जाते हैं और निवेश रुक जाता है। परन्तु अवस्फीति या मन्दी स्फीति की अवधि से प्राय छोटी होती है। दीर्घकाल में मुद्रा की मात्रा बढ़ती जाती है और मूल्य चढ़ते जाते हैं या यदि मूल्य कम होते हैं तो बढ़ती हुई उत्पादन क्षमता की तुलना में बहुत धीरे धीरे कम होते हैं। अधिकांश ऐतिहासिक कालों में जिनमें उत्पादन तेजी से बढ़ा है और राष्ट्रीय आय की तुलना में पूंजी निवेश में त्वरित वृद्धि हुई है वहाँ कीमत तथा लाभ भी बढ़े हैं। १७८० के बाद की ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति या १८३० से १८६० की तुलना में १८६० से १९१३ के बीच ब्रिटेन में निवेश का उच्चतर अनुपात (इन दोनों में) या प्रथम विश्व युद्ध के बाद फ्रांस और जर्मनी का मुद्रा स्फीति के दौरान निवेश का अपेक्षाकृत उच्च स्तर या १८७० से १९१३ तक जापानी अर्थ-व्यवस्था में तेजी से उन्नति या रूस की पहली दूसरी और तीसरी पंचवर्षीय आयोजनाएँ अथवा व्यापार चक्र के स्थिर या गिरते हुए अवस्थाओं की तुलना में प्रसार की अवस्था इसके उदाहरण हैं। आर्थिक विकास के लिए स्फीति नितान्त आवश्यक नहीं है। स्फीति के बिना भी लाभ बढ़ सकता है और निवेश किया जा सकता है। इसके विपरीत समय समय पर आने वाली स्फीति होने से लाभ में वृद्धि होती है और पूंजी निर्माण अधिक आसान लगता है।

यदि किसी अर्थ-व्यवस्था को ५ प्रतिशत से बढ़ाकर १२ प्रतिशत होना अनिवार्य इस बात पर निर्भर है कि उसमें राष्ट्रीय आय की तुलना में लाभों में वृद्धि अधिक होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि गरीब देशों में बहुत थोड़ी बचत होने का सही कारण यह नहीं है कि वे गरीब हैं बल्कि इसका सही कारण यह है कि उनका पूंजीगत क्षेत्र बहुत छोटा होता है। कोई भी देश इतना गरीब नहीं होता कि चाहने पर भी अपनी राष्ट्रीय आय का १२ प्रतिशत न बचा सके। गरीबों ने आज तक किसी देश का युद्ध व्यय या अन्य व्यय पूरा करने में [illegible] नहीं की है। यदि हम गरीबों की आमदनी बचत के बजाय [illegible] जिनमें प्रायः पाने वाला [illegible] १० प्रतिशत [illegible] किराये की आमदनी पर निर्भर हैं राष्ट्रीय आय का ४० प्रतिशत या इससे लगभग [illegible] पर खर्च कर देते हैं। इन देशों में उत्पादक निवेश इसलिए नहीं कम होता कि यहाँ बचत नहीं होती [illegible] उत्पादक निवेश इसलिए कम होता है कि यहाँ की उत्पादक पूंजी निर्माण [illegible]
[illegible]
[illegible]

लेन वाली सरकार के पास करों के रूप में पहुँच जाए, तो स्फीति के बिना ही काफी मात्रा में निवेश सम्भव हो जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि जब हम यह कहते हैं कि पूँजीगत क्षेत्र छोटा होने के कारण बचत कम है तो हमारा अभिप्राय केवल निजी पूंजीपतियों से ही नहीं होता, बल्कि हमारा अभिप्राय राज्य-पूंजीवाद से या किसी ऐसे अन्य आर्थिक संगठन से भी होता है जिसमें पूंजी लोगों को रोजगार देने के लिए प्रयोग में लाई जाती है, और जहाँ मजदूरी और वेतनों का भुगतान करने के बाद पर्याप्त मात्रा में बेशी बच रहती है जिसके अधिकांश भाग का उत्पादक काम में पुनः निवेश कर दिया जाता है। सोवियत रूस के उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यवहार्यत राज्य-पूंजीपति निजी पूंजीपति की अपेक्षा अधिक तेजी से पूंजी का संचय कर सकता है, क्योंकि वह इस प्रयोजन के लिए पूंजीवादी क्षेत्र के लाभों (कराधान के रूप में) का ही नहीं बल्कि किसानों से जबरदस्ती या कर लगाकर वसूल की गई राशि, या स्फीति द्वारा सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को हथियाकर प्राप्त की गई राशि का भी प्रयोग कर सकता है।

पूंजीवादी लाभों की वृद्धि के आर्थिक विश्लेषण के पीछे एक ऐसे पूंजीवादी वर्ग अर्थात् ऐसे लोगों के समूह के उद्भव की समाजशास्त्र-सम्बन्धी समस्या भी निहित है जो आय को उत्पादक कार्यों में लगाना ठीक समझता है। पूर्व-पूंजीवादी व्यवस्थाओं में मुख्य वर्ग—जमींदार, व्यापारी, साहूकार, पुरोहित, सैनिक, रजवाड़े—इस प्रकार नहीं सोचते। किसी समाज में पूंजीवादी वर्ग का विकास किस प्रकार होता है, यह एक बड़ा कठिन प्रश्न है जिसका समाधान शायद सम्भव नहीं है। ऐसा लगता है कि अधिकांश देश आरम्भ में बाहर के पूंजीपतियों को बुलाते हैं। विदेशी व्यापार या विदेशी निवेशकर्ता नये अवसर पैदा करते हैं, लाभ कमाते हैं, और लाभों के एक भाग का निवेश पुनः देश के भीतर ही कर देते हैं, इसके बाद उनका अनुकरण किया जाता है। नये अवसर पैदा होने के साथ ही देश के अपने पूंजीपति पैदा होने लगते हैं, चाहे इन अवसरों के उदाहरण विदेशों में प्रस्तुत किये गए हों, या स्वतन्त्र रूप से देश के अन्दर ही जन्मे हों। ये अवसर नयी टेकनीकों के रूप में हो सकते हैं, या विदेश-व्यापार के नये अवसरों, या देश में बेहतर संचार-साधनों, या आन्तरिक शान्ति के कारण बाजार का विस्तार होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं। यदि ये अवसर केवल व्यापार के लिए हों तो नये वर्ग का दृष्टिकोण मुख्यतया वाणिज्यिक होगा, परन्तु यदि नयी टेकनीकों या नये साधनों के रूप में हों, जिनसे पूंजी का फायदा उठाया जा सकता हो, तो ऐसे पूंजीपतियों का एक समूह पैदा हो जाएगा जो मुख्यतया अचल पूंजी-निर्माण की बात सोचेगा। अध्याय ३ में हम देख चुके हैं कि उद्यमकर्त्ता वर्ग के विकास में सहायता

पहुँचाने या रुकावट पैदा करने में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थानों का क्या महत्त्व है। अक्सर और ये संस्थान एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, और दोनों मिलकर इस वर्ग की वृद्धि की दर और इसकी गतिविधियों की सीमा निर्धारित करते हैं।

जापान का उदाहरण विशेष रूप से दिलचस्प है क्योंकि वहाँ भूस्वामी और कुलीन लोग बहुत तेजी से पूंजीपति बन गए जैसा कि श्री आई० आई० स्पैंसर ने अभी हाल में लिखा है (देखिए सन्दर्भ टिप्पणी)। यह इस बात का परिणाम था कि राज्य ने कुलीन-वर्ग के सामन्तवादी अधिकार खरीद लिए, और उन्हें प्रशासनिक कार्यों से वंचित कर दिया, साथ ही राज्य ने सामन्तों के ऋणों का बोझ भी अपने ऊपर ले लिया। चूंकि सामन्तों के पास धन की (या सरकारी बाण्डों की) बहुतायत हो गई और काम कोई रहा नहीं इसलिए कुछ सामन्तों ने पहले बैंक व्यवसाय शुरू किया और जब १८८० में सरकार ने अग्रगामी प्रयोजनों के लिए स्थापित कुछ फैक्टरियों को बेचने का निश्चय किया तो इन सामन्तों ने उन्हें तत्काल खरीद लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण अन्तिम २५ वर्षों में जापान में उद्यमकर्ताओं की संख्या बढ़ाने में पुराने ढंग के अभिजात-वर्ग के स्थान पर नये ढंग के पूंजीपति-वर्ग का यह त्वरित उदय बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। साथ ही जहाँ पहले सामन्ती अभिजात वर्ग व्यापारी-वर्ग को लाभ से वंचित करके खूब धन जमा करता था और वाणिज्यिक पूंजी के उपभोग के लिए उधार ले लेता था, वहाँ अब वाणिज्यिक वर्ग को उत्पादक कामों में निवेश करने की स्वतन्त्रता मिल गई और देश के कुछ सर्वाधिक धनी व शक्तिशाली परिवारों के उनके वर्ग में सम्मिलित होने से उनकी शक्ति और भी बढ़ गई।

वर्तमान समय में हम राज्य-पूंजीपतियों के एक नये वर्ग (जैसे सोवियत रूस, भारत) को विकास करते हुए पाते हैं, जो किसी-न-किसी कारण लोक-धन के बल पर तेजी से पूंजी का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध है। बचत और उत्पादक निवेश के महत्त्व के सम्बन्ध में सरकारी पूंजीपतियों और निजी पूंजीपतियों के दृष्टिकोण में जहाँ तक समानता है वहाँ तक दोनों की उपयोगिता एक-सी है। राष्ट्रीय भावना, सैनिक शक्ति की इच्छा, और आम जनता की गरीबी दूर करने के लिए हर तरफ से प्रयत्न करने की आकांक्षा का विकास होने से इस प्रवृत्ति को खूब बल मिलता है।

अभी तक हम उस प्रक्रिया का परीक्षण करते रहे हैं जिसके द्वारा कोई अर्थ-व्यवस्था अपनी बचत ५ प्रतिशत के स्तर से आगे बढ़ाती है। यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि पूंजीवादी क्षेत्र राष्ट्रीय आय की तुलना में तेजी से सदा ही नहीं बढ़ सकता, क्योंकि यदि यह तेजी से बढ़ता रहा,

तो कभी-न-कभी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उसी में समा जाएगी। यदि हर व्यक्ति को पूंजीवादी रोजगार देने के लिए पर्याप्त पूंजी हो जाती है तो यह आपेक्ष विस्तार रुक जाता है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी क्षेत्र जैसे-जैसे अधिक लोगों को रोजगार देता जाता है और अन्य क्षेत्रों की तुलना में छोटा नहीं रह जाता, वैसे-वैसे ही निम्न गुजारे के स्तर के बराबर स्थिर वास्तविक मजदूरी देते हुए विस्तार करने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यदि कृषि पुराने ढंग पर ही संगठित रहे, और यदि कृषि की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए विशेष उपाय न किए जाएं तो प्राय भी भाति ऐसी स्थिति अपेक्षाकृत पहले ही पैदा हो सकती है। अत एक ऐसी अवस्था आ जाती है जहां और अधिक पूंजी-संचय से वास्तविक मजदूरियां बढ़ने लगती हैं। ऐसी अवस्था में चूंकि निवेश का लाभ बढ़ जाने से मजदूरों की मांग बढ़ जाती है, और इसी कारण वास्तविक मजदूरी भी बढ़ जाती है, अत तकनीकी प्रगति का सारा फायदा लाभों में जाना बन्द हो जाता है। अत एक ऐसा समय आता है जब यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अधिक पूंजी-संचय और अधिक तकनीकी प्रगति से मजदूरी बढ़ेगी या लाभ बढ़ेगा, या अगर दोनों बढ़ें तो अपेक्षाकृत कौन अधिक तेजी से बढ़ेगा। भूतकाल में अधिकांश अर्थशास्त्री यही आशा करते थे कि पूंजीवाद की बाद की अवस्था में लाभ की दर घट जाती है, अर्थात् वे आशा करते थे कि अधिकाधिक उन्नति से होने वाले लाभ का अधिकांश भाग मजदूरी में जाता है। परन्तु ऐसा लगता है कि पिछले अस्सी वर्षों में उन्नत औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं में लाभ की दर स्थिर रही है, और मजदूरी तथा लाभ में समान अनुपात से वृद्धि हुई है। पूंजीवाद की आरम्भिक अवस्थाओं में लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ता है, परन्तु बाद की अवस्थाओं में लाभ राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में ही होता है (चक्रीय और दीर्घकालीन उतार-चढ़ाव के कालों को छोड़कर)। इसी प्रकार, पूंजीवाद की आरम्भिक अवस्थाओं में बचत की दर राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ती है, परन्तु बाद की अवस्थाओं में निवल बचत राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में होती है। यह अनुपात कितना अधिक होगा यह इस बात पर निर्भर होता है कि मजदूरों की कमी या अकुशल कृषि मजदूरों में वास्ता पड़ने की स्थिति पैदा होने से पूर्व पूंजीवादी क्षेत्र अपना कितना विस्तार कर चुका है। इस प्रकार पहले कही गई एक असंगत बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। चूंकि धनी लोग निर्धन लोगों की अपेक्षा अधिक बचत करते हैं, अत आशा की जाती थी कि प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने के साथ हर देश की बचत बढ़नी चाहिए। परन्तु अधिक धनी देशों में पाया गया है कि पचास से सत्तर वर्ष में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दुगनी हो गई, जबकि बचत के अनुपात में कोई वृद्धि

नहीं हुई। इसका उत्तर यह है कि बचत की दर का निर्धारण इस आधार पर नहीं होता कि कोई देश धनी है या निर्धन है बल्कि राष्ट्रीय आय के साथ लाभ के अनुपात पर होता है, और विकास की एक निश्चित अवस्था पर पहुँचने के बाद इन दोनों अनुपातों की वृद्धि रुक जाती है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि यह एक शाश्वत नियम है। हमें निश्चित रूप से यह पता नहीं है कि उन्नत पूंजीवादी समाज में राष्ट्रीय आय के साथ लाभ के अनुपात का निर्धारण किस आधार पर होता है अतः हम कोई निश्चयात्मक भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भविष्य में यह अनुपात घटेगा या बढ़ेगा।

बचत का विश्लेषण पूर्ण करने के लिए अब हमें सरकारी बचत पर भी विचार करना चाहिए। इस अध्याय में खण्ड १ में हमने देखा कि उन्नत औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं में कुल नियत निवेश का लगभग ३५ प्रतिशत लोक-निर्माण-कार्यों और लोकोपयोगी सेवाओं में लगा होता है—यह कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ७ प्रतिशत होता है। इसमें से राष्ट्रीय आय का लगभग २ से ३ प्रतिशत तक सही अर्थों में परिभाषित लोक-निर्माण-कार्यों (सड़कों, बन्दरगाहों, स्कूलों, अस्पतालों, सार्वजनिक इमारतों, आदि) में और शेष ४ से ५ प्रतिशत तक लोक-अधिकृत या अन्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चलने वाली लोकोपयोगी सेवाओं (रेलवे, सड़क परिवहन, टेलीफोन, बिजली, गैस आदि) में लगा होता है। अतः कुल निवेश में सरकार का भाग अंशतः इस बात पर निर्भर होता है कि सरकार ने लोकोपयोगी सेवाओं को किस सीमा तक निजी उद्यमकर्ताओं के लिए छोड़ रखा है। बहुत से देशों में यह राष्ट्रीय आय का ७ प्रतिशत तक है (उदाहरण के लिए न्यूज़ीलैंड में), जबकि एक आध देश में यह २ प्रतिशत से भी कम है।

और कहीं तो लोक-निर्माण-कार्यों के लिए सभी सरकारों को बचत करनी पड़ती है। वे चाहे तो पहले खर्च करके बाद में बचा सकती हैं, या बचतों में से खर्च कर सकती हैं, किन्तु परिणाम दोनों का एक ही होता है। अभिप्राय यह है कि कुछ सरकारें वर्तमान कराधान की बजाय शुरू में ऋण लेकर पूंजी-निर्माण में धन लगाना पसन्द करती हैं, परन्तु परिणाम वही होता है क्योंकि इस ऋण को अदा करने के लिए सरकारों को एक शोधन-निधि स्थापित करनी पड़ती है जिसमें वर्तमान कराधान में से ही धन डाला जाता है। यदि कोई सरकार ऋण लेकर एक निश्चित वार्षिक दर से पूंजी-निर्माण में धन लगाए तो उसकी शोधन-निधि में संचित किए गए भुगतान थोड़े ही समय में उसकी वार्षिक उधार ली गई राशि के बराबर जाएँगे।

आर्थिक विकास का एक अन्य अनिवार्य लक्षण यह है कि राष्ट्रीय आय में

सरकार का भाग बढ जाता है। प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय के निम्नतम स्तर पर सम्भव है सरकार का भाग केवल ५ प्रतिशत हो, जबकि आधुनिक औद्योगिक सरकारें सैनिक प्रयोजनों के अलावा (जिन पर इस समय १० प्रतिशत से भी अधिक खर्च होता है) अपने वास्तविक साधनों का लगभग १० प्रतिशत तक वर्तमान प्रयोजनों के लिए काम में लाती हैं। उनके अनिश्चित वास्तविक साधनों का २ से ७ प्रतिशत नव पूंजी निर्माण में, तथा लगभग १० प्रतिशत अन्य अन्त-रण राशियों के रूप में (पेंशनों, बीमा-भुगतान, ब्याज-भुगतान, आदि) लगाती हैं। अतः यह जरूरी है कि कराधान की सीमान्त दर औसत दर से अधिक होनी चाहिए ताकि करों की आय राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़े। राष्ट्रीय आय में अपने भाग को तेजी से बढ़ाने की दृष्टि से मुद्रा-स्फीति का सहारा लेने वाली सरकार के लिए यह विशेष रूप से जरूरी है, क्योंकि कराधान की उच्च सीमान्त दर एक ऐसा उपाय है जिससे सचलन में अधिक मुद्रा आने पर कीमतों को तेजी से बढ़ने से रोका जा सकता है।

ज्यों-ज्यों सरकार की जरूरतें बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों वह मोटी आमदनियों पर ज्यादा-से-ज्यादा कर लगाती जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में जमीन के किरायों से होने वाली आमदनियों पर लगाये गए करों से बचत पर सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसी आमदनियाँ बचत का स्रोत नहीं होतीं। ऐसे कर भूस्वामियों को अपने नौकर-चाकरों की संख्या कम करने के लिए, अपेक्षाकृत छोटे मकानों में रहने के लिए, और दान, गिरजाघरों आदि में अपना अंशदान कम करने के लिए बाध्य करते हैं, परन्तु बचत पर इसका सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु लाभों पर कर लगाने से बिलकुल भिन्न परिणाम होते हैं, इनका लगभग पूरा बोझ उप-योग की बजाय बचतों पर पड़ता है। इसलिए यदि करों से होने वाली आय का उत्पादक ढंग से प्रयोग न किया जाए तो लाभों पर कर लगाने से आर्थिक विकास के काम को ठेस पहुँचती है।

यदि सरकार धन बरबाद न करती हो तो एक दृष्टि से उसके सब खर्च 'उत्पादक' होते हैं। शिक्षा और लोक-स्वास्थ्य पर सरकार जो खर्च करती है—आधुनिक सरकारों के ये दो सबसे बड़े खर्च हैं—उससे विभिन्न मात्राओं में उत्पादन की वृद्धि होती है, और यहां तक कि रक्षा-सेना पर किया जाने वाला खर्च भी कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रीय आय को लुटेरों से बचाए रखने की लागत माना जा सकता है। यह एक स्वयं-सिद्ध सत्य है कि सरकारों को केवल लाभप्रद कामों पर धन खर्च करना चाहिए। निजी हैसियत से किसी देश के नागरिकों के पास आय के जो स्रोत होते हैं उन्हीं में कटौती करके सरकार धन इकट्ठा करती है, अतः यदि सरकार इस धन का नागरिकों की अपेक्षा कम

उपयोगी ढंग से प्रयोग करती है, तो यह धन की बरबादी है। चाहे उपभोग में कटौती करके धन इकट्ठा किया गया हो या निवेश में कटौती करके, दोनों अवस्थाओं में यह बात उतनी ही सत्य होती है, परन्तु यदि यह दृष्टिकोण सही मान लिया जाए कि निवेश में कमी करना उपभोग में कमी करने की अपेक्षा अधिक नुकसानदेह है (इस दृष्टिकोण को हर व्यक्ति नहीं मानता) तो प्रगत *औद्योगिक राष्ट्रों पर निर्धारण करने में सरकार को और भी अधिक सावधानी* बरतनी चाहिए, यदि इनमें लगने वाला धन निजी बचतों में कटौती करके इकट्ठा किया जाना हो।

हाल के वर्षों में उन्नत औद्योगिक देशों ने लाभों पर इतना अधिक कर लगा दिया है कि सब करों की अदायगी करने के बाद निवल लाभांश बहुत ही कम रह जाता है और प्रयोज्य आय में से होने वाली निजी बचतें बहुत कम हो गई हैं। करों की अदायगी के बाद निवल लाभांश कम रह जाने का एकमात्र कारण कराधान ही नहीं है, इसका एक कारण यह भी है कि लाभांशों के रूप में घोषित की जाने वाली रकम राष्ट्रीय आय के अनुपात में नहीं बढ़ी है। लाभों में तो राष्ट्रीय आय के लगभग समान अनुपात में वृद्धि हुई है परन्तु कम्पनियाँ अतिरिक्त आय का एक बहुत बड़ा भाग कारबार में लगाए रखती हैं, और उसका एक बहुत थोड़ा भाग लाभांश के रूप में बांटती हैं। इस प्रकार ईक्विटी शेयरों की कीमत उन परिसम्पत्तियों के मूल्य के अनुपात में नहीं बढ़ती जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्भवतः यह केवल अस्थायी रूप से होता है, क्योंकि नयी स्थूल परिसम्पत्तियाँ खड़ी करने के निमित्त शेयरों के रूप में उद्योग के लिए नयी पूंजी आते ही शेयरों और परिसम्पत्तियों का मूल्य पुनः बराबर हो जाता है—यह अन्तर लाभांश कम रखने की युद्धकालीन और युद्धोत्तर नीतियों का परिणाम है। कराधान का लाभांशों को कम रखने वाला प्रभाव सम्भवतः अधिक स्थायी हो जाएगा क्योंकि समानतावादी सिद्धान्तों की वाञ्छनीयता स्वीकार करते हुए सभी आधुनिक सरकारें लाभों पर भारी कर लगाने लगी हैं।

व्यक्तिगत बचत में इस प्रकार कमी हो जाने से विनिर्माण-उद्योग के निवेश में कोई कमी नहीं हुई, क्योंकि इसके साथ शेयरहोल्डरों में न बांटे गए लाभों का अनुपात बढ़ जाता है, और विद्यमान विनिर्माण-कारबार की पूंजी को उतना ही बनाए रखने और उसे बढ़ाने के लिए ये लाभ पर्याप्त होते हैं। व्यक्तिगत बचत में कमी हो जाने का मुख्य प्रभाव यह होता है कि कम्पनी उद्यम के नियन्त्रण से बाहर प्रयोज्य बचतों की राशि कम हो जाती है और उधार लेने वाले विभिन्न वर्गों की सम्भावनाओं पर इसकी बड़ी प्रतिक्रिया होती है। परम्परागत रूप से अर्थ-व्यवस्था के विनिर्माण और वाणिज्यिक क्षेत्र लगभग ने सभी नये निवेशों में अपने लाभों में से ही पैसा लगाये हैं, और इसके

बाद भी उनके पास धन बच जाता है जिसे वे लाभांशों के रूप में बाँट देते हैं, और जिसका कुछ अंश नव कारबार को विदेशी उधारकर्ताओं को, कृषि को, लोकोपयोगी सेवाओं और सरकार को उधार देने के काम आता है। परन्तु श्री सी० टी० सीटन द्वारा हाल में की गई गणना (देखिए सन्दर्भ-टिप्पणी) के अनुसार निजी कारबार फार्मों और मकानों में लगी राशि को निकालकर शेष व्यक्तिगत बचत की राशि १९५२ में ब्रिटेन में व्यक्तिगत आय का केवल [illegible] प्रतिशत और अमरीका में व्यक्तिगत आय का केवल [illegible] प्रतिशत थी। कर निकालने के बाद निवल लाभांशों की राशि के कम हो जाने से कई प्रकार के निवेशों को बड़ा धक्का लगता है चाहे अन्य प्रकार की बचतों के बढ़ जाने से यह कमी बिल्कुल पूरी हो जाए। नव कारबार को इससे कितना धक्का लगता है यह पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। भली प्रकार जमे हुए विनिर्माण-कारबार अपने काम के लिए हमेशा अपने अवितरित लाभों में से ही पैसा लगाते हैं, परन्तु नव कारबार को प्रारम्भ करने के लिए किसी बाहरी स्रोत से पूंजी लेनी ही पड़ती है, और चूँकि अन्य कारबारों के नियन्त्रण से बाहर पूँजी का अभाव हो जाता है, अतः नव कारबार को निजी पोषण मिलना बहुत कठिन होता है। यह बताना कठिन होता है कि यह बात कितनी महत्त्वपूर्ण है। अभी भी बहुत से अमीर लोग ऐसे हैं जो यदि किसी नये उद्यम का पोषण करना चाहें, तो उनके पास ऐसी परिसम्पत्तियाँ हैं जिन्हें वे बेच सकते हैं (जैसे सरकारी बाण्ड)। कुछ लोगों की आशंका है कि इसका बहुत काफी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि नये कारबार द्वारा पुराने कारबार के मुकाबले आने और उसे प्रतिस्थापित करने के अवसर कम करके यह अर्थ-व्यवस्था में एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों को और प्रौद्योगिकीय गतिरोध की प्रवृत्तियों को मजबूत करता है। ऐसे व्यक्ति सुझाव देते हैं कि सरकार को कराधान की आय का कुछ भाग किसी एजेन्सी या एजेन्सियों के हाथ में दे देना चाहिए जिन्हें नये कारबार में धन लगाने में विशेषज्ञता हासिल हो। लेकिन पर्याप्त जानकारी प्राप्त न होने के कारण स्थिति अस्पष्ट है।

कृषि, विदेशी निवेश, लोकोपयोगी सेवाओं और स्वयं सरकार के लिए लगभग ऐसी ही समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। यदि सरकार करों के रूप में उन बचतों को छीन लेती है, जिन पर पहले से उधार लेने वाले निर्भर थे, तो सरकार को चाहिए कि वह इन करों का कुछ भाग [illegible] में पूंजी-निर्माण में लगाने के लिए प्रयोग करे। धन इकट्ठा करने के [illegible] में कृषि को हमेशा कठिनाई होती है। ब्रिटेन में कृषि में पैसा लगाने के काम जमींदार तथा काश्तकार किसान के बीच परम्परागत ढंग से बँटा हुआ है, जमींदार लगान में से भूमि-सुधार तथा इमारतों पर होने वाला खर्च देता है, जबकि किसान लाभ में से मशीनरी तथा अन्य कार्यकर पूँजी की जरूरत पूरी करता है।

व्यवसायिक दोनों पक्षों में अपने पूरे निवल निवेश के लिए पर्याप्त बचत करने की प्रवृत्ति नहीं है अतः कृषि अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में हमेशा उधार लेना रहा है । हाल के वर्षों में उच्च करों तथा स्थिर लगान के संयोग के कारण भू-स्वामी बहुत ही अधिक परेशानी में पड़ गए हैं यद्यपि किसानों की स्थिति अपेक्षाकृत सुधर गई है और वे पूँजी लगाने के लिए अपने बढ़ते हुए लाभों में से धन लगा सकते हैं । विदेशी निवेश में पैसा लगाना और भी कठिन हो गया है क्योंकि प्राइवेट बचतों में बहुत कमी हो गई है । कम्पनी बारबार अपनी समुद्र पार परिसम्पत्तियों को बढ़ाने के लिए भारत में पैसा लगा सकती है पर खानों या बागानों या फैक्टरियों में किया जाने वाला प्रत्यक्ष निवेश हमेशा विदेशी निवेश का न्यूनतम भाग होता है । समय समय पर कुछ पूँजी बाहर स्टर्लिंग क्षेत्रों में भी चली जाती है जिसे केन्द्रीय बैंक आयात का भुगतान करने के लिए काम में लाते रहे हैं । परन्तु विदेशी निवेश का अधिकांश भाग सरकारों या लोकोपयोगी सेवाओं को (जो इस समय अधिकांशतः सरकार के हाथ में हैं) दिए गए ऋण के रूप में होता है और प्राइवेट बचतों की कमी हो जाने से इस प्रकार के उधार देने की सम्भावनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । जैसा कि हम आगे एक खण्ड में देखेंगे कि यह भी एक कारण है जिसके फलस्वरूप विदेशी निवेश निजी उधारों की अपेक्षा अन्तर-सरकारी अन्तरणों पर बहुत अधिक निर्भर है । जहाँ तक देश के भीतर की लोकोपयोगी सेवाओं का सवाल है काफी समय से उनकी कीमतों तथा लाभों को एक निम्न स्तर पर बनाए रखने की परिपाटी रही है कि वे उतना अधिक धन संचित नहीं कर सके हैं और इन्हें अपने विस्तार के लिए नए ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती रही है । इस नयी स्थिति में या तो इन्हें विनिर्माण-व्यवसाय की भांति मूल्य बढ़ा देना चाहिए और बड़ी मात्रा में अतिरिक्त लाभ कमाना चाहिए या अपनी जरूरतों के लिए सरकार से अधिकाधिक पैसा लेना चाहिए । इनमें से पहले उपाय के लिए राजनीतिक वातावरण बिल्कुल उपयुक्त नहीं है ।

चूंकि सरकार द्वारा लाभों पर भारी कर लगाए जाने से निजी बचत कम हो जाती है अतः यदि कुल बचत में गिरावट नहीं आने देनी है तो यह आवश्यक है कि सरकार को स्वयं अधिक बचत करनी चाहिए और साथ ही उसे ऐसी कोई व्यवस्था करनी चाहिए जिससे उधार लेने वाले उन वर्गों को ऋण दिए जा सकें जो अब तक प्राइवेट निजी बचतों पर निर्भर रहे हैं । इसीलिए ब्रिटेन में महायुद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में युद्ध पूर्व की परिपाटी के विपरीत केन्द्रीय सरकार ने बचत [illegible] पूंजी निर्माण में ही नहीं लगाया बल्कि स्थानीय प्राधिकरणों की आवश्यकतानुसार [illegible] [illegible] दिया । हाल ही में [illegible] बन्द कर दिया है यदि

सरकार का प्रयोजन लाभों पर कर कम करना, और इस प्रकार निजी बचत को बढ़ावा देना है तो उसका यह कदम ठीक ही है परन्तु यदि उसका प्रयोजन या प्रभाव उपभोग को बढ़ावा देना है तो यह कदम तब तक ठीक नहीं है जब तक कि व्यक्तिगत उपभोग के व्यय को बढ़ाने के लिए पूँजी-निर्माण की दर को घटाने का इरादा न हो। यदि लाभों पर इतना ही कर लगा रहे जितना कि इस समय है, तो ब्रिटेन की सरकार करों की आय में से केन्द्रीय व स्थानीय पूँजीगत व्यय के लिए धन देने की जिम्मेदारी से ही नहीं बल्कि नये कारबार, कृषि, विदेशी निवेश और लोकोपयोगी सेवाओं के लिए बचत का स्रोत बनने की जिम्मेदारी से भी मुक्त नहीं हो सकती।

जो लोग निजी निवेश की सहायता से होने वाले आर्थिक विकास और निजी सम्पत्ति की वृद्धि को पसन्द नहीं करते उन्हें यह जानकर बड़ा सन्तोष होता है कि लाभों से होने वाली आमदनियों पर भारी कर लगाने से निजी बचतें कम हो जाती हैं। वे चाहते हैं कि राज्य ही सभी मुख्य कामों में धन लगाए, और अधिक सम्पत्ति केवल उसी के पास हो। यदि राज्य अधिकांश लाभों को किसी-न-किसी प्रकार अपने खजाने में ला सके और बाद में उसे निवेश में लगाए, तो इस सम्बन्ध में कुछ सफलता मिल सकती है, परन्तु प्रश्न यह है कि निवेश की प्रेरणा को घटाए बिना राज्य इस दिशा में कहाँ तक आगे बढ़ सकता है। ब्रिटेन के बहुत से लोगों का विचार है कि यह स्थिति पहले ही आ चुकी है और समाप्त भी हो गई है, जबकि अन्य लोगों का कहना है कि वस्तुतः कराधान के वर्तमान स्तर के बावजूद इस समय ब्रिटेन में कुल निवेश पिछली कई दशाब्दियों से अधिक है। राज्य द्वारा लगभग सारा लाभ अपने कब्जे में ले लेने पर भी निवेश का स्तर ऊँचा बनाए रखा जा सकता है, बशर्ते कि राज्य की ओर से प्रबन्धक-वर्गों को इतनी प्रेरणा दी जाती रहे कि वे राज्य के निवेशों में काम करते रहें। यदि राज्य करों की आय को बचाकर रखने और उत्पादक ढंग से उसका निवेश करने की बजाय उसे चालू प्रयोजनों पर खर्च करता रहे, और यदि प्रबन्धक-वर्ग को वित्तीय और सामाजिक दोनों दृष्टियों से समुचित पुरस्कार न दिया जाए तो लाभों पर ऊँचा कर लगाने से विकास के काम को क्षति पहुँचेगी, परन्तु यदि अन्य एजेन्सियाँ निजी निवेशकर्ता के काम को अपने हाथ में ले लें तो इसके समाप्त हो जाने पर भी विकास-कार्य में रुकावट नहीं आएगी।

लाभों पर कराधान की समस्याओं के अलावा, बहुत से लोगों का ख्याल है कि कम विकसित देशों में सरकार द्वारा सामान्यतया किए जाने वाले निवेश की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार का विशेष कर्तव्य होता है कि वह बचत के स्रोत के रूप में कर लगाए। चूँकि इन समाजों में लाभ राष्ट्रीय आय का

एक मामूली-सा हिस्सा होता है अतः ये कर मध्य रूप में मजदूरियों, वेतनों, किसानों की आमदनियों और किरायों पर लगाये जा सकते हैं। इस तरीके से बड़े बड़े भूस्वामी अपनी किरायों से होने वाली आमदनियों को बचाने की बजाय उसे प्रतिष्ठाजनक नौकर-चाकर रखने और स्थानीय प्रभाव सम्बन्धी बड़े खर्चों में व्यय करते हैं। अतः इन आमदनियों पर कर लगाने से जमींदार लोग बाध्य होकर मुख्यतया अपनी सहायता पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या कम करके अपना उपभोग कम कर देते हैं। राजनीतिक दृष्टि से आजकल कारीगरों या किसानों पर कर लगाने की बजाय जमींदारों पर कर लगाना अधिक सरल है परन्तु सामान्यतया आमदनियों का स्तर कम होने के कारण इस रूप में कोई भारी रकम इकट्ठी नहीं की जा सकती। धनराशि इकट्ठी करने का सम्भवतः सबसे कम कष्टदायक उपाय आमदनी की वृद्धि पर कर लगाना है परन्तु यह उन्हीं समाजों में व्यावहारिक है जहाँ वास्तव में प्रति व्यक्ति आमदनी बढ़ रही हो। रूस और गोल्डकोस्ट जैसे देशों में जहाँ महायुद्ध के बाद सरकार ने व्यापार से होने वाले अधिकांश लाभ को अपने कब्जे में ले लिया है इस कार्य में सफलता मिली है। जापान में भी १९१४ से पहले इस कार्य में सफलता मिली जहाँ प्रति एकड़ कृषि उपज बढ़ाने के उद्देश्य से जोरदार प्रयत्न करने के साथ ही ऊँचे कर भी लगाये गए जिससे फलस्वरूप वृद्धि का सारा भाग सरकारी खजाने में पहुँच गया।

सम्भवतः यह सच है कि हर देश अगर चाहे तो अपनी राष्ट्रीय आय का १२ प्रतिशत बिना किसी कठिनाई के बचा सकता है। यह बात भी सच मालूम होती है कि वह इतनी राशि स्वेच्छापूर्वक तभी बचा सकता है जब उसके लाभ उसकी राष्ट्रीय आय के काफी बड़े भाग का रूप ले चुके हों। यदि वह नहीं चाहता कि उसका विकास निजी लाभों पर निर्भर रहे या यदि निजी लाभों पर निर्भर रहने को तैयार है लेकिन मन्द गति से बढ़ते हुए लाभों के उस स्तर तक पहुँचने की प्रतीक्षा नहीं करना चाहता तो वह बचत के लिए मजबूरन मुद्रा प्रसार या कराधान का सहारा ले सकता है। कुछ समय से हम सरकार को बचत का एक बहुत बड़ा स्रोत मानने लगे हैं। सम्भव है कि कोरिया वगैरह से ऐसे देशों में भी यह स्रोत महत्त्व की दृष्टि से प्रथम स्थान पर आ जाए जिनमें अब तक अधिकांश निजी उद्यम के हाथों में ही है। इसलिए इन दोनों समस्याओं पर हम इस अध्याय के खण्ड (ख) और अध्याय ७ के खण्ड (ग) में ध्यान देंगे।

(ग) बाह्य वित्त—स्पष्टतः हर देश अपने विकास का प्रारम्भिक पूँजीगत खर्च दूसरों द्वारा बचाये गए धन के रूप में बाह्य वित्त से प्राप्त कर सकता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड हालैंड से ऋण लेता था जबकि

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में आकर इंग्लैंड संसार के लगभग हर देश को ऋण देने लगा। आज का सबसे अधिक धनी देश संयुक्त राज्य अमरीका भी उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत अधिक ऋण लेता था और बीसवीं शताब्दी में आकर वह आज सबसे बड़ा ऋणदाता बन गया है।

किसी भी विकासोन्मुख देश में चाहे तो भी केवल घरेलू बचतों से पूंजीगत कार्यक्रम की उत्तरता पूर्ति कर पाना कठिन होता है क्योंकि विकास-कार्यक्रमों में सामान्यतया विदेशों से कुछ पूंजीगत सामान मंगाना ही पड़ता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि कोई सरकार पूंजीगत सामान मंगाने पर *क पौण्ड और मजदूरियों तथा वेतनों पर ख पौण्ड खर्च करने की आयोजना बनाती है और इस आयोजना के लिए क+ख पौण्ड कर लगा देती है। ऊपर से देखने पर ऐसा करना न तो अवस्फीति पैदा करने वाला लगता है और न स्फीतिकारी लगता है, क्योंकि व्यय और कर की राशियाँ एक-दूसरे के बिलकुल बराबर हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना अवस्फीतिकारी है और इससे भुगतान शेष पर बोझ पड़ता है। देश के भीतर खर्च किये गए ख पौंड का स्थानीय क्रय-शक्ति और भुगतान-शेष पर जो प्रभाव पड़ता है, वह ख पौंड के कराधान से लगभग समाप्त हो जाता है। परन्तु विदेश में खर्च किये गए क पौण्ड की पूर्ति स्थानीय क्रय-शक्ति पर क पौण्ड कर लगाकर नहीं की जा सकती, क्योंकि इससे केवल स × क पौण्ड विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो सकती है (इसमें स आयात की सीमान्त प्रवृत्ति है)। इसके अतिरिक्त विदेश में खर्च किये गए क पौण्ड से घरेलू सञ्चलन की क्रय-शक्ति कुछ कम हो जाती है जिसकी पूर्ति न हो पाने से अवस्फीति पैदा होने लगती है। यदि निर्यात और देश के भीतर का उपभोग एक-दूसरे का स्थान ले सकें तो इन बुरे परिणामों से बचा जा सकता है, क्योंकि देश के भीतर उपभोग कम होने से निर्यात अपने-आप बढ़ जाता है, अतः इससे विदेशी मुद्रा का भी प्रबन्ध हो जाता है और देश के भीतर की आय भी बनी रहती है। ऐसा कुछ सीमा तक ही होता है, अनन्त नहीं। आगे चलकर भुगतान शेष सन्तुलन पर आ जाता है, देश के भीतर अवस्फीति के कारण आयात सङ्कुचित हो जाता है और कीमतें घटने के कारण निर्यात बढ़ जाता है। एक बार आवश्यक समंजन हो जाने के बाद कोई देश बिना विदेशी सहायता के पूंजी निर्माण का एक अपेक्षित स्तर बनाये रख सकता है। परन्तु पूंजी निर्माण की दर बढ़ाने का प्रभाव लगभग निश्चित रूप से यही होगा कि विदेशी मुद्रा में कमी हो जाएगी जिसको पूरा करने के लिए यदि कोई विदेशी परिसम्पत्तियां हों तो उनको कम करना होगा, विदेशी मुद्रा पर नियन्त्रण लगाना होगा या विदेशी सहायता प्राप्त करनी होगी।

कराधान या ऋणों द्वारा पैसा जुटाकर चलाए गए किसी कार्यक्रम

से अगर भुगतान शेष पर भार पड़ता है तो अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी ऐसे कार्यक्रम द्वारा भुगतान शेष पर और भी अधिक भार पड़ेगा जिसमें पूंजी निर्माण के लिए बेरोजगार लोगों को काम देना पड़े और इस प्रयोजन के लिए नयी पूंजी लगाई जाए। यदि इस कार्यक्रम से स्फीति न फैले तो उसका सारा खर्च विदेशी मुद्रा से पूरा किया जाना चाहिए—कुछ आयात किए गए पूंजीगत माल की कीमत चुकाने में और कुछ देश के भीतर खर्च किए गए धन को वापस करने के लिए आयात की गई उपभोक्ता वस्तुओं की कीमत चुकाने में। यदि आयात की गई वस्तुएँ और ऐसी वस्तुएँ पूरी तरह एक दूसरे की स्थानापन्न न हों तो देश में थोड़ी सी स्फीति हो जाएगी जिससे आयात का सामान आसानी से खप जाएगा। व्यवहार में देश के भीतर का सारा खर्च विदेशी मुद्रा से पूरा करने की जरूरत नहीं होगी क्योंकि देश के भीतर खर्च किये गए धन में से कुछ धन दबाकर रख लिया जाता है और कुछ घरेलू पूरक उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च होना जरूरी नहीं है। उधर विदेशों में निवेश प्रायः दूसरे निवेश के प्रभाव को समाप्त कर देता है और इस प्रकार कभी विदेशी मुद्रा निश्चित रूप से और अधिक विस्तार के काम में लग जाती है।

हमारे सामने और रूप में वही विवाद है जो अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक और भावी उधारकर्ता राष्ट्रों के बीच इस बैंक की स्थापना के समय पैदा हुआ था जिसका कारण यह था कि बैंक ने अपने उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए कहा था कि वह विकास परियोजनाओं के लिए आयात किए गए पूंजीगत माल की अदायगी के लिए ही विदेशी मुद्रा देगा, देश के भीतर मजदूरी व वेतनों के लिए ऋण नहीं देगा। इस व्याख्या के अनुसार अगर देश के भीतर मजदूरी और वेतनों की अदायगी कर की आय से की जाए या समान मात्रा में अन्य घरेलू परिव्ययों को कम करके ऋण लिया जाए और ऋण की सहायता न ली जाए तो जरूरत भर की सारी विदेशी मुद्रा उस बैंक से उधार मिल जाएगी। परन्तु यदि इसका उद्देश्य अन्य घरेलू परिव्ययों को कम किए बिना ही अपने श्रमिकों को लगाकर पूंजी निर्माण करना हो तो बैंक से उधार मिलने वाली विदेशी मुद्रा अपर्याप्त होगी। कम विकसित देशों में बेकारी की वर्तमान मात्रा को देखते हुए यदि वे दर कराधान या स्फीति के बिना देश के भीतर पूंजी निर्माण करना चाहें तो उन्हें अपने अतिरिक्त कार्यक्रम के लाभार्थ हुए खर्च के बराबर अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की जरूरत पड़ेगी।

यदि घरेलू बचत काफी मात्रा में हो तो विद्यमान [illegible] करके या [illegible] [illegible] मुद्रा [illegible] है।

विभिन्न देशों में निजी स्वामित्व में सोने, रत्नाभूषणों और विदेशी मुद्रा की मात्रा बहुत भिन्न-भिन्न है। दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में और मध्य-पूर्व के देशों में सोने और रत्नाभूषणों का निक्षय करने की आम प्रथा है, अन्य देशों में वर्तमान निक्षयों की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। इस रूप में कितना धन छिपा पड़ा है यह पता नहीं है, परन्तु अनुमानों के अनुसार यह राष्ट्रीय आय के ३० प्रतिशत से अधिक नहीं है, हां यदि इसे प्रतिशत के रूप में न बताया जाए तो यह राशि बहुत बड़ी लगती है। इन राशियों को इकट्ठा करने का कोई सरल उपाय नहीं है। बहुत से देशों ने (जैसे ब्रिटेन) खजाने को बताए बिना सोना या विदेशी मुद्रा रखना अपराध घोषित कर दिया है। परन्तु ऐसे कानून का प्रभावी होना कुछ तो इस बात पर निर्भर होता है कि लोग कानून का कितना पालन करते हैं और कुछ इस बात पर कि कितने जोर-शोर से और कड़ाई से इन कानूनों को लागू किया जाता है। सोना गाड़कर रखने की प्रवृत्ति स्फीति के कारण पैदा होती है और लोगों से स्वेच्छापूर्वक धन निकलवाने की आशा शायद उसी हालत में की जा सकती है जब लोगों को देश की मुद्रा की स्थिरता में विश्वास हो जाए। कुछ समय के लिए आकर्षक कीमत देने की नीति को अपनाकर भी कुछ गड़ा हुआ धन प्राप्त किया जा सकता है। कठोर सरकारें लगभग सत्तारूढ़ होते ही निजी निक्षयों को इकट्ठा करने में सफल हो जाती हैं, परन्तु अपेक्षाकृत कम कठोर देशों में निक्षिप्त धन धीरे-धीरे ही निकलता है और विकास के लिए अपेक्षित विदेशी मुद्रा के एक थोड़े-से भाग के बराबर ही होता है।

देश की मुद्रा के पीछे उतनी ही मात्रा में विदेशी मुद्रा रखकर कुछ सरकारें स्वयं काफी बड़े पैमाने पर धन दबाकर रख रही हैं। उदाहरण के लिए, सभी ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकारों में ऐसा ही है, क्योंकि औपनिवेशिक मुद्रा-प्रणाली के अनुसार उपनिवेश की मुद्राओं के पीछे १०० प्रतिशत स्टर्लिंग रखा जाना आवश्यक है। स्पष्ट है कि किसी देश की मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत विदेशी मुद्रा रखा जाना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसी किसी परिस्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती जब देश की सारी मुद्रा एक साथ देशी प्रचलन से गायब हो जाए। कुछ लोगों का कहना है कि ब्रिटिश उपनिवेशों के मामले में इस परिपाटी से कोई हानि नहीं होती। मुद्रा के पीछे रखी गई देशी स्टर्लिंग का निवेश उत्तम ऋणपत्रों में कर दिया जाता है, जिनसे दीर्घकालीन दर पर ब्याज मिलता है और यदि इन उपनिवेशों को धन की जरूरत पड़े तो इसी दर पर लन्दन से ऋण लेने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। यदि यह बात सच है तो मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत स्टर्लिंग रखने से विकास के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं होती; यदि किसी उपनिवेश को उतने ही ब्याज-दर पर

ऋण लेने में कठिनाई हो, जितने ब्याज-दर पर वह ऋण दे रहा हो, तभी यह बात विचारणीय होगी।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान और उसके तुरन्त बाद अनेक देशों द्वारा संचित पौण्ड-पावने का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। इनमें से अधिकांश देशों के पावने अब इतने कम रह गए हैं कि उनकी रकम मुद्रा की आवश्यक रक्षित निधियों से कुछ विशेष अधिक नहीं है। परन्तु एक या दो देश अभी भी अपना पौण्ड-पावना बढ़ा रहे हैं, क्योंकि उनकी विदेशी कमाई उनके आयातों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही है। इन पावनों के कारण ही भारत या मिस्र-जैसे देश विदेशी मुद्रा की तंगी अनुभव किये बिना ही अपने विकास-कार्यक्रमों को आगे बढ़ा पाए, और ये पावने उन महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक है (दूसरा कारण अमरीकी विदेशी सहायता-कार्यक्रम है) जिनकी वजह से युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय निवेश की गति मन्द रहने के बावजूद विश्व-उत्पादन पूरी तेजी से बढ़ा।

गड़ा हुआ धन इकट्ठा कर चुकने के बाद विदेशी सहायता की सम्भावनाओं पर विचार करने से पहले हमें निर्यात की तुलना में घरेलू उपभोग की वस्तुओं के आयात का अनुपात कम करके विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की सम्भावना पर भी ध्यान देना चाहिए। परन्तु बचत बढ़ाए बिना ऐसा नहीं किया जा सकता। अतः यह प्रश्न विदेशी वित्त-सम्बन्धी इस खण्ड की बजाय घरेलू बचतों के सम्बन्ध में पहले की गई चर्चा से सम्बन्धित है। आयात की वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार करके, निर्यात बढ़ाकर, या विदेशी मुद्रा का राशन करके अधिक विदेशी मुद्रा उपलब्ध की जा सकती है। यदि प्रशासन कुशल हो तो विकास-कार्यों के लिए इसे इकट्ठा कर पाना अधिक कठिन नहीं है, पर ऐसा करने के परिणाम बुरे होते हैं। इसका कारण यह है कि यदि आम जनता को इच्छानुसार आयातों पर खर्च न करने दिया गया तो वह घरेलू सामानों पर अधिक खर्च करेगी। यदि निर्यात की जाने वाली और घरेलू उपभोग में आने वाली वस्तुएँ एक-जैसी हों तो इससे निर्यात में कमी हो जाएगी, और इस प्रकार आयात-नियन्त्रण का प्रयोजन भी विफल हो जाएगा। यदि यह समस्या पैदा न हो, या इस पर काबू पा लिया जाए, तो अतिरिक्त घरेलू व्यय के कारण देश में स्फीति पैदा हो जाएगी, जो कि बचत का एक रूप है। अथवा, यदि स्फीति से बचना हो तो कराधान के जरिए या स्वेच्छा बचत की मात्रा बढ़ाकर देशी वस्तुओं पर होने वाले खर्च में भी उतनी ही कमी करना आवश्यक होगा जितनी कमी आयात में की गई हो। धन विदेशी मुद्रा की कमाई के नियन्त्रण को निवेश के लिए धन प्राप्त करने का अतिरिक्त साधन मानने की बजाय घरेलू बचतें बढ़ाने की नीति का एक अंग

जाती हैं। हर उद्योग एक अनुपात से विकसित होता है, शुरू में काफी धीरे-धीरे, उसके बाद तेजी से, और उसके बाद फिर बहुत धीरे धीरे। अतः किसी विशेष काम में निवेश करने वालों के सामने कभी-न-कभी ऐसी स्थिति अवश्य आ जाती है जब देश के भीतर उस काम में निवेश की अधिक गुंजाइश नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में वे अपने संचित लाभों को और दूसरे कामों में लगा सकते हैं। परन्तु उनके अन्दर उसी उद्योग में लगे रहने की इच्छा होती है जिसका उन्हें विशिष्ट ज्ञान होता है, और इसीलिए वे नये देशों में वही उद्योग शुरू करने के लिए अपने लाभों का उपयोग करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन के रेल-उद्योग से सम्बन्धित लोग देश में रेलों का विकास कर चुकने के बाद विदेशों में रेलें चलाने और उनका विकास करने की ओर प्रवृत्त हुए। ब्रिटिश टिन कम्पनियों ने मलाया और नाइजीरिया में टिन की खानों में काम शुरू करने के लिए पूंजी निर्यात की, इसी प्रकार अमरीका के तेल और तांबे के व्यापारियों ने विदेश में इन्हीं कामों में पूंजी लगाई। विकसित देशों से आने वाले माल पर लगी रोकों से प्रायः ऐसे पूंजी निर्यात को सहायता मिलती है जैसे कि अमरीकी विनिर्माता-संस्थाओं को लैटिन अमरीका में अपनी सहायक संस्थाएँ खोलने के लिए पूंजी लगाने की प्रेरणा मिली अथवा कम मजदूरी वाले देशों में नये नये विकासोन्मुख उद्योगों के साथ होड़ के कारण भी पूंजी के ऐसे निर्यात को सहायता मिलती है, जैसे कि ब्रिटेन को भारत में जूट और सूती कपड़े के कारखानों में पूंजी लगाने की प्रेरणा मिली।

पूंजी के इस प्रवाह में रुकावट केवल इस कारण ही नहीं पड़ती कि विकसित देश में निवेश के नये अवसर सदैव उत्पन्न होते रहते हैं बल्कि इस कारण भी पड़ती है कि कम विकसित देशों में निवेश-सम्बन्धी अनेक कमियां होती हैं। अतः यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि कम विकसित देशों में पूंजी-निवेश सिर्फ इसलिए लाभप्रद होता है क्योंकि वे कम विकसित होते हैं। सच तो यह है कि इन देशों में पूंजी-निवेश के लिए कुछ बड़ी असुविधाएँ होती हैं। एक बात तो यह है कि सामाजिक ढांचा हमेशा इसके लिए उपयुक्त नहीं होता। जहां तक सम्भाव्य उत्पादकता का सम्बन्ध है लोगों का आनुवंशिक गठन चाहे लगभग एक-जैसा ही हो, परन्तु उनकी सांस्कृतिक विरासत बिलकुल भिन्न होती है। जहां एक ओर प्रशिक्षा आधुनिक औजारों की कमी, और मजदूरी-सम्बन्ध के साथ सामञ्जस्य न होने के कारण उत्पादकता कम रहती है वहां दूसरी ओर सरकार के रूप और सामाजिक प्रवृत्तियों में भेद होने के कारण पूंजी निवेश की अनिश्चितता बढ़ जाती है। अतः यह जरूरी नहीं है कि विकसित देशों में थोड़ा लाभ दे सकने वाली नयी टेकनीकें कम विकसित देशों में निवेश के लिए विशेष आकर्षक साबित हों। इसके अलावा पूंजी की कमी का

दुर्भेद्य चक्र भी है। यदि कोई नया उद्यम आरम्भ किया जाए तो उसकी उत्पादकता केवल उसी पर निर्भर नहीं होती, बल्कि ऐसे अन्य सभी उद्योगों की कुशलता पर निर्भर होती है जिनकी सेवाओं की जरूरत उस नए उद्यम को पड़ने वाली हो—विशेष रूप से सामान्य इंजीनियरी सेवाएं पुर्जे आदि की सप्लाई करने वाले उद्योग परिवहन तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाएँ। इन सेवाओं की कुशलता अंशत इस बात पर निर्भर होती है कि इनमें कितनी अधिक पूंजी लगी हुई है। अत किसी निवेश की उत्पादकता उससे पहले अनेक कामों में किये गए निवेशों की उत्पादकता पर निर्भर होती है। कम-से-कम एक निश्चित सीमा तक तो पूंजी-निवेश का प्रतिफल ह्रासमान होने की बजाय वर्द्धमान ही होता है। अत नये देशों में पूंजी-निवेश करने की बजाय ऐसे देशों में पूंजी-निवेश करना भी अधिक लाभदायक हो सकता है जिनमें पहले से ही खूब पूंजी हो। यदि सदैव ही ऐसा हो, तो कोई भी देश अपनी पूंजी किसी अन्य देश में नहीं लगाएगा, अधिक विकसित और कम विकसित देशों के रहन-सहन के स्तर का अन्तर लगातार और भी बढ़ता जाएगा, और शायद हम यह नियम बनाने का दुस्साहस भी कर सकें कि पूंजी में कम विकसित देशों से विकसित देशों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। व्यावहारिक रूप में पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह बहुत थोड़ा होता है, और रहन-सहन के स्तरों का अन्तर भी बढ़ता ही है, अत यह एक प्रकार की चेतावनी है कि केवल विकास के स्तरों पर आधारित सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अगर कोई स्वीकार्य सामान्य सिद्धान्त बनाना हो तो वह प्रति व्यक्ति पूंजी की मात्रा की बजाय उपलब्ध प्राकृतिक साधनों पर आधारित होना चाहिए। समृद्ध तथा सुलभ प्राकृतिक साधनों जैसे उर्वर भूमि, तेल, कोयला या कच्ची खनिज का लाभ उठाने के लिए किये गए निवेश सर्वाधिक उत्पादक होते हैं। नयी टेक्नीकों को प्रचलित करने में पूंजी-निवेश करना भी लाभप्रद है चाहे नये साधन न भी हों, परन्तु इससे उतना लाभ नहीं होता जितना लाभ नयी टेक्नीकों और नये साधनों दोनों को उपलब्ध कराने के लिए किये जाने वाले निवेश से होता है। यही मुख्य कारण है जिसकी वजह से गत सौ वर्षों में निर्यात की गई अधिकांश पूंजी उत्तर तथा दक्षिण-अमरीका और आस्ट्रेलिया चली गई, जहाँ नये साधनों की बहुलता थी, यह पूंजी भारत या चीन नहीं आई, जहां निवेश मुख्यतया पहले से ज्ञात साधनों का बेहतर इस्तेमाल करने के लिए ही किया जा सकता था। इसी कारण ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप तेजी से पूंजी-निर्यातकर्ता बन गए (इनके प्राकृतिक साधन शीघ्र ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे), जबकि कनाडा, अमरीका और आस्ट्रेलिया इस बात के बावजूद कि शेष संसार की तुलना में इन देशों में प्रति-

व्यक्ति सम्पत्ति बहुत अधिक है, बहुत बाद में पूंजी-निर्यातकर्ता बन पाए।

अतः *निकटतम सामान्य सिद्धान्त हम यह बता सकते हैं कि पूंजी में ऐसे* स्थानों की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है जहाँ नये समृद्ध प्राकृतिक साधनों का आसानी से लाभ उठाया जा सकता हो, और ऐसे स्थानों से दूर हटने की प्रवृत्ति होती है जहाँ के साधनों में पहले से ही काफी मात्रा में पूंजी लगी हुई हो, और जहाँ नये साधन अपेक्षाकृत कम हों। यह बात इससे भिन्न है कि कोई देश पूंजी *निर्यात तब करता है जब उसे कच्चा सामान या खाद्य मँगाने की* जरूरत पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन ने अपने आयातों को ध्यान में रखे बिना उन स्थानों पर पूंजी-निवेश किया जहाँ उसे धन कमाने की आशा दिखाई पड़ी। इस शताब्दी के प्रारम्भ में वह लेटिन अमरीका में पूंजी निवेश कर रहा था, शताब्दी के मध्य में यूरोप में रेलवे बनवा रहा था, और उसके बाद वह मिस्र में अनेक कामों में लगाने के लिए धन दे रहा था। इसी प्रकार, अमरीका ने देश के भीतर किसी वस्तु की कमी को देखकर ही अपने विदेशी-निवेश निर्धारित नहीं किये। तांबे और तेल का आयात शुरू करने के बहुत पहले ही अमरीका विदेशों में इन साधनों में पूंजी-निवेश कर चुका था, लेटिन अमरीका के विनिर्माण-उद्योग में भी अमरीका ने भविष्य में कुछ सामान प्राप्त करने की आशा से पूंजी-निवेश नहीं किया है।

प्रायः यह कहा जाता है कि यदि ब्रिटेन को बड़ी मात्रा में मूलतः आवश्यक *वस्तुएँ खरीदने की जरूरत न पड़ती तो वह ऋणदाता नहीं बन सकता था।* परन्तु तथ्य इस कथन की पुष्टि नहीं करते। पहली बात तो यह है कि ब्रिटेन को अपने विदेशगत निवेशों से जो कमाई होती थी और विदेशों को दिये गए कर्जों में से जितना मूलधन वापस मिलता था उसे वह अपने आयातों का भुगतान करने की बजाय विदेशगत पूंजी की वृद्धि करने के काम में ही लगाता था, उसे जो प्राप्त होता था उसे वह फिर विदेशों में निवेश कर देता था। १८७३ से १९१३ के बीच के चालीस वर्षों में ब्रिटेन की अदृश्य कमाइयों में अत्यधिक वृद्धि *हो जाने के बावजूद १९१३ में उसका वास्तविक आयात राष्ट्रीय आय के* उसी अनुपात (२८ प्रतिशत) में बना रहा, जितना कि १८७३ में था। (सम्भव है कि श्री ए० आर० प्रेस्ट का १८७३ का राष्ट्रीय आय का आकलन, जिस पर यह गणना आधारित है, कुछ कम हो, परन्तु इस आकलन में उचित वृद्धि कर देने से भी यही निष्कर्ष निकलेगा कि विदेशी ऋणों पर मिलने वाला ब्याज मुख्य रूप से राष्ट्रीय आय के साथ आयात का अनुपात बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि विशेष रूप से राष्ट्रीय आय के साथ विदेशी निवेश का अनुपात बढ़ाने के लिए खर्च किया जाता था।) विदेशों में पुनर्निवेश की *ऐसी नीति के* परिणामस्वरूप विदेशी निवेश में तो तेजी से वृद्धि हो जाएगी परन्तु यदि राष्ट्रीय

आय की तुलना में देशी बचतों में वृद्धि न हो रही हो तो सम्भवतः इससे देश के भीतरी निवेश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि लाभों, बचतों, घरेलू निवेश, और विदेशी निवेश को राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में बनाये रखना हो तो विदेशी निवेश के दीर्घकालीन प्रयत्न के फलस्वरूप कालान्तर में राष्ट्रीय आय की तुलना में या तो दृश्य आयात बढ़ना चाहिए या दृश्य निर्यात में कमी होनी चाहिए।

इन सब उलझनों का कारण वह गति है जिससे देश को ब्याज तथा ऋण-परिशोधन से प्राप्त होने वाली राशियाँ देश के बाहर जाने वाली पूँजी के बराबर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रीय आय स्थिर रहे, विदेशों को दिये जाने वाले ऋण उतनी ही मात्रा में रहें और बीस वर्ष बाद वे वापस मिलने हों, तो बीस वर्ष बाद लौटाई जाने वाली राशियाँ देश के बाहर गयी राशियों के बराबर होंगी, और इसके अलावा पिछले २० वर्षों के निवेश पर ब्याज भी आएगा, जिसे आयात की प्रवृत्ति बढ़ाकर या इसके बदले में दृश्य निर्यातों में कमी करके ही खपाया जा सकता है। यदि हम यह मानें कि राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो, और विदेशों को दिये जाने वाले ऋण भी उसी अनुपात में बढ़ रहे हों तो, जैसा कि प्रोफ़ेसर डोमर ने अभी हाल में बताया है (देखिए सदर्भ-टिप्पणी), बीस वर्ष बाद बाहर जाने वाली राशियाँ देश में आने वाली राशियों के ठीक बराबर रहेंगी, यदि ऋणों पर ब्याज की दर और राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर समान हो। परन्तु, जैसी कि अधिक सम्भावना होती है, यदि ब्याज की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर से अधिक हो, तो देश में आने वाली राशियों का स्तर देश के बाहर जाने वाली राशियों के स्तर से बराबर ऊँचा बना रहेगा। यदि, जैसा कि ब्रिटेन के मामले में हुआ, राष्ट्रीय आय की तुलना में दृश्य आयात और निर्यात स्थिर रहें, और ब्याज तथा ऋण-शोधन के रूप में मिलने वाली राशियों का पुनर्निवेश कर दिया जाए तो परिणाम और भी अधिक उलझनपूर्ण हो जाता है। ऐसे मामले में राष्ट्रीय आय के साथ विदेशी निवेश का अनुपात हमेशा बढ़ता ही रहता है, और यदि ब्याज की दर और आय की वृद्धि की दर बराबर ही हो तो समान्तर श्रेणी में बढ़ता है, और यदि ब्याज की दर आय की वृद्धि की दर से अधिक हो तो और भी तेज़ी से बढ़ता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई देश प्रतिवर्ष अपनी राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत का निवेश विदेश में करता है, और उस पर मिलने वाले ५ प्रतिशत ब्याज का पुनः निवेश कर देता है, और राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होती है, तो चाहे ऋण अशोध्य हो फिर भी वार्षिक निवेश पहले साल में राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत से बढ़कर तीसवें साल में राष्ट्रीय आय का ६ प्रतिशत हो

जाएगा, और इससे भी अधिक तेजी से बढ़ता जाएगा। १८७० और १९१३ में ग्रेट ब्रिटेन के विदेशी निवेश की स्थिति बहुत-कुछ इससे मिलती-जुलती थी। यदि इससे बचना हो, और आयात की प्रवृत्ति को भी स्थिर रखना हो, तो राष्ट्रीय आय की तुलना में दृश्य निर्यात अवश्य कम किया जाना चाहिए। इस अवधि में चक्रीय और दीर्घकालीन उतार-चढ़ाव के कालों को छोड़कर ब्रिटेन का दृश्य निर्यात उसकी राष्ट्रीय आय के एक निश्चय अनुपात पर स्थिर रहा, परन्तु विनिर्मित सामान के विश्व-निर्यात में उसका भाग तेजी से कम होता गया, और यदि वह अपनी अदृश्य कमाई को विदेश में पुनर्निवेश करने के लिए तैयार न होता तो उसका भाग और भी तेजी से कम होता जाता।

ब्रिटेन के मामले में जो कुछ हुआ उसके बारे में भ्रान्त धारणाओं के कारण कुछ लेखकों में यह भय पैदा हो गया है कि अमरीका विश्व के महणदाता के रूप में ब्रिटेन का स्थान नहीं ले सकता, पर यह भय निराधार है। पहली बात तो यह है कि विदेशों से प्राप्त राशियों का पुनर्निवेश कर दिए जाने की स्थिति में ऐसी *आयात करना आवश्यक नहीं होता, दूसरी बात यह है* कि ऐसी आशा करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता कि अमरीका का खाद्य और कच्चे माल का आयात उसकी राष्ट्रीय आय की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ेगा (अधिकांश *लोग यही आशा करते हैं कि आयात अधिक तेजी से बढ़ेगा*), और तीसरी बात यह है कि इस समय संसार में विनिर्मित वस्तुओं के कुल निर्यात की तुलना में अमरीका का निर्यात इतना अधिक है कि अमरीका अपने तैयार माल के निर्यात की वृद्धि की दर कम करके काफी हद तक विश्व-संतुलन बनाए रखने में सफल हो सकता है। जब तक संसार में मूलतः आवश्यक वस्तुओं की माँग बढ़ती रहेगी, नये प्राकृतिक साधनों में निवेश करना लाभदायक बना रहेगा, और कोई कारण नहीं है कि निवेश करने वाले देश अनिवार्यतः सामान का आयात भी करें।

यदि नये प्राकृतिक साधनों का उपयोग आरम्भ करने के काम में लगाए जाने वाले निवेश सर्वाधिक लाभदायक हों, तो यह तर्क युक्तिसंगत मालूम होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी की तुलना में आजकल अन्तर्राष्ट्रीय निवेश की गुंजाइश कम रह गई है क्योंकि पूंजी की कमी वाले ऐसे साधन-सम्पन्न देश अब नहीं हैं जैसे कभी अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया थे। यदि यह सच है तो अन्तर्राष्ट्रीय निवेश बहुत-कुछ सीमा तक इस बात पर निर्भर होना चाहिए कि आधिक विकसित देशों में जो उद्योग और प्रक्रियाएँ लाभप्रद सिद्ध हो चुकी हैं लेकिन इस समय देश में जिनका विस्तार अपेक्षाकृत धीमी गति से हो रहा है, उनको नए देशों में आरम्भ करने के लिए नयी टेकनीकों का अन्तरण कितना लाभप्रद सिद्ध होगा। (चूंकि इस प्रकार के निवेश के बदले में खाद्य और कच्चे सामान का आयात अनिवार्यतः नहीं होता, अतः यह जरूरी नहीं है कि इससे वे

समस्याएं पैदा हों जिन्हें गलती से मूलतः आवश्यक वस्तुओं से सम्बन्धित समझा जाता है।) यह तर्क अवश्य रखा जा सकता है कि अधिक विकसित और कम विकसित देशों के बीच अन्तर जितना ही बढ़ता जाता है, नयी टकनीकों को चालू करने से प्राप्त होने वाला लाभ भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है, अतः इस समय अधिक विकसित देशों (टकनीक की दृष्टि से) से अधिक पिछड़े देशों में कृषि-जैसे क्षेत्रों में पूंजी-अन्तरण की भारी गुंजाइश है। परन्तु टेकनीक का अन्तरण केवल निवेश पर ही आश्रित नहीं है, यह सामान्य रूप से सामाजिक परिवर्तनों पर, और विशेष रूप से शिक्षा-सम्बन्धी और विस्तार-सम्बन्धी सुविधाओं के वर्द्धन पर निर्भर होता है, जिसके लिए विभिन्न स्तरों पर प्रयत्न करने होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिकांश काम सरकार को करना पड़ता है, उदाहरण के लिए, कृषि-क्षेत्र में विस्तार-सेवाएँ आरम्भ करना, सिंचाई-सुविधाएँ बढ़ाना, प्रचुर संख्या में ग्राम उधार-समितियों की व्यवस्था करना, और इसी प्रकार के अन्य काम। नये प्राकृतिक साधनों का उपयोग आरम्भ करने की अपेक्षा नयी टेकनीकें लागू करने के काम में प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश की गुंजाइश सम्भवतः बहुत अधिक सीमित होती है। विदेशी पूंजी की चाहे कितनी ही जरूरत हो, और उत्पादन पर इसका चाहे कितना ही प्रभाव क्यों न पड़े, परन्तु पुराने साधन लाभप्रद नहीं रह जाते। थोड़ी ही देर में हम पुनः इस बात को लेंगे।

पहली बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के वर्तमान गतिरोध का प्रत्यक्ष कारण कम-से-कम उनमें से कोई भी बात नहीं है जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह तो १९३०-१९३६ की बड़ी मन्दी और उसके बाद की घटनाओं के कारण पैदा हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का पूर्ण पुनरुत्थान पहले विश्वयुद्ध के बाद हुआ। इस युद्ध के तुरन्त पूर्व यह लगभग १९,००० लाख डालर था, और उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में यह लगभग ३०,००० लाख डालर हो गया, यदि कीमतों में हुए परिवर्तन को ध्यान में रखा जाए तो वास्तविक रूप में दोनों का मूल्य लगभग बराबर ही था। हाँ, निवेश के प्रवाह के स्रोतों तथा दिशा में उल्लेखनीय परिवर्तन अवश्य हो गए थे। अमरीका निवल उधारकर्ता नहीं रह गया था, और उधार दी जानेवाली राशियों में से आधी वह देने लगा था, ब्रिटेन का अंशदान पहले से ही काफी कम हो चुका था। और जर्मनी, जो प्रथम विश्वयुद्ध के पहले बड़ी मात्रा में उधार दे रहा था, अब उधार दी जाने वाली कुल राशि में से लगभग आधी स्वयं उधार ले रहा था। इसके साथ ही मूलतः आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले समुद्रपार के देशों की स्थिति नाजुक हो गई थी, वास्तविक मूल्य को देखते हुए

१९२०-१९२९ के बीच उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध के पहले मिलने वाले उधार का लगभग आधा ही मिल रहा था। निवेश के प्रवाह की दिशा में हुए इस परिवर्तन को कुछ लोगों ने बहुत महत्त्व दिया है और इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि जर्मनी के पुनर्निर्माण में होने वाला निवेश मूलतः आवश्यक वस्तुएँ तैयार करने वाले समुद्र-पार के देशों में होने वाले निवेश की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक असुरक्षित था, क्योंकि समुद्र-पार के देश ऐसी मूलतः अनिवार्य वस्तुओं में भुगतान कर सकते थे जो सहज स्वीकार्य थीं जबकि जर्मनी केवल अस्वीकार्य विनिर्मित वस्तुओं के जरिए भुगतान कर सकता था। परन्तु इस तर्क की मान्यता के सम्बन्ध में हम पहले ही सन्देह प्रकट कर चुके हैं, और सच तो यह है कि १९३०-१९३९ के बीच जब बड़ी आर्थिक मन्दी आयी तो मूलतः आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों को भी उतनी ही हानि पहुँची जितनी जर्मनी को, और अपनी देनदारियों को भुगतान में उन्हें भी उतनी ही कठिनाई हुई जितनी जर्मनी को।

इस मन्दी में परिणामस्वरूप अमरीका का मुख्य ऋणदाता बन जाना एक बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि उस देश में विदेशी उधार-सम्बन्धी परम्पराओं तथा संस्थानों का अभाव था। ख्याल है कि संस्थानों के अभाव में उधार देने की लागत भी बढ़ी, और साथ ही ऋण देते समय पर्याप्त विवेक से भी काम नहीं लिया गया, जिसके कारण अमरीकी ऋण संकट का उतना सामना नहीं कर सके जितना ब्रिटेन के ऋण कर सके। विदेशी उधार की परम्पराएँ न होने से भी उधारदाता अधिक घबरा गए। अनुभवी उधारदाता जानता है कि मन्दी के बाद तेजी आती है, अतः मन्दी आने पर वह हताश नहीं होता। बहुत से अमरीकी उधारकर्ता १९२०-२९ के बीच अति आशावादी प्रचार के कारण धोखे में आ गए, और इसी तरह १९३०-३९ के बीच अत्यधिक निराश हो गए। परम्पराओं या संस्थानों का अभाव वास्तविक कारण रहा हो या न रहा हो, परन्तु यह सच है कि जब बड़ी मन्दी आई, और बहुत से उधारकर्ता अपनी देनदारियाँ नहीं भुगता पाए तो अमरीकी उधारकर्ताओं में विदेशी उधार की सम्पूर्ण संकल्पना के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया हुई। युद्धकालीन ऋणों की अदायगी न हो पाने पर तो और भी अधिक आक्रोश प्रकट किया गया। १९३४ में फेडरल एक्ट द्वारा अमरीका में ऐसी किसी सरकार के बांड बेचना अपराध घोषित कर दिया गया जो अमरीकी सरकार के प्रति अपने दायित्वों को पूरा नहीं कर सकी थी। यह एक्ट फिनलैंड की सरकार को छोड़कर संसार की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण सरकारों पर लागू हुआ। साथ ही, कई राज्यों की विधानसभाओं ने एक्ट पास करके सांस्थानिक उधारकर्ताओं को विदेशी सरकार के बाण्ड रखने से रोका। चूँकि सरकारें ही सबसे ज्यादा उधार लेती हैं,

अत इससे अन्तर्राष्ट्रीय निवेश को बड़ी भारी ठेस पहुँची, यहाँ तक कि १९५४ म भी अमरीका मे किसी विदेशी सरकार के ऋण-पत्र सफलतापूर्वक बेच पाना सम्भव नहीं था। दूसरे विश्व-युद्ध के अन्त मे जब राष्ट्रसघ का पुनर्निर्माण तथा विकास-बैंक खोला गया तो उसके प्रेसीडेन्ट को लगभग दो साल तक राज्य-विधानसभाओं मे जा-जाकर उनसे ऐसे एक्ट पास करने के लिए आग्रह करना पड़ा जिनके अनुसार सांस्थानिक निवेशकर्ताओं को इस बैंक द्वारा आगे किये गए बाण्ड रखने की छूट मिल सके।

युद्धकालीन ऋण की अदायगी न करना एक राजनीतिक निश्चय था जो ऋणी देशों द्वारा १९३२ में लोसेन में किये गए एक करार का परिणाम था। इस करार का आशय यह था कि ऋणी देश उन ऋणों का भुगतान छोड़ने के लिए तैयार थे जो उन्होंने दिये थे, बशर्ते कि इसके बदले में अमरीका उन ऋणों का भुगतान छोड़ने के लिए तैयार हो जो उसे इन देशों से वसूल करने थे। अमरीका तो अपना दावा छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, पर अन्य देशों ने (फ़िनलैंड को छोड़कर) युद्धकालीन ऋणों को रद्द मानने का निर्णय कर लिया। वैसे, अन्य ऋणों की अदायगी न होने का कारण काफी हद तक ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो ऋणी देशों के वश में नहीं थीं। बड़ी मन्दी के प्रभाव बहुत भीषण थे। विश्व-व्यापार का डालर-मूल्य तीन वर्षों मे ६० प्रतिशत घट गया। विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन ३० प्रतिशत कम हो गया, और यद्यपि मूलत आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को घटने से रोकने मे काफ़ी सफलता मिली, परन्तु आयात-निर्यात-स्थिति में अचानक प्रतिकूल परिवर्तन आ जाने के कारण मूलत आवश्यक वस्तुएँ पैदा करने वाले देशों की आमद-नियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस स्थिति मे अमरीका को छोड़कर संसार के अधिकांश देश भुगतान-शेष के गम्भीर सकट मे फँस गए। विदेशी मुद्रा पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया, और खाद्य तथा कच्चे माल के अत्यावश्यक आयातों को बनाए रखने के लिए कई मामलो मे यह बिलकुल सच था कि ऋण का भार उतारने के लिए विदेशी मुद्रा कतई उपलब्ध नहीं थी। सचमुच ही वे देश ऐसे सकट मे फँस गए थे कि न तो निजी खाते मे और न सरकार के खाते मे कोई धन उधार ले सकते थे। १९३०-१९३९ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय निवेश घटकर बिलकुल नहीं के बराबर रह गया। इन दस वर्षों मे लेनदारों को की गई अदायगियाँ नये उधार से औसतन अधिक थीं।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से विश्व के उत्पादन और व्यापार का पुनरुत्थान अन्तर्युद्ध-अवधि की अपेक्षा अधिक हुआ है, लेकिन अमरीकी सरकार के अनुदानों और एक साम्यवादी देश से दूसरे साम्यवादी देश को दी गई राशियाँ निकालकर अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का औसत केवल २०,००० लाख डालर प्रति-

वर्ष के लगभग ही रहता आया है। १६२० से १६२६ तक या प्रथम विश्व-युद्ध से तुरन्त पहले वाले वर्ष के औसत की तुलना में निश्चय ही यह बहुत कम है। यदि कीमतों में हुई वृद्धि को ध्यान में रखा जाए तो १६२० से १६२६ के निवेश का मूल्य इस समय लगभग ३०,००० लाख डालर के बराबर होगा, और यदि यह मान लिया जाए कि विश्व-उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ निवेश में भी वृद्धि होनी है तो ये आंकड़े ४५,००० लाख डालर के लगभग बैठेंगे। यदि हम यह जानना चाहें कि इस समय निवेश का स्तर इतना कम क्यों है तो हमें यही पता लगेगा कि मांग और पूर्ति दोनों में खामियां हैं।

पूर्ति की खामियां ये रही हैं—(क) पश्चिमी यूरोप की अपेक्षाकृत गिरावट, (ख) अमरीका की बचतों में कमी और (ग) गारंटी की मांग और मांग की खामी यह है कि निजी निवेश के लिए क्षेत्र कम हो गए हैं।

पश्चिमी यूरोप की गिरावट का अर्थ उत्पादन की गिरावट नहीं है बल्कि विदेशी निवेश के लिए उपलब्ध चालू भुगतान-शेष का कम हो जाना है। इसका कारण आयात-निर्यात-स्थिति का प्रतिकूल होना नहीं है क्योंकि इस समय भी यूरोप की आयात-निर्यात स्थिति १६१३ की स्थिति से बहुत भिन्न नहीं है, और न ही इस बात का कोई प्रमाण है कि पश्चिमी यूरोप इस समय १६१३ की अपेक्षा कम बचत कर रहा है। इसके बजाय इस बात का प्रमाण है कि वह स्थानीय रूप से अपनी बचतों के अपेक्षाकृत बड़े भाग का निवेश कर रहा है। पश्चिमी जर्मनी अपने पुनर्निर्माण के बृहद् कार्यक्रम में लगा हुआ है। फ्रांस ने लगभग २५ वर्ष की औद्योगिक गतिरोध-जैसी स्थिति के बाद आंखें खोली हैं और वह इतनी अधिक मात्रा में घरेलू निवेश कर रहा है जितना कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुनर्निर्माण के आरम्भिक दिनों से लेकर अब तक कभी नहीं किया था और ब्रिटेन अपनी राष्ट्रीय आय के उस अनुपात से देश के भीतर निवेश कर रहा है, जिस अनुपात से वह अन्तिम बार १८७०-७६ के बीच कर सका था। ये देश विदेशी निवेश के लिए पूंजीगत माल नहीं दे सकते, क्योंकि वे देश के भीतर इनका उपयोग कर रहे हैं। ब्रिटेन यदि विदेशी सरकारों को उधार लेने या अपने पौंड-पावनों में से खर्च करने की अनुमति दे भी देता है तो भी इससे भुगतान-शेष में अनुकूल गति लाने में सफलता नहीं मिलती, क्योंकि अपेक्षित पूंजीगत माल का निर्यात नहीं हो पाता। अतः कागजी वायदे चाहे कुछ भी हों, परन्तु पश्चिमी यूरोप जब तक अपने साधनों का घरेलू उपयोग कम नहीं कर देता तब तक यह आशा करना बेकार है कि वह एक बार फिर बड़ा पूंजी निर्यातकर्ता बन सकेगा। ऐसा कब होगा यह पहले से नहीं बताया जा सकता। इस समय मकानों में, कारखानों में, खेती की मशीनों में, कोयला खानों और हर एक क्षेत्र में पूरे ज़ोर-शोर से

निवेश हो रहा है। एक समय ऐसा आ सकता है जब इन क्षेत्रों में से किन्हीं में जैसे मकान-निर्माण या कृषि में, निवेश अपेक्षित स्तर तक पहुँच जाए। यदि अन्य घरेलू मांगों में वृद्धि हुए बिना घरेलू निवेश कम हो जाए तो विदेशी निवेश सम्भव हो सकेगा। साधनों के सरकारी उपयोग में भी कमी हो सकती है जोकि इस समय, विशेष रूप से पुनर्शस्त्रीकरण पर बहुत बढ़ गया है; आजकल (१९५३) ब्रिटेन सैनिक प्रयोजनों के लिए अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग १३ प्रतिशत खर्च करता है जबकि १९३८ में उसका यह खर्च ६ प्रतिशत था। साधनों के सरकारी उपयोग में होने वाली कमी का कुछ भाग प्रत्यक्ष उपभोग में चला जाएगा, पर यह लगभग निश्चित है कि रक्षा-व्यय में कमी होने के फलस्वरूप करों में कुछ ऐसी छूटें भी दी जाएँगी जिनसे उपभोग बढ़ाने की बजाय बचतें बढ़ेंगी।

यदि यह मान लिया जाए कि पश्चिमी यूरोप स्वयं अपनी बचतों का प्रयोग कर रहा है, तो यह निश्चित कर पाना बहुत कठिन है कि उसके लिए वैयक्तिक प्रयोज्य बचतों में तुलनात्मक कमी को कितना महत्त्व दिया जाए। यदि यूरोप के बाजारों में विदेशी बांडों की बिक्री का प्रस्ताव किया गया होता तो उन्हें कौन खरीदता? उदाहरण के लिए, युद्ध से पहले ब्रिटेन में आय-कर निकालकर निवल लाभांश कम्पनियों की निवल आय (करों से पहले) का ४५ प्रतिशत था, सरकार ३२ प्रतिशत ले रही थी और कम्पनियाँ अवितरित लाभों के रूप में १३ प्रतिशत अपने पास रख रही थीं, जबकि १९५८ में लाभांश घटकर १८ प्रतिशत रह गए (राष्ट्रीय आय के ४ प्रतिशत के बराबर), जिसमें से अधिकार भी देना होता था। ऐसी स्थिति में बड़ी मात्रा में विदेशी निवेश तभी सम्भव हो सकता है यदि कम्पनियाँ या सरकारें धन लगाने के लिए इच्छुक हों। कम्पनियाँ विदेशों में नियन्त्रित या सम्बद्ध उपक्रमों में प्रत्यक्ष निवेश कर सकती हैं और करती भी हैं। परन्तु विदेशी निवेश की सबसे बड़ी मद विदेशी सरकारों के बाण्डों की खरीद होती है और कम्पनियों द्वारा इनमें पैसा लगाए जाने की सम्भावना बहुत ही कम है। अतः विदेशी सरकारों के लिए वित्त-व्यवस्था अब लगभग पूरी तरह से सरकारों के आपसी अन्तरण पर ही निर्भर है। अमरीका में भी पश्चिमी यूरोप-जैसी ही प्रवृत्ति है—निजी प्रयोज्य बचतें कम हो गई हैं और साथ ही कम्पनियों व सरकार की बचतें बढ़ गई हैं। अमरीका में यह प्रवृत्ति उतनी तीव्र नहीं है जितनी यूरोप में है, फिर भी, ऊपर बताये गए कारणों से अमरीका के विदेशी निवेशकर्ता या तो विदेशी सरकार के बाण्ड खरीदना ही नहीं चाहते या खरीदने में असमर्थ हैं, इसलिए भविष्य में विदेशी निवेश मुख्य रूप से कम्पनियों द्वारा प्रत्यक्ष निवेश के रूप में और सरकारों के आपसी अन्तरण के रूप में ही होगा।

विदेशी सरकारों की मनमानी कार्रवाई के भय के कारण भी प्रत्यक्ष निवेश में रुकावट पड़ती है, विशेष रूप से लाभों के अन्तरण के लिए, या पूंजी अपने देश में वापस ले जाने के लिए विदेशी मुद्रा दिये जाने की मनाही और राष्ट्रीयकरण का भय होना है। १९३०-३९ के बीच बहुत से मामलों में विदेशी मुद्रा देने से इन्कार किया गया, जिसका सीधा-सा कारण यह बताया गया कि विदेशी मुद्रा उपलब्ध नहीं है। अत आजकल पूंजी-आयातकर्ता देशों से यह घोषणा करने की मांग की जाती है कि वे लाभों या पूंजी के अन्तरण पर रोक नहीं लगाएंगे—कई देश ऐसी घोषणा कर भी चुके हैं। ऐसी घोषणा सद्भावना का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है, लेकिन विदेशी मुद्रा का गम्भीर संकट आने पर अधिक-से-अधिक सद्भावना को भी विदेशी मुद्रा की कमी के सामने झुकना पड़ता है। अत पूंजी-निर्यातकर्ता देशों की सरकारों को सुझाव दिया गया है कि गम्भीर मन्दी की अवधि में उन्हें इस प्रयोजन के लिए अस्थायी ऋण के रूप में विदेशी मुद्रा देने को तैयार रहना चाहिए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि क देश में कोई विदेशी फर्म ग देश को लाभों या पूंजी का अन्तरण करने की अनुमति किसी ऐसे समय पर मांगती है जब विदेशी मुद्रा उपलब्ध न हो, तो ग देश क देश के सेंट्रल बैंक को इस प्रयोजन के लिए जरूरी राशि इस शर्त पर उधार दे सकता है कि वह राशि तीन वर्ष में वापस कर दी जाए (जब तक कि संकट समाप्त हो जाने की आशा है)। ऐसी योजना को वाशिंगटन में पसन्द किया गया है और कुछ प्रकार के निवेशों के लिए इसे लागू किया जा रहा है।

राष्ट्रीयकरण अपेक्षाकृत अधिक कठिन समस्या है। विदेशी फर्में इस बात का आश्वासन चाहती हैं कि उनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा और कुछ सरकारें आश्वासन दे रही हैं कि एक निर्दिष्ट अवधि के बीतने तक, जैसे किसी उद्यम के प्रारम्भ से २५ वर्षों तक, उसका राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा। ऐसे आश्वासन कितने उपयोगी हैं इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी सरकार यह नहीं कह सकती कि उसके बाद आने वाली सरकारें पिछले वायदों को निभाती रहेंगी। इससे अधिक अच्छा आश्वासन यह है कि यदि फर्मों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा तो उनके मालिकों को स्वतन्त्र मध्यस्थों द्वारा निर्धारित उचित मुआवजा दे दिया जाएगा। इस प्रकार के आश्वासन की व्यवस्था देश के संविधान में की जा सकती है और तब यह बदलती हुई सरकारों की स्वच्छन्दता पर इतना निर्भर नहीं रहता। प्राय कहा जाता है कि अब समय आ गया है जब विदेशी निवेशकर्ताओं के विरुद्ध की जाने वाली मनमानी कार्रवाइयों, जैसे भेदमूलक करारोपण, बिना मुआवजा के राष्ट्रीयकरण, लाभों के अन्तरण पर रोक और इसी प्रकार की

अन्य कार्रवाइयों को गैर-कानूनी घोषित करने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संहिता या अभिसमय होना चाहिए। ऐसे अभिसमय से अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का वातावरण सुधारने में सहायता मिलेगी, और इस प्रकार निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु चूँकि कानून तभी प्रभावी होते हैं जब उन्हें लागू किया जा सके, अतः अन्तर्राष्ट्रीय धारणा के बजाय, जिसके पीछे केवल नैतिक शक्ति होती है, अधिक उपयोगी यह है कि पूँजी आदानकर्ता देशों के अपने ऐसे कानून हों जिन्हें वहाँ की सरकार के विरुद्ध वहाँ के न्यायालयों द्वारा लागू करवाया जा सके।

जो प्रत्यक्ष निवेश किए जा रहे हैं उनके संरक्षण की अनिश्चितता एक बड़ा प्रश्न यह भी है कि किन प्रत्यक्ष निवेशों के लिए अनुमति दी जाएगी। यदि ऊपर बताए गए कारणों से विदेशी पूँजी की सप्लाई कम हो गई है, तो उसकी माँग भी कम हो जाएगी, क्योंकि जिन क्षेत्रों में पहले विदेशी पूँजी का महत्त्व सबसे अधिक था उनमें अब प्रत्यक्ष पूँजी निवेश की अनुमति नहीं दी जाएगी। १९१३ में ब्रिटेन का समुद्र-पार निवेश इस प्रकार वितरित था—रेलवे तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाओं में ४६ प्रतिशत, सरकार के स्टॉकों में ३० प्रतिशत, खानों में ९ प्रतिशत, अन्य मदों में १५ प्रतिशत। आजकल बहुत सी सरकारों ने रेलवे तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया है या करने की इच्छुक हैं और बहुत सी अन्य सरकारों को विदेशियों द्वारा खानों तथा बागानों के संचालन पर आपत्ति है। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश की बहुत थोड़ी गुन्जाइश रह गई है। वाणिज्य में विदेशी पूँजी की अनुमति है, पर इसके लिए प्रायः देश के भीतर ही पर्याप्त पूँजी मिल जाती है और कृषि उत्पादन के विपणन हेतु सांविधिक एजेन्सियाँ स्थापित करने की प्रवृत्ति ने वाणिज्य में निजी विदेशी निवेश की गुन्जाइश को और भी सीमित कर दिया है। सामान्यतया विनिर्माण-उद्योग में विदेशी पूँजी का अच्छा स्वागत किया जाता है, परन्तु अधिकांश अविकसित देशों में विनिर्मित वस्तुओं की माँग बहुत कम है, अतः लेटिन अमरीका ही विश्व में ऐसा स्थान है जो विनिर्माण-उद्योग में अधिक विदेशी पूँजी आकर्षित कर रहा है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए बचे हुए सीमित क्षेत्रों को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हाल के वर्षों में अमरीकी विदेशी निवेश का ७० प्रतिशत तेल में लगाया गया है।

आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के महत्त्व के बारे में इसे नापसन्द करने वालों और इसका समर्थन करने वालों, दोनों प्रकार के लोगों को सामान्यतया बड़ी गलतफहमी है। विदेशी निवेश के समर्थन में कहा जाता है कि यह विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करता है, घरेलू आय बढ़ाता है और देश के

भीतर बचत में वृद्धि करता है। परन्तु बचत इसलिए बढ़ती है कि विदेशी उपक्रम स्थानीय लोगों को मजदूरी और वेतन देते हैं, स्थानीय वस्तुएँ खरीदते हैं, और स्थानीय कर अदा करते हैं, इन अदायगियों से उपभोग ही नहीं बढ़ता जिसके फलस्वरूप स्थानीय उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है बल्कि इसके कारण अधिक मात्रा में स्थानीय बचत करना भी सम्भव हो जाता है और स्कूलों, चिकित्सा-सेवाओं तथा अन्य स्थायी सुधारों पर खर्च करने के लिए धन भी मिल जाता है। यदि स्थानीय पूँजी और विदेशी पूँजी दोनों में से किसी एक को पसन्द करना हो तो स्थानीय पूँजी को पसन्द करना लाभप्रद हो सकता है। परन्तु यदि जैसा कि प्रायः होता है विदेशी पूँजी या साधनों की अविकसित स्थिति के बीच किसी एक को चुनना हो तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अधिकाधिक उपभोग, शिक्षा तथा वास्तविक निवेश में लगाने के लिए आय बढ़ाने में विदेशी पूँजी अत्यधिक उपयोगी भूमिका अदा करती है। भविष्य की सम्भावनाओं को देखते हुए विदेशों से मिलने वाली पूँजी के अनुदान की अपेक्षा कुशल व्यक्तियों के रूप में सहायता मिलना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अधिकांश कम विकसित देशों में विदेशी लोग ही नयी टेकनीकें लाते हैं, और जनता में इन नयी टेकनीकों के फैलने के साथ ही विकास होता है। इसी कारण भूतकाल में अनेक देशों ने अपनी सीमा से बाहर जाकर भी विदेशियों को देश में आने और उद्योग स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया। यदि विदेशी अपने शिल्प के रहस्यों को अपने तक ही सीमित रखें तो देश को अधिकतम लाभ नहीं मिलता। अतः विदेशियों को आने की अनुमति इस शर्त पर दी जानी चाहिए कि उन्हें स्थानीय व्यक्तियों को अवश्य प्रशिक्षित करना पड़ेगा। इन दिनों विदेशियों के पास सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिल्प बड़े-बड़े उद्योगों का प्रबन्ध करने की टेकनीक है। अन्य बहुत से शिल्प टेकनीकी कॉलिजों या विश्वविद्यालयों में सीखे जा सकते हैं, परन्तु व्यवसाय प्रबन्ध का ज्ञान व्यावहारिक रूप से व्यवसाय के प्रबन्ध द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः यदि विदेशी लोग देशी लोगों को प्रबन्ध-सम्बन्धी पदों पर, जिन पर रहकर वे अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, रखने से इन्कार कर दें तो वे देश की अर्थ-व्यवस्था पर स्थायी होकर अपना अधिकार जमाए रख सकते हैं। यही कारण है कि आजकल बहुत से देश कानून द्वारा विदेशी व्यवसाय के लिए अनिवार्य बना देते हैं कि उन्हें एक निश्चित प्रतिशत देशी लोगों को पर्यवेक्षक पदों पर रखना पड़ेगा। ब्रिटेन, रूस और जापान-सहित ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ विदेशी व्यवसाय ने आय में पर्याप्त वृद्धि करके और नयी टेकनीकें सिखाकर विकास के प्रारम्भिक चरणों में महत्वपूर्ण योग न दिया हो।

कम विकसित देशों को राजनीतिक और आर्थिक दोनों कारणों से विदेशी

निवेश से भय होता है। राजनीतिक दृष्टि से इस बात का अत्यधिक भय रहता है कि इससे देश की स्वतन्त्रता छिन सकती है। यदि देनदार देशों के संस्थान और आदर्श लेनदार देशों के संस्थान और आदर्शों से भिन्न होते हैं तो लेनदार देशों में सचमुच साम्राज्यवादी कार्यवाहियाँ करने की आकांक्षा पैदा हो जाती है। कनाडा को धन उधार देने वाले लेनदार यह जानते हैं कि कनाडा के न्यायालयों में उन्हें उतना ही संरक्षण मिलेगा जितना उन्हें अपने देश में मिलता, पर बहुत से देशों के बारे में ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता। लेनदार को न्यायालयों के भेद-भाव का या प्रशासनिक भेद-भाव का भय रहता है अतः अपने निवेश के संरक्षण के एक साधन के रूप में ही उनमें साम्राज्यवादी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। संरक्षण की इच्छा के अलावा बेगार लेने या कर से मुक्ति पाने, या लाभप्रद शर्तों पर ठेका पाने, या उपयुक्त स्थानों पर परिवहन-सुविधाओं की व्यवस्था कराने-जैसी विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने की भी लालसा रहती है और इस लालसा के वशीभूत होकर भी कोई शक्तिशाली देश अपने निर्बल पड़ोसी देशों की स्वतन्त्रता छीन सकता है। स्वतन्त्रता का अपहरण आंशिक भी हो सकता है और पूर्ण भी, यदि पूंजीपति राजनीतिज्ञों को रिश्वत देने, या किसी राजनीतिक दल के विरुद्ध किसी अन्य राजनीतिक दल का समर्थन करने तक ही सीमित रहें तो यह स्वतन्त्रता का आंशिक अपहरण होता है, और यदि देनदार देश को औपनिवेशिक बना लिया जाए तो यह स्वतन्त्रता का पूर्ण अपहरण होता है। इस प्रकार के अनेक भय हैं, परन्तु इनकी यथार्थता कुछ हद तक स्वयं उधारकर्त्ता देश पर निर्भर होती है—जैसे उस देश के संस्थान विदेशों को समुचित संरक्षण देते हैं या नहीं, और उसका राजनीतिक जीवन इतना नैष्ठिक है या नहीं कि विदेशी रिश्वत के लालच में न आए। उन्नीसवीं शताब्दी में इस भय के पीछे जितना सार था उतना बीसवीं शताब्दी में नहीं है, क्योंकि अब खुल्लमखुल्ला साम्राज्यवादी व्यवहार करने की प्रवृत्ति कम हो गई है। इसके बावजूद ये भय बने हुए हैं, और यह भी एक सबल कारण है जिसकी वजह से कम विकसित देश इस बात के इच्छुक हैं कि पूंजी-अन्तरण के लिए राष्ट्र-संघ को उचित संस्थान बनाने चाहिएं ताकि पूंजी लेने के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी शक्तियों में से किसी एक बड़ी शक्ति का आश्रित न बनना पड़े।

इन राजनीतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त कुछ लोग इस भय के कारण भी विदेशी निवेश नापसन्द करते हैं कि इससे लाभ अत्यधिक बढ़ जाते हैं। विदेशी निवेश की लाभप्रदता को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताने की आम प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु प्रमाणों से पता लगता है कि विदेशी निवेश घरेलू निवेश की अपेक्षा कोई बहुत अधिक लाभ नहीं देता, विशेषतया यदि हरण के जरिये

निवेश को होने वाली हानि का भी ध्यान में रखा जाए। उदाहरण के लिए, १९१३ में ब्रिटेन के निवेश का लगभग ४० प्रतिशत रेलों में लगा हुआ था, परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मोटर-परिवहन की तर्ज़ी से विकास होने के कारण या कीमतों पर नियन्त्रण के कारण या महायुद्ध-युग की कीमतों पर राष्ट्रीयकरण किए जाने के कारण इस निवेश का अधिकांश अलाभप्रद हो गया। इसी प्रकार दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में मूलतः आवश्यक वस्तुओं (रबर, टिन, चाय, गन्ना आदि) में किए गए प्रत्यक्ष निवेशों में घाटा हुआ। केवल एक ही कुछ मामलों में विदेशी निवेश अत्यधिक लाभप्रद रहे हैं जिनमें चाहे भाग्यवश या राजनीतिक चाल से भूमिगत खनिज वाली ज़मीनें बहुत ही कम रायल्टी पर उठा दी गई हैं। एकाधिकार पैदा करने वाले और न करने वाले विदेशी निवेशों में भेद करना भी बहुत महत्वपूर्ण है। यदि विदेशियों को खनिज क्षेत्रों, या सर्वाधिक उपजाऊ भूमि पर एकाधिकार दे दिया जाए तो स्थानीय लोग उन्हें आत्मसात् नहीं कर सकते, चाहे वे कितने ही सक्षम क्यों न हो जाएँ। परन्तु वाणिज्य या विनिर्माण-उद्योग में विदेशियों का आना अपेक्षाकृत बहुत कम खतरनाक है, क्योंकि इसमें प्राकृतिक एकाधिकार का कोई खतरा नहीं है, और स्थानीय लोग धन और तकनीकी सक्षमता उपलब्ध करते ही उन्हें आत्मसात् कर सकते हैं।

यदि कोई देश स्वयं ही पूंजी और तकनीकी ज्ञान जुटा सके तो विदेशी सहायता के बिना भी उसका विकास-रथ आगे बढ़ सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई देश पूंजी तो इकट्ठी कर लेता है पर तकनीकी ज्ञान नहीं जुटा पाता, ऐसी स्थिति में सबसे अच्छा उपाय सहयोग ही हो सकता है। बहुत से कम विकसित देशों की सरकारें नए उद्योग शुरू करने के लिए विदेशी निजी फर्मों के साथ साझेदारी कर रही हैं जिसमें निजी फर्म उस उद्योग के लिए प्रबन्धक जुटाती है और यथावश्यक पूंजी (कुल पूंजी का ६० प्रतिशत तक) देती है। ऐसी साझेदारी को दोनों पक्ष पसन्द करते हैं, सरकार इसे इसलिए पसन्द करती है कि अगर वह अधिकांश पूंजी अपने पास से लगाए तो उद्योग की नीति पर कुछ नियन्त्रण रख सकती है या अधिकांश लाभ देश के भीतर रख सकती है, और विदेशी फर्में इस इसलिए पसन्द करती हैं कि सरकार के साथ साझा करके वह सुनाम अर्जित करती है और भेद-भाव या दबाव से बची रहती है। सरकारें इस देश के और विदेशी पूंजीपतियों के बीच साझेदारी को भी पसन्द करती हैं, क्योंकि एक तो इससे लाभ देश के अन्दर ही रहते हैं और दूसरे देश के पूंजीपतियों को प्रबन्धकीय ज्ञान व अनुभव प्राप्त होता है। सम्भव है कि भविष्य में इसी प्रकार की साझेदारी के आधार पर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का विकास हो—खास तौर से ऐसे मामलों में जिनमें निजी

परियोजना में करोड़ों पौंड खर्च होने वाला हो।

दूसरी ओर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के समर्थन में चाहे जितने भी ठोस तर्क हों परन्तु ठीक से देखने से साफ पता चलता है कि इस तरह का निवेश बहुत थोड़ा ही होना चाहिए। यह सोचना बिल्कुल गलत है कि प्रत्यक्ष निवेश कभी भी विदेशी निवेश का महत्वपूर्ण रूप रहा है या हो सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि १९१३ में जब विदेशी निवेश खूब उन्नत अवस्था में था, ब्रिटेन के विदेशी निवेश का तीन-चौथाई भाग सरकारी बाण्डों या लोकोपयोगी स्टॉकों में था। यदि हम इस बात को भी ध्यान में रखें कि सरकारी एजेन्सियों की मार्फत पूंजी की व्यवस्था करके छोटे पैमाने की खेती का विकास करने की कितनी गुंजाइश है तो यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि आज जितने विदेशी निवेश की जरूरत है, उसमें से ८० प्रतिशत केवल सरकारों को ही चाहिए। प्रत्यक्ष निवेश तो विदेशी निवेश की समस्या का एक छोटा-सा पहलू है, और खनन तथा विनिर्माण-क्षेत्र के बाहर उसका कोई महत्व नहीं है। यदि विदेशी निवेश का पुनरुत्थान किया जाना है, तो मुख्य समस्याएँ प्रत्यक्ष निवेश से सम्बन्धित नहीं हैं—ऐसा निवेश चाहे कितना ही वांछनीय क्यों न हो—बल्कि विदेशी सरकारों के लिए पूंजी की व्यवस्था करने से सम्बन्धित हैं।

प्रत्यक्ष निजी निवेश की मात्रा सदैव ही थोड़ी रहने का एक कारण यह है कि निजी उधारदाता को हजारों मील दूर रहने वाले निजी उधारकर्त्ता की पात्रता निर्धारित करने में और उसकी गतिविधियों पर निगरानी रखने में कठिनाई होती है। पेराक, या रुमानी, या त्रिनी के किसी छोटे बागान, या फैक्टरी, या व्यापारिक कम्पनी, या खनन संस्था के शेयरों का लन्दन के स्टॉक बाजार में कारबार करना आसान नहीं है। निवेशकर्ताओं के लिए इन उद्यमों की आर्थिक स्थिति जान पाना, या उनके प्रबन्धकों में विश्वास रखना असम्भव है। अतः अधिकांश विदेशी निवेश बिचौलियों की मार्फत करना होता है। ब्रिटिश अफ्रीका की सोने की खान की कम्पनियों ने बड़े समूह बनाकर अपने को थोड़े-से वित्त प्रतिष्ठानों के साथ सम्बद्ध कर लिया है। ये प्रतिष्ठान अपने अधीन कम्पनियों से कुछ शुल्क लेकर उनके लिए कुछ सचिवीय, विपणन-सम्बन्धी तथा अन्य काम करते हैं। ये इन कम्पनियों में छोटा-मोटा निवेश भी कर देते हैं। परन्तु निजी निवेशकर्ता के दृष्टिकोण से ऐसे प्रतिष्ठानों का एक मुख्य काम अपने अधीन कम्पनियों की सदाशयता की गारण्टी देना है, जब इनमें से कोई कम्पनी शेयर जारी करती है तो लन्दन में वे अधिक आसानी से बिक जाते हैं, क्योंकि लोगों को पता होता है कि उसकी गारण्टी किसी अच्छी साख वाले वित्त प्रतिष्ठान ने दी हुई है। पूर्व में चाय और रबर के बागानों के मामले में भी ऐसी ही बात हुई। इनमें से बहुतों का प्रबन्ध

और प्रवतन कुछ विख्यात प्रतिष्ठानों के हाथ में है जिनको नाम बाजारों का गत्यात्मकता को मारने का काम करता है यदि प्रवर्तन का यह प्रथा न हो तो छोटी या मध्यम श्रेणी की व्यापार-सम्बन्धी विश्वसा पूंजी बाजारों में साथ तक पहुँच सकती। इसका और भी एक परिणाम होता है। यह परिणाम विश्वसा स्थापित व्यापार सम्बन्धों में जम गई थी जो गत के नीचे में गमामतन नियमित कम्पनियों और प्रबन्ध अभिकर्ता स्थापित करने की उत्पन्न हुई प्रवृत्ति है। यदि मध्यम आकार की सम्बन्धित विश्वसा बाजार में साथ तक पहुँच सकती तो इस उपाय यह है कि इन छोटे या मध्यम आकार की संस्थाओं को मिलाकर एक विशाल व्यापार संस्था बना दी जाए। प्रबन्ध अभिकर्ता की यह प्रवृत्ति इन क्षेत्रों में पाई जाती जहाँ प्रबन्ध अभिकर्ता स्थापित होते हैं परन्तु यह अनिवार्य रूप से इस कारण पैदा होता है कि विश्वसा पूंजी बाजार छोटी छोटी स्वतन्त्र संस्थाओं की आवश्यक पूंजी नहीं दे सकता। दूसरा परिणाम विश्वसा पूंजी का यह मिलना है जो इन क्षेत्रों की कम्पनियों तक विकसित क्षेत्रों में अपने नगरों की गणपति कम्पनियों आवश्यक उपलब्ध कराता है। इन नीचे के स्थान और तन्त्र के कुछ ये सम्बन्ध में प्राय गया होता रहा है और अब पूंजी जाने का एक उपाय है जिससे विश्वसा पूंजी विनिमाण स्थान में पहुँच गया है इस विकसित क्षेत्रों में जो विश्वसा विनियोजित कम्पनियाँ हैं वे विकसित औद्योगिक क्षेत्रों में चल रहा कम्पनियों को या बड़ी बड़ी समूह वाले व्यापारिक कम्पनियों को हो नगरों या गणपति कम्पनियाँ हैं।

इसका मुख्य कारण है कि निजी विश्वसा पूंजी अधिकांशतया सरकारी बांडों और न्यासों तथा बैंकों में लगी है और व्यापार कृषि या व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से बहुत थोड़ी पूंजी लगी हुई है। यह काम विनियोजकों के बिना प्रभावी ढंग से नहीं हो सकता। भूतकाल में ये विनियोजक साधारणतया बड़ा में स्थापित विश्व प्रतिष्ठान अभिकर्ता कम्पनियाँ या बैंक थे। यदि विनियोजक न होते तो पूंजी बाजार में जो जमाव के लिए प्रबन्ध अभिकर्ता तथा सरकारी स्थापित की प्रवृत्ति पैदा नहीं होता। अभी भारत में सरकार द्वारा प्रवर्तित विकास सम्बन्धी संस्थाओं में एक नए प्रकार के विनियोजक बन गए हैं जैसे कृषि बैंक विकास बैंक या औद्योगिक वित्त निगम। ये सम्बन्धी सरकार की गारंटी पर विश्वसा पूंजी बाजार से धन उधार लेता है और इन की छोटी छोटी फर्मों में विनियोग करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के क्षेत्र में सरकारों द्वारा दिए जाने वाले ऋणों का महत्व कितना अधिक है और निजी साधन द्वारा प्रत्यक्ष निवेश का महत्व कितना कम है। विश्वसा निवेश के इतिहास में स्पष्ट सम्बन्ध है कि विश्वसा सरकारों को अधिकारी पूंजी पर उपलब्ध कराई जाए।

१९२९ से पहले सरकारें पूंजी बाजार व निजी उधारदाताओं से उधार ले सकती थीं। परन्तु अमरीकी विधान या यूरोप के विदेशी मुद्रा-नियन्त्रण, या प्रयोज्य निजी बचत के कम हो जाने के कारण या पहले ऋणों के सम्बन्ध में जनता की प्रतिकूल प्रतिक्रिया के कारण अब बड़ी मात्रा में इस प्रकार ऋण ले पाना सम्भव नहीं है। अतः यदि सरकारों को ऋण लेना होता है तो मुख्यतया उन्हें अन्य सरकारों से लेना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय निजी उधार का युग १९२९ में समाप्त हो गया, यदि अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का पुनरुत्थान हुआ तो वह अन्तर्सरकारी वित्त-दान के रूप में ही होगा।

अन्तर्सरकारी ऋणों की व्यवस्था के सम्बन्ध में पहला महत्वपूर्ण काम १९३३ में अमरीकी निर्यात-आयात बैंक की स्थापना था। यह बैंक अनन्य रूप से तो नहीं पर मुख्य रूप से केवल सरकारों को ही ऋण देता है। उसके बाद महायुद्ध के अन्त में राष्ट्रसंघ ने अपने बहुसंख्यक सदस्यों के मतदान से अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास-बैंक स्थापित किया। इस बैंक को ऋण लेने का भी अधिकार है, जिसका प्रयोग उसने अमरीका और ब्रिटेन में किया है। ये दोनों बैंक कम ब्याज पर (३ से ५ प्रतिशत) ऋण देते हैं और उनके भुगतान की अवधि अपेक्षाकृत लम्बी होती है। इसके अलावा उपनिवेशवादी देशों ने अपने उपनिवेशों में निवेश के लिए सुविधाओं की व्यवस्था कर दी है। ब्रिटेन ने सरकारी निधि से औपनिवेशिक विकास निगम स्थापित कर दिया है जिसका प्रयोजन सीधे निवेश करना है, परन्तु जो निजी उपक्रमों, लोकोपयोगी सेवाओं और लोक-निगमों को भी ऋण देता है। यूरोप की अन्य उपनिवेशवादी सरकारों ने भी इसी प्रकार के कामों के लिए एजेन्सियाँ बना रखी हैं।

अन्तर्सरकारी ऋणों के लिए यद्यपि ये सुविधाएं उपलब्ध हैं, परन्तु लिए जाने वाले कुल ऋणों की राशि बहुत कम है, और विद्यमान सुविधाओं का पूरा लाभ नहीं उठाया जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि वास्तव में ये ऋण 'स्वयंशोधक' आयोजनाओं के लिए दिये जाते हैं, अर्थात् ऐसी आयोजनाओं के लिए दिये जाते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं आय कमाती हैं, जैसे कोई बिजली-घर या इस्पात-मिल, ताकि इनकी आय से ब्याज की अदायगी और पूंजीगत ऋण की वापसी की जा सके। इस समय इन देशों में विकास-कार्य के जरूरी खर्च ऐसे हैं जिनसे स्वयं ऋण-शोधन नहीं होता, जैसे शिक्षा, सड़कों, लोक-स्वास्थ्य, अनुसन्धान, कृषि-विस्तार, या सामुदायिक विकास पर होने वाले खर्च, अन्य अनेक आयोजनाएं केवल अंशतः 'स्वयंशोधक' होती हैं, जैसे गाँवों में पानी की सप्लाई-सम्बन्धी योजनाएं, भूमि-संरक्षण या भूमि-सुधार के काम। अधिकांश कम विकसित देशों में इन्हीं कामों को सर्वोच्च वरीयताएं प्राप्त होती हैं। १९२९ से पहले ऋण चुकाने में समर्थ कोई भी सरकार अपनी पसन्द के

किसी काम के लिए या कोई काम चलाए बिना भी पूंजी बाजार से ऋण ले सकती थीं। अब ये संस्थाएं इस प्रकार की सुविधाएं नहीं देतीं। ये लोकोपयोगी सेवाओं के लिए ऋण देती हैं, परन्तु सरकार के विविध कार्यों के लिए ऋण नहीं देतीं जबकि पहले विदेशी उधार का एक तिहाई भाग इसी प्रकार के कामों के लिए होता था।

इसके अलावा, चूंकि सरकारों को लोक-सेवाओं में विस्तार करने के लिए रुपया उधार नहीं मिलता अतः लोकोपयोगी तथा अन्य स्वयंशोधक आयोज-नाओं के लिए रुपया उधार लेने की उनकी सामर्थ्य भी नहीं बढ़ पाती। आम तौर से माँग निरन्तर पर्याप्त लोक-सेवा-व्यवस्था पर ही निर्भर होता है। विशेषतया यदि किसी नियम को स्वीकार किया जाता हो तो सभी शिक्षा-सम्बन्धी व प्रशिक्षण-सुविधाओं की माँग में भारी वृद्धि हो जाती है। बाँधों, सड़कें बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए इंजीनियरों, वैज्ञानिकों तथा प्रशासकों की जरूरत होती है और अन्य सभी स्तरों पर कारीगरों जैसे राज-गीर, बढ़ई, मकैनिक, बिजली मिस्त्री आदि की जरूरत होती है। प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी कुछ हद तक राष्ट्रमण्डल के समझौते से कोलम्बो आयो-जना में भाग लेने वाले राष्ट्रमण्डलीय देशों की तकनीकी सहायता से और उप-निवेशों को उनकी उपनिवेशवादी सरकारों द्वारा मिलने वाली सहायता से पूरी की जा सकती है, परन्तु इस बात के अलावा कि सारे संसार में शिक्षकों की कमी है, इन देशों की मूल आवश्यकता स्वयं अपने देश के लोगों को प्रशिक्षित करने की है। इस सब प्रकार की शिक्षा पर बहुत अधिक धन खर्च करने की जरूरत है, और जब तक ये इसके लिए धन का प्रबन्ध नहीं करते तब तक ये स्वयंशोधक योजना का उपयोग नहीं कर सकते।

अतः स्वयंशोधक न होने वाले खर्चों के लिए धन का प्रबन्ध करने हेतु अन्तर्सरकारी अन्तरणों की सुविधाओं के बारे में चर्चा की जाती है। सैद्धान्तिक रूप से इस प्रयोजन के लिए भी ऋण सुविधाएं दी जा सकती हैं, क्योंकि राष्ट्रीय उत्पादकता बढ़ाने वाला कोई भी कार्य ब्याज और भुगतान प्रभार का भार उठा सकता है। परन्तु चूंकि बढ़ी हुई उत्पादकता सीधे सर-कारी खजाने में नहीं आती अतः स्वयंशोधक न होने वाले खर्चों में ऋण लेकर पैसा लगाने वाली सरकार जब तक कि उसकी राजकोषीय प्रणाली बहुत ही अच्छी न हो, ब्याज और पूंजी-भुगतान के समय वित्तीय कठिनाई में फँस सकती है। अतः इस समस्या पर ऋण की समस्या की बजाय अन्तर्सरकारी सहायक अनुदान की समस्या के रूप में विचार किया जाता है।

इस मामले में उपनिवेशवादी शक्तियों ने पहल की और दूसरे विश्वयुद्ध के पहले या बाद में उन्होंने औपनिवेशिक विकास निधियां स्थापित कीं,

जिनका उद्देश्य उपनिवेशों के लोक-व्यय में वित्तीय सहायता देना था। ब्रिटिश औपनिवेशिक विकास एक्ट के अधीन अब प्रतिवर्ष १५० से २०० लाख पौंड के बीच व्यय हो रहा है और अन्य उपनिवेशवादी देशों ने भी ऐसे एक्ट हैं। [illegible] कदम अमरीका ने उठाकर १९४८ से आर्थिक सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया। इस सहायता का सबसे अधिक भाग यूरोप को मिला है परन्तु हाल के वर्षों में कम विकसित देश को प्रतिवर्ष ३००० लाख से ४००० लाख डालर तक की सहायता (सैनिक सहायता छोड़कर) मिल रही है। संयुक्त राष्ट्र ने आर्थिक विकास हेतु सहायक अनुदान देने के लिए या सस्ते ऋण देने के लिए एक राष्ट्र संघ एजेन्सी बनाने का निश्चय कर लिया है, परन्तु यह तय होना बाकी है कि यह एजेन्सी कब अपना काम शुरू करेगी।

बाह्य वित्त का सर्वेक्षण करने के बाद निश्चित रूप से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युद्ध-पूर्व स्तर पर (वास्तविक अर्थों में) अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरण का पुनरुत्थान अन्य किसी बात की अपेक्षा सहायक अनुदान की समुचित प्रणाली की स्थापना पर अधिक निर्भर है। प्रत्यक्ष निजी निवेश से तो कम विकसित देशों की पूंजी की जरूरत के एक छोटे-से भाग की ही पूर्ति हो सकती है। विदेशी निवेश की उन्नति के काल में भी इसका अधिकांश भाग सरकारों को दिए गए ऋणों में या लोकोपयोगी सेवाओं में लगा हुआ था और उस समय की ही भाँति आज भी यही समस्या है कि अब अर्थ-व्यवस्था का जो सरकारी क्षेत्र है उसके लिए वित्त का प्रबन्ध कैसे किया जाए। स्वतःशोधक प्रायोजनाओं के लिए सरकारों को ऋण देने की जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वे इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त मालूम होती हैं। कमी केवल उन सरकारी खर्चों में लगाने के लिए द्रव्य उधार देने की है जो उत्पादक तो हैं पर स्वतः-शोधक नहीं हैं। १९२९ से पहले सरकारें इन कामों के लिए धन उधार ले सकती थीं और लोकोपयोगी सेवाओं में सीधे लगा हुआ लगभग सारा धन इसी प्रकार उधार लिया हुआ था। चालू ऋण-सुविधाओं की कमियों को हटाकर, या सहायक अनुदान प्रणाली की व्यवस्था करके जब तक यह कमी दूर नहीं की जाती तब तक अन्य सभी विदेशी निवेशों में मुख्यतः बाधा ही रहेगी, क्योंकि सभी निवेश कुछ हद तक लोक-सेवाओं की पर्याप्त व्यवस्था की उपलब्धता पर निर्भर होते हैं।

३. निवेश

(ख) सांस्थानिक रचना—अध्याय ३ में हम इस बात की सामान्य चर्चा कर चुके हैं कि पहल करने और जोखिम उठाने की भावना को बढ़ावा देने के लिए सांस्थानिक रचना किस प्रकार की होनी चाहिए। यहाँ हम बचत और निवेश के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों पर ही चर्चा करेंगे।

पहली बात जिस पर हम विचार करेंगे, इस तथ्य का परिणाम है कि काफी बड़े पैमाने पर बहुत पूंजी का निवेश किया जाना है। इस विषय के कुछ लेखक पूंजी-निर्माण का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित करते है, जिसमें 'आम आदमी' पर्यावरण के अनुसार अपने को ढालते हुए छोटी-छोटी राशियाँ बचाता या उधार लेता है और धीरे-धीरे अपनी हालत को सुधारता है। कुछ निवेश इस प्रकार का होता है। आम आदमी अपने घर की या अपने फार्म की हालत सुधार सकता है या किसी दुकान या लारी में पूंजी का निवेश कर सकता है, पर यह आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित निवेश के आधे से भी कम है। सबसे बड़ी मात्रा में निवेश लोक-निर्माण-कार्यों और लोकोपयोगी सेवाओं में करना होता है और यद्यपि आम आदमी सामुदायिक विकास की योजनाओं के माध्यम से लोक-निर्माण-कार्यों में लाभदायक सहयोग प्रदान कर सकता है, परन्तु सड़कों, रेलों, बन्दरगाहों बिजलीघरों और अन्य बड़ी आयोजनाओं पर जनता और लोकोपयोगी-सेवा-एजेंसियों द्वारा बहुत अधिक धन व्यय करने की जरूरत होती है, जो कि पर्यावरण के अनुसार अपने को ढालते हुए आम आदमी की क्षमता से बाहर होता है। निराशावादी व्यक्तियों का कहना है कि कई मामलों में बड़ी-बड़ी राशियों के खर्च से भी कोई लाभ नहीं हुआ है, क्योंकि उन्हें गलत कामों में लगाया गया है, परन्तु यह निष्कर्ष निकालना एक विवेकशून्य बात है कि ऐसे खर्चों के बिना भी आर्थिक विकास सम्भव है, ये लोग अपने कथन के समर्थन में कोई ऐसा समुदाय नहीं बता सकते जहाँ इस प्रकार के भारी खर्चों के बिना ही आर्थिक विकास हो रहा हो। बड़े पैमाने के निवेश की अन्य बड़ी-बड़ी राशियाँ खनन-उद्योग विनिर्माण-उद्योग, आयात और निर्यात के थोक व्यापार, बैंकिंग और बीमा कारबार, सिंचाई-निर्माण के कार्य, कुछ कृषि-वस्तुओं के प्रक्रियाकरण और कुछ विशेष प्रकार की खेती में लगी होती हैं, और शहरों में मकानों के निर्माण में भी, जिनका आर्थिक विकास के साथ तेजी से विस्तार होता है, बड़ी मात्रा में पूंजी लगती है क्योंकि शहर में काम करने वाला मजदूर-वर्ग प्रायः अपने खुद के मकानों में नहीं रहता। आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता यह नहीं है कि आम आदमी बचत कर रहा है और अपनी उत्पादन-क्षमता बढ़ा रहा है। यह एक आवश्यक और वाञ्छनीय विशेषता तो है, लेकिन आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता यह है कि कुछ निजी व्यक्ति निगम निकाय, या सरकारी एजेंसियाँ अधिक खर्चीली आयोजनाओं पर बड़ी-बड़ी राशियाँ खर्च कर रहे हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता उद्यमशीलता है, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों, निजी निवेशकर्ताओं या सरकारी अधिकारियों के छोटे-छोटे समूहों का अभ्युदय है जो भारी मात्रा में पूंजी खर्च कर रहे हैं

और जिनमें बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार मिलता है। हम पहले ही कई स्थानों पर इनसे पैदा होने वाली समस्याओं पर विचार कर चुके हैं। हम इस समूह के उद्भव, इनके प्रयोजनों तथा इनके लिए अपेक्षित प्रशिक्षण के बारे में पहले ही अनुमान लगा चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि इस समुदाय का एक बड़ा भाग शहरों में रहने लग जाता है, जिन्हें स्वामित्व या नियन्त्रण के किसी अधिकार के बिना इन बड़े प्रतिष्ठानों में मजदूरी या वेतन पर काम करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप पैदा होने वाली अनुशासन, सह-योग और औद्योगिक शान्ति-सम्बन्धी समस्याएँ इस शताब्दी की सर्वाधिक कठिन समस्याओं में से हैं। अध्याय ३ में हम इनकी चर्चा कर चुके हैं, पर खेद है कि इनका कोई सरल हल नहीं ढूंढ़ पाए हैं।

चूंकि निवेशकर्ता एक हद तक अपनी बचत का स्वयं प्रयोग नहीं करते, अतः ऐसे संस्थानों का होना आवश्यक है जो निवेशकर्ताओं को रुपया उधार देने के लिए बचतकर्ताओं को पर्याप्त संरक्षण और बढ़ावा देते हैं। उन्नत औद्योगिक समुदायों में निवेशकर्ता बहुत बड़ी मात्रा में अपनी बचतों को अपने नियन्त्रण के अधीन ही लगा रहे हैं। उदाहरण के लिए, विनिर्माण-उद्योग मुख्यतया अवितरित लाभों के बल पर बढ़ रहा है जबकि कुछ पहले की अवस्था में यह उद्योग काफी हद तक बाह्य साधनों से इकट्ठी की गई पूंजी पर निर्भर था। इसी प्रकार, सरकारें निवेश के लिए आवश्यक धन काफी मात्रा में करों द्वारा इकट्ठा कर रही हैं और ३० वर्ष पहले की तुलना में बहुत थोड़ा धन उधार लेती हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से अवितरित लाभ शेयरहोल्डरों का होता है और करों की आय करदाताओं की होती है, पर शेयरहोल्डरों द्वारा डायरेक्टरों पर, या आम जनता द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखने में पर्याप्त व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती हैं। एक सीमित दृष्टिकोण से अवितरित लाभ और सरकार की बचतें इस अर्थ में निवेशकर्ताओं की बचतें होती हैं कि इन बचतों की मात्रा और उपयोग न तो शेयरहोल्डर तय करते हैं और न आम जनता तय करती है। यह स्थिति ५० वर्ष पूर्व की स्थिति की अपेक्षा पूंजीवादी विकास के आरम्भिक दिनों की स्थिति के अधिक निकट है। विकास के आरम्भिक दिनों में स्वतन्त्र बचत का बहुत थोड़ा भाग निवेश में जाता है। कोई समुचित ढंग से संगठित पूंजी बाजार नहीं होता और उत्पादक प्रयोजनों के लिए धन उधार देने और लेने की केवल सीमित सुविधाएं होती हैं (साहूकार और गिरवी दलाल तो हमेशा होते ही हैं)। ऐसी स्थिति में अधिकांश उत्पादक पूंजी का निवेश अवितरित लाभों में से किया जाता है। आर्थिक विकास की पर्याप्त उन्नत अवस्था में पहुँचकर ही बचत और निवेश के काम एक-दूसरे से काफी अलग हो पाते हैं।

बचत आसानी से व्यक्तियों के पास से संस्थाओं के पास पहुँच जाती है। इसके लिए मुख्य सांस्थानिक उपकरण सीमित देयता और प्रतिभूतियों की सरल परक्राम्यता है।

सीमित देयता का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि ऋणदाता और साझेदार दोनों में अन्तर होता है। इन संकल्पनाओं का मूल आधार यह है कि ऋणदाता एक ऐसा व्यक्ति होता है जो नियत शर्तों पर अपनी पूंजी किसी उद्यम में लगाता है, वह निश्चित ब्याज पाता है एवं नियत समय पर उसे अपनी पूंजी वापस मिल जाती है और उद्यम पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। इसके विपरीत साझेदार लाभों का एक भाग पाने के लिए अनिश्चित मात्रा में पूंजी का निवेश करता है और उसे प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होते हैं। कानून के अनुसार वह जिस उद्यम में वह साझेदार होता है उसके कर्जों के लिए उसकी सम्पूर्ण व्यक्तिगत सम्पत्ति देय होती है, न कि सम्पत्ति का केवल उतना भाग जो उसने उस उद्यम में लगा रखा हो। सीमित देयता इन दोनों संकल्पनाओं के बीच की चीज है। इसके अनुसार निवेशकर्ता लाभों का एक भाग पाने के लिए अनिश्चित मात्रा में पूंजी लगाता है और अपने साथी निवेशकर्ताओं के साथ मिलकर प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग करता है (ये अधिकार सामान्यतया अंश-धारियों की सभा में प्रयोग किए जाते हैं) तथापि उस उद्यम के लेनदारों के प्रति उसकी देयता उतनी सीमा तक होती है जिस सीमा तक उस उद्यम में उसका निवेश है। सीमित देयता का उपकरण स्वीकार किया गया तो अनेक ऐसे उद्यमों का जन्म हुआ जिनमें लगाई गई पूंजी का अनुपात इतना अधिक था कि अनेक साझेदार मिलकर नहीं लगा सकते थे—विशेषतया लम्बी रेलों और बड़े पैमाने के निर्माण में। सीमित देयता के फलस्वरूप किसी उद्यम में जोखिम उठाने का भार व्यक्ति के स्थान पर [illegible] द्वारा व्यक्ति साझे पूंजी लगाते हैं और उन्हें प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त होता है पर उनकी सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति उस उद्यम की देनदारियों के लिए देय नहीं होती।

प्रारम्भ में [illegible] अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का अधिक विरोध किया। [illegible] उनका विचार था कि यह लापरवाही प्रबन्ध को जन्म देकर उद्यमों के लिए हानिकर हो सकती है। परन्तु उनका यह भी विचार था कि पूंजी के स्वामित्व से प्रबन्ध का अलग होना इतना कठिन है कि जिन मामलों में [illegible] पूंजी [illegible] सीमित देयता अधिक उपयोगी सिद्ध होगी और [illegible]। [illegible] इस बात का [illegible] कि [illegible] सीमित देयता [illegible] अधिक [illegible]

जो अपनी पूँजी का कई जगह निवेश करना चाहेंगे और इसके फलस्वरूप अन्ततोगत्वा सीमित दायित्व वाले निगम एक बहुप्रचलित रूप धारण कर लेंगे। शायद इस सुविधा के आसानी से उपलब्ध होने के फलस्वरूप ही समुदाय के शेष लोगों में बचत के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण पैदा हो गया है। बचतों पर चर्चा करते समय हमने कहा था कि पूर्व-पूँजीवादी समाजों में किसानों, भूस्वामियों, अभिजात-वर्ग के लोगों, व्यावसायिक व्यक्तियों, मध्यवर्ग के लोगों तथा अन्य लोगों के पास या तो कोई बड़ी बचतें होती ही नहीं या अगर कुछ होती हैं तो वे उनका उपयोग दान, नौकर-चाकर रखने, मन्दिर व स्मारक बनवाने में करते हैं या अनुत्पादक कामों में उड़ा देते हैं परन्तु पूँजीवादी विकास की बाद की अवस्थाओं में सारे वर्गों में यह पूँजीवादी विचार पैदा हो जाता है कि बड़ी बचतों का उत्पादक ढंग से निवेश किया जाना चाहिए। बाद की अवस्थाओं में तो जमींदार और पादरी भी सीमित दायित्व वाले शेयर खरीदते हैं, वस्तुतः बचत तथा उत्पादक-निवेश की धारणा को लोकप्रिय बनाने में इस सुविधा का उतना ही महत्त्व है जितना किसी अन्य बात का।

उधार को प्रोत्साहन देने के लिए दूसरी जरूरत इस बात की है कि उधारदाता या तो अपने भुगतान का अधिकार बेचकर, या यदि उधारकर्ता कर्ज न लौटाए तो उसकी परिसम्पत्तियों को बेचकर आसानी से निवेश का नकद मूल्य प्राप्त कर सकें। इसमें से पहली बात मुख्यतया बांडों, शेयरों, बन्धकों और हुण्डियों के क्रय विक्रय की पर्याप्त सुविधा पर निर्भर है। इस प्रकार के क्रय-विक्रय का बाजार होने के लिए जरूरत इस बात की है कि 'वित्त' का कारबार करने के इच्छुक व्यक्ति या संस्थान मौजूद हों, ताकि जो उधारदाता अपने निवेश का नकद मूल्य वापस लेना चाहें वे उधारकर्ताओं को तुरन्त भुगतान के लिए तंग किये बिना ही अपना धन वापस ले सकें। वित्त का कारबार करने वालों को अन्य व्यवसायी प्रायः अपना शत्रु समझते हैं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे एक महत्त्वपूर्ण काम करते हैं, क्योंकि यदि वे न हों तो अपना धन फँस जाने के डर से बचत करने वाले उधार देने में हिचकिचाएँगे, और इस कारण उत्पादक निवेश में कमी हो जाएगी। यदि किसी तेजी से विकसित हो रहे समुदाय के आर्थिक इतिहास का अध्ययन किया जाए तो पता लगेगा कि आरम्भिक अवस्थाओं में वित्तीय 'पत्रों' के बाजार का विकास उसकी एक प्रमुख विशेषता, और आगे के विकास के लिए लगभग एक जरूरी शर्त रही है। ऐसे समुदायों में इन बाजारों की जरूरत नहीं होती जिनमें सारी भूमि लोक-स्वामित्व में होती है, और सारे कारबार लोक-वित्त से चलाए जाते हैं, परन्तु जिन समुदायों में निजी निवेश होते हैं वहाँ इनका होना अनिवार्य होता है, और यदि बैंकर, व्यापारी, स्टाक के आढ़तिये और

रिणदाता सामान्यतया उस काम या कर्ज के लिए सामने न आयें तो इस काम के लिए सरकारी एजेंसियां खोलना आवश्यक हो जायगा। ऐसी सरकारी एजेंसी खोलने में निःसन्देह कोई तकनीकी कठिनाई नजर नहीं आती जो उधारकर्ताओं द्वारा बेच जाने वाले बन्धकों, शेयरों, वाणिज्यिक बिलों अथवा अन्य वित्तीय पत्रों को खरीदने के लिए सदैव तैयार रहे परन्तु यह संदिग्ध है कि क्या ऐसे जोखिम के काम को सरकारी एजेंसी द्वारा प्रतियोगी बाजार की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक अथवा कम खर्च में किया जा सकता है।

वित्तीय पत्र की परक्राम्यता के साथ ही उसकी जमानत के रूप में दी गई भूमि, मकान, आभूषण, वस्तुओं के भण्डार, मशीनों, फैक्टरियों और इसी प्रकार की अन्य स्थूल परिसम्पत्तियों की परक्राम्यता भी आवश्यक है। यह बात भी प्रशस्त बाजारों पर और प्रशस्त कानून पर आधारित है। जहां बाजार के आकार काफी बड़े होता है, वहां बाजार शीघ्र बन जाते हैं। ऐसी सुविधाओं की व्यवस्था करने का विशेष ज्ञान रखने वाले—वास्तविक सम्पत्तिधारी, सर्राफ, जौहरी और थोक व्यापारी—आम नागरिकों के बीच प्रायः अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते क्योंकि अपने कारबार में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने व्यापार के जोखिम, पूंजीगत मूल्यों की संदिग्धता और कभी-कभी उनमें होने वाले भारी उतार-चढ़ाव के कारण बाध्य होकर पैनी दृष्टि वाला, निर्मम और तंग दिल में कठोर बनना पड़ता है। परन्तु परिसम्पत्तियों के बाजार का निर्माण करने का जो काम वे करते हैं उससे वित्त-पत्रों के क्रय-विक्रय के अवसर बढ़ जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उत्पादक निवेश के लिए अपना धन उधार देने वाले बचतकर्ताओं की जोखिम कम हो जाती है।

बाजारों के इस प्रश्न के अलावा भी भूमि के स्वामित्व और गिरवी-सम्बन्धी कानून का बहुत महत्त्व है। विभिन्न समाजों में विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उधारदाताओं के पास कर्ज लेते समय जमानत के रूप में धन रखने के लिए भूमि सबसे महत्त्वपूर्ण परिसम्पत्ति होती है। कुछ देशों में किसानों को साहूकारों के चंगुल में बुरी तरह फंसने से बचाने के लिए बन्धकों पर रोक लगाने के उपाय किये जा रहे हैं। इस बात के अलावा ऋण के लेन-देन को बढ़ावा देने की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था का होना आवश्यक है जिससे भूमि के कानूनी हक-सम्बन्धी बहुत अधिक उलझन के बिना उसे बन्धक रखा जा सके और बेचा जा सके। यदि भूमि की रजिस्ट्री-प्रणाली मालगुजारी सर्वेक्षण के आधार पर हो तो इससे सीमाओं की अनिश्चितता से पैदा होने वाले कानूनी विवाद कम हो जाते हैं। कुछ समुदायों में, जहां उत्तराधिकार के जटिल कानून हैं, व्यापक परिवार-प्रथा है, स्वामियों, दखलदारों और सामुदायिक अधिकारियों के बीच अधिकारों का जटिल विभाजन है वहां भूमि का वास्तविक अधिकारी कौन है

यह जानने में कठिनाई होती है अतः यह सन्देह पैदा हो जाता है कि किसी *व्यक्ति (या व्यक्तियों) को किसी भूमि के स्वामित्व-हस्तान्तरण का अधिकार* है या नहीं। विभिन्न प्रकार के सम्पत्ति-अधिकारों के अधिकार के कारण भी बिक्री के समय गड़बड़ पैदा हो सकती है जब तक कि कानून में यह व्यवस्था न हो कि खरीदार को सभी प्रकार के प्रभार से मुक्त स्वामित्व का अधिकार मिलेगा। चूंकि कम विकसित समुदायों में भूमि-सम्बन्धी कानून सामान्यतया बहुत जटिल और अस्पष्ट व अनिश्चित होते हैं अतः आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भूमि के क्रय-विक्रय-सम्बन्धी कानूनी ढांचे में यदि पूरी व्यवस्था नहीं तो कम-से-कम उसमें सुधार लाने के लिए वहां के विधान-मण्डल को बहुत-कुछ करना पड़ता है।

कम विकसित समुदायों के विधानमण्डल उधार देने वाले संस्थानों का निर्माण करते हैं जो निजी व्यक्तियों द्वारा दिए जाने वाले उधार के पूरक का काम करते हैं, इसका कारण यह है कि या तो सरकार के पास खर्च करने के लिए अतिरिक्त बचतें होती हैं या सरकार विशेष प्रकार के निवेश को प्रश्रय देना चाहती है।

हम उन कारणों पर पहले ही विचार कर चुके हैं जिनके फलस्वरूप भविष्य में शायद अधिकाधिक बचतें सरकारी नियंत्रण में आने लगेंगी। या तो यह हो सकता है कि वे उन बचतों को करों के रूप में छीन रही हों जो कि अन्यथा निजी व्यक्तियों के नियंत्रण में रहतीं। लाभों पर भारी कर लगाने का यही परिणाम होता है। या यह हो सकता है कि सरकारें समुदाय को अधिकाधिक बचत करने के लिए मजबूर करने की दृष्टि से किसानों, जमींदारों, या दूसरे ऐसे वर्गों पर भारी कर लगा रही हों जो करों के कारण अपना उपभोग कम कर देते हैं, या फिर उधार-विस्तार या स्फीति का सहारा ले रही हों। अथवा यह भी हो सकता है कि सरकारों के पास बाह्य वित्त के ऐसे साधन हों जो निजी उधारकर्ताओं की पहुंच के बाहर होते हैं—विशेषतया आज के अन्तर्सरकारी अन्तरणों के युग में—और जिनमें उन्हें चाहे ऋण के रूप में या सहायक अनुदान के रूप में धन मिल सकता हो। इन दिनों अनेक सरकारों ने राष्ट्रीय आय की तुलना में पूंजी निर्माण अधिक करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है, जबकि उनसे पहले की सरकारों ने ऐसा कोई उत्तरदायित्व नहीं लिया था। इसका स्वाभाविक उपसिद्धान्त यही है कि इस प्रकार अपने नियंत्रण में आने वाली बचतों के समुचित प्रयोग के लिए उन्हें संस्थान खोलने चाहिएं।

लोक वित्त-संस्थानों की स्थापना की एक अन्य प्रेरणा का आधार यह है कि जिन समूहों को निजी उधारदाताओं से धन लेने में विशेष कठिनाई होती

है उनके लिए धन उपलब्ध कराया जाए। इस प्रकार के पाँच समूहों पर अब तक विशेष ध्यान दिया जाता रहा है—किसान, दस्तकार, कारीगर, छोटे उत्पादक, मकानों के मालिक और उद्योगपति।

छोटे-छोटे किसानों को निजी उधारदाताओं से सस्ती दर पर ऋण नहीं मिल पाता, क्योंकि इस प्रकार के ऋण देने में बड़ा जोखिम रहता है और इनका प्रबन्ध भी खर्चीला होता है। यदि सहकारी ग्राम [illegible] समितियों की मार्फत ऋण दिया जाए तो जोखिम और खर्च दोनों ही बहुत कम हो जाते हैं। ये समितियाँ इतनी छोटी होती हैं कि इनका हर सदस्य दूसरे सदस्यों की हालत और उनकी आवश्यकताओं के बारे में अच्छी तरह जानता है। ये समितियाँ कभी-कभी सामान्य निजी उधारदाताओं से, जैसे वाणिज्य बैंकों से ऋण ले सकती हैं, यहाँ तक कि आम जनता से जमा रकम भी स्वीकार कर सकती हैं। परन्तु सामान्यतया यह आवश्यक है कि सरकार उनके मामलों की देखभाल करे और यह देखे कि इनका प्रबन्ध ठीक हो रहा है। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि ये समितियाँ अपने सदस्यों की बचतों या निजी उधारदाताओं से जो धन इकट्ठा कर सकें उसमें अतिरिक्त धन सरकार दे। कृषि कार्यों के लिए उधार देने हेतु सरकारों को कितनी राशि अलग रखनी चाहिए यह अंशतः इस बात पर निर्भर करता है कि अन्य उधारदाताओं के प्रति सरकारों की क्या नीति है और अंशतः इस बात पर कि कृषि-विस्तार के कार्यक्रम कितनी तेजी से चलाए जा रहे हैं। यदि सरकार निजी साहूकारों के चंगुल से किसानों को बचाने का प्रयत्न कर रही हो—और विशेषकर इस प्रयोजन के लिए वह किसानों को अपनी भूमि गिरवी रखने से रोक रही हो या न्यायालयों में [illegible] गिरवी का बंध मानने से इनकार कर रही हो—तो उसे किसानों के लिए वित्त का प्रबन्ध करने में और भी अधिक धन लगाना चाहिए। इसी प्रकार ऐसे देशों में जिनमें किसान वित्त के लिए कुछ हद तक जमींदारों पर निर्भर होते हैं, यदि सरकार जमींदारों पर भारी कर लगाती है या किसान को भूमि का मालिक बना देती है तो स्वयं सरकार को जमींदार के स्थान पर वित्तदाता का काम करना पड़ता है। यदि इसके साथ ही सरकार कोई जोरदार कृषि-विस्तार सेवा चला रही हो और किसानों को नए तरीकों का प्रयोग करने, अपने पशुओं [illegible] का सुधार [illegible] योजनाएँ [illegible] इमारतों या अन्य सम्पत्ति की बेहतर सुविधा [illegible] के लिए [illegible] पूर्वक प्रेरित कर रही हो तो उस किसानों को पैसे की काफी बड़ी मात्रा की पूर्ति करनी होगी—[illegible] किसानों [illegible] (अभि[illegible] या [illegible] जरूरत) दूसरे हाथ से [illegible] करना [illegible]। कृषि की पूँजी-सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान आय की वास्तविकता से कम लगाया

जाता है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कृषि-उत्पादन राष्ट्रीय आय का लगभग ४० प्रतिशत होता है। फसल मौसमी होने के कारण उसमें बड़ी मात्रा में कार्यकर पूंजी की ज़रूरत होती है जो इस समय अधिकांशतया कर्ज़ लेकर पूरी की जाती है। यदि इसके अलावा उत्पादन के १० प्रतिशत का पुन निवेश कर दिया जाए (अधिक विकसित देश अपने कृषि-उत्पादन के लगभग २० प्रतिशत का पुन निवेश करते हैं) तो सिर्फ इसी में कुल राष्ट्रीय आय का ४ प्रतिशत लग जाएगा।

एशिया की अर्थ-व्यवस्था में हस्तशिल्पी कारीगर-वर्ग का बड़ा महत्त्व है, यद्यपि अमरीका या लैटिन अमरीका में उनका महत्त्व बहुत कम है। अध्याय ३ [खण्ड ४ (ग)] में हम उनके जीवित रहने की शर्तों की चर्चा कर चुके हैं, और बता चुके हैं कि ऐसे जनाधिक्य वाले देशों में यह वर्ग कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है जिसमें पूंजी की भी बचत होती है। हम इस बात पर भी विचार कर चुके हैं कि कारीगरों को नई टेक्नीकों का प्रशिक्षण देकर, उनके तैयार माल के लिए विपणन की व्यवस्था में सुधार करके, और उनके लिए अपेक्षाकृत सस्ते कच्चे माल व उपस्कर की व्यवस्था करके उनकी कुशलता को काफी बढ़ाया जा सकता है। इन सब बातों के लिए ज़रूरी है कि सरकार ऐसी एजेन्सियां बनाए जिनके पास अनुसन्धान के लिए, नये उपस्करों के लिए, और कच्चे माल, बन रहे माल तथा तैयार माल के भण्डार में लगाने के लिए पर्याप्त धन हो। चूंकि इस समय इन उद्योगों की एक सबसे बड़ी कठिनाई सस्ते उधार की पर्याप्त सुविधाओं का अभाव है, अत केवल इसी काम की व्यवस्था में बहुत बड़ी रकम लग सकती है।

नीदरलैंड की भांति इन्डोनेशिया में भी राज्य गिरवी दलाली सेवा लोकप्रिय, उपयोगी, सस्ती और सर्वाधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। यह सेवा शहरों व देहात दोनों में व्यापक रूप से उपलब्ध है। यह एक 'सामाजिक सेवा' है, जिसका प्रयोजन उत्पादक निवेश की सुविधाएं देने के बजाय लोगों को साहूकारों के शोषण से मुक्त करना है। परन्तु यह सेवा व्यक्तिगत साहूकारों द्वारा स्थापित वित्तीय संस्थानों से अलग नहीं मानी जा सकती।

कम विकसित देशों में और अधिक विकसित देशों में भी गांवों और शहरों दोनों में नये मकान बनवाने के लिए कुछ सरकारें धन देने की सुविधाओं का प्रबन्ध कर रही हैं। कुछ मामलों में सरकारें नयी बस्तियों की स्थापना कर रही हैं, या गन्दी बस्तियों को हटाकर उनके स्थान पर स्वयं मकान बनवा रही हैं, कहीं-कहीं बागान, खान, या रेलवे-जैसे कुछ उद्यम अपने कर्मचारियों को रहने के लिए मकान दे रहे हैं, और इस काम के लिए सरकार मालिकों को धन उधार दे रही है, कुछ अन्य मामलों में मकान के खरीदारों को ब्याज आदि पर छूट

मकान बनवाने के लिए या सरकार से स[illegible] के लिए धन लिया जा रहा है। मकान बनवाने के लिए जिस प्रकार का काम सरकार या तो विभागीय नियंत्रण की इच्छा से करती है या मकानों के निर्माण का स्तर ऊँचा उठाने की इच्छा से करती है जिसके लिए वह विभागों से कुछ धन के उधार का प्रबन्ध करता है। (शासन के पास अपने मकान न हों इस बात की आवश्यकता के लिए अधिकारी और विभिन्न सरकारी भी मकान बनवाने के लिए धन देता है।) यदि विभागों पर [illegible] नियंत्रण न हो और न ही उसे सरकारी सहायता प्राप्त हो तो मकानों के निर्माण के लिए सामान बनाने [illegible] सामान में [illegible] नष्ट हो जाता है क्योंकि यह एक बहुत कठिन विषय है। यह स्पष्ट बात दूर भी [illegible] मकानों के निर्माण का स्तर कम नीचा है जहाँ लोग अपनी अतिरिक्त आय से उन्नत मकान बनाने की बजाय उसे आनन्द-मनोरंजन में खर्च करना पसन्द करते हैं।

इसके बाद औद्योगिक विकास के लिए धन की प्रवृत्ति का प्रश्न आता है। छोटी मोटी फर्मों के मालिकों को [illegible] धन इकट्ठा करने में बड़ी कठिनाई होती है जबकि छोटे-मोटे किसानों को [illegible] सरकार भी [illegible] के बजाय जिनके कारण विनिर्माण उद्योग पर अधिकार हो जाने की आशंका रहती है। छोटे-मोटे स्थानीय उद्यमों की आवश्यकता के लिए विशेष व्यवस्था होती है और [illegible] प्रायः विशेष स्थानीय संस्थान बनाती हैं। अध्याय ६ [खण्ड २ (घ)] में हम इस समस्या पर विचार कर चुके हैं और इससे पता चला है कि छोटे उद्यमों के लिए जितनी कठिनाई धन की कमी की है उतनी ही प्रबन्ध-कौशल और तकनीकी की भी है। फिर भी हम इस बात से सहमत हैं कि एक ऐसी एजेन्सी का होना वांछनीय है जो छोटे उत्पादकों की सहायता [illegible] के साथ ही [illegible] और प्रबन्ध-कौशल और तकनीकी में भी करे। परन्तु ऐसी बात नहीं है कि केवल छोटे या स्थानीय उद्योगपति ही सरकार से पूंजी मांगते हैं। बड़े-बड़े पूंजीपतियों को भी पूंजी बाज़ार की अपूर्णता के कारण विनियोग के लिए पूंजी इकट्ठी करने में कठिनाई होती है। बड़े-बड़े उद्योगपतियों की कठिनाई इसलिए होती है कि कम विकसित देशों में सारे विनियोग एक ही प्रकार के कामों में पूंजी लगाने से घबराते हैं। स्थानीय पूंजी बड़े पैमाने पर कृषि, व्यापार या बन्धक-सम्बन्धी कारबार में लगाने के लिए तो आसानी से मिल जाती है परन्तु विनिर्माण उद्योग के लिए तब तक नहीं मिलती जब तक कि लोगों को इसके बारे में पता न चल जाए [illegible] हो गए हों। विकसित पूंजी बाज़ारों में भी विनिर्माण उद्योग के लिए बहुत कम मात्रा में पूंजी नहीं मिल पाती। इन पूंजी बाज़ारों [illegible] समस्याओं [illegible] सामाजिक [illegible] के लिए [illegible]

जरूरतों को पूरा करने के लिए स्वयं विशेष संस्थान स्थापित करता है, जैसे मकान-निर्माण में धन की सहायता देने के लिए निर्माण-समितियाँ, और विनिर्माण-उद्योग में पैसा लगाने के लिए उधार प्रबन्धक जैसे बैंकिंग संस्थान। जिन देशों में कोई सैद्धान्तिक आपत्ति न हो वहाँ सरकारी वित्त निजी वित्त के साथ-साथ काम कर सकता है। उदाहरण के लिए कुछ स्थानों में कृषि-उधार-समितियों को वित्त देने का काम वाणिज्यिक बैंक और सरकार अपने बीच बाँट लेते हैं। औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में भी कुछ नये वित्त-निगमों में सरकारी और निजी दोनों प्रकार की रकमें होती हैं। ध्यान देने की बात है कि राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, जो उपर्युक्त प्रकार के निगमों के पक्ष में है और उन्हें धन उधार देने के लिए तैयार है, और चाहता है कि इन निगमों का अधिकांश देशी धन बैंकों या निजी वित्तदाताओं का दिया हुआ होना चाहिए, और उनका प्रबन्ध गैर-सरकारी लोगों के हाथों में होना चाहिए, या कम से-कम राजनीतिक नियन्त्रण से बाहर तो होना ही चाहिए।

विशेष रूप से छोटे-छोटे उधारकर्ताओं में प्रायः इस बारे में भ्रम होता है कि ये संस्थान वित्तीय दृष्टि से उनकी क्या सहायता कर सकते हैं। कुछ उधारकर्ता इन स्रोतों से १०० प्रतिशत पूंजी या इसके लगभग पूंजी की आशा करते हैं। निजी उधारदाता या लोक-उधारदाता कोई भी जमानत के मूल्य से अधिक उधार नहीं दे सकता। ये उधारकर्ता चाहते हैं कि जिन वस्तुओं पर वे धन खर्च करेंगे उन्हें भी जमानत में सम्मिलित समझा जाना चाहिए। लेकिन किसी वस्तु का जमानत मूल्य उसकी लागत के बराबर नहीं हो सकता। यदि कोई मशीन १००० पौण्ड में खरीदी जाए तो उसके लगाए जाने के साथ ही उसका पण्य मूल्य गिरना शुरू हो जाता है। अतः कोई भी उधारदाता किसी मशीन की जमानत पर उस मशीन की कीमत के आधे से ज्यादा धन कदाचित् ही उधार देगा। इसका अर्थ यह है कि भावी उधारकर्ताओं को अपने पास कुछ निजी धन या पण्य परिसम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसे वे उन वस्तुओं के अलावा गिरवी के रूप में रख सकें जो ऋण के धन से खरीदी जाती हों। कम विकसित देशों में इस प्रयोजन के लिए प्रायः जमीन और गहनों को काम में लाया जाता है, क्योंकि यही दो ऐसी पण्य परिसम्पत्तियाँ हैं जो आमतौर से लोगों के पास होती हैं (बड़े शहरों को छोड़कर अन्य स्थानों के मकान प्रायः बहुत ही खराब होते हैं और उनका पण्य मूल्य बहुत कम होता है)। जिन लोगों के पास खुद की जमीन नहीं होती उनको ऋण दे पाना और भी कठिन होता है, और इसलिए ऐसे देशों में जहाँ किसानों के पास अपनी जमीन नहीं होती बल्कि वे काश्तकार के रूप में या बँटाई पर खेती करते हैं, सहकारी समितियों द्वारा उधार दी गई प्रति-व्यक्ति राशि उस स्थिति की तुलना में

बहुत थोड़ी होती है जब किसानों के पास रेहन रखने के लिए अपनी निजी भूमि हो। इस समस्या का एक हल असीमित देयता वाली सहकारी समिति है। अपनी जन्मभूमि (जर्मनी) में ऐसी समितियां सम्भवतः काफी सफल रहीं, परन्तु कम विकसित देशों में इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि किसान एक-दूसरे के ऋणों का असीमित उत्तरदायित्व संभालने के लिए तैयार नहीं होते। दीर्घकालीन दृष्टि से इसका सबसे उत्तम हल यही है कि किसानों को अपनी-अपनी जमीनों का मालिक बना दिया जाए।

सरकारी वित्त की एक विशेष कठिनाई यह है कि यह सामान्यतया पूंजी नहीं देता बल्कि ऋण देता है, क्योंकि जब तक सरकार के पास निजी पूंजी बाजार में अपने उधार पर पुनः वित्त लेने की सुविधाएं न हों, तब तक वह धन की कमी के कारण अपने धन का चक्रवर्ती आधार पर प्रयोग करने के लिए बाध्य रहती है। ऋण और पूंजी का यह भेद धन की वापसी पर आधारित है। यदि शेयर जारी करके किसी कारबार में पैसा लगाया जाता है तो शेयरों की रकम वापस नहीं करनी होती, अतः निजी उपभोग की जरूरतों को पूरा करने के बाद बचे हुए लाभ की सारी राशि कारबार बढ़ाने में लगायी जा सकती है। इसके विपरीत यदि किसी कारबार में डिबेंचर या बन्धक के आधार पर उधार लेकर धन लगाया गया हो, तो बेशी लाभों को पहले ऋण की अदायगी के लिए अलग रखना पड़ता है। सरकारी वित्त संस्थानें सामान्यतया अपने ऋण की अदायगी की आशा करते हैं ताकि एक कारबार की जड़ जम जाने के बाद वहाँ से वापस मिला धन किसी अन्य संस्था में लगाया जा सके। लेकिन यदि किसी फर्म को ठीक ऐसे समय पर पैसा वापस करना पड़ जाए जब कि वह बाजार में अपनी जड़ें मजबूत कर रही हो, तो उसके विकास में रुकावट आ जाती है। यह अवश्य है कि सभी निजी कारबार स्थायी साझेदार के रूप में सरकारी संस्थान को इसलिए पसन्द नहीं करते कि उनके ऊपर ऐसे संस्थान सदा ही कड़ी नजर रखते हैं। लेकिन कुछ कारबार उधार की वापसी में अधिकाधिक ढील पसन्द करते हैं, जबकि कुछ अन्य कारबार ऐसे भी होते हैं जो संस्थान से सम्बन्धित होने के कारण मिलने वाले संरक्षण या सम्मान को बनाए रखना अच्छा समझते हैं। यदि भविष्य में लोक-बचतों का काफी बड़ा हिस्सा (और साथ ही बाह्य वित्त भी) सरकारी कोष में पहुँच जाए तो सरकार के वित्त-संस्थानों को अनिवार्य अधिकाधिक धन मिल सकता है, और तब ये संस्थान ऋण के स्थान पर अधिकाधिक पूंजी दे सकते हैं।

सरकारी वित्त-संस्थानों की तुलना में निजी वित्त-संस्थानों का महत्त्व सदैव बदलता रहता है। एक शताब्दी पूर्व यह बात पूर्णतः सर्वमान्य थी कि वित्त का मामला निजी मामला है और सरकार केवल उधारकर्ता के रूप में बाजार में आती

थी। उसके बाद, जिन वर्गों की ज़रूरत पूरी तरह पूंजी बाज़ार से पर्याप्त रूप में पूरी नहीं हो पाती थी उनके लिए वित्त का प्रबन्ध करने का काम सरकार ने अपने ऊपर ले लिया, और आजकल संसार के सबसे धनी देश अमरीका में भी विशेष प्रकार के देशी और विदेशी उधारकर्ताओं की ज़रूरतें पूरी करने के लिए सरकारी वित्त-संस्थानों का जाल बिछा हुआ है। इसके साथ ही यदि हम बचतों पर कराधान के प्रभाव को भी लें—चाहे यह प्रभाव बचतों के निजी से लोक-नियन्त्रण में आने के रूप में हो या समुदाय को अधिकाधिक बचत करने के लिए बाध्य करने के रूप में हो—तो हम जान सकते हैं कि विकास के सभी स्तरों पर आज सरकार निवेश के लिए धन की व्यवस्था करने का महत्त्वपूर्ण साधन क्यों बन गई है। इसके साथ ही यदि हम इस तथ्य को भी सम्मिलित कर लें कि प्रयोज्य आय में से व्यक्तिक बचतें बहुत थोड़ी होती हैं, और अधिकांश व्यक्तिक बचतें बीमा-कम्पनियों गृह निर्माण-समितियों और अन्य सांस्थानिक निवेशकर्ताओं के पास चली जाती हैं तो हम देख सकते हैं कि एक शताब्दी पहले की अपेक्षा जबकि हर बचतकर्ता एक पृथक् उधारदाता से मिलता था और उसके साथ सीधे सौदा तय करता था आज निवेश अधिक संस्थाननिष्ठ क्यों हो गया है। यह बात आज भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि बचत करने वालों को बचत करनी चाहिए और निवेशकर्ताओं को निवेश करना चाहिए, परन्तु जहाँ ये दोनों अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, वहाँ अब इनके बीच कड़ी के रूप में अधिकांशतः कोई निजी या लोक-वित्त-संस्थान होता है।

(ख) मोड़—जब कोई देश एक बार अपनी राष्ट्रीय आय का निवल १२ प्रतिशत निवेश करने लग जाता है और इसी के अनुकूल उसके दृष्टिकोण और संस्थान बन जाते हैं, तो यह बड़ी आसानी से जाना जा सकता है कि वह देश इतना निवेश किस प्रकार जारी रखता है। आर्थिक विकास के प्रसंग में चक्कर देने वाली समस्याएँ विकास का आरम्भ और अन्त हैं ४ प्रतिशत या इससे भी कम निवेश करने वाला कोई देश कैसे आगे बढ़ता है या विकास की बाद की अवस्थाओं में निवेश में दीर्घकालीन कमी क्यों पैदा हो जाती है, अब इसी की चर्चा की जाएगी। सबसे पहले हम त्वरण की अवस्था को लेते हैं।

त्वरण शुरू होने के साथ प्रवृत्तियों और सामाजिक संस्थानों में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में हम पहले कुछ चर्चा कर चुके हैं और अन्तिम अध्याय में इस पर और अधिक चर्चा करेंगे। इस खण्ड में हम इस मामले के एक अधिक सीमित पहलू पर अर्थात् अर्थ-व्यवस्था के किसी एक ही क्षेत्र में त्वरण प्रारम्भ करने की कठिनाई पर चर्चा करेंगे।

इस कठिनाई का पहला कारण यह बताया जा सकता है कि धन का प्रवाह तब तक सुगीय नहीं होता जब तक कि धन पाने वाले [illegible]

कर दें। उस स्थिति पर विचार कीजिए जबकि कोई नया उद्यमकर्ता कोई नया कारबार शुरू करके लोगों को काम-धन्धा देता है, जिससे देश में रोजगार का स्तर पहले की अपेक्षा बढ़ जाता है। लोगों को रोजगार देने और अन्य उत्पादकों से वस्तुएं और सेवाएं खरीदने में नया उद्यमकर्ता धन का सचलन करता है और ऐसा करते समय वह यह आशा करता है कि उसका धन फिर उसके पास वापस आ जाएगा। परन्तु क्या उसका धन उसे वापस मिलता है? इस बात की सम्भावना बहुत ही कम होती है कि जिन व्यक्तियों को वह धन देता है, वे तुरन्त आकर उसीसे वस्तुएं खरीदने में उस धन का उपयोग करेंगे। व्यवहार में, ये लोग उस धन का कुछ भाग दूसरे लोगों से वस्तुएं खरीदने में खर्च करते हैं और फिर वे लोग उस धन का एक भाग उपर्युक्त नये उद्यमकर्ता की वस्तुएं खरीदने में खर्च करते हैं। यदि सारी आय खर्च कर दी गई हो तो गुणक प्रक्रिया लागू हो चुकने पर धीरे-धीरे उसे अपना सारा धन वापस मिल जाएगा। परन्तु वास्तव में सारी आय सचलन में वापस नहीं पहुँच पाती; आय पाने वाले उसका कुछ भाग आयात की गई वस्तुएं खरीदने में खर्च कर देते हैं, कुछ भाग करों के रूप में सरकार के पास चला जाता है और कुछ बचाकर रख लिया जाता है। अतः कोई भी नया उद्यमकर्ता केवल उस माँग पर निर्भर नहीं रह सकता जो उसके द्वारा दिये गए रोजगार से प्रत्यक्ष रूप से पैदा होती है। उसे दूसरे लोगों द्वारा पूरी की जा रही माँग से कुछ अंश को अपनी ओर खींचना पड़ता है। यदि यह देश के भीतर किसी वस्तु की माँग का मामला हो, तो नये उद्यमकर्ता में कोई नयी वस्तु बाज़ार में लाकर, या अधिक सुविधाजनक या आकर्षक सेवा देकर, या उत्पादन की किसी नयी टेक्नीक की सहायता से कम कीमत पर माल देकर अन्य लोगों के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने की सामर्थ्य होनी चाहिए, अर्थात् वह किसी नवीन प्रक्रिया का प्रवर्तक होना चाहिए। यदि यह विदेशी माँग का मामला हो, तो उसमें निर्यात के जरिए विदेशी माँग पर कब्जा करने की योग्यता होनी चाहिए।

इस प्रकार, आर्थिक क्रिया के निम्न स्तरों पर विदेशी बाज़ार के लिए उत्पादन आरम्भ करने से देश प्रायः आर्थिक विकास के मार्ग पर आ सकता होता है। इस अवस्था में घरेलू बाज़ार के लिए उत्पादन करके आगे बढ़ना अत्यधिक कठिन होता है। जब तक कि कोई नवीन प्रक्रिया नहीं निकाली जाती तब तक देश के भीतर की खपत के लिए और उत्पादन करना अलाभ-प्रद होता है, क्योंकि बढ़े हुए उत्पादन की बिक्री से प्राप्त होने वाली अनिश्चित राशियाँ उत्पादन-व्यय के बराबर तब तक नहीं हो पातीं जब तक कि किसी दूसरे उत्पादक से छीनकर माँग अपने कब्जे में न की जा सके और उसके लिए किसी नवीन प्रक्रिया के प्रवर्तन की आवश्यकता होती है। विकास के निम्न स्तरों

पर परन्तु खपत के लिए सामान्यतया किसी नवीन प्रक्रिया की खोज नहीं की जाती। नवीन प्रक्रिया में केवल नयी टेक्नीकों की ही जरूरत नहीं पड़ती, जो कि विकास के इन स्तरों पर सामान्यतया विदेश से आती हैं बल्कि उससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि ऐसी अवस्था में सामान्यतया सामाजिक वातावरण उन लोगों के अनुकूल नहीं होता जो अपने साथी उत्पादकों के बाजार के कुछ भाग को उनसे छीनकर धन कमाने का प्रयत्न करते हैं। अतः नवीन प्रक्रिया सामान्यतया सबसे पहले विदेशी व्यापार में लागू होती है। इसका एक कारण तो यह है कि विदेशी ही नये विचार लाते हैं और दूसरा कारण यह है कि देशी व्यापार में हड़प करना समुदाय की नजर में अच्छा नहीं समझा जाता।

सीमान्त आय में से खर्च कम होने की बात जिस पर प्रस्तुत यह मत आधारित है, प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था की बजाय गतिहीन अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित है। सवाल यह है कि सीमान्त आय का जो भाग बचत, करों की अदायगी और आयातों के भुगतान में निकल जाता है उसकी पूर्ति प्रतिक्रिया निवेश, सरकारी खर्च, या निर्यात की आय से उसी मात्रा में नहीं हो पाती, या अगर होती भी है तो इसमें काफी समय लग जाता है। इसके विपरीत एक बार जब अर्थ-व्यवस्था प्रगति की ओर उन्मुख हो जाती है तो निवेश सरकारी खर्च और निर्यात में अपने ही बल पर बढ़ने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और बचतें, कर और आयात पीछे रह जाते हैं। प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था में स्फीति की स्पष्ट प्रवृत्ति होती है, चाहे वह मामूली सी हो या उसके बीच-बीच में अवस्फीति के अल्पकालीन संकट आते हों। और चूँकि स्फीति पूँजीपतियों को पुनर्निवेश के लिए लाभ देकर और प्रेरणा के लिए उनके सामने बड़े-बड़े लाभों का प्रलोभन प्रस्तुत करके निवेश को बढ़ावा देती है अतः प्रगति के मार्ग पर प्रवृत्त अर्थ-व्यवस्था बराबर आगे बढ़ती जाती है। इसके विपरीत गतिरुद्ध अर्थ-व्यवस्था में गतिरुद्ध बने रहने की प्रवृत्ति होती है। यहाँ निवेश, निर्यात और सरकारी व्यय निश्चित रूप से अपने ही बल पर नहीं बढ़ पाते। अतः जब नये खर्चों का कुछ भाग बचत, आयातों या सरकारी राजस्व में चला जाता है तो माँग की तुरन्त कमी के कारण बाजार की गतिविधियों में मन्दी आ जाती है, चाहे उसके परिणामस्वरूप बाद में कभी निवेश, निर्यात और सरकारी व्यय बढ़ जायें। ऐसी अर्थ-व्यवस्था की बजाय जिसमें निवेश बचत को देखकर होता है, निर्यात आयात का अनुसरण करते हैं, या खर्च राजस्व को देखकर किया जाता है, वास्तव में उस अवस्था में अधिक पतनाकूलता है जब बचतों में निवेश के बराबर, आयातों में निर्यातों के बराबर, या राजस्व में सरकारी व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है।

परन्तु जिस अर्थ-व्यवस्था में सीमान्त मांग की कमी की चिरकालीन प्रवृत्ति नहीं होती, और जो नवीन प्रक्रिया तथा घरेलू बाजार में प्रतियोगी सम्पर्क के बहुत-कुछ अनुकूल होती है, उसके सामने भी एक अन्य कठिनाई यह होती है कि यदि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति उचित अनुपात में न की गई तो उनमें से कोई भी क्षेत्र उन्नति नहीं कर सकेगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि घरेलू खपत के लिए खाद्यान्नों का उत्पादन करने वाले कृषि-क्षेत्र में पर्याप्त नवीन प्रक्रिया लागू की गई है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो शहरों में बचत के लिए खाद्यान्नों की बेशी हो जाती है अन्यथा कृष्येतर रोजगार ढूंढने वाले कृषि-श्रमिकों की बेशी हो जाती है, या फिर दोनों का मिला-जुला रूप सामने आता है। यदि विनिर्माण-उद्योग का भी इसके साथ ही और ठीक दर से विकास हो रहा हो तो यह बेशी वस्तुएँ और बेशी श्रमिक, दोनों को खपा सकता है। परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो व्यापार-शर्तें कृषि के प्रतिकूल हो जाएँगी, फार्म-श्रमिकों और फार्म-उत्पादकों की बेशी हो जाने के कारण कृषि से होने वाली आमदनियाँ कम हो जाएँगी, और इस क्षेत्र में और अधिक निवेश या नवीन प्रक्रिया की सम्भावनाएँ कम हो जाएँगी। यदि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप किसान अपेक्षाकृत निर्धन होने की बजाय धनी हो जाएँ तो वे अधिकाधिक मात्रा में आयात वस्तुएँ खरीदेंगे, जिसके कारण तब तक अवस्फीति फैलती जाएगी जब तक या तो आयातों की स्थानापन्न वस्तुएँ देश में काफी मात्रा में न बनने लगें या निर्यातों में समुचित वृद्धि न हो जाए। यदि अन्य क्षेत्रों का विकास भी समुचित मात्रा में न हो रहा हो तो अर्थ-व्यवस्था के किसी एक क्षेत्र में ही नवीन प्रक्रियाओं के समावेश की अधिक सम्भावनाएँ नहीं होतीं।

यदि कृषि की उपेक्षा करके आर्थिक विकास को केवल उद्योगीकरण पर केन्द्रित किया जाए तो भी बिलकुल वैसी ही कठिनाइयाँ पैदा होंगी जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। रूस में ऐसा ही हुआ था। ऐसा करने पर कृषि-उत्पादों का नितान्त अभाव हो जाता है, उनकी कीमतों में स्फीति हो जाती है, और साथ-साथ अन्य वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाती हैं। विनिर्मित वस्तुओं को लाभ पर बेच पाने में भी कठिनाई होने लगती है। यदि किसानों की वास्तविक आय बढ़ती है, तो फैक्टरी के मजदूरों की वास्तविक मजदूरी भी उसके साथ ही बढ़ती है, जब कि फैक्टरी के उत्पादों की कीमतें अपेक्षाकृत कम ही रखी गई होती हैं। इसके बजाय, यदि किसानों की वास्तविक आय कम रहती है, तो वे विनिर्मित वस्तुएँ नहीं खरीद पाते, और ऐसी स्थिति में विनिर्मित वस्तुएँ तब तक लाभ के साथ नहीं बेची जा सकतीं जब तक कि उनके लिए विदेशी बाजार तैयार न किया जाए, या जब तक कि सरकार पूंजी-

निर्माण और रक्षा के लिए वेशी विनिर्मित वस्तुएँ न खरीद ले, जैसा कि रूस की सरकार ने किया था। परन्तु ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें किसानों की आय बढ़ न रही हो, इन सरकारी क्रयों के लिए वित्त का प्रबन्ध करने की समस्या पैदा हो जाती है। यह बात भी बचत के उस विश्लेषण से सम्बन्धित है जिसकी चर्चा हम खण्ड २ (ख) में कर चुके हैं। यदि कृषि में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो पूंजीगत क्षेत्र विकसित नहीं हो सकता, पूंजीगत लाभ राष्ट्रीय आय का एक छोटा-सा भाग बना रहता है और इसके साथ ही बचत और निवेश भी कम रहते हैं। निर्बाध आर्थिक विकास के लिए जरूरी है कि कृषि और उद्योग दोनों का साथ-साथ विकास हो।

यदि हम अर्थ-व्यवस्था को तीन क्षेत्रों में विभाजित मान लें, अर्थात् घरेलू बाजार के लिए कृषि-उत्पादन को 'क', घरेलू बाजार के लिए विनिर्माण-उत्पादन को 'ख', और निर्यात के लिए उत्पादन को 'ग' मान लें तो इस सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। यदि 'ख' का विस्तार होता है तो 'क' के उत्पादों की मांग बढ़ जाएगी। यदि 'ख' का बढ़ा हुआ उत्पादन आयात की वस्तुओं का स्थान ले ले तो इस प्रकार बची हुई विदेशी मुद्रा (ग) के आयातों का भुगतान करने के काम में लाई जा सकती है। यदि ऐसा न हो, और यदि 'क' गतिहीन रहे जबकि 'ख' का विस्तार हो रहा हो, तो या तो 'क' की कीमतें बढ़ जाएंगी, या आयात बढ़ जाएंगे, जिससे भुगतान-शेष में घाटा हो जाएगा और इन दोनों में से किसी भी बात से 'ख' का विस्तार रुक जाएगा। हां, बढ़ती हुई मांग को 'ग' की वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है, जिससे आयातों का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा मिल जाएगी। अतः 'ख' के विस्तार के साथ-साथ या तो 'क' या 'ग' का बढ़ना आवश्यक है, या आयात वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार करना जरूरी है। इसी प्रकार 'क' के विकास के साथ-साथ या तो 'ख' या 'ग' में वृद्धि होनी चाहिए, या आयात की जाने वाली वस्तुओं के स्थानापन्न का उत्पादन किया जाना चाहिए। केवल 'ग' ही बिना किसी बाधा के अकेले विकास कर सकता है चाहे 'क' या 'ख' में से किसी का विकास न हो रहा हो। इसका कारण यह है कि निर्यात के विकास के कारण उत्पन्न मांग को आयातों द्वारा पूरा किया जा सकता है जिनका भुगतान निर्यातों से कमायी गई विदेशी मुद्रा से किया जा सकता है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह भी एक कारण है कि चाहे विनिर्मित वस्तुओं का मामला हो या खाद्यान्नों का, विकास सामान्यतया निर्यातों के साथ आरम्भ होता है, न कि घरेलू बाजार के लिए उत्पादन के साथ, और यही कारण है कि आन्तरिक उपभोग के लिए उत्पादन में पिछड़ा होने पर भी कोई देश निर्यात-उद्योगों की खूब उन्नति कर सकता है।

यदि हम फिलहाल निर्विदेश व्यापार-व्यवस्था की ही बात को लें, तो जहाँ यह जरूरी है कि विनिर्माण-उद्योग और कृषि दोनों का साथ-साथ विकास हो, वहाँ यह जरूरी नहीं है कि दोनों के विकास की गति बराबर हो। विनिर्मित वस्तुओं की माँग की आय-सापेक्षता इकाई से अधिक होती है, जबकि खाद्यान्न की माँग की आय-सापेक्षता इकाई से कम होती है। सेवाओं की माँग की आय-सापेक्षता विनिर्मित वस्तुओं की माँग की आय-सापेक्षता से भी अधिक होती है। अतः आर्थिक विकास के साथ-साथ कृषि उत्पादन की अपेक्षा विनिर्मित वस्तुओं के कुल उत्पादन में अधिक तेजी से वृद्धि होनी चाहिए, और सेवाएँ और भी अधिक तेजी से बढ़नी चाहिएँ। किसी निर्विदेश व्यापार-व्यवस्था में विनिर्माण-उद्योग और कृषि के 'साथ-साथ' या 'उचित दर से' या 'सन्तुलित ढंग से' विकसित होने की बात करते समय हम जिन दरों का उल्लेख करते हैं वे समुदाय की विनिर्मित वस्तुओं की तुलना में कृषि-उत्पादों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होती हैं। विदेश-व्यापार वाली अर्थ-व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती है, क्योंकि उसमें आन्तरिक उपभोग के लिए विनिर्मित वस्तुओं के विकास का सन्तुलन कृषि-उत्पादन के विकास के स्थान पर निर्यात के लिए विनिर्मित वस्तुओं के साथ किया जा सकता है। 'विनिर्मित वस्तुओं' की जगह 'कृषि' कहने पर भी यह तर्क ठीक बैठता है। अतः व्यवहार में हमें आयातों, निर्यातों, विनिर्माण और कृषि, सबके बीच सन्तुलन बनाए रखना होता है, न कि उनमें से किन्हीं दो के बीच।

यह तथ्य कि विनिर्मित वस्तुओं को बढ़ते हुए निर्यात का सहारा हो तो विनिर्माण-उत्पादन के विस्तार के लिए कृषि-उत्पादन के विस्तार की आवश्यकता नहीं होती, ऐसे जनाधिक्य वाले देशों के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जिन्हें भरसक प्रयत्न के बावजूद अपनी खाद्य की जरूरत के मुताबिक अपना कृषि-उत्पादन बढ़ा पाने की आशा नहीं है। ऐसे देशों में उद्योगीकरण किसी भी दृष्टि से कृषि-विस्तार पर निर्भर नहीं होता, यद्यपि यह सच है कि उन्हें कृषि-उत्पादन पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए। अतः इन देशों को अपनी विनिर्मित वस्तुओं के लिए निर्यात-बाजार बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योंकि अन्ततः उनके निर्यात की वृद्धि-दर से ही उनके आन्तरिक विकास की सीमा निर्धारित होती है। ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। वहाँ औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ कृषि-क्रान्ति भी हुई, परन्तु आन्तरिक माँग शीघ्र ही कृषि उत्पादन की क्षमता से अधिक हो गई, इसके बावजूद नैपोलियनी युद्ध के अन्त से अमरीकी गृहयुद्ध आरम्भ होने तक ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति केवल इसलिए बढ़ती गई कि ब्रिटेन का विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष की

सबकी दर से बढ़ रहा था। इसके विपरीत गत ८० वर्षों में ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षाकृत बहुत धीमी प्रगति का कारण सम्भवतः यही रहा है कि नयी विदेशी प्रतियोगिता का सामना होने पर भी ब्रिटेन शान्ति-काल तक में अपना निर्यात ■ प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक नहीं बढ़ा सका। ब्रिटेन, जापान या भारत-जैसे जनाधिक्य वाले देशों में विनिर्माण-उद्योग की वस्तुओं के निर्यात की वृद्धि-दर उनके आन्तरिक विकास की सबसे महत्त्वपूर्ण सीमा हो सकती है (इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे)। इन देशों को इस प्रकार से अपना कृषि-उत्पादन बढ़ाने का भी प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जितना ही अधिक वे अपना कृषि-उत्पादन बढ़ाएंगे उतना ही कम उन्हें अपने विनिर्माण उत्पादन को विश्व-बाजार में खपाने पर निर्भर रहना होगा।

व्यवहारतः सर्वाधिक पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में जिस क्षेत्र में सामान्यतया अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ विकास करने की सबसे कम प्रवृत्ति होती है और इसलिए जो हर प्रकार के आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक होता है, वह देश के भीतर उपभोग के लिए खाद्यान्न पैदा करने वाला कृषि-क्षेत्र है। इसका कारण यह है कि जब कृषि छोटे-छोटे किसानों के हाथ में हो तो नवीन प्रक्रिया को लागू करना निजी उद्यमकर्ताओं की अपेक्षा सरकारी तन्त्र पर अधिक निर्भर होता है। यदि अन्य क्षेत्रों में, जैसे विनिर्माण-क्षेत्र में माँग बढ़ जाती है तो कुछ निजी उद्यमकर्ताओं को स्वयं उस क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा होती है। पर किसानों को उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक ऐसे उपाय करने होते हैं जो अनिवार्यतः सरकारी क्षेत्र में आते हैं, जिनमें सबसे अधिक खर्च कृषि-अनुसन्धान और कृषि-विस्तार पर, सड़कों पर, गांवों की जल-व्यवस्था पर, और कृषि-उधार-सुविधाओं आदि पर करना होता है। जापान का अनुभव बताता है कि इन कामों पर सरकार द्वारा किये गए खर्च का किसानों के उत्पादन पर बड़ा चमत्कारी प्रभाव पड़ सकता है (वहां तीस वर्षों में प्रति व्यक्ति उत्पादन दूना हो गया), और कृषि अन्य क्षेत्रों से पिछड़ी रहने और शेष अर्थ-व्यवस्था के मार्ग में बाधक बनने के बजाय अन्य क्षेत्रों के लिए मांग पैदा करके और उनके लिए पूंजी का प्रबन्ध करके समूची अर्थ-व्यवस्था का नेतृत्व कर सकती है। परन्तु अधिकांश ऐसे देशों की सरकारों ने कृषि की उपेक्षा की है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि अन्य क्षेत्रों के विकास की गति भी कम रही है। ग्रेट ब्रिटेन की तुलना में फ्रांस की, या जापान की तुलना में चीन की अर्थ-व्यवस्था के अपेक्षाकृत अधिक गतिरोध के जो कारण बताए जाते हैं उनमें सबसे बुनियादी कारण मुझे यही लगता है कि इन देशों में कृषि उत्पादकता की वृद्धि-दर अपेक्षाकृत कम रही है। अगर फ्रांस अपनी सारी जनसंख्या के निए खाद्यान्नों का उत्पादन करना चाहे तो उसे आज भी अपनी कुल जन-

संख्या के एक-चौथाई भाग को कृषि में लगाने की ज़रूरत है, जबकि अन्य सर्वाधिक उन्नत देश को अपनी जनसंख्या का १० से १५ प्रतिशत तक लगाना ही काफी होता है।

नवीन प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न घरेलू बाजार की ये कमियाँ—चाहे व कुल माग म हो या महत्त्वपूर्ण क्षेत्र की सापेक्ष प्रगति में हो, या बाजारों को हथियाने के लिए प्रतियोगी संघर्ष की प्रवृत्तियों के रूप में हो—यह बताती हैं कि किसी अर्थ-व्यवस्था का प्रगति के मार्ग पर लाकर खड़ी करने का भार प्रायः विदेशी व्यापार को ही क्यों उठाना पड़ता है। निर्यात के लिए उत्पादन अन्य क्षेत्रों में समुचित रूप से बढ़ती हुई माँग पर निर्भर नहीं होता, इसमें देश के भीतर प्रतियोगी संघर्ष नहीं पैदा होता, क्योंकि आरम्भिक अवस्थाओं में विश्व की कुल माँग किसी एक देश के पृथक्-पृथक् उत्पादकों के उत्पादन की तुलना में कहीं अधिक होती है, और न यह देश के भीतर प्रभावी माँग पर ही निर्भर होता है, बल्कि निर्यात अन्य वस्तुओं की नयी प्रभावी माँग पैदा करते हैं, और इस प्रकार देशी खपत के लिए उत्पादन करनेवाले सभी उद्योगों को बढ़ावा देते हैं। निर्यात अन्य प्रकार से भी देश के भीतर के उद्योगों को बढ़ावा देते हैं। निर्यात उद्योगों के लिए जुटायी गई कुछ सुविधाएँ, जैसे संचार, प्रशिक्षण-सुविधाएँ, या इंजीनियरी सेवाएँ देश के भीतर के उद्योगों के भी काम आती हैं, इनके अलावा निर्यात उद्योग देश के भीतर के उद्योगों के उत्पादन की माँग बढ़ाने के साथ-साथ उनके श्रमिक भी अपनी ओर खींच लेते हैं, जिसके फलस्वरूप इन उद्योगों को अपनी उत्पादकता बढ़ाने हेतु नवीन प्रक्रियाएँ ढूँढ़ने के लिए बढ़ावा मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थ-शास्त्रियों, जैसे माल्थस और लिस्ट ने जब आर्थिक विकास का श्रीगणेश करने में विदेश-व्यापार के महत्त्वपूर्ण योग पर ज़ोर दिया तो उन्होंने आयात और निर्यात, दोनों की भूमिकाओं को समान महत्त्व दिया था। उनका विचार था कि आयात नयी-नयी रुचियाँ पैदा करते हैं, जिसके फलस्वरूप काम के लिए नयी ऊर्जा और उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने की इच्छा उत्पन्न होती है, ताकि नयी वस्तुएँ खरीदने के लिए अतिरिक्त आय उपलब्ध की जा सके। आयातों का यह प्रभाव ऐसे देशों में अवश्य पड़ता है जहाँ आम उपभोक्ता वस्तुओं में विविधता न होने के कारण लोगों में उपभोग के प्रति आकर्षण रह जाता है और खाली बैठे रहने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। परन्तु जिन देशों में यह प्रभाव उल्लेखनीय नहीं होता वहाँ भी विदेश-व्यापार निर्यात के लिए उत्पादन बढ़ाने के प्रभावों के माध्यम से सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण को बदल देता है।

विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व होता है, अतः इस अवस्था में नेतृत्व सामान्यतया विदेशी उद्यमकर्त्ताओं के हाथ

में रहता है। हो सकता है कि देश के उद्यमकर्ता निर्यात के लिए किसी उद्योग का विकास करें, या बाजारों की खोज में देश के बाहर जाएँ। पर अधिकांशतया ऐसे विकसित देश ही सप्लाई के स्रोतों की खोज में अपने वाणिज्यदूत बाहर भेजते हैं जिनका उपभोग बढ़ रहा होता है। इसके अलावा, अधिक विकसित देशों के उद्यमकर्ता उत्पादन, या विपणन, या परिवहन-सम्बन्धी टेक्नीकों के बारे में कुछ ऐसी बातें जानते हैं जिनके कारण वे कम विकसित देशों के उद्यमकर्ताओं की तुलना में अधिक लाभजनक स्थिति में होते हैं। पर कुछ समय बाद जब देश के उद्यमकर्ता उन टेक्नीकों को सीख लेते हैं और अपनी संख्या भी बढ़ा लेते हैं तो अपने हाथों देश के उद्योग चलाने में खर्च कम आने की सुविधा के बल पर विदेशी उद्यमकर्ताओं को निकाल बाहर करते हैं। चाहे कोई चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच निचले देशों (हालैंड आदि) के प्रसंग में ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करे, या उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों के जापानी इतिहास के पन्ने पलटे या श्रीलंका के हाल के विकास का इतिहास देखे, उसे लगभग यही बात देखने को मिलेगी।

यद्यपि निर्यातों का विस्तार आर्थिक विकास प्रारम्भ करने का सबसे सरल उपाय है, पर निर्यात पर अत्यधिक जोर देना उतना ही अलाभप्रद है जितना किसी अन्य क्षेत्र पर अत्यधिक जोर देना। इसके फलस्वरूप आयात-निर्यात स्थिति प्रतिकूल हो जाती है। यदि खाद्य का उत्पादन करने वाले किसानों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कुछ भी न किया जा रहा हो तो कृषि-मजदूर खानों, बागानों, या अन्य निर्यात-उपक्रमों में सस्ती मजदूरी पर काम करने के लिए उपलब्ध होने लगते हैं। उष्ण कटिबन्ध के कम विकसित देशों पर यह बात खूब लागू होती है, और इसी कारण चाय, कपास, तिलहन, तथा विभिन्न खनिज उत्पादन आदि वाणिज्यिक वस्तुएँ औद्योगिक देशों को बड़ी लाभप्रद शर्तों पर मिल जाती हैं। इन वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए जरूरी मजदूर बहुत सस्ती मजदूरी पर मिल जाते हैं, क्योंकि यदि मजदूर इतने कम पैसों पर काम न करें तो उन्हें खाद्यान्न उपजाने वाले कृषि-फार्मों पर काम करना होगा, जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादकता बहुत ही कम होती है। जब तक किसानी फार्मों की उत्पादकता कम रहेगी तब तक विश्व के सम-शीतोष्ण देशों को उष्ण-कटिबंधीय मजदूरों की सेवाएँ बहुत सस्ती मजदूरी पर मिलती रहेंगी। इसके अलावा एक बात यह है, निर्यात के लिए तैयार की गई फसलों की उत्पादकता बढ़ जाने पर भी उसमें से मजदूरों को कोई हिस्सा नहीं देना पड़ता, और वस्तुतः सारा लाभ औद्योगिक उपभोक्ताओं के लिए कीमतें कम करने में लगा दिया जाता है। गन्ना-उत्पादन इसका एक सुन्दर उदाहरण है। यह एक ऐसा

उद्योग है, जिसमें मेहनत को देखते हुए उत्पादकता बहुत अधिक होती है। साथ ही, इस उद्योग में पिछले सत्तर वर्षों के दौरान प्रति एकड़ उत्पादन लगभग तीन गुना हो गया है — वृद्धि की यह दर संसार के किसी अन्य मुख्य कृषि-उद्योग में देखने में नहीं आती—गेहूँ उद्योग में तो निश्चित रूप से नहीं। पर गन्ना-उद्योग के मज़दूर अब भी नंगे पैर चलते हैं और मामूली झोंपड़ियों में रहते हैं जबकि गेहूँ पैदा करने वाले मज़दूरों के रहन-सहन का स्तर संसार के उच्चतम स्तरों में से है। गन्ना-उद्योग की उत्पादकता चाहे कितनी ही बढ़ जाए परन्तु उसका लाभ मुख्य रूप से उपभोक्ताओं को ही मिलता है। उष्ण कटिबन्धीय देशों को यह हानि (जो औद्योगिक देशों के लिए लाभ है) इसलिए उठानी पड़ती है कि उनके आर्थिक विकास में अर्थ-व्यवस्था के निर्यात-क्षेत्र पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया है, और विदेशी उद्यमकर्ताओं व विदेशी पूँजी को मुख्य रूप से निर्यातों का विस्तार करने के काम में ही लगाया गया है। इसका परिणाम यह है कि इन देशों से निर्यात होने वाला माल औद्योगिक देशों को लाभप्रद शर्तों पर मिल जाता है।

सिद्धान्त की दृष्टि से निर्यातों का बढ़ाना कोई ग़लत बात नहीं है लेकिन अर्थ-व्यवस्था के केवल इसी क्षेत्र पर बहुत अधिक ज़ोर देना ग़लत है। आन्तरिक खपत के लिए उत्पादन करने वाले क्षेत्रों की, विशेषतया कृषि-क्षेत्र की, उत्पादकता बढ़ाने के लिए उपाय करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, और यदि ऐसा किया जाए तो निर्यात-क्षेत्र के मज़दूरों की वास्तविक आय भी साथ-साथ ही बढ़ सकती है। निर्यातों की उपेक्षा करना उतनी ही बड़ी ग़लती है जितनी बड़ी ग़लती निर्यातों पर बहुत अधिक ज़ोर देना है, क्योंकि निर्यात की गति बिलकुल मन्द होने से भी विकास का काम रुक जाता है। उदाहरण के लिए, आन्तरिक उपभोग से सम्बन्धित कामों में निवेश करने के लिए लोगों में अधिकाधिक इच्छा होने पर भी उन्हें पूरा करने में विदेशी मुद्रा का अभाव बाधक बन सकता है। देश के आन्तरिक उपभोग के निमित्त विनिर्माण या कृषि में निवेश करने के लिए निजी उद्यमकर्ताओं के पास बड़ी-बड़ी आयोजनाएँ हो सकती हैं, और सरकार के पास भी शिक्षा, लोकोपयोगी सेवाओं, तथा इसी प्रकार के अन्य कामों पर धन ख़र्च करने के अनेक कार्यक्रम हो सकते हैं, परन्तु ऐसे सब कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अधिकाधिक आयातों की आवश्यकता पड़ती है, चाहे वह आन्तरिक निवेश के लिए मशीन की हो, या कच्चे माल की हो, या उपभोक्ता-वस्तुओं की हो। देखा जाए तो विकास के हर कार्यक्रम से विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ती है, अतः यदि विदेशी मुद्रा अर्जित करने की क्षमता बढ़ न रही हो तो सारा विकास-कार्य रुक सकता है। इस समय कुछ थोड़े-से ही देश ऐसी अवस्था में हैं। अतः समूचे देश के लिए

कोई विकास-कार्यक्रम बनाने के साथ ही निर्यातों का विस्तार करने के लिए, या आयातित वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार करने के लिए समुचित व्यवस्था अवश्य कर ली जानी चाहिए। सच पूछा जाए तो यह विदेशी व्यापार द्वारा आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अदा की जाने वाली भूमिका पर ज़ोर देने का ही एक दूसरा ढंग है।

आर्थिक विकास की बाद की अवस्थाओं में यह गत्यात्मक कार्य विदेशी व्यापार के एकाधिकार में नहीं रह जाता बल्कि हो सकता है कि पूरी तरह घरेलू बाज़ार के हाथ में आ जाए। यह संक्रमण अमरीका में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग हुआ था। आरम्भ में निर्यातों के प्रभाव-स्वरूप घरेलू माँग में होने वाली वृद्धि समय आने पर देश के उद्यमकर्ताओं को प्रोत्साहित करती है, और होते-होते देश के आन्तरिक उपभोग के उत्पादन में होने वाला निवेश आर्थिक विकास का आधार-स्तम्भ बन जाता है। यदि कृषि-क्षेत्र में पूंजीवादी ढंग से क्रान्ति नहीं हो पाती और इसलिए यदि वह माँग और श्रम की सप्लाई पर निर्भर बना रहता है, तो इस संक्रमण में बहुत विलम्ब हो सकता है, जैसा कि जापान में हुआ। अथवा यदि प्राकृतिक साधनों की तुलना में जनसंख्या का अपेक्षाकृत अधिक आकार देश को आयातों पर काफी हद तक निर्भर रहने के लिए मजबूर करे, जिससे समूचे विस्तार की दर विदेशी कमाइयों में बढ़ोतरी की दर से, या आयातों की स्थानापन्न वस्तुओं के उत्पादन की दर से कम ही रहे, तो हो सकता है कि ब्रिटेन की भाँति यह संक्रमण कभी पूरा ही न हो।

इस विश्लेषण का एक उपसिद्धान्त यह है कि इससे उन स्थितियों का पता चलता है जिनमें विदेशी मुद्रा पर कोई दबाव डाले बिना ही आर्थिक विकास हो सकता है। यदि अर्थ-व्यवस्था-विकास का मुख्य कारण उसके निर्यातों की माँग का तेज़ी से बढ़ना हो तो जब उपभोग के प्रयोजनों के लिए होने वाले आयात की मात्रा निर्यातों से कम हो जाएगी, तब उस अर्थ-व्यवस्था की हालत बढ़िया हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि कोई अर्थ-व्यवस्था मुख्यतया आन्तरिक मांग के बल पर विकसित हो रही हो तो उसके आयात तो बढ़ते जाएँगे (जब तक कि वह आयात की वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ पैदा न करने लग जाए), पर निर्यातों में उतनी ही वृद्धि नहीं हो पाएगी। ऐसी अर्थ-व्यवस्था को यदि बड़ी मात्रा में विदेशी सहायता (ऋण या अनुदान) नहीं मिलती तो हो सकता है कि उसे विकास-कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए विदेशी मुद्रा पर नियन्त्रण लगाना पड़े। किसी देश के निर्यातों की माँग बढ़ना उसके लिए सदैव ही फ़ायदेमंद होता है।

इस विश्लेषण का निष्कर्ष बहुत धोखा देने वाला नहीं है। निष्कर्ष यह है कि विकास-कार्यक्रम में अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों की एक साथ उन्नति

होनी चाहिए ताकि उद्योग और कृषि के बीच और घरेलू उपभोग के लिए उत्पादन और निर्यात के लिए उत्पादन के बीच समुचित सन्तुलन रखा जा सके। यद्यपि यह निष्कर्ष काफ़ी स्पष्ट है परन्तु न तो आजकल इस पर कोई आचरण करता है और न ऐसा करने की कोई सलाह ही देता है। उदाहरण के लिए औद्योगिक देशों में 'उदार' अर्थशास्त्रियों का एक पूरा सम्प्रदाय ऐसा है जो ऊँचे आदर्शों की दुहाई देते हुए कृषि-प्रधान देशों को यह समझाने की कोशिश करता है कि उन्हें कृषि पर ही अपना सारा ज़ोर लगाना चाहिए और उद्योगों को बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यही लोग, दूसरी ओर, निर्यात की बड़ाई के पुल बाँधते हैं और ऐसे कार्यक्रम के समर्थक रहते हैं जिसके फलस्वरूप विदेशी व्यापार पर निर्भरता कम होने की सम्भावना हो। इस सम्प्रदाय की त्रुटियों के ठीक विपरीत मार्क्सवादियों और राष्ट्रवादियों के सिद्धान्त हैं, जिनके अनुसार आर्थिक विकास का एकमात्र उपाय उद्योगीकरण पर पूरा ज़ोर लगाना है। इन विरोधी मतों की रस्साकस्सी के बीच यह सही मान लेना काफ़ी वास्तवतापूर्ण लगता है कि अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास साथ-साथ किया जाना चाहिए, लेकिन यह धारणा जितनी सरल है उतनी ही अकाट्य भी है।

(ग) स्थायित्व—किसी निवेश का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण उसकी अनियमितता है, जिसके कारण आय और रोज़गार में बहुत उतार-चढ़ाव पैदा होता है। गत डेढ़ सौ वर्षों में इस समस्या के सम्बन्ध में बहुत अधिक लिखा जा चुका है, अतः इस पुस्तक में इसकी विस्तार से चर्चा करना अनावश्यक भी है और असम्भव भी। परन्तु यदि आर्थिक-विकास सम्बन्धी किसी पुस्तक में निवेश के इस उतार-चढ़ाव का कोई उल्लेख न हो तो यह बड़ी अजीब बात मालूम होगी, अतः इस समस्या के मुख्य-मुख्य पहलुओं पर यहाँ कुछ संक्षिप्त चर्चा अवश्य की जानी चाहिए।

हर देश में अस्थायित्व के अपने अनेक आन्तरिक कारण होते हैं लेकिन इसके अलावा विदेशी व्यापार के माध्यम से पैदा होने वाले उतार-चढ़ाव भी हर देश को प्रभावित करते हैं। अस्थायित्व के आन्तरिक कारण नयी खनिजों की खोज, कुछ स्रोतों की समाप्ति, नयी भूमि की उपलब्धि, नये आविष्कारों की प्रयुक्ति, सरकारों की स्फीतिकारी या अवस्फीतिकारी नीतियाँ, प्रवास, गृह-कलह, महामारी, भूचाल, आग, युद्ध आदि हैं। विश्व-व्यापार चाहे बिना किसी उतार-चढ़ाव के एक स्थिर गति से बढ़ता रहे, फिर भी हर देश में अलग-अलग अपने उतार-चढ़ाव होते रहेंगे। व्यवहारतः अधिक विकसित देशों के उतार-चढ़ाव के कारण विदेशी व्यापार में पैदा होने वाले उतार-चढ़ाव कम विकसित देशों की आन्तरिक अनियमितताओं के प्रभाव को नष्ट कर देते

हैं। ये उतार-चढ़ाव विश्व-व्यापार के परिमाण और कीमतों में बहुत अधिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। ये बड़े परिवर्तन उन्नत देशों की मांग के अधिक फैलाव और संकुचन से पैदा होते हैं। इस अर्थ में आजकल संसार की निजी उद्यमवाली सारी अर्थ-व्यवस्थाएं अमरीका की तुलना में—जहां संसार की आय का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग पैदा होता है—'अल्प विकसित' हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन और जर्मनी भी उतार-चढ़ाव के स्वतन्त्र स्रोत थे और कुछ हद तक आज भी हैं, परन्तु विश्व-आय में उतार-चढ़ाव पैदा करने में अमरीका की तुलना में उनका प्रभाव अब बहुत कम रह गया है और अब वे (कोरिया युद्ध या स्वेज के समय को छोड़कर) अपने व्यापार की गतिविधियों की बजाय अमरीका की व्यापारिक गतिविधियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित होते हैं। अतः व्यापार-चक्र के बारे में अब केवल यही मालूम करना पर्याप्त है कि अमरीका या और भी व्यापक दृष्टि से अत्यधिक विकसित औद्योगिक समुदायों की गतिविधियों में उतार-चढ़ाव किन कारणों से पैदा होते हैं।

गतिविधियों में उतार-चढ़ाव पैदा होने का कोई एक नहीं बल्कि कई कारण होते हैं और कोई एक कारण, जो किसी एक चक्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो, किसी अन्य चक्र में बहुत कम महत्वपूर्ण हो सकता है। व्यापार-चक्र के विश्लेषण की कठिनाइयों में से एक कठिनाई यह जानने की भी है कि जब अनेक महत्वपूर्ण कारण एक साथ सक्रिय हों और सम्भवतः एक-दूसरे पर प्रभाव डाल रहे हों तो सम्भावित कारणों में से किस-किसको कितना-कितना महत्व दिया जाना चाहिए। व्यापार-चक्र-सिद्धान्त अनेक सम्भव कारणों में से हर एक का अलग-अलग परीक्षण करने के लिए सरल मॉडल तैयार करने पर जोर देता है, परन्तु मॉडल बनाने से केवल किसी खास उतार-चढ़ाव की ब्योरेवार व्याख्या करने तक के लिए किये गए प्रयत्नों से जिनमें हर कारण का समुचित महत्वांकन दिया गया हो, अभी तक किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ है। वास्तविक मॉडल के स्तर पर भी किसी भी महत्वपूर्ण कारण के बारे में सर्वसम्मति नहीं है। अतः आगे की चर्चा में न तो व्यापार-चक्र का कोई मॉडल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और न ही उच्चतम या निम्नतम मोड़ों और मध्यवर्ती स्वयंप्रभावी प्रक्रियाओं के सामान्य विश्लेषण की किसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है। इस विषय के सम्यक् विश्लेषण के लिए जितना स्थान अपेक्षित है उतना प्रस्तुत पुस्तक में देने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि इस पुस्तक का विषय अल्पकालीन परिवर्तनों पर विचार करने की बजाय उन कारणों पर विचार करना है जो दीर्घ अवधि में विकास पर प्रभाव डालते हैं। अतः आगे की चर्चा में इस विषय के नए पाठकों के लिए कुछ ऐसे मुख्य कारणों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है जो अनुमानतः इस बात पर प्रकाश

डालते हैं कि निवेश की वृद्धि लगातार स्थिर गति से क्यों नहीं होती। जिन कारणों को इस प्रयोजन के लिए चुना गया है वे इस प्रकार हैं नवीन प्रक्रिया की अनियमितता, बैंक उधार की नम्यता, निवेश और आय की वृद्धि के बीच अस्थिर सम्बन्ध और आय के वितरण में परिवर्तन।

नवीन प्रक्रिया की अनियमितता को आसानी से समझा जा सकता है। यह बार बार कहा जा चुका है कि नवीन प्रक्रिया में एक तर्कसम्मत पद्धति से विकास करने की प्रवृत्ति होती है। जब मोटर कार का आविष्कार होता है तो लोकप्रिय बनने में पहले अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में उसे काफी समय लग जाता है। इसके बाद ऐसा दौर आता है जिसमें मोटर कार उद्योग का बड़ी तेजी से विस्तार होने लगता है और परिवहन के अन्य साधनों, विशेषतया घोड़ों का प्रयोग कम होता जाता है। इस अवधि में केवल कारें बनाने के कारखानों पर ही नहीं बल्कि सड़कों पर और इस उद्योग के लिए रबर, टिन, इस्पात, शीशा आदि कच्चा माल और पुर्जे सप्लाई करने वाले अनेक सहायक उद्योगों पर बड़ा भारी निवेश किया जाता है। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जैसी कि अमरीका में आ चुकी है, जबकि लगभग सभी घोड़े परिवहन के उपयोग से निकाले जा चुके हैं और लगभग हर परिवार के पास अपनी कार हो जाती है। इसके बाद यह उद्योग सम्भवतः उतनी तेजी से नहीं बढ़ सकता जितनी तेज़ी से वह बीच की अवधि में बढ़ता रहा था, अतः निवेश की दर में भी उसी हिसाब से कमी आ जाती है। वास्तव में कोई नवीन प्रक्रिया किस प्रकार लागू होती है, इसका वर्णन करने के लिए 'तर्कसम्मत' शब्द आवश्यकता से अधिक सीधी-सादी गति का परिचायक है। निवेश कभी रुककर और कभी बहुत तेजी से बढ़ता है। जब कार लोकप्रिय हो जाती है तो बहुत सी फर्में बड़े उत्साह से इस कारबार में प्रवेश करती हैं और अपनी उत्पादन-क्षमता विद्यमान माँग से कहीं अधिक बढ़ा लेती हैं। उनमें से कुछ फर्में दिवालिया हो जाती हैं और उद्योग में मन्दी आ जाती है। परन्तु माँग बढ़ती ही जाती है और कुछ समय बाद उद्योग की उत्पादन-क्षमता के बराबर हो जाती है। एक बार पुनः जोश की लहर आती है और उत्पादन क्षमता बढ़ाने की होड़ लग जाती है, जिसके बाद एक बार पुनः अस्थायी रुकावट पैदा होती है। आर्थिक विकास की प्रकृति ही ऐसी है कि आगे क्या होने वाला है यह कोई नहीं जानता। इसलिए लोगों से गलतियाँ हो जाती हैं और यह आशा करना व्यर्थ है कि ये गलतियाँ एक-दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी और निवेश की वृद्धि बिना अधिक उतार-चढ़ाव के होती रहेगी। यह प्रवृत्ति हमें निवेश के उन अच्छी तरह जमे हुए क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ती है जिनमें नवीन प्रक्रिया की अधिक जरूरत नहीं होती। जनसंख्या लगभग एक

नियमित दर से बढती है, परन्तु मकानो की संख्या में इस प्रकार वृद्धि नहीं होती। इसके बजाय हर औद्योगिक समुदाय में मकानो के निर्माण का काम बीच-बीच में एकदम तेज गति से होता है। अत्यधिक गतिविधियों की एक अवधि होती है, लगभग १० वर्ष की, जिसमें इतनी अधिक संख्या में मकान बनाए जाते हैं कि हर जगह कुछ मकान खाली पड़े रहते हैं—शायद दस मकानों में एक मकान। उसके बाद लगभग १० वर्ष की ऐसी अवधि आती है जिसमें मकान कम बनते हैं और जनसंख्या बढ़कर मकानों के बराबर हो जाती है और उनके बाद यह चक्र पुनः नये सिरे से प्रारम्भ हो जाता है।

यदि हर प्रकार के निवेश की स्थिति ऐसी ही अनियमित हो, तो यह संयोग की ही बात होगी कि विभिन्न प्रणालियों का एक-दूसरे के साथ ऐसा सामंजस्य हो जाए कि कुल निवेश एक निश्चित दर से बढ़ता रहे। इसके लिए यह जरूरी होगा कि प्रत्येक नवीन प्रक्रिया के नष्ट होने ही अन्य नवीन प्रक्रिया उसका स्थान ले ले और किसी एक निवेश में होने वाले उतार-चढ़ाव की पूरी प्रतिपूर्ति दूसरे निवेश में होने वाले उतार चढ़ाव द्वारा हो जाए। यद्यपि निवेश के कुछ अवसर हमेशा ही बने रहते हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि निवेशों की घट-बढ़ एक-दूसरे की प्रतिपूर्ति कर दे। इसके विपरीत निवेश के उतार-चढ़ाव में एक-दूसरे के प्रभाव को समाप्त करने की प्रवृत्ति के बजाय उनके प्रभाव को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है जिसका कारण निवेश के अवसरों की एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति है। जब मोटर कार या मकान-जैसे किसी एक बड़े उद्योग का निवेश बढ़ रहा होता है तो उससे उत्पन्न आमदनियों तथा माँग के कारण अन्य सभी उद्योग समृद्ध हो जाते हैं। ऐसे मौके पर अन्य उद्योगों में निवेश करने वालों का भी हौसला बढ़ जाता है और वे अपने निवेश में वृद्धि देते हैं। इसके विपरीत, जब किसी मुख्य उद्योग में निवेश कम हो जाता है तो व्यापार में मन्दी आ जाती है, हौसले पस्त हो जाते हैं और निवेश में सामान्य गिरावट पैदा हो जाती है।

निवेश की राशि और उसके चरम उत्कर्ष पर पहुँचने में लगने वाली अवधि के अनुसार विभिन्न प्रकार के उद्योगों के निवेशों का महत्त्व न्यूनाधिक होता है। अतः आर्थिक क्रियाओं का स्तर छोटे उद्योगों के निवेश की बजाय बड़े उद्योगों के निवेश द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, यदि मकानों के निर्माण में कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५ प्रतिशत लग रहा हो तो इसके तेजी पकड़ने (लगभग ७ प्रतिशत तक पहुँच जाने) या मद होने (लगभग ३ प्रतिशत रह जाने) का आर्थिक क्रिया के सामान्य स्तर पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा, जबकि नया मिल बोर खोलने के कारण होने वाले उतार-चढ़ाव का प्रभाव अधिक नहीं पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, यदि कोई समुदाय

अपन यहाँ रेलें चलाने का कार्यक्रम शुरू कर तो इसमें सिर्फ पूंजी ही अधिक नहीं लगती बल्कि काफी वर्षों तक—लगभग २० या ३० वर्षों तक बड़ी आर्थिक सक्रियता भी बनी रहती है। इस बीच अन्य प्रकार के निवेशों में कुछ उतार चढ़ाव ही जाएगा परन्तु जब तक रेलों में निवेश का स्तर ऊँचा बना रहेगा तब तक कोई बड़ी मन्दी नहीं आ सकती। यही कारण है कि सब गिरावटें एक-जैसी गम्भीर नहीं होती। जब मकान-निर्माण या किसी अन्य महत्त्वपूर्ण नवीन प्रक्रिया की धूम मची हो तो ऐसे समय में होने वाली गिरावट न अधिक गम्भीर होती है और न दीर्घकालीन। परन्तु जब मकान निर्माण में मन्दी का समय हो, या किसी महत्त्वपूर्ण नवीन प्रक्रिया के उत्कर्ष की स्थिति अभी अभी गुजर चुकी हो, (जैसी स्थिति १९२९ में अमरीका में मोटर कार उद्योग की थी) तो यदि कोई गिरावट पैदा होगी तो वह गम्भीर प्रकार की और दीर्घकालीन होगी। चूँकि निर्माण-कार्य में कुल निवेश का औसतन २५ प्रतिशत लगा होता है और इसका चक्र १८ से २० वर्ष तक का होता है, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि इस उद्योग में एक दशाब्दी तक समृद्धि रहती है और उसके बाद एक दशाब्दी तक अपेक्षाकृत मन्दी का दौर आता है।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि निवेशों में एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु बैंक उधार की नम्यता (जो उतार-चढ़ाव का दूसरा मुख्य कारण है) के बिना यह पूरी तरह सम्भव नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में जबकि बैंक समामेलन आन्दोलन अधिक उन्नति नहीं कर पाया था, औद्योगिक देशों में हजारों स्वतन्त्र बैंक थे जो ऋण देने के मामले में अपनी पृथक्-पृथक् नीति चला रहे थे। जिस प्रकार निवेशों में एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार बैंकों में भी व्यावसायिक गतिविधियों के सामान्य वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होने की प्रवृत्ति थी, व्यापार में तेजी आने पर वे आसानी से ऋण देते थे (इस प्रकार तेजी को बढ़ाते थे) और मन्दी आने पर बहुत मुश्किल से ऋण देते थे (इस प्रकार मन्दी को और भी बढ़ा देते थे)। गत पचास वर्षों में केन्द्रीय बैंकों का एक मुख्य काम यह रहा है कि उन्होंने वाणिज्यिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले उधार पर नियन्त्रण लगा दिया है। यद्यपि केन्द्रीय बैंक न तो उधार के स्तर को स्थिर बनाए रखने में सफल हुए हैं और न बैंक उधार की नम्यता को तेजी की धूम और गिरावट की गम्भीरता में योगदान करने से रोक सके हैं, पर बैंक उधार की चरम अवस्थाओं के दुष्परिणामों को रोकने में इनका अवश्य बड़ा हाथ रहा है। यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी के किसी संकट के आँकड़ों की तुलना पुनर्व्यवस्था (न्यू डील) के बाद अमरीका में आए किसी संकट से करें, या बीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में आए किसी संकट से करें, तो यह बात बिलकुल स्पष्ट

हो जाएगी। उन्नीसवीं शताब्दी में हर संकट का कारण यही था कि कुछ ऐसे बैंक फेल हो गए जिन्होंने तेजी के जमाने में बिना समझे-बूझे बड़े-बड़े ऋण दे रखे थे, और जब बैंक बन्द हो जाने की आशंका पैदा हुई तो जमाकर्ता अपना-अपना धन निकालने के लिए बैंकों पर टूट पड़े। लेकिन अब ऐसा नहीं होता। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मुद्रा को 'प्रभावहीन' बनाने के प्रयत्न करने चाहिएँ, अर्थात् सक्रिय चलन की मुद्रा को चक्रीय गति में बढ़ने और घटने से रोका जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जा सके, तो तेजी और मन्दी दोनों मामूली होंगी। परन्तु यह सन्दिग्ध है कि इसे पूरी तरह किया जा सकता है। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्री समझते हैं कि तेजी के जमाने में उधार देने से निवेश का स्तर सामान्य स्थिति की अपेक्षा बढ़ जाता है। उनका कहना है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बार-बार मामूली स्फीति पैदा होना एक अनिवार्य लक्षण है।

इसके बाद हम निवेश और आय की वृद्धि के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। यदि पूंजी, आय और उपभोग के बीच अनुपात नियत हो, तो सन्तुलन तभी कायम रखा जा सकता है जब इन तीनों की वृद्धि भी समुचित अनुपातों में हो। उदाहरण के लिए यदि निवेश उपभोग की वृद्धि-दर का फल हो तो उपभोग की वृद्धि पर कोई रोक लगाने से निवेश कम हो जाएगा, चाहे उपभोग बढ़ता ही रहे, निवेश में कमी होने से आय में कमी हो जाएगी जिससे रोजगार और उपभोग भी कम हो जाएगा। व्यापार-चक्र सिद्धान्त अभी तक उन सम्भव कालगत सम्बन्धों की व्याख्या करने की अवस्था में आगे नहीं बढ़ पाया है, जिनसे पता लगता है कि यदि वृद्धि की दरें सन्तुलन की दरों से कम-अधिक हो जाएँ तो कितना भीषण परिणाम हो सकता है। हम अभी तक यह निर्धारित नहीं कर पाए हैं कि वास्तविक सम्बन्ध क्या हैं, या वे कितने अनम्य हैं, या विकास की सन्तुलन दरों के अपसरण का मात्रात्मक महत्त्व क्या है। परन्तु 'त्वरण सिद्धान्त' (अर्थात् आय की वृद्धि और निवेश-सम्बन्धी गतिविधि का परस्पर सम्बन्ध) कई मामलों में काफी स्पष्ट रूप से लागू होता है, इनमें से एक, वस्तुओं के भण्डार की स्थिति है। मान लीजिए वस्तुओं के भण्डार की जरूरत सामान्यतया राष्ट्रीय आय के ४० प्रतिशत के बराबर होती है। और यह भी मान लीजिए कि काफी बेरोजगारी की स्थिति से प्रारम्भ होकर राष्ट्रीय आय दो वर्ष तक दस प्रतिशत के हिसाब से बढ़ती है और पूर्ण रोजगार की अवस्था आ जाती है, और उसके बाद राष्ट्रीय आय केवल दो प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ती है। शुरू के दो वर्षों में भण्डारों में दस प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी, जो राष्ट्रीय आय के दो प्रतिशत वार्षिक दर से निवेश के बराबर है (वास्तविक वृद्धि इससे अधिक या कम भी हो

सकती है)। अगले वर्ष भण्डार में राष्ट्रीय आय के केवल ०.८ प्रतिशत तक वृद्धि की जरूरत होगी, इस प्रकार भण्डारों में अपेक्षित निवेश में राष्ट्रीय आय के १.२ प्रतिशत की कमी हो जाएगी जो कुल निवेश में लगभग ६ प्रतिशत कमी के बराबर होगी। इसके बाद इसमें स्वयं कमी होती जाएगी। वास्तव में उतार-चढ़ाव गलतियों के कारण बढ़ जाते हैं। दो वर्ष तक अपनी बिक्री दस प्रतिशत की दर से बढ़ाने के बाद अनेक व्यापारी आशा करते हैं कि तीसरे वर्ष में भी उनकी बिक्री उसी दर से बढ़ेगी, और जब पूर्ण रोज़गार की स्थिति पर पहुँच जाने के कारण बिक्री में वस्तुतः केवल दो प्रतिशत वृद्धि होती है तो उन्हें पता लगता है कि उन्होंने आवश्यकता से अधिक सामान मँगवा लिया है और उनके पास अनुमान से अधिक माल पड़ा हुआ है। बिक्री में इतनी कमी हो जाने से भण्डार-खरीद पर होने वाला खर्च राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत से घटकर ०.८ प्रतिशत रह जाना चाहिए, लेकिन अपने भण्डारों में एकदम कमी कर देने के प्रयत्न में व्यापारी-वर्ग और भी कम माल मँगाता है, जिसकी वजह से बेकारी फैल जाती है। भण्डार-खरीद में उतार-चढ़ाव व्यापार-चक्र की एक मुख्य विशेषता है। तेजी की अवधि में हमेशा ही भण्डारों में, विशेषकर कच्चे माल में, धुआँधार सट्टा होता है, जिससे कच्चे माल की कीमतें पहले तो एकदम बढ़ जाती हैं और फिर एकदम गिर जाती हैं। वास्तव में यह आशा करना व्यर्थ है कि निवेश, चाहे निर्माण-कार्य में हो, मशीनरी में हो, या भण्डारों में हो, निरन्तर स्थिर दर से बढ़ता रहेगा, और आय या उपभोग में भी ठीक उतनी ही स्थिर गति से वृद्धि होती रहेगी। सच पूछा जाए तो निवेश की गति घटती-बढ़ती रहती है, वह कभी तो विकास के लिए अपेक्षित दर से कम हो जाता है और कभी बढ़ जाता है।

उतार-चढ़ाव का *चौथा कारण, जिस पर समय-समय पर वादविवाद* होता रहा है, आय के वितरण पर आर्थिक विकास का प्रभाव है। उदाहरण के लिए, कार्ल मार्क्स ने व्यापार-चक्र का वर्णन कुछ इस रूप में किया है। तेजी की अवधि में पूँजी संचित होती है और श्रम की माँग बढ़ती है। अन्त में, श्रम के लिए प्रतियोगिता बढ़ने के कारण मज़दूरियाँ कीमतों की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ने लगती हैं और लाभ कम हो जाते हैं। जैसे-जैसे लाभ कम होता है, निवेश रुकता जाता है, और इस प्रकार मन्दी आरम्भ हो जाती है। ऐसी स्थिति में मज़दूरियाँ कीमतों की अपेक्षा अधिक तेज़ी से गिरने लगती हैं, और अन्त में एक समय आता है जब नया निवेश पुनः लाभप्रद होने लगता है। इस तर्क के अनुसार कीमतों को देखते हुए मज़दूरियों का एक ऐसा 'सम्यक्' स्तर कायम किया जा सकता है जिससे स्थिरता बनी रहेगी, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि मज़दूरियाँ हमेशा इससे कम या अधिक रहती हैं।

मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास न करने वाले समाजवादियों ने इसी प्रकार का परन्तु बिलकुल इससे उलटा मॉडल पेश किया है (जिसे कुछ मार्क्सवादी गलती से मार्क्स की ही देन मानते हैं)। इस मॉडल के अनुसार तेज़ी की अवधि में मजदूरियाँ लाभों की अपेक्षा अधिक तेजी से नहीं बढ़तीं, बल्कि *इसका उलटा होता है। कीमतें मजदूरियों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती हैं,* जिससे लाभ बढ़ते हैं। परन्तु लाभों को उपभोग पर खर्च करने की बजाय मुख्यतया बचाकर रखा जाता है। अतः उपभोग माँग और पूँजी-संचय दोनों की अपेक्षा कम तेज़ी से बढ़ता है। उनका विचार है कि यह एक अस्थिर अवस्था है। उपभोग में उतनी ही तेज वृद्धि न होने के कारण कुछ समय बाद माँग और उत्पादन-क्षमता की असमान वृद्धि में गतिरोध पैदा हो जाता है। लाभ की दर कम हो जाती है, निवेश घट जाता है, और माँग तथा रोजगार में संकुचन पैदा हो जाता है। इस मॉडल का सम्बन्ध पिछले पैरा में की गई चर्चा से है, क्योंकि यह भी विभिन्न मात्राओं के बीच सुनिर्धारित अनुपात बनाए रखने पर निर्भर है। जहाँ तक तथ्यों का मार्क्सवादी विचार के साथ विवाद का प्रश्न है, यह बात निश्चित है कि तेज़ी के दौरान मजदूरियों की तुलना में लाभ अधिक तेज़ी से बढ़ते हैं, और मन्दी के दौरान अधिक तेजी से घटते हैं। इन बातों को देखते हुए कि औद्योगिक देशों में कुल निवेश का केवल लगभग ३० प्रतिशत प्रत्यक्ष रूप से कृषि और विनिर्माण-उद्योग में जाता है, और विनिर्माण उद्योग में भी अधिकांश निवेश चालू माँगों को बढ़ाने के लिए *नहीं किया जाता बल्कि नवीन प्रक्रिया द्वारा नयी माँग पैदा* करने के लिए किया जाता है (नयी वस्तुओं या लागत घटाने वाली प्रक्रियाओं पर), और अधिक या कम पूँजीवादी प्रक्रियाओं में से किसी एक का चुनाव की कुछ छूट होती है, यह बताना बड़ा कठिन लगता है कि निवेश किस सीमा तक उपभोग पर निर्भर है। (कुल निवेश का शेष ७० प्रतिशत भाग भी अप्रत्यक्ष रूप से उपभोग पर निर्भर होता है, परन्तु यह उपभोग के वर्तमान स्तर के बजाय भविष्य के सम्भाव्य स्तर पर अधिक निर्भर होता है।)

अब यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि आर्थिक विकास-सम्बन्धी किसी भी पुस्तक में उतार-चढ़ाव की चर्चा की उपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती कि उतार-चढ़ाव के जिन मुख्य कारणों का उल्लेख यहाँ किया गया है वे सब आर्थिक विकास से पैदा होते हैं। पुरानी वस्तुओं या प्रक्रियाओं के स्थान पर नयी वस्तुएँ या प्रक्रियाएँ आने के फलस्वरूप नवीन प्रक्रियाओं का तरं-सम्मत विकास होता है। प्रारम्भ में जोरदार गतिविधि के रूप में अधिकाधिक उत्कर्ष की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, इसके बाद शिथिलता के दौर आते हैं (क्योंकि अवस्थाओं के एक बार पीछे छूट जाने पर इन दौरों का आना

अनिवार्य है) पर लोग अपनी मांग का स्तर बराबर बढ़ाते चले जाते हैं। अथवा पूंजी और उपभोग, भण्डार और मांग, या मजदूरियों और लाभों के बीच उचित अनुपात बनाए रखने में कठिनाइयाँ होती हैं। कहना न होगा कि यदि कोई विकास ही न हो तो उतार-चढ़ाव भी नहीं होंगे, परन्तु विकास की प्रक्रिया-रूपी अन्धकार में आगे बढ़ने पर निवेश की अनिश्चितताएँ और ग़लती की सम्भावनाएँ बढ़ ही जाती हैं। इसीलिए अनेक अर्थ-शास्त्रियों का कथन है कि उतार-चढ़ाव आर्थिक विकास के अनिवार्य परिणाम हैं, यदि मन्दी नहीं होगी तो तेज़ी भी नहीं आएगी और यदि तेज़ी नहीं होगी तो पूंजी-निर्माण औसतन उतनी तेज़ी से नहीं होगा जितनी तेज़ी से प्रायः होता है।

इस पुस्तक में उन सभी प्रस्तावों की चर्चा करना ज़रूरी नहीं है जो अमरीका की अर्थ-व्यवस्था को स्थिर बनाने के लिए दिये जाते रहे हैं, इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से बहुत सा साहित्य विद्यमान है। अमरीका या अन्य मुख्य-मुख्य देशों के उतार-चढ़ाव के दौरान विश्व-व्यापार के स्तर को स्थिर रखने के लिए राष्ट्र-संघ में समय-समय पर जिन प्रस्तावों पर वाद-विवाद हुआ है उनका भी नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। इस बारे में कुछ कहकर कि विश्व-व्यापार में उतार-चढ़ाव पैदा होने पर कम विकसित देश अपनी सहायता के लिए क्या कर सकते हैं, हम इस विषय को समाप्त कर देंगे।

व्यापार-चक्र का कुप्रभाव औद्योगिक देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों पर अधिक पड़ता है, क्योंकि कम विकसित देश खाद्य और कच्चे माल की कीमतों पर अधिकाधिक निर्भर होते हैं, जो व्यापार-चक्र में विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा बहुत अधिक घटती-बढ़ती हैं। तेज़ी के दौरान कीमतें एकदम बढ़ जाती हैं। साथ ही कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में मजदूरियों में भी एकदम वृद्धि हो जाती है (विशेष रूप से यदि शक्तिशाली मजदूर-संघ हो)। यह वृद्धि निर्यात-उद्योग के मजदूरों तक ही सीमित नहीं रहती। देश के भीतर खर्च बढ़ जाने के कारण देश में हर वस्तु—खाद्य, किरायों, सेवाओं आदि—की कीमतें बढ़ जाती हैं और इसके फलस्वरूप रहन-सहन के स्तर का खर्च बढ़ जाता है, जिससे मजदूरियाँ, वेतन और लाभ सभी में बहुत वृद्धि हो जाती है। सरकारी राजस्व में भी वृद्धि होती है, पर साथ ही सिविल कर्मचारियों पर, और अतिरिक्त सेवाओं की व्यवस्था करने पर सरकार का खर्च भी बढ़ जाता है। उसके बाद एकदम प्रवाह भंग होता है, जिसके फल-स्वरूप निर्यात-वस्तुओं की कीमतें १२ महीनों में ३० से ५० प्रतिशत तक घट सकती हैं। तब देश के भीतर वस्तुओं की कीमतों, मजदूरियों, किरायों, वेतनों को कम करने के लिए जोरदार प्रयत्न किया जाता है। यह काम बहुत कठिन होता है और इससे गम्भीर मतभेद और गृह-कलह का जन्म होता है, यदि कृषि-

क्षेत्र किसानी-खेती के बजाय बड़ी-बड़ी जायदादों पर मजदूरों से कराई जाने वाली खेती पर निर्भर हो तो यह मतभेद और गृह-कलह और भी उग्र रूप धारण कर लेते हैं, और यदि मालिक और नौकर अलग-अलग जाति या धर्म के होते हैं तो यह उग्रता अत्यन्त कटु हो जाती है। यदि ये देश विश्व-कीमतों के इस गम्भीर उतार-चढ़ाव से अपने को कुछ सीमा तक बचा सकें तो उनके आन्तरिक सामंजस्य की सम्भावनाएँ बहुत अधिक बढ़ सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि उनके लाभों में उतार-चढ़ाव कम होने के कारण उनके उत्पादन में थोड़ा-ही उतार-चढ़ाव आए (मन्दी में मजदूरियाँ कम करने में *कठिनाई होती है, अतः उत्पादन बहुत कम हो जाता है)*। और यदि इन देशों ने तेजी के जमाने में अपनी विदेशी मुद्रा कमाइयों को बरबाद करने की बजाय उसमें से कुछ बचा लिया होगा तो मन्दी के जमाने में, जब कि कीमतें गिर जाती हैं, उनका अच्छा मूल्य मिल सकेगा।

कोई भी कम विकसित देश अपने भुगतान शेष को विश्व-व्यापार में उतार-चढ़ाव के प्रभाव से बचा नहीं सकता। यदि विश्व-व्यापार में मन्दी आ जाए तो उसके निर्यातों का मूल्य कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह ज्यादा-से-ज्यादा इतना कर सकता है कि इस गिरावट को देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में न आने दे। यदि ऐसा करना हो तो उसे घरेलू उत्पादकों की आमदनियों और निर्यातों से प्राप्त राशियों के बीच कुछ रोक अवश्य लगा देनी चाहिए। इसका एक उपाय यह है कि सारा निर्यात किसी एक सरकारी एजेंसी की मार्फत किया जाए जैसा कि ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका, या युगैण्डा, या बर्मा, या स्याम के मुख्य-मुख्य निर्यातों के मामले में किया जा चुका है। यह एजेन्सी घरेलू उत्पादकों को अदा करने के लिए एक कीमत निर्धारित कर देती है, जो निर्यात की कीमतों के साथ नहीं घटती-बढ़ती, या यदि घटती-बढ़ती भी है तो बहुत थोड़ी। यदि ऐसी एजेंसी का प्रयोजन केवल घरेलू कीमतों को स्थिर करना हो तो घरेलू उत्पादकों को अदा करने के लिए ऐसी कीमत निर्धारित करनी होगी जो भविष्य की सम्भावी कीमतों का औसत हो। यदि यह कीमत ठीक-ठीक निर्धारित की गई हो तो तेजी के जमाने में एजेंसी बड़ा लाभ कमाएगी, जो मन्दी के जमाने में होने वाले घाटों की भरपाई करने के लिए रक्षित निधि में डाल दिया जाएगा। व्यवहार्यतः कोई नहीं जानता कि भविष्य में कीमतें कितनी होंगी, अतः यह एक असम्भाव्य संयोग ही होगा यदि लाभों तथा हानियों को समान करने की आशा से निर्धारित की गई कीमत का ठीक अपेक्षित परिणाम निकल आए। इस प्रकार के सभी सफल मामलों में कीमत के स्थिरीकरण के साथ कराधान का भी सहारा लिया गया है। तब अगर कोई गलतियाँ हुई हैं तो उनके फलस्वरूप एजेंसी का कोष खाली होने के बजाय

सरकार को करों द्वारा मिलने वाली आय में कमी या वृद्धि हो गई है। यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि तेजी के दौरान घरेलू क्रय-शक्ति पर जितना अंकुश लगा जाए, उतनी ही विदेशी मुद्रा की संचित निधियों का संचय किया जाना चाहिए। बात यह है कि मन्दी के दौरान निर्यात कम हो जाने पर भी आयातों का स्तर पहले जितना ही रखा जा सकता है बशर्ते कि घरेलू आमदनियों का स्तर पहले जितना ही बना रहे। परन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि एजेंसी की संचित निधि के बराबर विदेशी मुद्रा मौजूद न हो।

सरकारी एजेंसी को वास्तविक निर्यात करने के काम में सरकार को कई ऐसे झगड़े उठाने पड़ते हैं और उन पर कई ऐसी जिम्मेदारियां आ जाती हैं, जिनसे बहुत सी सरकारें बचना चाहती हैं। इस प्रकार की एजेंसी स्थापित किए बिना ही लगभग उतनी ही स्थिरता पैदा करने का एक उपाय यह भी है कि सरकार निर्यात की कीमतें बढ़ने पर कर बढ़ा दे, और कीमतें घटने पर कर घटा दे। निर्यातों पर प्रत्यक्ष कर लगाकर यह काम स्पष्ट रूप में किया जा सकता है, पर आयातों पर लगने वाले करों में या दूसरे प्रकार के करों में हेर-फेर करके भी यह काम किया जा सकता है, यद्यपि उसका प्रभाव कुछ कम होगा। प्रत्यक्ष टेक्नीक तो यह है कि ऐसे निर्यात-कर लगाए जाएं जो कीमतों के बढ़ने के साथ-साथ तेजी से बढ़ते जाएं, उदाहरण के लिए, ऐसा निर्यात-कर लगाया जा सकता है जो १०० पौंड प्रति टन की कीमत पर शून्य हो, १०० पौंड और १५० पौंड के बीच बढ़ने वाली कीमत के हर पौंड पर १० शिलिंग फी टन के हिसाब से बढ़े, और उसके बाद प्रति टन एक-एक पौंड बढ़ने पर १५ शिलिंग प्रति टन के हिसाब से बढ़ता जाए; या यदि इससे भी अधिक स्थायित्व वाञ्छनीय हो तो १०० पौंड से ऊपर कीमतें जाने पर जितना कर लगाया जाए, उतना ही अनुदान १०० पौंड से नीचे कीमतें जाने पर दे दिया जाए।

व्यवहार में पूर्ण स्थायित्व न तो लाया जा सकता है और न ही वाञ्छनीय है। भविष्य में कीमतों का क्या रुख होगा, इस बारे में कोई निश्चित भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है, और यह वाञ्छनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा पर विश्व-कीमतों में होने वाले परिवर्तनों का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ने दिया जाए। ऐसी प्रशासकीय समस्याएं भी हैं जिनके कारण कम संगठित सरकारें कठिनाइयों का सामना किये बिना स्थिरीकरण योजनाएं नहीं चला सकतीं। परन्तु अविकसित देश यदि चाहें तो विश्व-बाजार के उतार-चढ़ाव के प्रभाव से अपने को कुछ सीमा तक दूर रख सकते हैं। आन्तरिक उतार-चढ़ाव को कम करने के लिए अविकसित देशों द्वारा प्रयत्न न किये जाने का कारण यह नहीं है कि उनके सामने उपाय साधनों की तकनीकी कठिनाइयां होती हैं, बल्कि वे इसलिए प्रयत्न नहीं करते कि कुछ

राजनीतिक कारणों से तेजी के जमाने में वे अपने ऊपर कोई संयम बरतना नहीं चाहते। मन्दी में उपभोग को कभी बढ़ाया जा सकता है जबकि तेजी में उसे उतना ही कम रखा गया हो, इसका कारण यह है कि मन्दी के जमाने में आयात बनाये रखने के लिए अपेक्षित विदेशी मुद्रा तेजी के जमाने में ही बचानी पड़ती है। अधिकांश देश तेजी के जमाने में खूब जी-खोलकर खर्च करते हैं। ऐसे समय में भारी कर लगाने के प्रस्तावों का जोरदार विरोध किया जाता है। यदि किसी प्रकार भारी कर लगा भी दिए जाते हैं तो सरकारों में करों की आय को रक्षित निधि में डालकर उसके बराबर की विदेशी मुद्रा संचय करने के बजाय उस आय को अपने काम बढ़ाकर उनमें खर्च कर देने की प्रवृत्ति होती है। यदि करों की आय के बदले विदेशी मुद्रा जमा कर भी जाती है तो यह बड़ी लाभदायक सिद्ध होती है, क्योंकि विदेशी मुद्रा की रकम से तेजी की अपेक्षा मन्दी के दौरान अधिक आयात-वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं (क्योंकि मन्दी में कीमतें कम हो जाती हैं)। यह कहना बिलकुल गलत होगा कि यदि कम विकसित देश चाहें तो अपनी आन्तरिक अर्थव्यवस्था को बाहरी उतार-चढ़ाव के प्रभाव से बिलकुल अलग रख सकते हैं, पर यह अवश्य सत्य है कि यदि वे चाहें तो तेजी और मन्दी के गम्भीरतम रूप में बचने के लिए पर्याप्त प्रयत्न कर सकते हैं।

ये बातें कम विकसित अर्थव्यवस्था को निर्यातों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से नहीं बल्कि उसकी कीमतों में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रखने पर लागू होती हैं। कुछ देश मन्दी के जमाने में भी अपने निर्यातों की मात्रा में कमी नहीं करते, वे जो भी कीमत मिलती है उसी पर अपना सामान बेच देते हैं, जिससे उपभोक्ता देश बैरी भण्डार जमा कर लेते हैं। कुछ देशों में कीमतें कम होने पर ही उत्पादन घटता है, अतः वहां यदि घरेलू कीमतें स्थिर रखी जा सकें, तो मन्दी में भी उतनी ही मात्रा में निर्यात किया जा सकता है। परन्तु सभी देश ऐसी स्थिति में नहीं होते। कुछ देश ऐसे भी होते हैं जिनमें मन्दी के दौरान निर्यात-योग्य वस्तुओं का उत्पादन तभी स्थिर रखा जा सकता है जब कि वहां की सरकार वस्तुएं खरीदकर उन्हें तब तक अपने पास रखे रहे, जब तक कि उनका निर्यात-बाजार फिर से न चेत जाए। ऐसा न करने पर वहां उत्पादन कम हो जाएगा, और यदि उस वस्तु का उत्पादन मजदूरों की सहायता से किया जा रहा होगा तो बेरोजगारी बढ़ जाएगी। कम विकसित देशों की कुछ सरकारों ने निर्यातों की मांग घटने पर सम्बन्धित वस्तुओं का भण्डार जमा करके बड़े साहस का परिचय दिया है। ऐसा करना बहुत अधिक लाभप्रद हो सकता है, यदि निर्यात-बाजार शीघ्र ही चेत जाए और तेजी आने पर माल निकाला जा सके; लेकिन यह बहुत हानिप्रद भी

हो सकता है यदि बाजार में चेतन म इतनी अधिक देर लग जाए कि सरकार को कम कीमतों पर ही सारा माल निकालने के लिए मजबूर होना पड़े। उन दशाब्दियों म इस नीति का अनुसरण बड़ा खतरनाक सिद्ध हुआ जब कीमतों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति गिरने की ओर थी। इसी प्रकार ऐसी दशाब्दियों मे इस नीति का अनुसरण करना बड़ा लाभप्रद सिद्ध हो सकता है जब कीमतें चढ़ रही हो। परन्तु जब मन्दी आरम्भ होती है तो कौन कह सकता है कि वह क्षणिक है, या काफी समय तक कीमतें गिराए रखेगी ?

कम विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्था में तुलनात्मक स्थायित्व के हित में सबसे लाभदायक बात यह है कि उन्नत राष्ट्र अपने उतार-चढ़ाव पर नियन्त्रण रखने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकाधिक स्थायित्व लाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इन मामलों में नीति अभी भी सशयशील और प्रयोगात्मक है। फिर भी इस समय इस बात का विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि निकट भविष्य में आर्थिक विकास निकट भूत की अपेक्षा कम अनियमित होगा।

(घ) दीर्घकालीन गतिरोध—अनेक देशों के इतिहास में कई दशाब्दियों या शताब्दियों तक पर्याप्त अच्छी उन्नति और उसके बाद कई दशाब्दियों या शताब्दियों तक अपेक्षाकृत गतिहीनता की अवधि रही है। कुछ मामलों में तो वास्तव में गिरावट इतनी अधिक हुई है कि देश की जनसंख्या बिलकुल समाप्त हो गई है, और उर्वर मैदानों तथा समृद्ध नगरों के स्थान पर खण्डहर और मरुस्थल रह गए हैं। कभी-कभी इन परिवर्तनों का कारण प्राकृतिक हो सकता है। हो सकता है कोई भूचाल आया हो, या कोई ज्वालामुखी फूट पड़ा हो, या कोई बाढ़ आ गई हो। कभी-कभी इसका राजनीतिक कारण भी हो सकता है, जैसे क्रान्ति, युद्ध, या बुरी सरकार—इस कोटि के कारणों की चर्चा बाद के दो अध्यायों म की जाएगी। इस अध्याय के अन्तिम पैराग्राफों में हम उन कारणों की सक्षिप्त चर्चा करेंगे जो इस धारणा पर आधारित हैं कि किसी देश मे एक या एक से अधिक शताब्दियों तक पर्याप्त तेजी से आर्थिक विकास हो चुकने के बाद निश्चय म अनिवार्यतः गिरावट पैदा होती है।

दीर्घकालीन गतिरोध की अनिवार्यता का समर्थन करने वाले तर्क प्राकृतिक घटना और राजनीति के अलावा प्रौद्योगिकी, मनोविज्ञान, एकाधिकार, आय वितरण, जनसंख्या और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता पर निर्भर हैं।

प्रौद्योगिकी-सम्बन्धी तर्क का आधार यह है कि तकनीकी ज्ञान की उन्नति की दर आगे चलकर कम हो जाती है। इस बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि गत शताब्दियों में प्रौद्योगिकीय उन्नति की दर में बहुत अधिक घट-बढ़ होती रही है, यद्यपि यह बात सर्वमान्य है कि इस सकल्पना को ठीक ठीक नाप-जोख असम्भव है। हाल की दशाब्दियों की

उन्नति आंकने के लिए पेटेण्टों की रजिस्ट्री की वार्षिक संख्या को आधार मानने से इन्कार किया जा चुका है। कुछ औद्योगिक देशों की जनसंख्या की अपेक्षा वहाँ पटेन्ट रजिस्ट्रियों की प्रति-व्यक्ति वार्षिक संख्या धीमी गति से बढ रही है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वहाँ *तकनीकी ज्ञान की वृद्धि अपेक्षाकृत धीमी है।* हो सकता है कि पेटेण्ट सम्बन्धी मुकदमेबाजी का खर्च बढ जाने से पेटेण्ट-प्रणाली का उपयोग कम हो गया हो, या यह भी हो सकता है कि अधिकाधिक शिक्षित होते जाने के कारण आविष्कर्ता छोटी-छोटी चीजों को पेटेण्ट करवाने की चिन्ता न करते हों, या विशिष्टियों का अधिकाधिक मानकीकरण होने और साथ ही बड़े पैमाने पर तैयार होने वाली वस्तुओं की प्रमुखता के कारण वस्तुओं के केवल नये-नये रूप निकालने की प्रवृत्ति कम हो गई हो, या प्रौद्योगिकी में यान्त्रिक प्रयुक्ति की अपेक्षा भौतिकशास्त्र व रसायनशास्त्र का और निजी आविष्कर्ता की अपेक्षा अनुसंधान-दलों का महत्त्व बढ जाने से ही पेटेण्टों की संख्या कम हो गई हो, चाहे आविष्कार उसी गति से हो रहे हों जिस गति से पहले हो रहे थे। *निश्चय ही पेटेण्टों की संख्या को छोड़कर ऐसा सोचने का कोई भी अन्य कारण नहीं है कि इस समय तकनीकी ज्ञान के विकास की दर ७० या ८० वर्ष पहले की तुलना में किसी भी प्रकार कम है।* परन्तु उन ऐतिहासिक कालों में भी, जिनमें ज्ञान के विकास में स्पष्ट गिरावट हो गई थी, इसे दीर्घ-कालीन गतिरोध का कोई स्वतन्त्र कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान की गिरावट स्वयं तकनीकी विज्ञान के क्षेत्र से बाहर के कारणों पर निर्भर होती है। वैज्ञानिक आविष्कारों का क्षेत्र कभी संकुचित नहीं होता, क्योंकि खोजों की सम्भाव्यताएँ अनन्त हैं। और न यह मानने का कोई कारण है कि मानव-बुद्धि की ग्रहणशीलता—जीवात्मक अर्थों में—पीढ़ी-दर-पीढ़ी कम होती जाती है (परन्तु देखिए अध्याय ६, खण्ड १ (क))। अत यदि इस समय ज्ञान का विकास भूतकाल की भांति तेजी से नहीं हो रहा है, तो हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि ज्ञान की वृद्धि के लिए मनुष्य अब कम प्रवृत्त क्यों हैं। हो सकता है इसका कारण राजनीतिक असुरक्षा हो (जिसमें उत्पादन निवेश में पूंजीपतियों की रुचि कम हो गई हो), या वर्ग-रचना में हुए परिवर्तन हों, या कोई प्राकृतिक संकट हो, या राजनीतिक कारणों अथवा एकाधिकार के फलस्वरूप अपनाई जाने वाली अधिकाधिक गोपनीयता हो, या पिछले पैराग्राफ में उल्लिखित कारणों में से कोई कारण हो। अत तकनीकी गतिरोध को हमें आम सामाजिक व्याधि का अनिवार्य कारण नहीं बल्कि एक लक्षण मानना चाहिए।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी तर्क का आधार प्रवृत्तियों के वे परिवर्तन हैं जो

विकास की प्रक्रिया के ही सहज परिणाम हैं। विचारकों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसका विश्वास है कि मानव-समाज भौतिकवादी और अध्यात्मवादी अवस्थाओं के बीच झूलता रहता है। कई शताब्दियों तक भौतिकवादी उन्नति की जोरदार गतिविधियों के बाद आर्थिक प्रगति और उसकी व्यवस्थाओं से लोग ऊब जाते हैं और उनका झुकाव अधिक चिन्तनशील प्रवृत्तियों की ओर हो जाता है। इस सम्प्रदाय के कुछ विचारकों का विश्वास है कि वस्तुतः कुछ जीवात्मक परिवर्तन होते हैं जिनसे समाज के छोटे-छोटे सीमित समूह एक दौर में एक प्रकार की जीवात्मक क्षमता वाले होते हैं और दूसरे दौर में उससे भिन्न प्रकार की। इसके अलावा और भी कारण ढूँढे जा सकते हैं जिनसे लोगों के अन्दर आविष्कारिता की भावना समाप्त हो जाती है और समाज में एक ऐसा लम्बा दौर आता है जबकि उसके सर्वाधिक प्रतिभाशाली लोग अपने को विज्ञान और आविष्कार के काम में नहीं लगाते, या जब उनके प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकलता। यह सब मात्र अनुमान है, क्योंकि इन मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों का निर्धारण करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इन बातों पर हम अध्याय ३, खण्ड ५ (ख) में चर्चा कर चुके हैं, और यहाँ हमें इस सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहना है।

एकाधिकार-सम्बन्धी तर्क के दो आधार हैं एक यह कि एकाधिकार से निवेश घट जाता है, और दूसरा यह कि एकाधिकार की मात्रा के साथ ही आर्थिक विकास की मात्रा भी बदली है। इनमें से पहले आधार पर हम अध्याय २ में चर्चा कर चुके हैं, और उसके मानने-न मानने के कारणों पर भी विचार कर चुके हैं। दूसरा आधार अधिक विवादग्रस्त है। इसके समर्थन में दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तर्क यह है कि तकनीकी प्रगति से औसत फर्म के आकार में दीर्घकालीन वृद्धि होती है। यह निश्चय ही सत्य है, क्योंकि इस बात के तकनीकी कारण मौजूद हैं कि आने वाली हर शताब्दी में औसत फर्म का आकार क्यों बढ़ता जाता है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए कि आर्थिक विकास के साथ-साथ एकाधिकार बढ़ता जाता है, पहले यह सिद्ध करना आवश्यक है कि बाजार के आकार की तुलना में फर्म के आकार में अधिक तेजी से वृद्धि होती है, जो किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है। चूँकि परिवहन की वास्तविक लागत घटने की ओर जनसंख्या बढ़ने की एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है, अतः सम्भाव्य बाजार का आकार बढ़ने की भी एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है। गाँव की सीमा में बँधा व्यापार बढ़ते-बढ़ते विश्वव्यापी हो जाता है। इस प्रवृत्ति में टैरिफ और मुद्रा-प्रतिबन्धों के कारण रुकावट पड़ती है, पर इस मामले में हम किसी दीर्घकालीन प्रवृत्ति होने का दावा नहीं कर सकते, कभी ये प्रतिबन्ध बढ़ जाते हैं और कभी घट जाते हैं। गत कई

शताब्दियों के आर्थिक इतिहास को देखकर हम अधिक से-अधिक यही कह सकते हैं।

दूसरा तर्क वित्तदाताओं के महत्त्व में अनिवार्य रूप से होने वाली वृद्धि पर आधारित है। इस तर्क के अनुसार 'आरम्भ में ठेठ पूंजीपति उद्योगपति होता है, जो स्वयं अपनी फैक्टरी की देखभाल करता है और उसमें सामान तैयार कराने और उसे बेचने का काम करता है, जबकि 'अन्त में' आकर पूंजीपतियों में वित्तदाता ही सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं जो कभी किसी फैक्टरी में झांकते तक नहीं, फिर भी नियन्त्रक कम्पनियों, उनके विलय और सम्मेलन, सहकारी कम्पनियों और अन्य बड़े-बड़े वित्त साम्राज्य खड़े कर लेते हैं। अतः तकनीकी विकास की दृष्टि से औचित्य न होने पर भी वित्तदाताओं की तिकड़मों से एकाधिकार पैदा हो जाता है। इस प्रकार के वित्तीय लोगों का उद्भव अनिवार्य है, क्योंकि वे ही ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो धन के लिए धन को प्यार करते हैं और धनार्जन को सर्वोपरि मानते हैं। किसान अपनी ज़मीन को प्यार करता है और उसमें अत्यधिक निवेश करके अपने को नष्ट भी कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी उद्योगपति को अपनी मशीनों की आवाज़, अपने अधीन काम करने वाले लोगों, अपने उत्पादन तथा इमारतों आदि से मोह हो जाता है, या जब वह अपनी वित्तीय निपुणता पर भावुकता का थोड़ा भी प्रभाव पड़ने देता है, तो उसके पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है। केवल पेशेवर वित्तदाता ही ऐसा है जो रुपये-पैसे का कारबार करते हुए रुपये को रुपये के लिए ही प्यार करता है, और यही प्यार उसे वे भूलें करने से रोकता है, जिनमें अन्य व्यवसायी फंस जाते हैं। अतः इस तर्क के अनुसार उद्योग का नियन्त्रण अनिवार्यतः वित्तदाताओं के हाथ में चला जाता है। और जैसे-जैसे बाज़ार विश्वव्यापी होता जाता है वैसे-वैसे ही वित्तदाताओं के बीच एकाधिकारी करार भी व्यापक होते जाते हैं। वास्तव में यह तर्क उन लोगों का गढ़ा हुआ है जिन्होंने मुख्य रूप से जर्मनी के फैक्टरी उद्योग के उत्कर्ष का अध्ययन किया है, जहां उद्योगीकरण लाने में बैंकों ने अन्य देशों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इस तर्क को उलट भी सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि 'आरम्भ में' उद्योग वित्त के लिए पूंजी-बाज़ार पर निर्भर होता है, और इस बात की सम्भावना रहती है कि उद्योगपति वित्तदाताओं के चंगुल में फंस जाएंगे। परन्तु पूंजीवाद की 'बाद की अवस्थाओं में' उद्योग अवितरित लाभों के रूप में बड़ी मात्रा में बचत करने लग जाता है, अतः पूंजी-बाज़ार का महत्त्व अपेक्षाकृत कम रह जाता है, और उद्योगपति बाहरी सहायता पर उतना अधिक निर्भर नहीं रहते। ऐसी बात बिलकुल नहीं है कि उद्योग ज्यों-ज्यों पुराना पड़ता जाता है वह

विदेशी विनदाताओं के चंगुल में फँसता जाता है, बल्कि सचाई यह है कि उद्योगों का प्रबन्ध करने वाले लोग बाहरी वित्तीय नियन्त्रण से अधिकाधिक स्वतन्त्र होते जाते हैं।

इन अनुमानों के अलावा, हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि कुछ उद्योग कालान्तर में एकाधिकार के अधीन हो जाते हैं। यह सहज प्रवृत्ति वस्तुतः सभी उद्योगों में पाई जा सकती है, परन्तु कुछ उद्योग दूसरों की अपेक्षा इसके अधिक शिकार होते हैं। इसका एक स्पष्ट कारण तर्कसम्मत विकास का सिद्धान्त है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, इसके अनुसार हर नया उद्योग एक तीव्र विकास की अवस्था में गुज़रता है, उसके बाद जब वह अपने पूर्ववर्ती उद्योग को उखाड़ फेंकता है तो उसकी प्रगति धीमी हो जाती है। जब कोई उद्योग धीमी प्रगति के दौर में प्रवेश कर रहा होता है तो वहाँ फर्मों के लिए बाजार की तुलना में अपने आकार में अधिक वृद्धि करना काफी आसान होता है, और इस प्रयत्न में यदि वे छोटी-छोटी फर्मों को बिलकुल ही नहीं उखाड़ फेंकतीं तो कम-से-कम 'जियो और जीने दो' की नीति का अनु-सरण अवश्य करती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ने वाले बाजार में पाँव जमाने के लिए संघर्ष करना निश्चित ही महँगा पड़ता है। यह ऐसी अवस्था होती है जब उद्योग नवीन प्रक्रिया ढूँढने वालों के हाथों से निकलकर नौकरशाही के हाथों में आ सकता है, इस पर प्रबन्ध-कुशल व्यक्तियों का अधिकार हो जाता है, और बुनियादी तकनीकी परिवर्तन होने बन्द हो जाते हैं। परन्तु अलग अलग उद्योगों के सम्बन्ध में जो बात लागू होती है जरूरी नहीं कि वह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर भी लागू हो। इसका कारण यह है कि नये उद्योग लगातार एक-दूसरे को चुनौती देते रहते हैं। यदि कोई उद्योग पुराना होते ही एकाधिकार के अधीन हो जाता है, और नवीन प्रक्रिया में रुचि लेना छोड़ देता है, तो हो सकता है कि इसी कारण कोई नया उद्योग उस उद्योग का प्रतियोगी उत्पादन पैदा करके उसको पछाड़ दे। यदि नये नियन्त्रण में लगातार नये-नये उत्पादन होते रहें, तो चाहे हर उद्योग अधिक एकाधिकारवादी हो जाए, परन्तु समूची अर्थ-व्यवस्था अधिक एकाधिकारवादी नहीं हो पाती।

परन्तु यह भी हो सकता है कि अर्थ-व्यवस्था शुरू में उत्पादकों के व्यवहार के कारण नहीं, बल्कि उस व्यवहार के प्रति समुदाय की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप अधिकाधिक एकाधिकारवादी हो जाए। प्रतियोगिता स्वयं अपने शत्रु पैदा करती है, और हो सकता है द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के कारण उससे स्वयं उसका ही गला घुट जाए। प्रतियोगिता से निर्बल, अकुशल अल्पप्रतिभाशाली और भाग्य-हीनों को हानि पहुँचती है, और चूँकि इनकी संख्या प्रतियोगिता से लाभ उठाने

वालों की सख्या में कहीं अधिक होती है, अत उन्हें प्रतियोगिता के सिद्धान्त के विरुद्ध जिहाद खड़ा करने में बड़ी आसानी होती है। आर्थिक विकास के प्रभावों का विरोध सबसे पहले किसान, हस्तशिल्प कारीगर, छोटे-छोटे व्यापारी और छोटे-छोटे उद्योगपति करते हैं। कुशल कर्मचारियों में भी तगड़ी विरोधी भावना पैदा हो जाती है, क्योंकि तकनीकी परिवर्तनों के कारण उनके कौशल के लिए हमेशा कठिनाई बनी रहती है। अत आर्थिक विकास व्यापार-सघो और मजदूर-सघो को बढ़ावा देता है, जिनका उद्देश्य एकाधिकारवादी दबावों का सहारा लेकर विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का विरोध करना होता है। ये सघ राजनीतिज्ञों का भी सहारा लेते हैं जो मुट्ठी-भर प्रभावशाली व्यक्तियों के हितों के विरुद्ध बहुसख्यक लोगों के हितों की रक्षा के लिए शीघ्रता से कानून पास कर देते हैं। दार्शनिक भी समय की जरूरत को देखते हुए अपने दर्शन में समुचित परिवर्तन कर लेते हैं, पुरोहित-वर्ग मध्यकालीन 'सन्तुलित' समाज को वापस लाने की माँग करते है, अर्थशास्त्री प्रतियोगिता-समर्थक तर्कों में दोष ढूंढते हैं और उनका प्रचार करते हैं, और वकील उन कानूनों की त्रुटियों को ढूंढ निकालते हैं जिनका आश्रय लेकर एकाधिकारी करार किए जाते हैं। हो सकता है कि इस मामले में प्रतियोगिता की पराजय हो जाए, क्योंकि आर्थिक विकास के सुखद परिणामों का उपभोग करते-करते ही लोग यह भी समझ जाते हैं कि आम जनता का हित और किसी वर्ग-विशेष का हित एक ही नहीं होता। साथ ही, विकास अपने मार्ग में स्वय ऐसी भारी रुकावटें पैदा कर लेता है जिनसे कुछ मामलों में नवीन प्रक्रिया और नये निवेश की गति कम हो सकती है।

इसके बाद हम आर्थिक विकास की प्रगति के साथ-साथ आय के वितरण में होने वाले परिवर्तनों पर आधारित धारणाओं पर विचार करेंगे। पहले हम सिद्धान्त पर और उसके बाद तथ्यों पर चर्चा करेंगे। यदि पूर्ण रोजगार के दौरान आय के वितरण में ऐसा परिवर्तन हो जाए जिससे राष्ट्रीय आय की तुलना में उपभोग की इच्छा अधिक तेजी से बढ़ने लगे, तो इसके परिणामस्वरूप निवेश के साधनों के अनुपात में सापेक्ष कमी हो जाएगी, और राष्ट्रीय आय में तुलनात्मक गतिरोध पैदा हो जाएगा। परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ने से निवेश को बढ़ावा मिलेगा, और बचत के अभाव को उधार का विस्तार करके पूरा किया जा सकेगा। ऐसी स्थिति में स्फीति के सतत बल पर (जिसमें निस्सन्देह समय-समय पर मन्दी आती है, जिससे मुद्रा के मूल्य में लोगों का विश्वास बनाए रखने में सहायता मिलती है) निवेश का स्तर कायम रखा जा सकेगा। इसके विपरीत यह भी तर्क दिया गया है कि यदि आर्थिक विकास के फलस्वरूप उपभोग की तुलना में बचत

बढ़ जाएँ तो ज्यों-ज्यों देश की आय बढ़ती जाएगी त्यों-त्यों बचतों का समुचित उपयोग कर पाना देश के लिए कठिन होता जाएगा, जिससे दीर्घकालीन मन्दी के दौरे का भी शिकार बनना पड़ सकता है। इन तर्कों पर हम इस अध्याय के खण्ड २ (क) और ३ (ग) में पहले ही विचार कर चुके हैं और देख चुके हैं कि इन्हें ज्यों का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये उपभोग और निवेश के बीच एक काफी अनम्य सम्बन्ध मानकर चलते हैं। परन्तु ध्यान देने की बात है कि जहां एक और विक्टोरियाकालीन अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत था कि बचत की कमी विकास के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन है वहां दूसरी ओर आज के अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि बचत की अत्यधिकता ही सम्भवतः अमरीका के विकास में सबसे बड़ी बाधा बनेगी।

यदि हम तथ्यों की बात लें, तो सुसंगत प्रश्न यह पैदा होता है कि राष्ट्रीय आय के बढ़ने के साथ-साथ लाभों पर क्या प्रभाव पड़ता है, क्योंकि बड़ी-बड़ी बचतें तभी होती हैं जब बड़े-बड़े लाभ होते हैं। इस अध्याय के पिछले एक खण्ड में हम देख चुके हैं कि आर्थिक विकास के उन सभी चरणों में लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ते हैं जिनमें अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों से मजदूरों को पूंजीवादी क्षेत्र में एक स्थिर वास्तविक आय पर लाया जा सके। एक बार कृषि, या घरेलू नौकरी, या छोटे-मोटे व्यापार, या औरतों के घरेलू काम, या अस्थायी कारबार, अथवा जनसंख्या की वृद्धि से उत्पन्न 'बेशी' मजदूरों को रोजगार देने-भर का पूंजी-सचय हो जाने पर मजदूरियाँ पूंजी-सचय के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं; इसमें किसी भी दिशा में अनिवार्य दीर्घकालीन परिवर्तन होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में लाभों के बढ़ने के कारण निवेश में कोई बाधा नहीं पड़ती; बल्कि इससे निवेश को बढ़ावा मिलता है। चूंकि मजदूर उपलब्ध होते हैं, अत पूंजी-सचय के कारण पूंजी और रोजगार में लगे मजदूरों के परस्पर अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता, और इसीलिए लाभों की दर घटने की भी कोई प्रवृत्ति नहीं होती। बाद की अवस्था में जब मजदूरों की कमी हो जाती है, यदि नवीन प्रक्रिया द्वारा पूंजी-निवेश के लिए नये अवसर पैदा नहीं किये जाते तो लाभ की दर घट जाती है। बहुत से ऐसे अर्थशास्त्री (स्मिथ, रिकार्डो, मार्क्स, कीन्स और अन्य कई) हुए हैं जिन्हें यही आशा थी कि ऐसी अवस्था में लाभ की दर बढ़ने की बजाय घटेगी, और, वर्तमान धारणा के विपरीत, उनमें से अधिकांश अर्थशास्त्री यही आशा करते थे कि इससे निवेश को बढ़ावा मिलने की बजाय उसके मार्ग में बाधा ही पड़ेगी। हो सकता है कि आर्थिक इतिहास के आरम्भिक चरणों में ऐसे किसी कारण के फलस्वरूप लाभ कम हो गए हों, परन्तु गत

१०० वर्षों के दौरान लाभों की दरों में कोई दीर्घकालीन गिरावट दिखाई नहीं देती। इस प्रसंग में भी सरकारी रवैये को ध्यान में रखना चाहिए। यदि सरकारों में कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है, तो वह लाभों पर कर लगाने और उपभोग को बढ़ावा देने की होती है, परन्तु 'परिपक्व' अर्थ-व्यवस्थाओं में इससे निवेश में बाधा पड़ती है या सहायता मिलती है, इस बात को विवाद-ग्रस्त समझकर छोड़ देना चाहिए।

मार्क्स की एक अन्य भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नहीं हुई जो सर्वहारा की तकलीफों के बढ़ते जाने के बारे में थी। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार बढ़े हुए ज्ञान और बढ़ी हुई पूंजी के माध्यम से उत्पादकता बढ़ने के बावजूद वास्तविक मजदूरियाँ गुजारे के स्तर पर ही बनी रहती हैं (चक्रीय उतार-चढ़ाव की अवधि को छोड़कर)। तकनीकी प्रगति का सारा लाभ पूंजी-पतियों के पास जाता है जिससे मजदूरियों की तुलना में उनके लाभ बहुत बढ़ जाते हैं। हम देख चुके हैं कि यह विश्लेषण पूंजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था में तो लागू होता है पर बाद की उन अवस्थाओं में लागू नहीं होता जब मजदूरों को रोजगार देने-भर का पूंजी-संचय हो जाता है। साथ ही साथ मार्क्स को आशा थी कि उद्योग पर अधिकाधिक एकाधिकार होने से पूंजीपति-वर्ग कम हो जाएगा, और छोटे पूंजीपतियों को समाप्त एवं आत्मसात् करके मजदूर-वर्ग बढ़ेगा। इससे बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़ने के कारण मजदूरी-स्तर में उथल-पुथल पैदा हो जाएगी, और दोनों वर्गों के बीच खाई भी बढ़ जाएगी। जहाँ तक इस खाई का मामला है, बिलकुल उलटी बात हुई है, आर्थिक विकास के फलस्वरूप एक विशाल तथा मिला-जुला मध्य-वर्ग पैदा हो गया है, वास्तव में इसके कारण सामाजिक वर्गों का अन्तर इतना अस्पष्ट हो गया है कि उन्नत औद्योगिक समुदाय का लगभग हर व्यक्ति अपने को मध्य-वर्ग की किसी-न-किसी शाखा का सदस्य समझता है। मार्क्स का कहना था कि चरम अवस्था में जाकर मशीनों का प्रयोग बढ़ने से मजदूरों को निकाल दिया जाएगा, और निरन्तर बढ़ती रहने वाली प्रौद्योगिकीय बेरोजगारी पैदा हो जाएगी। इन सभी बातों के कारण श्रमिक-वर्ग की तकलीफें बढ़ जाएँगी, जो गुजारे-भर की मजदूरी और निरन्तर बढ़ती रहने वाली बेरोजगारी के दबाव से पीड़ित होकर और वर्ग-भेद की निरन्तर कचोटने वाली भावना के कारण संगठित होकर कभी-न-कभी विद्रोह कर बैठेंगे, और एक सफल क्रान्ति हो जाएगी। क्रान्ति द्वारा किसी भी परिपाटी को समाप्त करना सम्भव है, चाहे क्रान्ति के कारण कुछ भी रहे हों। पूंजीपति प्रणाली ने उन्नत अवस्था में आकर मजदूरों को अधिकाधिक सुखी बनाया है, न कि अधिकाधिक दुखी, जैसी कि मार्क्स की भविष्यवाणी थी। हो सकता है कि उनकी यह धारणा

भी गलत हो कि तकलीफें बढ़ने से ही क्रान्ति होती है। सभी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं में आज मजदूर-वर्ग को १०० वर्ष पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं और कोई नहीं कह सकता कि वे इनका क्या उपयोग करेंगे। हो सकता है कि वे विद्यमान प्रणाली को स्वीकार कर लें, और उसे सुधारने में ही लगे रहें (जैसे अधिकाधिक स्थायित्व पैदा करके या निर्बल या हतभाग्यों के लिए सामाजिक बीमा की व्यवस्था करके)। अथवा, यह भी हो सकता है कि वे प्रतिबन्धवादी नीति द्वारा, बहुत अधिक कराघात द्वारा, या मालिक-मजदूरों के बीच विश्वास घटाने वाले वैमनस्यपूर्ण शब्दों या कार्यों द्वारा इस प्रणाली को नष्ट कर दें। किसी भी अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि आन्तरिक कलह के कारण उसमें गत्यवरोध नहीं पैदा होगा, ऐसा हमेशा सम्भव है, और अनेक बार ऐसा हुआ भी है। इसके विपरीत, आय के वितरण और गृह-कलह के बीच कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है, अतः यदि हम इस बात की भविष्यवाणी कर भी सकें (जो हम कर नहीं सकते) कि मजदूरियों की तुलना में लाभ बढ़ेंगे या नहीं, तो भी इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि इसके फलस्वरूप सामाजिक सुमेल बढ़ेगा या सामाजिक फूट बढ़ेगी।

अगला तर्क उन भविष्यवाणियों पर आधारित है जो यह बताती हैं कि आर्थिक विकास की प्रगति होने से जनसंख्या पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी सम्प्रदाय हैं। इस सम्प्रदाय का कहना है कि आर्थिक विकास होने पर जनसंख्या अवश्य बढ़ती है। इसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक साधन समाप्त हो जाते हैं, वन काट दिए जाते हैं, भूमि का कटाव हो जाता है, और खनिज-सम्पत्ति चुकने लगती है। वस्तुतः उत्पादन भी कम हो सकता है, और अकाल पड़ने से लोग मर भी सकते हैं। अथवा जनसंख्या की जरूरत पूरी करने के लिए प्रतिकूल व्यापार-शर्तों पर खाद्यान्नों का अधिकाधिक आयात करना पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में लोग और पूंजी ऐसे स्थानों को चले जाते हैं जहाँ स्थिति अधिक उपयुक्त हो, और देश में आर्थिक गत्यवरोध पैदा हो जाता है। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश द्वीप-समूह से लोगों और पूंजी का उत्प्रवास। परन्तु यह बात निर्विवाद नहीं मानी जा सकती कि जनसंख्या सदैव प्राकृतिक साधनों की सीमा तक बढ़ जाती है। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि मृत्यु-दर कम होने के कुछ समय बाद ऐसी सामाजिक शक्तियाँ कार्यशील हो जाती हैं जिनसे जन्म-दर में कमी होने लगती है। अतः किसी भी अर्थ में जनाधिक्य होने से पहले ही कम जन्म-दर और कम मृत्यु-दर की सहायता से देश में सन्तुलन स्थापित होना असम्भव नहीं है।

उपर्युक्त मत के विरोधियों की चिन्ता का कारण यही सम्भावना है। इन लोगों के अनुसार आर्थिक विकास के फलस्वरूप कुछ समय बाद जनसंख्या की वृद्धि अनिवार्यतः धीमी हो जाती है, या निरपेक्ष दृष्टि से उसमें गिरावट आने लगती है। इसके परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि उनसे दीर्घकालीन गतिरोध पैदा हो सकता है, चाहे इसके पीछे अर्थ-व्यवस्था का अधिकाधिक परिपक्व होना, या जोखिम उठाने की भावना में कमी होना, या अर्थ-व्यवस्था का कम प्रतियोगी हो जाना, या निवेश के अवसरों का कम हो जाना, कोई भी कारण हो।

अर्थ-व्यवस्था इसलिए कम नम्य हो जाती है कि श्रम-बाजार में आनेवाले नये मजदूरों की संख्या हर साल घटती जाती है। अर्थ-व्यवस्था की हर प्रणाली में मांग और पूर्ति में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं, जिसके कारण उद्योगों तथा अन्य धन्धों में मजदूरों का पुनर्वितरण जरूरी हो जाता है। उस स्थिति की अपेक्षा जिसमें उद्योगों में आने वाले नये मजदूरों को ऐसे धन्धों में खपाना हो जहाँ उनकी सर्वाधिक आवश्यकता है, पुनर्वितरण तब अधिक कठिन होता है जब उन्हें ऐसे कामों में लगाना हो जो वे पहले ही शुरू कर चुके हों। अतः जिस अर्थ-व्यवस्था में उद्योग में हर साल अधिक संख्या में नये लोग आते हैं वह उस अर्थ-व्यवस्था से अधिक नम्य होती है जिसमें नये आने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। हो सकता है कि इस बात के महत्त्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता हो, फिर भी हर ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जो पूर्ण रोजगार प्रदान करती है, श्रमिकावर्त बहुत होता है। किन्हीं उद्योगों में मजदूरों की कमी होने का कारण यह नहीं है कि उन्हें पर्याप्त संख्या में मजदूर नहीं मिलते बल्कि यह है कि जो मजदूर मिलते हैं उन्हें वे टिका नहीं पाते। किसी भी अर्थ-व्यवस्था के लिए युद्ध, या युद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न धन्धों में बड़ी मात्रा में मजदूरों का अचानक अन्तरण कर सकना कठिन होता है, परन्तु जहाँ तक शान्ति-काल में अपेक्षित साधारण सीमान्त-अन्तरण का सवाल है, यह सन्देहजनक है कि प्रतिवर्ष नये मजदूरों का प्रवेश होने या न होने से स्थिति पर कोई बड़ा प्रभाव पड़ता है।

स्थायी अर्थ-व्यवस्था में निवेश के अधिकाधिक जोखिम के बारे में काफी कहा जा सकता है। किसी ऐसे देश में, जहाँ जनसंख्या २ प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ रही हो, और वास्तविक आय इसी या इससे अधिक दर से बढ़ रही हो, वहाँ निवेश के मामले में मुश्किल से ही कोई बड़ी गलती होती है। यदि उद्यमकर्ता किसी विशेष प्रकार के माल में आवश्यकता से १० प्रतिशत अधिक लगा देते हैं तो अस्थायी रूप से उद्योग में मन्दी पैदा हो जाती है परन्तु पाँच साल में या इससे भी कम समय में माँग सप्लाई के बराबर हो जाती है, और

कुछ दुर्लभता-लाभ भी होने लगता है। निवेश की सम्भावनाएं इन दोनों उपायों से ठीक होती हैं—एक पूंजी का स्वाभाविक मूल्य-ह्रास होने से, जिससे सप्लाई कम हो जाती है, और दूसरा, आय तथा जनसंख्या की वृद्धि होने से, जिससे मांग बढ़ जाती है। यदि जनसंख्या बढ़ न रही हो तो निवेश की सम्भावनाएं केवल मूल्य-ह्रास और प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि से ठीक होती हैं, लेकिन यह एक दीर्घकालीन तथा कष्टसाध्य प्रक्रिया हो सकती है। अतः इस प्रकार के निवेश में काफी जोखिम रहती है। इसी से तीसरी बात पैदा होती है। यदि जोखिम उठाने की भावना को ठेस पहुंचे तो अर्थ-व्यवस्था कम प्रतियोगी हो जाती है। ऐसा होने पर उत्पादक बाजार बांटने की व्यवस्था में उस स्थिति की अपेक्षा अधिक रुचि लेने लग जाते हैं जब मांग तेजी से बढ़ रही हो। ये दोनों बातें, अर्थात् जोखिम उठाने की भावना की कमी और एकाधिकार की वृद्धि, निवेश को ठेस पहुंचाती हैं और इस प्रकार दीर्घकालीन गतिरोध पैदा करती हैं। परन्तु इसके विपरीत यह तर्क भी बड़ी आसानी से दिया जा सकता है कि जब बाजार का विस्तार बन्द हो जाता है तो बाजार के लिए संघर्ष तीव्र हो जाता है। अतः अनुमान पर आधारित तर्क पर विश्वास करने से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता, और न ही ऐसे पर्याप्त प्रमाण हैं जिनकी सहायता से कोई पक्का निर्णय किया जा सके।

निवेश इसलिए भी कम हो सकता है कि जनसंख्या के विकास की गति कम होने से निवेश के अवसर कम हो जाते हैं। निवेश का कुछ भाग बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए नये मकानों, नये कृषि-क्षेत्रों, नयी सड़कों, अधिकाधिक परिवहन-सुविधाओं, अधिकाधिक कारखानों आदि की व्यवस्था पर लगाना होता है। अतः ज्यों-ज्यों जनसंख्या की वृद्धि-दर कम होती जाती है, त्यों-त्यों उसी मात्रा में निवेश के अवसर कम होते जाते हैं। परन्तु प्रति-व्यक्ति आय की वृद्धि-दर कम होगी या नहीं, इस प्रश्न को पूर्ण रोजगार बनाए रखने के प्रश्न के साथ नहीं मिलाया जाना चाहिए। यदि सिर्फ यह कठिनाई हो कि प्रति-व्यक्ति पूंजी में एक स्थिर दर से वृद्धि करने के लिए लोग जरूरत से अधिक बचत कर रहे हों, तो उपभोग बढ़ाने और बचत को निरुत्साहित करने सम्बन्धी कार्यवाही करके इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। इस स्थिति में सरकार ऐसे करों में बढ़ोतरी कर सकती है जिनका प्रभाव बचत पर पड़े, और ऐसे करों में कमी कर सकती है जिनका प्रभाव उपभोग पर पड़े, या फिर सरकार आवास, सड़कों, चिकित्सा-सुविधाओं तथा इसी प्रकार के अन्य खर्चों के लिए देशी बचत का उपयोग कर सकती है। यदि समुचित उपाय किये जाएं, तो आशा की जा सकती है कि जनसंख्या की वृद्धि-दर घटने के साथ प्रति-व्यक्ति आय की वृद्धि-दर ऊंची हो जाएगी, क्योंकि बढ़ती हुई

जनसंख्या की व्यवस्था करने के लिए पहले जिस पूंजी की आवश्यकता पड़ती थी वह अब प्रति व्यक्ति पूंजी बढ़ाने में लगाई जा सकती है। इसके विपरीत, यदि प्रति व्यक्ति पूंजी बढ़ जाए तो जब तक काफी संख्या में नवीन प्रक्रियाएं नहीं होंगी तब तक पूंजी पर लाभ की दर घटती रहेगी, और इसमें निवेश की इच्छा में भी कमी आने की सम्भावना होगी (यदि आप समझते हैं कि निवेश ऊंचे लाभों की बजाय अधिक उपभोग पर निर्भर होता है और लाभों की दर में कमी अन्य आयों को बढ़ाकर उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ाती है तो निवेश की इच्छा बढ़ सकती है)। दीर्घकालीन वृद्धि के बारे में अधिकांश तर्क अन्ततोगत्वा नवीन प्रक्रियाओं के प्रवाह पर और इस बात पर निर्भर करते हैं कि इस प्रवाह के रुकने के कोई कारण हैं या नहीं।

अतः जनसंख्या-सम्बन्धी तर्क अनिर्णयात्मक है। हम पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि विकास की बाद की अवस्थाओं में जनसंख्या साधनों से अधिक बढ़ जाएगी। इसके विपरीत, यह आशंका हो सकती है कि बाद की अवस्थाओं में जनसंख्या में स्थायित्व या गिरावट पैदा हो जाएगी। हम यह भी नहीं जानते कि यदि यह आशंका सच साबित हुई तो यह कितनी गम्भीर होगी। लगता तो यह है कि जनसंख्या की वृद्धि-दर कम होने से प्रति व्यक्ति पूंजी तेज़ी के साथ बढ़ने लगेगी, परन्तु अनम्यता और एकाधिकार पैदा हो जाने की सम्भावना को भी बिलकुल ही नहीं ठुकराया जा सकता।

अन्त में हम अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की बात को लेते हैं। इस तर्क के अनुसार 'पुराना' देश कुछ समय बाद विश्व-बाजार में अपना स्थान खो बैठता है। इसके बाद लाभों में गिरावट आने के कारण, या इस कारण कि नए विकासोन्मुख देश में निवेश करना अधिक लाभदायक होता है, पुराने देश में निवेश घट जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की रूपरेखा में परिवर्तन होने के कारण भी 'पुराने' देश का व्यापार घट सकता है। नए व्यापार-मार्गों की खोजों के फलस्वरूप भी 'पुराना' देश अपनी भौगोलिक सुविधाओं से वंचित हो सकता है, जैसा कि अमरीका की खोज के कारण हुआ। तकनीकी प्रगति के कारण उसके खनिजों की मांग समाप्त हो सकती है, या उसके किसी ऐसे अन्य प्राकृतिक साधन की मांग घट सकती है जिसके कारण वह बहुत प्रसिद्ध रहा हो, जैसा कि चिली की नाइट्रेट की मांग के मामले में हुआ। विश्व-व्यापार की रूपरेखा में होने वाले परिवर्तनों के अलावा, 'पुराना' देश नये प्रतियोगियों के सामने जमे हुए व्यापार में अपना नेतृत्व खो बैठता है, यदि यह नेतृत्व नवीन प्रक्रिया की क्षमता पर ही निर्भर हो। इसका कारण यह है कि अन्य देश भी देर-सवेर नयी टेक्नीकें सीख लेते हैं और ऐसा होने पर पुराना देश अपना एकाधिकार, श्रेष्ठ उत्पादकता और कमाई की अपेक्षाकृत अधिक

क्षमता से वंचित हो जाना है। अतः नवीन प्रक्रिया पर आधारित नेतृत्व तभी तक कायम रखा जा सकता है जब तक वह देश नवीन विचारों के प्रवर्तन में अग्रणी रहे। इस प्रकार का नेतृत्व बनाए रख पाना कठिन होता है। यदि हम प्राकृतिक साधनों की तुलना में माँग में होने वाले परिवर्तन, और कुछ दशाब्दियों से अधिक समय तक तकनीकी श्रेष्ठता बनाए रखने की कठिनाइयाँ, दोनों को ध्यान में रखें, तो यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई भी देश कुछ दशाब्दियों से अधिक समय तक अपना नेतृत्व कायम नहीं रख सकता। राष्ट्रीय आय की तुलना में निवेश का अनुपात कम हो जाने से ही नेतृत्व खोने का अनिवार्य परिणाम गतिरोध नहीं होता। हाँ यदि इसके साथ ही आयात-निर्यात स्थिति प्रतिकूल हो जाए, या यदि निवेश समुद्र पार के नये देशों की ओर आकृष्ट हो जाए, तो इस प्रकार का प्रभाव अवश्य पड़ सकता है। ऐसा लगता है कि ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति उत्पादन की वृद्धि-दर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के ७५ वर्षों की तुलना में बाद के वर्षों में कम रही है, जिसके समाधान में कुछ लोग उपर्युक्त कारण देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता पर अधिक चर्चा अध्याय ६ में की जाएगी।

अतः ऐसी अनेक खाइयाँ हैं जिनमें कोई देश दीर्घकालीन प्रगति के फल-स्वरूप गिर सकता है, वह भौतिक वस्तुओं से उकता सकता है, उसके उद्यम-कर्ताओं में प्रतियोगिता की भावना कम हो सकती है, वहाँ की जनता परिवर्तन के मार्ग में रोड़े खड़े कर सकती है, आय का वितरण प्रतिकूल तरीके से हो सकता है, उसके प्राकृतिक साधन समाप्त हो सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उसका महत्त्व समाप्त हो सकता है, या वह नवीन प्रक्रियाओं के क्षेत्र में पिछड़ सकता है। इसके अलावा हो सकता है कि वह किसी प्राकृतिक दुर्घटना का शिकार हो जाए, या युद्ध, गृह-युद्ध, या बुरी सरकार के कारण बरबाद हो जाए। इनमें से कोई भी बात पैदा हो सकती है। जब इतनी सारी खाइयाँ हैं, जिनमें कोई देश गिर सकता है, तो यह जानकर तनिक भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि भूतकाल में कई देश इनमें से किसी एक या एक से अधिक खाइयों में गिर चुके हैं। कोई भी व्यक्ति भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि किसी देश में निवेश की दर कब कम होने लगेगी—दशाब्दियों बाद या शताब्दियों बाद। परन्तु गत चार हज़ार वर्षों के आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में हम थोड़ा-बहुत जो कुछ भी जानते हैं, उससे इस आशा की पर्याप्त पुष्टि होती है कि विकास की लम्बी अवधि के बाद कालान्तर में धीमी प्रगति, गतिरोध, या गिरावट अवश्य आती है।

इस अध्याय में जिन समस्याओं की चर्चा की गई है, उनमें से अनेक पर कोलिन क्लार्क की **दी कंडीशंस ऑफ इकॉनमिक प्रोग्रेस** (आर्थिक प्रगति की

शर्तें) दूसरा संस्करण, लंदन, १९५२ और आर० नुर्कसे की कैपिटल फॉर्मेशन इन अण्डरडेवलप्ड कंट्रीज (कम विकसित देशों में पूंजी निर्माण), ऑक्सफोर्ड, १९५३ में विचार किया गया है। पूंजी-सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए क्लार्क की पुस्तक देखिए, एस० कुजनेट्स द्वारा सम्पादित इनकम एण्ड वेल्थ सीरीज़, २ इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ दी युनाइटेड स्टेट्स (आय और धन, सीरीज २ अमरीका की आय और धन), कैम्ब्रिज, १९५२ भी देखिए। आर्थिक विकास पर स्फीति के प्रभाव के लिए सी० ब्रेशियानी-तुरोनी की दी इकानमिक्स ऑफ इन्फ्लेशन (स्फीति का अर्थशास्त्र), लंदन, १९३७ देखिए, जिसमें जर्मन स्फीति का विश्लेषण किया गया है और अर्ल जे० हैमिल्टन की क्वार्टरली जनरल ऑफ इकॉनमिक्स (अर्थशास्त्र का त्रैमासिक जर्नल), १९४२ में 'लाभ, स्फीति और औद्योगिक क्रान्ति, १७५१-१८००' शीर्षक लेख देखिए। बचतों के स्रोतों पर बी० एफ० जान्स्टन की जर्नल ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी (राजनीतिक अर्थशास्त्र का जर्नल) दिसम्बर, १९५१ में 'जापान में कृषि-उत्पादकता और आर्थिक विकास' शीर्षक लेख पढ़िए, आई० आई० क्रैमर का लैंड इकॉनमिक्स (भूमि अर्थशास्त्र), नवम्बर १९५३ में मौजी, 'जापान में भूमि सुधार और औद्योगिक विकास' शीर्षक लेख पढ़िए, ई० ए० रेडिंग की सेविंग्स इन ग्रेट ब्रिटेन १९२२-१९३५ (ग्रेट ब्रिटेन में बचतें १९२२-१९३५) ऑक्सफोर्ड, १९३९ पढ़िए, सी० टी० सॉण्डर्स का मैनचेस्टर स्टैटिस्टिकल सोसाइटी (मैनचेस्टर सांख्यिकीय सोसाइटी) नवम्बर, १९५४ में 'बचतों और निवेश का स्वरूप' शीर्षक लेख देखिए, एशिया और सुदूर-पूर्व के लिए राष्ट्रसंघ के आर्थिक आयोग का दी मोबीलाइजेशन ऑफ डोमेस्टिक कैपिटल रिपोर्ट एण्ड डॉकुमेंट्स ऑफ दी सेकिण्ड वर्किंग पार्टी ऑफ एक्सपर्ट्स (घरेलू पूंजी का एकत्रीकरण विशेषज्ञों के दूसरे कार्यकारी दल की रिपोर्ट और प्रलेख), बैंकाक, १९५३ पढ़िए। आयकी तुलना में लाभों और बचतों की वृद्धि की और अधिक व्याख्या के लिए मैनचेस्टर स्कूल (मैनचेस्टर स्कूल), मई १९५४ में मेरा लेख श्रम की असीमित सप्लाई के साथ आर्थिक विकास पढ़ें। ए० के० केरनक्रास की होम एण्ड फारेन इनवेस्टमेंट १८७०-१९१३ (घरेलू और विदेशी निवेश १८७०-१९१३) कैम्ब्रिज, १९५३ भी देखिए।

अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के सम्बन्ध में जी० सी० एलन और ए० जी० डॉनीथोर्न की वेस्टर्न एन्टरप्राइज इन फार ईस्टर्न इकॉनमिक डेवलपमेंट चीन एण्ड जापान (सुदूर-पूर्व के आर्थिक विकास में पाश्चात्य उद्यम चीन और जापान), लंदन, १९५४, एन० एस० बुकानन की इण्टरनेशनल इनवेस्टमेंट एण्ड डोमेस्टिक वेलफेयर (अन्तर्राष्ट्रीय निवेश तथा घरेलू कल्याण), न्यूयार्क, १९४५,

डब्लू० कनिंघम की एलियन इम्मिग्रेन्ट्स (टु इंगलैंड) (विदेशी आप्रवासी (इंगलैंड में) लंदन, १८९५, ई० डी० डोमर का अमेरिकन इकॉनमिक रिव्यू (अमरीकी आर्थिक समीक्षा), दिसम्बर १९५० में 'भुगतान-शेष पर विदेशी निवेश का प्रभाव' शीर्षक लेख, डी० फिंच का इन्टरनेशनल मॉनिटरी फण्ड स्टाफ पेपर्स (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि कर्मचारी लेख) सितम्बर १९५१ में 'अविकसित देशों की निवेश सेवा' शीर्षक लेख, एच० फीस की यूरोप, दी वर्ल्ड्स बैंकर (विश्व का बैंकर, यूरोप) न्यू हेवेन १९३०, वी० आई० लेनिन की इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद) लंदन डब्लू० ए० लुई की प्रास्पेक्ट्स ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन (उद्योगीकरण के पहलू) काहिरा, १९५३, आर० लुक्जेम्बर्ग की दी एक्युमुलेशन ऑफ कैपिटल (पूँजी का संचय) लंदन, १९५१, राष्ट्रसंघ का प्रकाशन रिपोर्ट ऑन ए स्पेशल यूनाइटेड नेशन्स फण्ड फॉर इकॉनमिक डेवलपमेंट (आर्थिक विकास के लिए विशेष राष्ट्रसंघ निधि पर एक रिपोर्ट), न्यूयार्क १९५३, और दि इन्टरनेशनल फ्लो ऑफ प्राइवेट कैपिटल, १९४६-१९५२ (निजी पूँजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह, १९४६-१९५२), न्यूयार्क, १९५४ पढ़िए।

व्यापार-चक्र के सम्बन्ध में आर० ए० गोर्डन की बिजनेस फ्लक्चुएशन्स (कारबार में उतार-चढ़ाव), न्यूयार्क, १९५२, जी० हैबरलर की प्रॉसपैरिटी एण्ड डिप्रेशन (समृद्धि और मन्दी) तीसरा संस्करण, जेनेवा, १९४१, डब्लू० ए० लुई और पी० जे० ओ० लियरी का दी मैनचेस्टर स्कूल (मैनचेस्टर स्कूल), मई १९५५, में 'उत्पादन तथा व्यापार में दीर्घकालीन उतार-चढ़ाव, १८७०-१९१३' शीर्षक लेख पढ़िए। *राष्ट्रसंघ का प्रकाशन* मेजर्स फॉर इन्टरनेशनल इकॉनमिक स्टेबिलिटी (अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थायित्व के उपाय) न्यूयार्क, १९५१ पढ़िए, दीर्घकालीन गतिरोध पर दो दृष्टिकोण जानने के लिए ए० एच० हैनसेन का अमेरिकन इकॉनमिक रिव्यू (अमरीकी आर्थिक समीक्षा), १९३९ में 'आर्थिक प्रगति और जनसंख्या की वृद्धि में गिरावट' शीर्षक लेख और जे० स्टीनड्ल की मैच्योरिटी एण्ड स्टैगनेशन इन अमेरिकन कैपिटलिज्म (अमरीकी पूँजीवाद में परिपक्वता और गतिरोध), ऑक्सफोर्ड, १९५२ पढ़िए।

अध्याय ६

जनसंख्या और साधन

इस अध्याय में पहले हम साधन, जनसंख्या और उत्पादन के सम्बन्धों पर विचार करेंगे, और उसके बाद साधन, जनसंख्या और लोगों तथा पदार्थों के एक देश से दूसरे देश में आवागमन के सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

(क) जनसंख्या में वृद्धि—आर्थिक विकास का जनसंख्या की वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ? माल्थस द्वारा इस प्रश्न का जो समाधान दिया गया था उस पर अभी तक बड़ा वादविवाद चला आ रहा है।

१ जनसंख्या और उत्पादन

उसकी पहली बात तो यह थी कि रहन सहन के स्तर में वृद्धि होने से जनसंख्या बढ़ती है। दूसरे, जनसंख्या में वृद्धि, खाद्यान्न के उत्पादन की वृद्धि से अधिक होती है। और परिणामस्वरूप तीसरी बात यह थी कि जनसंख्या की वृद्धि पर जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमित मात्रा सदा अंकुश रखती है। इसीसे चौथी बात पैदा होती है, जो माल्थस के सिद्धान्त का सखेप है, अर्थात् *खाद्यान्न पैदा करने की क्षमता में वृद्धि करने से जनसंख्या भी इस क्षमता की सीमा तक बढ़ जाती है।* लेकिन ये माल्थस के मौलिक समाधान थे। बाद में उसने स्वयं इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य द्वारा जनसंख्या पर नियन्त्रण करने से जनसंख्या और खाद्यान्न की वृद्धि का उपर्युक्त सह-सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है। वैसे, यह गुञ्जाइश निकालने से माल्थस के सिद्धान्त की मूर्धी समाप्त हो जाती है, और तब से आज तक उसके अनेक शिष्य इसे स्वीकार करने से हिचकते रहे हैं। दूसरी ओर, माल्थस की पहले दी हुई बातें भी कभी पूरी तरह से स्वीकार नहीं की गईं, क्योंकि सदा ही कुछ लोगों ने माल्थस के तर्कों के आधारों पर शंका प्रकट की है।

पहले हम जनसंख्या की सहज वृद्धि पर रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर के प्रभावों की चर्चा करेंगे। रहन-सहन के स्तर के जन्म-दर पर पड़ने वाले प्रभाव और मृत्यु-दर पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अलग-अलग विचार करना

अधिक उत्पादन का परिणाम हो सकता है, या बेहतर वितरण का भी हो सकता है। आयरलैण्ड के मामले में, जहाँ की जनसंख्या १७०० और १८४० के बीच चार गुनी हो गई, मुख्य कारण खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि थी जो आलू की खेती शुरू करने के कारण पैदा हुई—पहले अनाज पैदा करने में जितना उत्पादन होता था आलू की खेती से उससे कहीं अधिक होने लगा। कुछ अन्य देशों में इसका मुख्य कारण वितरण में सुधार है जो लड़ाइयाँ बन्द होने से या खाद्य-पदार्थों का व्यापार आरम्भ होने से, या बेहतर संचार-साधनों की उपलब्धि से हुआ है। व्यापार और संचार-साधनों के अभाव में हर जिले को अपनी आवश्यकताओं के लिए खुद पर ही निर्भर रहना होता है और स्थानीय रूप से फसल खराब हो जाने पर दुर्भिक्ष और भुखमरी फैलने की नौबत आ जाती है, भले ही देश के दूसरे भागों में अन्न बहुत काफी हो। अतः जिन देशों में वर्षा वर्ष प्रतिवर्ष बहुत घटती-बढ़ती रहती है वहाँ यदि संचार-साधन पर्याप्त न हों तो हर जिले को दुर्भिक्ष से काफी हानि हो सकती है और ऐसे देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाए बिना ही केवल संचार-साधनों में सुधार कर देने से मृत्यु-दर में बड़ी कमी की जा सकती है।

इस चरण से गुज़र चुकने वाले देश की मृत्यु-दर में १० प्रतिहजार की कमी आ सकती है। इसका मतलब यह है कि अगर उसकी जन्म-दर पहले जितनी रहे तो उसकी जनसंख्या में एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और वह ७० वर्ष में दूनी और १४० वर्ष में चौगुनी हो जाएगी। यही शायद आयरलैंड में हुआ था। आयरलैंड के उदाहरण को विवाह की बहुत कम आयु, या बहुत ऊँची जनन-क्षमता की दुहाई देकर समझना आवश्यक नहीं है। वहाँ जो कुछ हुआ वह ३५ प्रतिहजार के आसपास की जन्म-दर और आलुओं के आम इस्तेमाल में आने से गिरी हुई २५ प्रतिहजार की मृत्यु-दर के साथ ठीक बैठ जाता है। इसी प्रकार, भारत और अफ्रीका की जनसंख्याओं में होने वाली वृद्धि व्यापार और संचार-साधनों के विकास और स्थानीय दुर्भिक्षों की समाप्ति के आधार देकर आसानी से समझाई जा सकती है। भारत और अफ्रीका के कुछ देशों की जनसंख्या पिछले पचास वर्ष से एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी है, जो ४० प्रतिहजार की जन्म-दर और ३० प्रतिहजार की मृत्यु-दर के हिसाब से ठीक बैठती है। इन देशों में मृत्यु-दरें अब भी ऊँची हैं, क्योंकि वहाँ अभी चिकित्सा-सुविधाओं के विस्तार का चरण ठीक से आरम्भ नहीं हुआ है।

चिकित्सा-सुविधाओं के दो चरण हैं जो यूरोप में एक के बाद एक आए, लेकिन शेष संसार में एक साथ आ रहे हैं। इनमें पहला चरण सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों का अवलम्बन है, जिनसे महामारियों का भय समाप्त हो

जाता है। दूसरा चरण लोगों के लिए निजी तौर पर चिकित्सा-सुविधाएँ देने की व्यापक व्यवस्था से सम्बन्धित है। सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों की अपेक्षा रोगहर औषधियों की व्यापक व्यवस्था करने में अधिक समय लगता है क्योंकि इसके लिए बहुत अधिक साधनों की आवश्यकता होती है, अस्पताल बनाने पड़ते हैं और चिकित्सकों को प्रशिक्षित करके देश में जगह-जगह भेजना होता है। मृत्यु-दर में कमी करने के इस अन्तिम चरण तक बहुत थोड़े कम-विकसित देश पहुँच पाए हैं। लेकिन सार्वजनिक स्वास्थ्य के चरण तक पहुँचकर अनेक देशों ने महामारियों का उन्मूलन आरम्भ कर दिया है—प्लेग, चेचक, टाइफस हैजा, विषम ज्वर, मलेरिया पीला बुखार (और सम्भव तपेदिक)। इस चरण में मृत्यु-दर दस प्रति हज़ार और गिर जाती है। यदि जन्म-दर चालीस रहे तो जनसंख्या में दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और पैंतीस वर्ष में जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। श्रीलंका, मिस्र, मॉरीशस, वेस्ट इंडीज, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अनेक देश पहले ही इस चरण को पूरा कर चुके हैं। भारत अभी इसमें प्रवेश ही कर रहा है और यही कारण है कि उसकी जनसंख्या इस समय केवल १½ प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति से बढ़ रही है। आशा की जा सकती है कि थोड़े ही समय में भारत सार्वजनिक-स्वास्थ्य-सुविधाओं के विस्तार के फलस्वरूप हैजा मलेरिया और दूसरी महामारियों से छुटकारा पा जाएगा और यदि उसकी जन्म-दर में कमी नहीं होती तब उसकी जनसंख्या लगभग दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ेगी।

तीसरे चरण में, जनसंख्या की आयु-रचना के अनुसार थोड़ी-बहुत कमी-बेशी के साथ, मृत्यु-दर घटकर लगभग दस प्रति हज़ार रह जाती है। यह प्रत्येक व्यक्ति को चिकित्सा-सेवा प्रदान करने के फलस्वरूप होता है। यदि अब भी जन्म-दर चालीस रहे तो जनसंख्या में तीन प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और जनसंख्या पच्चीस वर्ष में दुगुनी हो जाएगी। पुअर्टोरिको-जैसे कुछ देश इस अवस्था तक पहुँच चुके हैं और श्रीलंका आदि दूसरे देश इस दिशा में काफ़ी आगे बढ़ रहे हैं।

इस विश्लेषण से पता चलता है कि शुरू में ही जनसंख्या-वृद्धि का सम्बन्ध खाद्यान्न की सप्लाई के साथ जोड़ना बड़ा अनुपयुक्त है। खाद्यान्न की सप्लाई जनसंख्या की वृद्धि की सीमा निर्धारित कर सकती है, लेकिन खाद्यान्न की सप्लाई में बढ़ोतरी होना ही घटती हुई मृत्यु-दर का एकमात्र कारण नहीं है। खाद्यान्न की सप्लाई में वृद्धि होने का प्रभाव गुज़ारे के निम्नतम स्तरों पर ही दिखाई देता है, और इन स्तरों पर इससे जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होती है। यदि केवल खाद्यान्न के प्रबन्ध की बात होती तो उसकी सप्लाई काफ़ी अर्से तक जनसंख्या के साथ-साथ बढ़ाई जा सकती थी।

लेकिन सचाई शायद यह है कि मृत्यु-दर में जितनी कमी खाद्यान्नों की सप्लाई बढ़ने से होती है उससे कहीं अधिक कमी चिकित्सा-सुविधाओं में सुधार होने से पैदा होती है।

लेकिन जनसंख्या चाहे खाद्यान्न की सप्लाई के कारण बढ़े या चिकित्सा-सुविधाओं में सुधार के कारण, माल्थस का जोर तो इस बात पर था कि खाद्यान्न में अपेक्षाकृत तेजी से वृद्धि न हो सकने के कारण एक स्थिति ऐसी आ जाएगी जब जनसंख्या की वृद्धि पर अंकुश लग जाएगा। उसके विश्लेषण का यह पहलू उन्नीसवीं शताब्दी की घटनाओं से झूठा साबित हुआ। सर्वाधिक विश्वसनीय अनुमानों के अनुसार प्रथम विश्व-युद्ध से लगभग आधी शताब्दी पहले संसार के खाद्यान्नों की सप्लाई दो प्रतिशत प्रतिवर्ष से कुछ ही नीची दर पर बढ़ रही थी, जबकि संसार की जनसंख्या लगभग ०.७ प्रतिशत प्रति-वर्ष ही बढ़ रही थी। उन दिनों, जैसा कि हमें पता है, पशुओं से प्राप्त पदार्थों के उपभोग में तेजी से वृद्धि होने के साथ-साथ यूरोप, अमरीका और आस्ट्रेलिया के श्रमिक-वर्गों की खुराक में बड़ा सुधार हुआ। खाद्यान्न की सप्लाई बढ़ने के कारण जिस दर पर जनसंख्या बढ़ती है उसे माल्थस ने आवश्यकता से अधिक कूता था (उसने यह दर तीन प्रतिशत बताई थी, जिस तक कोई यूरोपीय समुदाय कभी नहीं पहुँचा)। उसने इस सम्भावना को तो ध्यान में रखा था कि बढ़ती हुई जनसंख्या नयी जमीनों पर खेती करके खाद्य-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी कर सकेगी, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में यह कितनी तेजी से होगा इसका अनुमान माल्थस नहीं लगा सका और प्रति एकड़ उत्पादन में हो सकने वाली वार्षिक वृद्धि को भी उसने कम कूता था। लेकिन इनमें से कोई बात माल्थस द्वारा प्रस्तुत समस्या के महत्त्व को कम नहीं करती। उन्नीसवीं शताब्दी में कभी भी किसी समुदाय की जनसंख्या तीन प्रतिशत की दर से नहीं बढ़ी, पर बीसवीं शताब्दी में कई देश ऐसे हैं जो इस प्रतिशत तक पहुँच चुके हैं, इसके अलावा, खेती आरम्भ करने के लिए नयी जमीनों की सप्लाई भी असीमित नहीं है।

यह सिद्ध करने के लिए कोई अधिक तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि यदि मृत्यु-दर ४० से घटकर १० रह जाती है तो दुनिया में जल्दी ही भारी कठिनाई पैदा हो जाएगी, बशर्ते कि जन्म-दरों में भी इतनी ही कमी न हो जाए। यह धारणा खाद्यान्नों की सप्लाई से सम्बन्धित तर्कों पर ही पूरी तरह निर्भर नहीं है। खाद्यान्नों की सप्लाई का तर्क आज महत्त्वपूर्ण है, लेकिन आने वाली शताब्दियों में यह स्थिति समाप्त हो सकती है। कोई नहीं जानता कि संसार की वर्तमान धारण-क्षमता कितनी है। इस सम्बन्ध में आहार और जन-घनता की विभिन्न धारणाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। संसार की वर्तमान जनसंख्या लगभग ढाई अरब है, और सबसे कम कूत के

अनुसार कृषि की वर्तमान टेक्नीकों से इससे अधिक जनसंख्या के लिए उचित आहार की व्यवस्था नहीं की जा सकती, कहने का तात्पर्य यह है कि यदि खेती योग्य सभी ज़मीन पर खेती की जाने लगे तो खाद्यान्न के उत्पादन में इतनी वृद्धि हो सकती है कि संसार की समस्त वर्तमान जनसंख्या को यूरोप-निवासियों के स्तर का आहार दिया जा सकेगा। आहार के वर्तमान औसत स्तरों के आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि संसार की धारण-क्षमता दस अरब है। इन अनुमानों को तैयार करने में एक कठिनाई ३०° उत्तर और ३०° दक्षिण के बीच स्थित उष्ण-कटिबन्धीय देशों की कम पानी वाली ज़मीनों की अधिकतम धारण-क्षमता के बारे में अनिश्चितता है। संसार के इन भागों में लाखों वर्गमील कृषि योग्य भूमि ऐसी है जहाँ २५ से ४० इंच वर्षा प्रतिवर्ष होती है, लेकिन वह वर्ष के कुछ ही महीनों में होती है और वर्ष के बाकी भाग में मौसम सूखा रहता है जिसके दौरान वनस्पतियाँ सूख जाती हैं और भूमि तप जाती है। १९वीं शताब्दी में यूरोप में कृषि की टेक्नीकों में जो क्रान्ति हुई वह कुछ इलाकों में केन्द्रित थी जहाँ पूरे साल थोड़ी-बहुत वर्षा होती रहती है और जहाँ की ज़मीन तेज़ गरमी से कभी नहीं तपती। जो टेक्नीकें यूरोप और उत्तरी अमरीका में उपयोगी साबित हुई वे सबकी सब उष्ण-कटिबन्धों में भी सीधे तौर पर लागू नहीं की जा सकतीं, बल्कि वास्तव में उन्हें लागू करने से खतरा भी पहुँच सकता है। उदाहरण के लिए मशीनीकरण से किसी-किसी क्षेत्र की भूमि का क्षरण होने लगता है। जनसंख्या बढ़ने के साथ एक बड़ी समस्या जो मानव-जाति को सुलझानी पड़ सकती है इन लाखों वर्गमील के क्षेत्रों का, जो इस समय बहुत विरल रूप से बसे हुए हैं, अच्छे-से-अच्छा उपयोग निकालना है, और हम अभी यह नहीं कह सकते कि यह क्षेत्र बड़े उत्पादक सिद्ध होंगे, या लम्बे अर्से तक संसार के खाद्यान्नों की सप्लाई में थोड़ा ही योगदान करते रहेंगे।

संसार की वर्तमान धारण-क्षमता को अधिक से अधिक कूतने से भी कोई अधिक गुंजाइश नहीं निकलती, क्योंकि वृद्धि की वर्तमान दर को देखते हुए संसार की जनसंख्या लगभग एक शताब्दी में ही दस अरब हो जाएगी। वैसे, संसार की धारण क्षमता बराबर बढ़ती जाती है। सर्वाधिक उन्नत कृषि प्रधान देशों में बहुत दिनों से प्रति एकड़ उपज ०.७ प्रतिशत से १.५ प्रतिशत प्रतिवर्ष के बीच बढ़ती आ रही है (सबसे अधिक तकनीकी संभावनाएँ सर्वाधिक पिछड़े हुए देशों में हैं)। अगले तीस वर्षों में संसार की खाद्यान्न जुटाने की क्षमता के बारे में चिन्ता करना उचित ही है, क्योंकि इस बीच जनसंख्या और खाद्यान्न की सप्लाई में होड़ लगाकर वृद्धि करने की संभावना दिखाई देती है। लेकिन, इसमें लम्बी अवधि में खाद्य उत्पादन की टेक्नीकें अपनी पहुँच पर पहुँचा

लालन-पालन पर लगाने पड़ते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे इसे भार समझना शायद उन महत्त्वपूर्ण कारणों में से एक है जिनसे मृत्यु-दरें घटने पर थोड़े-बहुत समय में जन्म-दरें भी घटने लग जाती हैं। जन्म-दर और मृत्यु-दर के बीच असंतुलन की दूसरी हानि बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रति व्यक्ति उत्पादन पर दुष्प्रभाव है। थोड़े-से देश अब भी वर्तमान प्रतिफलों के चरण में हैं जिनमें जनसंख्या बढ़ने से लोकोपयोगी सेवाओं का बेहतर उपयोग होने लगता है, और विनिर्माण-उद्योग के विकास में सहायता मिलने लगती है। ऐसे देश मुख्यतः अफ्रीका और लेटिन अमरीका में हैं (इस अध्याय का खण्ड १ (ख) देखिए), लेकिन ये संख्या में बहुत थोड़े हैं। संसार के अधिकांश देशों में जनसंख्या बढ़ने के साथ प्रति व्यक्ति उत्पादन में कमी आती है, बशर्ते कि नये लोगों को काम देने के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने पर पूंजी खर्च न की जाए। जनसंख्या न बढ़ने की स्थिति में यह पूंजी वर्तमान जनसंख्या के प्रति व्यक्ति उत्पादन और पूंजी में वृद्धि करने के काम में लाई जा सकती है। हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि बढ़ती हुई जनसंख्या के बावजूद रहन-सहन के स्तर को गिरने से रोकने के लिए कितनी पूंजी की आवश्यकता होती है। यदि पूंजी और उत्पादन का अनुपात ४ : १ रखा जाए तो किसी देश को एक प्रतिशत की दर से बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति में इस काम के लिए अपनी राष्ट्रीय आय का ४ प्रतिशत निवल निवेश करना होगा, यदि जनसंख्या २ प्रतिशत बढ़ रही है तो ८ प्रतिशत करना होगा, और ३ प्रतिशत बढ़ रही है तो १२ प्रतिशत करना होगा। यह देखते हुए कि सबसे कम विकसित देश मुश्किल से अपनी आय का ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष निवेश कर पाते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है यदि वे अपनी जनसंख्याओं में २ या ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करने का शौक न छोड़ सके तो उनके रहन-सहन के स्तरों में गिरावट आना अवश्यम्भावी है।

सौभाग्य से, उपलब्ध प्रमाण बताते हैं कि मृत्यु-दरें गिरने के बाद समय पाकर जन्म-दरें भी गिरने लगती हैं। हम इसके बारे में निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि जिस प्रकार हमें मृत्यु-दरें घटने का कारण पता नहीं है उसी प्रकार जन्म-दरें घटने का वास्तविक कारण भी मालूम नहीं है। पिछले सौ सालों में यूरोप के कुछ देशों की जन्म-दरें ३५ के आस-पास से घटकर १५ प्रति हज़ार रह गई हैं। इस गिरावट का एक आंशिक कारण तो यह है कि अविवाहित रहने वाली स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है, और कुछ कारण यह भी है कि विवाह की आयु अधिक होती जा रही है, लेकिन सबसे बड़ा कारण गर्भ-धारण की इच्छा में निरन्तर कमी होते जाना है। हम ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि यह कमी क्यों पैदा हो रही है। हमारी धारणा और विचार

यह है कि यह आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं का अनिवार्य परिणाम है, और आर्थिक विकास की समान प्रक्रियाओं से गुजरने वाले सभी देशों में यही स्थिति पैदा होगी, लेकिन हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह होगा ही।

यह धारणा बनाना गलत नहीं है कि जन्म-दर में कमी केवल सतति-निग्रह की नयी टेक्नीकों के कारण ही नहीं होती, बल्कि गर्भ-धारण के प्रति प्रवृत्ति बदल जाने के फलस्वरूप होती है। इस विश्वसनीय धारणा के दो आधार हैं। पहला तो यह कि जन्म-दरों में कमी नयी टेक्नीकों का प्रयोग आरम्भ होने से पहले ही होने लगी थी। फ्रांस की जन्म-दर १६वीं शताब्दी के आरम्भ में ही घटने लगी थी, और यूरोप के अन्य देशों की जन्म-दरें भी १६वीं शताब्दी के मध्य से कम होने लग गई थीं, जबकि सन्तति-निग्रह के साधन १६वीं शताब्दी के अन्त में निकाले गए। दूसरे, आज भी सन्तति-निग्रह पर सफलतापूर्वक आचरण करने वाले लोगों का अधिकांश आधुनिक साधन प्रयोग में नहीं लाता। वे उसी पद्धति का अनुसरण करते हैं जो बाइबिल में दी गई है, और जिसे मानव-जाति युगों से जानती है। दो शताब्दी पहले ही सन्तति-निग्रह पर आचरण न किये जाने का कारण यह नहीं था कि लोग उसके बारे में जानते नहीं थे, बल्कि यह था कि लोग सन्तति-निग्रह करना नहीं चाहते थे। यह अवश्य है कि एक बार गर्भ-धारण के प्रति प्रवृत्ति बदल जाने पर उन्नत और अधिक सुविधा-जनक टेक्नीकों की अभिनव उपलब्धि ने सन्तति-निग्रह की इच्छा बढ़ाने में सहायता की, लेकिन निश्चय ही ये टेक्नीकें उतनी तेजी से न बढ़ पाती यदि गर्भ-धारण के प्रति लोगों की प्रवृत्ति न बदल गई होती।

यह प्रवृत्ति क्यों बदली? शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि मृत्यु-दर में कमी होने लग गई थी। जिस समुदाय में ६० प्रतिशत बच्चे पैदा होने के बाद वयस्क होने से पहले ही मर जाते हैं, वहाँ यदि सामान्य परिवार ३ वयस्क पैदा करना चाहे तो उसे ८ बच्चे पैदा करने होंगे, जिनमें से औसतन ५ बचपन में ही मर जाएँगे। अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्ति की स्थिति में भी सामान्यतया एक स्त्री ८ से अधिक बच्चों को जन्म नहीं दे पाती, अत मृत्यु-गम्या के इन स्तरों पर अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्ति से भी औसतन दो से तीन बच्चे ही बढ़कर बड़े हो पाते हैं। अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्ति से जन्म-दर ४० प्रति हज़ार से कोई विशेष ऊपर नहीं जा पाती। अत यदि मृत्यु-दर लगभग ४० हो तो स्त्रियों द्वारा यथेच्छ बच्चों को जन्म देने पर भी जनसख्या मुश्किल से ही स्थिर रह पाती है। ऐसी स्थिति में कबीले को बनाए रखने की दृष्टि से सन्तानोत्पत्ति धार्मिक कर्तव्य बन जाता है, और सबसे अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों को ऊंचा सम्मान और आदर दिया जाता है, जबकि बाँझ-पन शाप माना जाता है। मृत्यु-दर कम होने पर यह प्रवृत्ति अपने-आप बदल

जाती है। जब अधिक बच्चे जिन्दा रहने लगते हैं तो बहुत अधिक बच्चों को जन्म देना आवश्यक नहीं रह जाता। जहां तक जनसंख्या को स्थिर रखने का प्रश्न है, यदि जन्म के समय आयु की प्रत्याशा बढ़ते बढ़ते ६८ वर्ष तक पहुंच जाए तो जन्म-दर और मृत्यु-दर केवल १५ प्रति हजार रहने पर जनसंख्या स्थिर रह सकती है, इस स्थिति में सामान्य परिवार को लगभग २ बच्चे पैदा करने की जरूरत होगी। थोड़े बहुत समय में समुदाय के नेताओं के सामने निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की हानियां प्रकट होने लगती हैं, और अधिकतम सन्तान उत्पन्न करने के धार्मिक नियम त्याग दिए जाते हैं। अनेक आदिम समाजों ने, जिनकी जन्म दरें सम्भवतः ४० से कम थी, जनसंख्या नियन्त्रण के तरीके अपना लिए हैं जिनमें बच्चा पैदा होने के दो वर्ष बाद तक सम्भोग का निषेध, गर्भ-पात और शिशु-हत्या तक शामिल हैं। (आयरलैंड में विवाह की आयु बहुत अधिक कर दी गई और २५ प्रतिशत स्त्रियां आजन्म अविवाहित रहने लगीं।) माता-पिताओं की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन होता है, यदि उन्हें तीन वयस्क बच्चे चाहिएं तो इसके लिए ८ बच्चों को जन्म देना आवश्यक नहीं रह जाता। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इतने अधिक लड़के-लड़कियों को पाल-पोसकर सुयोग्य बना देना भारी गौरव की बात समझी जाती है, लेकिन जैसे-जैसे १० बच्चों का पालन करने की क्षमता रखने वाले लोगों की संख्या तेजी से बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इस उपलब्धि का गौरव भी कम होता जाता है, विशेषकर यदि खाद्य-पदार्थों की कमी हो, या रोजगार मिलना मुश्किल हो, या विरासत में देने के लिए भूमि काफी न हो। तब लोग इस बात को समझने लग जाते हैं कि बहुत अधिक बच्चे पैदा करना बड़ा हानिप्रद है, और फिर सन्तति-निग्रह की टकनीकों में दिलचस्पी बढ़ने लगती है। यदि उपर्युक्त विश्लेषण सही है तो इसका निष्कर्ष यह हुआ कि मृत्यु-दर में कमी प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद जन्म-दर अपने-आप घटती जानी चाहिए। जनसंख्या में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि केवल अस्थायी तौर पर ही होती है—अस्थायी शब्द का प्रयोग हम सापेक्ष अर्थ में ही कर रहे हैं, क्योंकि बड़े परिवार की हानियां इतनी स्पष्ट होने में, कि उसके फलस्वरूप सामाजिक प्रवृत्तियां बदलने लगें, दो या तीन पीढ़ियां लग सकती हैं।

दूसरे कारक भी इसी दिशा में प्रभाव डालते हैं। स्त्रियों की शिक्षा, और घर से बाहर रोजगार मिलने के अवसरों में वृद्धि होने के फलस्वरूप स्त्रियों की हैसियत ऊंची हो जाती है, इसके परिणामस्वरूप कुछ स्त्रियां गर्भ-धारण को अपने जीवन का केवल एक अस्थायी दौर मान सकती हैं, जिसके कुछ ही दिनों बाद उन्हें और काम करने के लिए फिर समय मिलने लगेगा। इसके अलावा ऐसे काम भी बढ़ने लगते हैं जिन्हें करते अपने समय का अधिकाधिक

उपयोग किया जा सकता है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप आनन्दोपभोग के लिए पहले की अपेक्षा अधिक आय होने लगती है और आनन्दोपभोग में समय लगता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ विशेषकर सिनेमा और समुद्र-तट पर सैर आदि, घर से बाहर के मनोरंजन बढ़ने लगते हैं। १९वीं शताब्दी के घर से मदद न लेने वाले कम आय के वर्गों की कुछ स्त्रियाँ गिरजाघर जाने के अलावा मुश्किल से ही अपने घरों से निकल पाती थीं, जबकि आजकल वे घूमने-फिरने की वही अधिक आज़ादी चाहती हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि सतति-निग्रह का एक पक्का उपाय घरों में बिजली की व्यवस्था कर देना है ताकि हर परिवार को शाम से ही बिस्तरों में घुसने की अपेक्षा करने के लिए काफी काम रहे, लेकिन इस धारणा का अधिक महत्त्व देना मुश्किल है। समय का उपयोग करने के तरीकों में वृद्धि होने से गर्भ धारण के अवसरों में कमी नहीं होती, बल्कि इससे गर्भ-धारण को भार समझा जाने लगता है। दूसरा परि-वर्तन यह भी होता है कि बच्चों का पालन अधिक खर्चीला हो जाता है, उन्हें ७ या ८ वर्ष की आयु से ही काम पर भेजना सम्भव नहीं रहता, बल्कि उन्हें १५ या इससे अधिक आयु तक भी स्कूल में भेजना पड़ता है। पश्चिमी देशों में पिछली दो या अधिक शताब्दियों के दौरान बच्चों के प्रति दृष्टिकोण भी बदल गया है—अब बाल्यकाल पर बड़ा ज़ोर दिया जाने लगा है। सत्रहवीं शताब्दी में या उससे पहले बच्चों को कोई अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं था। उन पर कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता था और वे मनचाहे तरीके से बढ़ते थे। लेकिन अब बाल्यकाल में बच्चे के व्यक्तित्व का विकास सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु मानी जाने लगी है। माता-पिता अपने हर बच्चे के लिए अधिक-से-अधिक करना अपना कर्तव्य समझने लगे हैं, और इसीलिए जितने बच्चों पर ध्यान दे सकते हैं उससे अधिक बच्चे पैदा न करना भी अपना कर्तव्य मानने लगे हैं। आर्थिक विकास के फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता में भी वृद्धि हुई है, और इसके साथ ही माता पिताओं के अन्दर यह इच्छा भी जमी है कि अपने बच्चों को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी जाए ताकि वे इस प्रकार जीवन आरम्भ करें कि अधिकतम सामाजिक उन्नति कर सकें; इससे बच्चों के ऊपर होने वाला खर्च बढ़ जाता है, और बच्चों की संख्या कम की जाने लगती है। यह बड़े मार्के की बात है कि अन्य लोगों की अपेक्षा सामाजिक उन्नति करने वाले लोगों के बच्चे थोड़े होते हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इसका कारण यह है कि जो लोग उन्नति करना चाहते हैं वे अपने पारिवारिक दायित्वों को कम रखने के पक्ष में रहते हैं, या यह है कि जिनके बच्चे कम होते हैं उन्हें उन्नति करने में आसानी होती है। इन सबके पीछे मानव-व्यवहार में तर्क की अधिकाधिक प्रवृत्ति भी छिपी है, लोग इस बात

में विश्वास करना बन्द कर देते हैं कि बच्चे 'ईश्वर की देन हैं', उन्हें यह विश्वास होने लगता है कि वे अपने आनन्दोपभोग के लिए स्वयं अपने जीवन की योजना तैयार कर सकते हैं, और उन योजनाओं में बच्चों की जितनी संख्या ठीक बैठे उससे अधिक बच्चे पैदा करने के लिए वे विवश नहीं हैं। पहले जो बात धर्म और नैतिकता का विषय थी वह अब सुविधा और संख्या-निर्धारण की बात रह जाती है। इनमें से अनेक कारकों का सम्बन्ध शहरीकरण से है—स्त्रियों की अधिकाधिक शिक्षा, उनके लिए घर से बाहर अधिकाधिक रोजगार, अवकाश का उपयोग करने के अधिकाधिक अवसर, बच्चों के रोजगार पर पाबंदियाँ, अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक गतिशीलता और जीवन के प्रति अधिक तर्कयुक्त दृष्टिकोण—इसीलिए शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में जन्म-दर अधिक होती है।

ये सभी कारक आर्थिक विकास का परिणाम हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित ही मालूम होता है कि आर्थिक विकास ही जन्म-दर में कमी करता है, और इस प्रकार अपने पहले बिगाड़े हुए सन्तुलन को फिर से ठीक कर देता है। यह विश्लेषण उन विवादों में से एक के साथ सम्बन्धित है जो जनसंख्या-सम्बन्धी नीति निर्धारित करने वालों में पाए जाते हैं। एक सम्प्रदाय के अनुसार जन्म-दर कम करने के लिए सन्तति-निग्रह की नयी टेकनीकों का अधिकाधिक प्रचार किया जाना आवश्यक है और दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार जब तक गर्भ-धारण के प्रति लोगों का दृष्टिकोण न बदल जाए तब तक इन टेकनीकों के अपनाए जाने की आशा नहीं की जा सकती। गर्भ-धारण के प्रति दृष्टिकोण आर्थिक विकास से बदलता है। अतः जन्म-दर कम करने के लिए आर्थिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। जाहिर है कि यह विवाद भ्रामक है। वस्तुतः जन्म-दर कम करने के लिए ये सारे ही काम करना जरूरी है। सामाजिक नेताओं का ध्यान ऊँची जन्म-दर के खतरों की ओर आकर्षित किया जाए ताकि प्रचलित निषेध और धार्मिक आग्रह गर्भ-धारण के पक्ष में होने की अपेक्षा उसके विरुद्ध हो जाएँ, रहन-सहन के स्तर और शिक्षा में तेजी से वृद्धि की जाए, जिससे स्त्रियों को कम बच्चे पैदा करने में सुविधा दिखाई दे, और सन्तति-निग्रह की टेकनीकों का अधिकाधिक प्रचार किया जाए। जन्म-दर कम करने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न एक साथ करना आवश्यक है।

उपर्युक्त उपायों में से कोई उपाय सरल नहीं है। शायद सबसे सरल काम नेताओं को सही दिशा में पथ-प्रदर्शन करने के लिए तैयार करना है। यह बात समझना आसान है कि यदि जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की ही वृद्धि होती रही तो एक हजार वर्ष में ही हर आदमी के लिए खड़े रहने-

भर की जगह बच रहेगी। विशेषकर वे लोग यह बात अच्छी तरह समझ सकते हैं जो पिछली एक या दो दशाब्दियों से कम विकसित देशों का नतृत्व कर रहे हैं क्योंकि इनका दृष्टिकोण अधिकांशतः पश्चिम की तर्कशीलता से प्रभावित है। राजनीतिज्ञों की अपेक्षा पुरोहितों को समझाना अधिक कठिन है, लेकिन केवल रोमन कैथोलिक चर्च ने ही इन बातों का तीव्र विरोध किया है, और उसने भी परिवार-सीमन का अनुमोदन कर दिया है बशर्ते कि इसके लिए सतति-निग्रह के आधुनिक साधनों का प्रयोग न किया जाए। पूर्व के बड़े धर्मों में इस विषय पर कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है और उनमें से हर एक के कुछ धार्मिक नताओं ने सतति-निग्रह का अनुमोदन कर दिया है। सर्वाधिक जन्म-दर वाले देशों में से किसी में भी अभी तत्काल उपाय करने की आवश्यकता नहीं है लेकिन भविष्य में यह आवश्यकता पड़ सकती है। बहरहाल यूरोप के अन्दर सतति निग्रह आन्दोलन का चमत्कारिक विस्तार न तो राजनीतिक बल पर हुआ और न सरकारी संगठन की सहायता से।

उन अपढ़ समाजों में, जिनकी स्त्रियाँ घरों की चहारदीवारी में बन्द रहती हैं, प्रचार करना उतना आसान नहीं है जितना कि पश्चिमी यूरोप में था। साथ ही, पश्चिमी यूरोप में इस्तेमाल किए जाने वाले सतति-निग्रह के साधन निर्धन देशों के लोगों की आमदनियों को देखते हुए खर्चीले हैं, और उनके मकानों की हालत और रहन-सहन के तरीकों को देखते हुए असुविधाजनक भी हैं। अतः सतति-निग्रह के किसी सस्ते या अधिक सुविधाजनक तरीके का आविष्कार करना अत्यन्त वाञ्छनीय है। यही कारण है कि सतति-निग्रह में रुचि रखने वाले लोग आजकल ऐसी गोली तैयार करने की सम्भावनाओं में बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं जो कोई और प्रभाव डाले बिना अस्थायी तौर पर बाँझपन पैदा कर दे। इस विषय पर तेज़ी से अनुसन्धान किया जा रहा है।

सबसे मुश्किल काम रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करना है। यदि जनसंख्या १½ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही हो तो कुल उत्पादन में वृद्धि करने का कम-से-कम लक्ष्य दो प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा जा सकता है। इससे १४० वर्षों में जाकर रहन-सहन का स्तर दूना हो पाएगा, जबकि पश्चिमी यूरोप और अमरीका में ४० से ८० वर्ष के बीच ही स्तर दूना हो गया था। लेकिन कुल उत्पादन में दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करना खेल नहीं है। इसके लिए शिक्षा और दूसरी लोक-सेवाओं पर काफी खर्च करना पड़ता है, वर्तमान पूँजी-निर्माण दूना करना पड़ता है, और विश्वासों और संस्थानों में अनेक परिवर्तन करने होते हैं। जिन देशों की जनसंख्या २ से २½ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है वहाँ उत्पादन में ३ प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी जो और भी कठिन बात है। अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण और संस्थानों के साथ पूँजी

और शिक्षा पर भारी खर्च करके भी अमरीका १८७० और १९३० के बीच उत्पादन में केवल ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि कर सका था। साम्यवाद के लौह-आवरण के इस ओर वाले कम विकसित देशों में से किसी से उत्पादन में २ से ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करने योग्य चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती, न किसी अधिक विकसित देश से यह आशा की जा सकती है कि वह इस समस्या के महत्व को समझकर इसे सुलझाने में उचित योगदान देने के लिए तैयार हो जाएगा। यदि जन्म-दर कम करने के लिए रहन सहन के स्तर में वृद्धि करना एक आवश्यक शर्त हो तो ऐसा लगता है कि जनसंख्या की समस्या शायद बहुत दिन तक इसी प्रकार बनी रहेगी।

कम विकसित देशों की जनसंख्या की समस्या जितनी कठिन है उतनी यूरोपीय देशों की कभी नहीं थी, क्योंकि यूरोप की जनसंख्या में कभी ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि नहीं हुई (मालथस के अनुसार अमरीका की जन्म-दर लगभग ५० और मृत्यु-दर लगभग २० थी, अतः वहाँ की जनसंख्या में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की स्वाभाविक वृद्धि हो रही थी लेकिन ५० जन्म-दर के लिए औसतन हर माँ को ८ से अधिक बच्चे पैदा करना जरूरी है जो प्रायः स्त्रियों की जनन-क्षमता से परे है)। यूरोप के देशों में वृद्धि की अपेक्षाकृत नीची दर का एक कारण तो यह था कि परिवर्तन के शुरू में ही वहाँ की जन्म-दरें ४० से ४५ की बजाय लगभग ३५ थीं। और एक कारण यह भी था कि वहाँ मृत्यु-दरें इतनी धीरे-धीरे घटीं कि उनके निम्नतम स्तर पर पहुँचने के पहले ही जन्म-दरें घटनी शुरू हो गईं। जहाँ यूरोप को जन्म-दर में बीस की कमी करने में लगभग एक शताब्दी लगी वहाँ कुछ दूसरे देशों ने यह चमत्कार ४० या इससे भी कम वर्षों में कर दिखाया है। चूँकि मृत्यु-दरों के घटने के प्रभाव-स्वरूप जन्म-दर कुछ समय बाद ही घटना आरम्भ होती है—यूरोप में जन्म-दरों में कमी आरम्भ होने के पचास या इससे कुछ अधिक वर्ष पहले ही मृत्यु-दरें कम होने लगी थीं—अतः यदि मृत्यु-दर एकदम तेजी से घटकर १० हो जाए और जन्म-दर ४० ही बनी रहे तो जनसंख्या में भारी वृद्धि हो सकती है। जनसंख्या में होने वाली वृद्धि जितनी ही भारी होगी उस पर नियन्त्रण करना उतना ही कठिन होगा, क्योंकि रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने के लिए कुल उत्पादन में उतनी ही अधिक गति से वृद्धि करनी होगी। दूसरी ओर यह भी असम्भव नहीं है कि कम विकसित देशों में जब जन्म-दरें घटना शुरू हों तो वे मृत्यु-दरों की ही भाँति पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा अधिक तेजी से घटें। जहाँ जन्म-दरों में १० प्रति हजार की कमी होने में फ्रान्स में ७० वर्ष लगे, स्वीडन और स्विटजरलैण्ड में ६० वर्ष लगे और इंगलैण्ड और डेनमार्क में ३० वर्ष लगे, वहाँ १९२४ से १९३६ के बारह वर्षों में बलगेरिया में जन्म-

दर ४० से घटकर २६ रह गई, पोलैण्ड में ३५ से घटकर २६ रह गई, चेकोस्लोवाकिया में २६ से १७ रह गई, और जापान में ३५ से २७ रह गई। १९वीं शताब्दी की अपेक्षा अब हर चीज़ अधिक तेज गति से होती है।

उपर्युक्त कारणों से जहाँ एक ओर यह सही है कि कुछ निर्धन देशों की जनसंख्या की समस्या बड़ी गम्भीर है, वहाँ दूसरी ओर यह सही नहीं मालूम होता कि उनके रहन-सहन के स्तर न बढ़ सकने का मुख्य कारण उनकी जनसंख्या में वास्तविक या सम्भावित-वृद्धि है। उदाहरण के लिए, भारत की जनसंख्या इस समय १½ प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। यह दर अमरीका की वर्तमान जनसंख्या वृद्धि की दर से कम है, जहाँ फिर भी प्रति-व्यक्ति उत्पादन ४० वर्ष में दुगुना हो जाता है, और यह दर १९वीं शताब्दी के दौरान यूरोप के देशों की जनसंख्या की वृद्धि की दर से भी अधिक नहीं है, जहाँ ऊँची दर के बावजूद रहन-सहन के स्तर काफी ऊँचे उठ गए थे। यदि जापान जनसंख्या बढ़ने के बावजूद १८८० के बाद से हर २५ साल में अपना प्रति-व्यक्ति उत्पादन दूना कर लेता है तो कोई कारण नहीं है कि एशिया या अफ्रीका के अन्य देश भी ऐसा ही न कर सकें। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से जापान कोई विशेष सम्पन्न नहीं है, बल्कि भारत की अपेक्षा उसके पास कोयला और खनिज धातु की कमी है। अगली दो या तीन दशाब्दियों में जनसंख्या की जिन दरों से बढ़ने की आशा की जा सकती है वह आर्थिक विकास के लिए अलंघ्य बाधा नहीं है। १ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ने वाली जनसंख्या की स्थिति में जितनी सरलता से प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता है उतना ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होने पर नहीं बढ़ाया जा सकता, लेकिन इन देशों में प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाने में मुख्य बाधा जनसंख्या की वृद्धि-दर नहीं है बल्कि पूंजी निर्माण की लगभग ५ प्रतिशत दरें हैं, जो बहुत ही कम हैं। यदि ये देश १० या १२ प्रतिशत प्रतिवर्ष का निवेश करें तो उनका प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ सकता है, जिससे परिणामस्वरूप जन्म-दर स्वयं कम हो जाएगी, और जनसंख्या की वृद्धि-दर घट जाएगी।

जब परिवार-सीमन का विचार लोकप्रिय होने लगता है तो उसकी स्थिति ऐसी ही होती है जैसी दूसरे फैशनों की होती है, अर्थात् यह पहले समाज के उच्चतम वर्गों द्वारा अपनाया जाता है, और बाद में नीचे के वर्गों में फैलता है। अतः सक्रमण-काल में हर समाज की जनन-क्षमता अधिक आमदनी और शिक्षा वाले वर्गों में कम होती है, और कम आमदनी और कम शिक्षा वाले वर्गों में अधिक पाई जाती है। कभी-कभी गलती से इसे माल्थस के तर्क का उत्तर समझते हुए यह कहा जाता है, ‘जैसे जैसे लोगों की आमदनी (या शिक्षा) बढ़ती जाती है उनकी जनन-क्षमता कम होती जाती है।” यह सन्देह-

जनक है कि जनन-क्षमता और आमदनी या शिक्षा का यह सम्बन्ध संक्रमण-काल के अतिरिक्त अन्य किसी स्थिति में भी पाया जाता है। इस बात का कोई पक्का प्रमाण *नहीं है कि स्थिर समाजों में जन्म-दर बहुत अधिक होने* की स्थिति में—जैसा कि १८वीं शताब्दी में यूरोप में था या आजकल भारत में है—या बहुत कम होने की स्थिति में—जैसी कि आजकल फ्रांस में है—*गरीबों की अपेक्षा अमीरों के सन्तानें कम होती हैं* हालांकि इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए कि ऐसे कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि समाज के वे सदस्य जो उच्चतम सामाजिक वर्गों तक पहुँचने में सफल हो पाते हैं जिनकी जनन-क्षमता कम होती है।

संक्रमण से सम्बन्धित एक और बात, जो सामाजिक वर्गों के अनुसार जनन-क्षमता के कम-अधिक होने का निष्कर्ष है, बुद्धिमत्ता के गिरते जाने का भय है। यदि समाज के उच्चतम वर्ग ही सबसे अधिक बुद्धिमान हों और वे निम्न-वर्गों की तुलना में कम बच्चे पैदा करें तो हम कह सकते हैं कि समुदाय में बुद्धिमान लोगों की संख्या कम होती जाएगी। इस तर्क से वे लोग असहमत हैं जो यह नहीं मानते कि उच्चतम सामाजिक वर्गों के लोग ही सर्वाधिक बुद्धिमान होते हैं, अधिक धनी होने के कारण उन्हें अधिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर तो होते हैं, लेकिन उनके वंश-परम्परा से प्राप्त गुण अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ नहीं होते। मान्य प्रमाणों के अभाव में इस विवाद पर कभी अधिक विचार नहीं किया जा सका है। वर्ग के अनुसार पाए जाने वाले अन्तरों की बात छोड़कर, इसके प्रमाण उपलब्ध हैं कि समाज के हर वर्ग में छोटे परिवारों के बच्चे बड़े परिवारों के बच्चों की अपेक्षा बुद्धि-परीक्षणों में अधिक सफल होते हैं। इसका यह अर्थ भी लगाया जाता है कि समुदाय के अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान सदस्य ही अधिकतर अपने परिवारों को सीमित रखने का प्रयत्न करते हैं। इससे फिर यह बात सामने आती है कि समुदाय में बुद्धिमान लोगों की संख्या के घटने का भय है। लेकिन छोटे परिवारों के बच्चों के *अधिक बुद्धिमान पाए जाने का कारण यह भी हो सकता है कि उनके माता-*पिता उनमें से हरेक की निजी तौर पर देखभाल करते हैं और ये बच्चे भी काफी हद तक अपने माता-पिताओं के अनुकरण करने का और उन्हीं के समान पटु बनने का प्रयत्न करते हैं, जबकि लम्बे-चौड़े परिवारों के बच्चे अपने बच-पने के खिलवाड़ में ही रह जाते हैं।

कुछ सुजननशास्त्रियों को भी मृत्यु-दर में कमी होने से इतनी ही चिन्ता होती है, फिर चाहे जनसंख्या लगातार बढ़ रही हो या घट रही हो। इन सुजननशास्त्रियों का कहना है कि जब मृत्यु-दर अधिक होती है तो पुनरुत्पादन की आयु तक न पहुँच सकने वाले लोग या अधिक बच्चे पैदा करने की आयु

तक पहुँचने से पहले ही मर जाने वाले लोग अविवादत जीवात्मक दृष्टि से घटिया होते हैं, अत इन लोगों का कहना है कि अधिक मृत्यु-दर की अपेक्षा कम मृत्यु-दर की स्थिति में आगे आने वाली पीढ़ियों की औसत जीवात्मक क्षमता कम होती जाती है। हर कोई इस बात से सहमत नहीं है कि अधिक मृत्यु-दर की स्थिति में जो लोग जीवित बच रहते हैं वे कम मृत्यु-दर की स्थिति में जीवित बचे लोगों की तुलना में जीवात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं अधिक मृत्यु-दर की स्थिति में लगभग आधे बच्चे १० साल की आयु तक पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं इनकी सख्या कुल मौतों का लगभग आधा होती है। क्या यह मानने के आधार हैं कि बच्चों की यह आधी सख्या जो दस वर्ष तक पहुँचने से पहले ही मर जाती है, बचे हुए बच्चे की तुलना में शारीरिक दृष्टि से कम क्षमतावाली या मानसिक दृष्टि से कम चैतन्य होती है या कि उनकी मृत्यु का कारण रहन-सहन की खराब परिस्थितियाँ, अपर्याप्त देखभाल, या महामारियों का आकस्मिक प्रकोप आदि है ? यह अवश्य सही है कि आधुनिक समुदाय जान-बूझकर ऐसे अनेक वयस्कों को जीवित रखने का प्रयत्न करता है जो अन्यथा प्रतियोगितात्मक संघर्ष में खत्म हो जाएँगे, क्योंकि वे अस्थायी रूप से बीमार हैं या शारीरिक दृष्टि से अक्षम हैं या पागल, या मानसिक रूप से विक्षिप्त हैं या काहिल हैं या कमजोरी या मूर्खता के कारण जीविका कमा सकने में असमर्थ हैं। इन जिन्दा रखे गए लोगों के कुछ लक्षण आने वाली पीढ़ियों को विरासत में मिलते हैं और कुछ नहीं मिलते। इन मामलों में पक्के निष्कर्ष तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक कि श्रेष्ठ और निकृष्ट गुणों की स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध न हो और इस बात की ठीक ठीक जानकारी न हो कि इन गुणों में से कौन-कौनसा किस-किस सीमा तक वंश-परम्परा से सन्तानों को मिलता है।

मृत्यु-दर गिरने से अन्य कई अधिक सक्रमणकालीन समस्याओं का जन्म होता है। एक प्रभाव तो यह है कि जनसंख्या में ६० वर्ष से अधिक की आयु वाले लोगों का अनुपात बहुत बढ़ जाता है। इस स्थिति में यदि निवृत्ति की आयु आम तौर पर ६० वर्ष रखी जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि कम आयु वाले लोगों के उत्पादन में अपना भरण-पोषण करने वाले लोगों की सख्या बढ़ती जाएगी। निवृत्ति की आयु बढ़ाने से यह समस्या केवल आंशिक रूप में ही सुलझती है, क्योंकि यदि निवृत्ति की आयु बढ़ाकर ७० वर्ष की जाए तो भी जन्म के समय ६८ वर्ष की औसत आयु आशा सहित स्थिर जनसंख्या वाले समाज में ७० और उससे ऊपर की आयु वाले लोगों की सख्या काफी अधिक रहेगी। वैसे, इस समस्या को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि जहाँ मृत्यु-दर गिरने से वृद्ध लोगों की सख्या बढ़ती है वहाँ जन्म-दर

घटने से बच्चों की संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक घटने लगती है। उदाहरण के लिए, पिछली शताब्दी में ब्रिटेन में १५ से ६४ वर्ष की आयु के बीच के लोगों का अनुपात जन-संख्या के ६० प्रतिशत से बढ़कर लगभग ७० प्रतिशत हो गया है, यह आगे चलकर कम हो जाएगा, फिर भी उन दिनों की अपेक्षा काफी अधिक रहेगा जबकि जन्म-दर ऊँची थी। ये परिवर्तन केवल संक्रमणकालीन हैं, क्योंकि यदि जनसंख्या और मृत्यु-दर दोनों स्थिर हो जाएँ तो ये अनुपात भी स्थिर हो जाएँगे। यदि जनसंख्या स्थिर हो और हर व्यक्ति ७८ वर्ष की आयु तक जीवित रहे, तो १५ से ६४ वर्ष की आयु वाले वर्ग जनसंख्या में ६७ प्रतिशत होंगे। जनसंख्या में १५ से ६४ वर्ष की आयु वाले लोगों का अनुपात उसी अवस्था में ६० प्रतिशत से कम हो सकता है जबकि जन्म-दर एकदम तेज़ी के साथ बढ़ने लगे।

जनसंख्या की वृद्धि-दर घटने से संक्रमण-काल में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनके अतिरिक्त जनसंख्या की स्थिरता को लेकर भी अनेक भय प्रकट किए जाते हैं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं दीर्घकालीन गतिरोध के समर्थकों को यह भय होता है कि जनसंख्या स्थिर रहने पर अर्थ-व्यवस्था की नम्यता कम हो सकती है और पूंजी-निवेश के अवसरों में भी कमी आ सकती है (देखिए अध्याय ५, खण्ड ३ (घ)। इन आर्थिक आशंकाओं के अलावा उन लोगों की राजनीतिक आशंकाएँ भी हैं जो रक्षा या आक्रमण के उद्देश्य से जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होते रहना पसन्द करते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि एक बार गिरना आरम्भ होने पर जन्म दर ठीक उसी स्तर पर गिर जाएगी, जहाँ वह जनसंख्या को स्थिर रख सके। पश्चिमी यूरोप के कई देशों में २०वीं शताब्दी के चौथे दशक में जन्म-दर इस स्तर से भी नीचे चली गई थी, यद्यपि इसके बाद फिर यह स्थिरता की दर पर आ गई और अधिकांश मामलों में उससे भी ऊपर हो गई। इसी प्रकार हम यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह कम विकसित देशों में कभी उतने निम्न स्तरों पर आ सकेगी जिन तक यह यूरोप में आई थी। यदि मृत्यु-दर कम हो और जनसंख्या को स्थिर रखना हो तो इस रीति का प्रचलन होना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति २ से कम और ३ से अधिक बच्चे पैदा न करे। इस शताब्दी के तीसरे दशक में यूरोप में केवल १ बच्चा पैदा करने की रीति प्रचलित हो गई थी (इस स्थिति में जनसंख्या का गिरते जाना अवश्यम्भावी है), लेकिन अब यह रीति नहीं रही है। जहाँ तक हम समझते हैं एशिया या अमरीका या यूरोप में ३ या ४ बच्चे पैदा करने की रीति चल पड़ने की सम्भावना है (इस स्थिति में जनसंख्या लगभग एक शताब्दी में दुगनी हो जाएगी)। आजकल ये रीतियाँ मुख्यतर व्यक्तिगत सुविधा के विचार से ही निर्धारित

होती है जिनमें एक ओर तो सन्तान और पारिवारिक जीवन के प्रति प्रेम की भावना है और दूसरी ओर बच्चों को पालने-पोसने का खर्च और इसके दौरान होने वाली असुविधा का विचार है। जनसंख्या-सम्बन्धी समस्याओं की वर्तमान चर्चा से एक बड़ा लाभ यह है कि इससे शायद माता-पिता उन सामाजिक समस्याओं पर ध्यान देने लगते हैं जो दो से कम या तीन से अधिक बच्चे पैदा करने की नीतियां प्रचलित होने पर पैदा होती हैं। जनसंख्या की समस्या के सामाजिक पहलू पर स्त्रियों और लड़कियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनकी शिक्षा के माध्यम से और भी प्रयत्न किया जाना चाहिए।

संक्षेप में, हम देखते हैं कि माल्थस ने अपने सिद्धान्त में मौलिक रूप से परिवर्तन करके बहुत ही उचित किया था। यह दरअसल सही नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि-दर का निर्धारण जीवन-निर्वाह के साधन करते हैं। उन समुदायों में यह काफी हद तक सही हो सकता है जिनकी जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही ऊंची हैं, लेकिन जैसे जैसे मनुष्य जन्म और मृत्यु-दरों पर नियन्त्रण करना सीखता जाता है वैसे-वैसे यह धारणा गलत सिद्ध होती जाती है। तब मानव-इतिहास का एक नया युग आरम्भ होता है जिसमें अपने भविष्य का निर्माण हम स्वयं करते हैं। इस नए युग में यदि हम काफी बच्चे पैदा न कर सकें तो मानव-जाति मिट सकती है, या यह भी सम्भव है कि जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमा में रहते हुए हम इतनी सन्तानें उत्पन्न कर लें कि और कहीं पर बसने के लिए न जा पाएं तो पृथ्वी पर लोगों को केवल खड़े रहने की जगह बच जाएगी। हम इन दोनों में से किस दिशा की ओर बढ़ेंगे यह कोई नहीं जानता।

(ख) **आकार और उत्पादन**—जनसंख्या के आकार पर आर्थिक विकास के प्रभावों की चर्चा में एक सीधा सवाल यह कभी-कभी उठाया जाता है कि साधनों की तुलना में जनसंख्या का उचित आकार क्या है?

यह मुख्य रूप से सार्थक प्रश्न नहीं है। हां, उदाहरण के लिए यह पूछा जा सकता है कि कितनी जनसंख्या होने पर प्रतिव्यक्ति उत्पादन सर्वाधिक हो सकेगा। इस प्रश्न का कोई ठीक उत्तर दिया जाना मुश्किल है, क्योंकि यह विविध प्रकार की कई बातों पर निर्भर करता है, लेकिन प्रश्न वैध है और अर्थपूर्ण भी। वैसे, यह नहीं माना जा सकता कि जनसंख्या का उचित आकार वही है जिसमें प्रतिव्यक्ति उत्पादन सर्वाधिक हो। सम्भव है कोई देश इससे कम जनसंख्या का होना पसन्द करे, जिसका कारण यह हो सकता है कि वह देश छोटे राष्ट्र को होने वाले तथाकथित लाभों—जनता की सुरुचि, राष्ट्रीय एकता की सरलतापूर्वक उपलब्धि, और बाह्य राजनीतिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति का आनन्द उठाना चाहता हो, या यह भी हो सकता है कि वह देश

आप्रवास, अधिक सन्तानों की उत्पत्ति आदि बढ़ती हुई जनसंख्याओं की प्रक्रियाओं को पसन्द न करता हो। या इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि कोई देश प्रतिव्यक्ति अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक जनसंख्या से अधिक जनसंख्या रखना चाहे क्योंकि वह रक्षा या आक्रमण के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकती है या बड़ी जनसंख्या के बल पर विश्व-मामलों में अधिक महत्त्वपूर्ण योग देने का अवसर मिल सकता है या आप्रवासी, विशेषकर धार्मिक या राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित शरणार्थियों को बसाने की इच्छा अनुभव की जा सकती है, या सामान्यतया दूसरे लोगों के साहचर्य या विशेष रूप से बच्चों की अधिक संख्या के प्रति आकर्षण अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार जनसंख्या के उचित आकार का प्रश्न ऐसे-ऐसे मुद्दे खड़े करता है जिनका समाधान आर्थिक विश्लेषण की सीमा से परे है।

अपने को आर्थिक पहलुओं तक सीमित रखते हुए हमें 'जनाधिक्य' का प्रयोग चार भिन्न-भिन्न अर्थों में देखने को मिलता है। पहला, वह देश अधिक जनसंख्या वाला माना जाता है, जहाँ जनसंख्या घटाकर प्रतिव्यक्ति उत्पादन में वृद्धि करने की गुञ्जाइश हो। दूसरा, कभी-कभी इसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि बाहर से खाद्य-पदार्थों का आयात किए बिना जितनी जनसंख्या का भरण-पोषण किया जा सकता है वर्तमान जनसंख्या उससे अधिक है। तीसरा, जोकि एक चरम अर्थ है, यह है कि देश की जनसंख्या उसके साधनों की तुलना में इतनी अधिक है कि जनसंख्या में कोई परिवर्तन करने पर भी देश के कुल उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। और अन्तिम अर्थ, जो स्पष्ट है, यह है कि देश बड़ी तेजी के साथ उन प्राकृतिक साधनों को समाप्त करता जा रहा है जिनकी पूर्ति फिर से नहीं की जा सकती। हम पहले अन्तिम अर्थ से ही निपटें, क्योंकि, जैसा कि अभी हम देखेंगे, इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

और बातें समान रहने पर, जनसंख्या का आकार ही यह निर्धारित करता है कि देश के खनिज साधन किस गति से इस्तेमाल किये जा रहे हैं। तेल, कोयला, लोहा, टिन या दूसरे खनिजों का जितना ही अधिक उपयोग किया जाएगा उतना ही कम आगे के लिए पृथ्वी के गर्भ में बच रहेगा। क्या हम कोई ऐसी 'उचित' दर निर्धारित कर सकते हैं जिस पर इन साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए?

साधनों के संरक्षण की समस्या के तीन भिन्न-भिन्न पहलू हैं। पहला तो यह कि क्या हम एक साधन का उपयोग करते समय उसी मूल्य का दूसरा साधन पैदा कर सकते हैं? दूसरे, अपेक्षाकृत अधिक मन्द गति से साधनों का उपयोग करने से क्या आर्थिक हानि होगी? और तीसरे, अपने दावों की

तुलना में हम आगे आने वाली पीढ़ियों के दावों को कितना महत्त्व देते हैं? साथ ही, इन प्रश्नों का उत्तर देते समय हमें किसी एक देश की स्थिति और समूचे संसार की स्थिति के बीच भेद करना होगा, क्योंकि इस समय कोई एक देश चाहे तो खुशी से अपने सारे खनिज निकालकर इस्तेमाल कर सकता है और भविष्य में अन्य देशों से आयात करके काम चला सकता है, लेकिन सारे संसार के लिए यह नीति अपनाना सम्भव नहीं है।

किसी दूसरे साधन को जन्म देने के उद्देश्य से किसी एक साधन के इस्तेमाल की बात करते समय एक देश की स्थिति को लेकर विचार करना अधिक समीचीन प्रतीत होगा। उत्तर रोडेशिया या मलाया या ट्रिनिडाड-जैसे देशों में, जिनके रहन-सहन का स्तर नीचा है, ऐसे खनिज साधन पाए जा सकते हैं जिन्हें शेष संसार बहुत अधिक महत्त्व देता है। यदि ऐसा देश ये खनिज निकालने से इन्कार कर देता है तो उसके रहन-सहन का स्तर नीचा बना रहता है। दूसरी ओर, यदि यह खनिज निकाला जाने लगता है तो उसे विदेशों में बेचकर धन कमाया जा सकता है जिसे तरह-तरह से पूंजी उपस्कर में सुधार करने के लिए खर्च किया जा सकता है। शिक्षा, कृषि-भूमि के सुधार, सिंचाई-सुविधाओं, लोकोपयोगी सेवाओं, अनुसन्धान, और नये साधनों की खोज या अन्य साधनों के इस्तेमाल के नये ढंग निकालने पर अधिक पैसा खर्च किया जा सकता है। परिणामस्वरूप उक्त खनिज के पूरी तरह समाप्त होने पर भी देश पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा भविष्य बनाने की स्थिति में आ सकता है, क्योंकि एक साधन का दूसरे साधन में रूपान्तर हो गया है। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं होता। प्रायः विदेशों को खनिज बेचकर जो धन प्राप्त होता है वह बरबाद कर दिया जाता है, या चालू उपभोग पर खर्च कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब साधन पूरी तरह समाप्त हो सकता है तो उसके स्थान पर कोई और उपलब्धि देखने में नहीं आती, और अर्थ-व्यवस्था गतिरोध की स्थिति में पहुँच जाती है। खनिज-उद्योग के लगे भूतपूर्व नगरों और खनिजों की दृष्टि से सम्पन्न कई देशों की यही हालत देखने में आई है। प्रायः यह भी होता है कि खनिजों की बिक्री से प्राप्त आय किसी दूसरे देश में चली जाती है, सम्भव है विदेशी शेयरहोल्डर इस आय का अधिकांश भाग हथिया लें, और उस खनिज उत्पन्न करने वाले देश में लगाने के बजाय स्वयं अपने देश के पूंजी उपस्कर में सुधार करने पर खर्च कर दें, या यह भी हो सकता है कि खनन कार्य आप्रवासियों द्वारा किया जा रहा हो जो जल्दबाजी में जितना अधिक खनन सम्भव हो उतना करके खनिजों की समाप्ति के बाद अपने देश को वापस चले जाएं और वहां केवल थोथी ज़मीनें छोड़ जाएं। खनन के बदले उत्पन्न हो मूल्य के दूसरे साधन उत्पन्न किए जा सकते हैं, लेकिन

उसकी सम्भावना तभी होती है जब देश इस बात पर ज़ोर दे कि खनिज-पदार्थों को बेचकर प्राप्त होने वाली आय का नये साधनों (शिक्षा समेत) में निवेश कर दिया जाए। फिर भी, नया साधन सदा ही पुराने साधन की पूरी तरह स्थान नहीं ले सकता। किसी ऐसे आदिम देश का उदाहरण लीजिए जिसमें कोयले या लोहे का पता चले। ये साधन ऐसे हैं जिनके बल पर बड़े-बड़े उद्योग खड़े किए जा सकते हैं। सम्भव है ये देश अपने लोगों में अपेक्षित शिक्षा या पूँजी का अभाव होने के कारण ऐसे उद्योग न खड़े कर सकें। अतः वह अस्थायी रूप से लोहा या कोयला निर्यात करने का फैसला कर लें जिससे प्राप्त धन उत्पादन-क्षमता बढ़ाने में लगाए। लेकिन यदि यहाँ से लोहे या कोयले का निर्यात किया जा रहा है तो ऐसा समय आने पर जबकि देश की स्थिति ऐसी हो जाए कि वहाँ इन खनिजों की सहायता से उद्योग स्थापित किए जा सकें, तब सम्भव है कि वहाँ लोहा या कोयला बचे ही नहीं। विशेष रूप से इन दो खनिजों के बारे में यह तय करना सदा ही आसान नहीं होता कि धन कमाने की दृष्टि से इनका वर्तमान में निर्यात कर दिया जाए, या ये किसी अनिश्चित भविष्य में स्थानीय उद्योग स्थापित करने की दृष्टि से बचा रखे जाएँ।

किसी एक देश के बजाय समूचे संसार पर विचार करते समय भी बहुत-कुछ यही कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। समूचे संसार के मामले में यह बहुत ही सीमित अर्थ में कह सकते हैं कि साधन खर्च होने से उतने ही मूल्य का दूसरा साधन पैदा हो सकता है। यह सही है कि पिछली दो शताब्दियों में खनिजों का जितना उपयोग किया गया है उसको देखते हुए हमारे ज्ञान और उत्पादन-क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, यदि हमने आने वाली पीढ़ियों को ये खनिज इनका उपयोग बनाए बिना या दूसरा वैज्ञानिक ज्ञान सौंपे बिना ही विरासत में दे दिए होते तो उन्हें कोई फायदा न होता। लेकिन वे उस ढेर सारी जानकारी को लेकर करेंगे भी क्या यदि उसे अमल में लाने के लिए उन्हें साधन विरासत में न मिले? हाँ, यह सम्भव है कि वे इस जानकारी के बल पर नये साधन ही खोज लें, या पहले जिन साधनों को बेकार समझा जाता था उनके नये उपयोग निकाल लें (अभी पिछले दिनों तक बॉक्साइट और यूरेनियम साधारण 'पत्थर' समझे जाते थे)। यह भी हो सकता है कि वे हाइड्रोजन के एटमों से बनाकर अपनी जरूरत की सारी चीज़ें वायु से संश्लेषित कर लें। दूसरे शब्दों में, यह तय कर पाना मुश्किल है कि यदि हम अभी अपने सारे साधन समाप्त कर दें तो हमारी सन्तानों को इससे कोई हानि पहुँचेगी या नहीं, और यदि पहुँचेगी तो वह कितनी होगी। हो सकता है कि उन्हें इससे फायदा ही पहुँचे, क्योंकि हम बदले में उन्हें ज्ञान और पूँजी छोड़ जाएँगे

वह उनके बड़े काम आ सकती है या यह भी हो सकता है कि वे इसे हमारी सिकुलदर्शी के लिए कोसें जैसे कि मध्यपूर्व और उत्तर अफ्रीका के लोग अपने पूर्वजों को कोस सकते हैं जिन्होंने वहाँ के जंगलों का नष्ट करके उसका बड़ा अपकार किया है क्योंकि वह भाग अब रेगिस्तानी बन गया है।

साधनों के खतम होने जाने की दर अधिक सावधानी से साधनों के खर्च करने की लागत पर भी निर्भर होती है। उदाहरण के लिए, खनन में कई प्रकार की शुद्धि वाली धातुएँ निकलती हैं। जमीन के किसी एक टुकड़े से घटिया धातुओं को निकालकर खनिज-उत्पादन में सदा वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार जंगल धीरे-धीरे या अधिक तेजी के साथ काटे जा सकते हैं, और वनरोपण में भी कम या अधिक सावधानी बरती जा सकती है। ठीक यही कृषि पर भी लागू होता है। अधिकतर देशों में यह एक नैतिक नियम बनता जा रहा है (कभी-कभी इस सम्बन्ध में कानून भी बना होता है) कि जमीन के उपजाऊपन की रक्षा की जानी चाहिए। वैसे यह प्रवृत्ति सार्वदेशिक नहीं है। अनेक देशों में अब भी जगह बदल-बदलकर खेती करना बहुत प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत अगर हम भूमि के एक टुकड़े के उपजाऊपन को बिल्कुल नष्ट कर दें तो इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि अगले साल फिर दूसरे टुकड़े पर खेती आरम्भ की जा सकती है; यदि भूमि थोड़े दिन परती छोड़े जाने के बाद फिर दुबारा उर्वर बन सके तो इसकी स्थिति खनिज पदार्थों से थोड़ी भिन्न हो जाती है, लेकिन परती छोड़ी गयी भूमि अधिकांशतः अपने वनस्पति-गुण्य को देती है, और खाद मिट्टी के गुण को फिर से पैदा नहीं कर पाती। इन सभी मामलों में कुछ हानि उठाकर निरपेक्ष रूप से या केवल अपेक्षाकृत अधिक धीमी दर से प्राकृतिक साधनों का संरक्षण किया जा सकता है। वाणिज्यिक उपयोगकर्ता यह हानि लाभ में से पूरी कर लेता है, घटिया धातुओं के खनन का खर्चा उसकी कीमत से निकल आता है; यही बात वनरोपण, थोड़ा-थोड़ा करके वन काटने, या भूमि-संरक्षण के उपायों पर भी लागू होती है। यदि अनुपात में यह भावना स्वतः पैदा न हो सके तो तरह-तरह के प्रलोभन देकर या कानूनन जबरदस्ती करके लोगों को साधनों का अधिक सावधानी से उपयोग करने के लिए तैयार किया जा सकता है। प्रलोभन दुर्लभतर साधनों के अधिक बेहतर उपयोग की पद्धतियों को अपनाने के लिए अनुदान देने के रूप में हो सकता है, दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा बोने की जाने पर कॉन्टूर लगाने की पद्धति का यही प्रभाव है; या पेड़ लगाने के लिए, या घटिया जमीनों पर खेती शुरू करने या भूमि-संरक्षण के उपायों पर अमल करने के लिए अनुदान के रूप में हो सकता है। दूसरी ओर, कानून भी फिर से पौधे लगाने के या भूमि-संरक्षण के मानक निर्धारित

करें, या इन मानकों का उल्लंघन करने के लिए दंड निर्धारित करके लोगों को साधनों का अधिक सावधानी से उपयोग करने के लिए विवश कर सकता है।

इन सबके मूल में एक समस्या यह है कि भविष्य के प्रति हमारी पीढ़ी का दायित्व क्या है? जो कुछ इस समय हमारे पास है क्यों न हम उसका उपयोग कर लें और आने वाली पीढ़ियों को अपनी व्यवस्था स्वयं करने दें? हमारे वर्तमान युग की अपेक्षा आगे आने वाली पीढ़ियों के युग को अधिक महत्व क्यों दिया जाए? उदाहरण के लिए जनसंख्या की समस्या को लीजिए। मान लीजिए किसी देश में लगभग १० करोड़ मनुष्य-वर्षों के उपभोग योग्य पर्याप्त कोयला है। ऐसी स्थिति में बजाय इसके कि ५ करोड़ लोग उसे २०० वर्ष में ही समाप्त कर दें यह क्या बेहतर माना जाए कि २ करोड़ लोग उसका ५०० वर्ष तक उपयोग करें? या भूमि-संरक्षण का उदाहरण लीजिए, यदि हम इस समय काफी परिश्रम करें तो भूमि को उससे भी अधिक सुरक्षित रूप में अपनी सन्तानों को दे सकते हैं जिस रूप में वह हमें अपने पूर्वजों से मिली थी। लेकिन हम आने वाली पीढ़ियों के लिए यह परिश्रम क्यों करें? या फिर हम इस तरह के कोई निवेश क्यों करें जिनका फल पूरी-पूरी तरह हमें अपने जीवन-काल में ही न मिल जाए—उदाहरणार्थ, जल-विद्युत् पैदा करने के लिए नदियों पर बाँध बनाने सम्बन्धी निवेश? इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही है कि हम मानव-जाति को बनाए रखना अपना पवित्र कर्तव्य मानते हैं। हममें से अधिकांश की यह भावना है—चाहे यह सहज हो या संस्कारगत—कि हमारे समुदाय का भविष्य महत्त्व की चीज है, और विशेषकर हममें से हर व्यक्ति को और सामान्यतः हमारी पीढ़ी को, आगे आने वाली पीढ़ियों की खातिर अपने युग में कुछ अंश का बलिदान करना चाहिए। यह बलिदान कितना हो यह निर्धारित करने के कोई उपाय नहीं है, और इसीलिए हम इस बात का भी कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दे सकते कि 'साधनों के उपयोग करने की उचित गति क्या है?' हर पीढ़ी में हर समुदाय को ये बातें खुद तय करनी होती हैं।

वर्तमान उत्पादन और वर्तमान जनसंख्या के परस्पर सम्बन्ध के बारे में विचार करते समय हमें अधिक विश्वसनीय आधार मिल जाते हैं। जनसंख्या और प्रतिव्यक्ति उत्पादन का सम्बन्ध एक ओर तो विशेषज्ञता और बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभों पर निर्भर है, और दूसरी ओर प्राकृतिक साधनों के अधिक सघन और कम सघन उपयोग की हानियों पर आधारित है। जनसंख्या जितनी ही अधिक होगी, व्यक्तियों, फर्मों और उद्योगों को विशेषज्ञता के उतने ही अधिक अवसर मिलेंगे। 'श्रम का विभाजन बाजार के विस्तार पर निर्भर होता है।' यह सही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप देश की जनसंख्या

के आकार से प्रभावित हुए बिना ही कुछ सीमा तक विशेषज्ञता सम्भव है—इस अर्थ में तो दरअसल देश जितना ही छोटा होगा विशेषज्ञता के अवसर उतने ही अधिक होंगे। चूंकि अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका विदेश-व्यापार से वास्ता नहीं है—आवास-व्यवस्था, व्यक्तिक सेवाएँ, आन्तरिक परिवहन, आदि—अतः इस बात में सचाई अधिक है कि आन्तरिक बाजार जितना बड़ा होगा उतने ही अधिक अवसर आन्तरिक विशेषज्ञता के होंगे। इसके अलावा, विदेश-व्यापार की अपनी खामियाँ हैं और वह अस्थिर भी होता है जिसके कारण आन्तरिक व्यापार की तुलना में विदेश-व्यापार का आकर्षण कम होता है। उपर्युक्त तर्क पूरे-का-पूरा बड़े पैमाने के उत्पादन पर भी लागू होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ कभी-कभी निर्यात के लिए माल तैयार करके उठाए जा सकते हैं, लेकिन बहुत से मामलों में (उदाहरण के लिए, कुछ लोकोपयोगी सेवाओं में) उत्पादन का रूप ऐसा नहीं होता कि उसका निर्यात किया जा सके, जो भी हो, विदेश-व्यापार में अपेक्षाकृत बड़ी जोखिम होने के कारण निवेशकर्ता विदेशी बाजारों में अपने अधिकांश उत्पादन की बिक्री पर भरोसा करने की बजाय आन्तरिक बाजार में माल खपाने के लिए बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभों का अधिक फायदा उठाना चाहेगा।

विस्तृत बाजार से सर्वाधिक लाभ उठाने वाले उद्योग लोकोपयोगी सेवाएँ, और धातुओं की सहायता से माल तैयार करने वाले—विशेषकर धातु-उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में—कुछ फैक्टरी उद्योग होते हैं। आबादी घनी होने के साथ लोकोपयोगी सेवाओं—परिवहन, बिजली, गैस, पानी—में बड़े पैमाने के लाभ बहुत स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में इनकी सड़कों, पाइपों और तारों का अधिक मात्रा में उपयोग होने लगता है। उपभोक्ता पदार्थ और मशीन तैयार करने वाले फैक्टरी उद्योग, बशर्ते कि वे जुड़ाई उद्योग न हों, बहुत जल्दी ही इष्टतम आकार तक पहुँच जाते हैं। मुख्य रूप से कच्ची धातुओं का प्रक्रियाकरण करने वाले और मूल रसायन तैयार करने वाले फैक्टरी उद्योग भी ऐसे हैं जिन्हें बड़े पैमाने के लाभ सर्वाधिक मिलते हैं। लेकिन जिस देश की जनसंख्या इतनी काफी है कि वहाँ अनेक प्रकार के दूसरे उद्योग चलाने की गुंजाइश है, वहाँ अधिकांश उद्योग चलाने में फायदा रहता है, भले ही सामान्य फैक्टरी का आकार छोटा ही हो, क्योंकि फैक्टरियों को कच्चे माल, पुर्जों और सेवाओं की सप्लाई के लिए, या अधकच्चे उत्पादन या गौण उत्पादनों की खरीद के लिए अनेक प्रकार के उद्योगों पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरी ओर बड़े पैमाने की हानियाँ कृषि और खनन में सबसे जल्दी दिखाई देने लगती हैं। जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ कम उपजाऊ जमीनों पर खेती करना या उपजाऊ जमीनों पर ही और गहन खेती

करना आवश्यक हो जाता है और दोनों ही मामलों में ह्रासमान प्रतिफल मिलने लगते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि ह्रासमान प्रतिफलों की स्थिति में पहुँचे बिना देश के लिए कितनी जनसंख्या उचित है यह इस बात पर निर्भर है कि उसके प्राकृतिक साधन धातुओं से तैयार होने वाले पदार्थों और भारी रसायनों के निर्माण के उपयुक्त हैं या मुख्यतः कृषि-कार्य के उपयुक्त हैं। पहली स्थिति में जनसंख्या में काफी वृद्धि हो जाने पर भी वर्धमान प्रतिफल प्राप्त किए जा सकते हैं, जबकि बाद वाली स्थिति में ह्रासमान प्रतिफल बहुत जल्दी मिलने लगते हैं। इसके साथ ही यह असंगति यह है कि कृषि-साधनों की दृष्टि से जनाधिक्य वाला होने पर भी कोई देश औद्योगिक विकास की क्षमता की दृष्टि से जनाल्प हो सकता है। जमायका या मारीशस-जैसे कुछ बहुत छोटे देशों के सामने यही समस्या है कि कृषि को देखते हुए तो उनकी जनसंख्याएँ बहुत अधिक हैं, लेकिन साथ ही व्यापक पैमाने पर औद्योगिक विकास करने के लिए बहुत ही थोड़ी हैं।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि कोई देश केवल इसीलिए जनाधिक्य वाला नहीं बताया जा सकता कि उसकी जनसंख्या वहाँ की भूमि पर उत्पन्न खाद्यान्न को देखते हुए अधिक है। इस दूसरे अर्थ में ही कभी-कभी जनाधिक्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका कुछ महत्त्व तत्पश्चात तब ही रहता था जब खाद्यान्नों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव न होता, या बहुत खर्चीला होता, या हम इस समस्या को सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से ही देख रहे होते। पश्चिमी यूरोप में एक एकड़ से एक व्यक्ति के योग्य भोजन-सामग्री उपलब्ध होती है, यदि हम बच्चों को भी पूरा-पूरा गिनें और तीन एकड़ घास पैदा करने वाली भूमि को लगभग एक एकड़ कृषि भूमि के बराबर मान लें। अमरीका में भी भोजन का स्तर लगभग यही है, लेकिन भूमि की उत्पादन क्षमता बहुत कम है जिसके कारण करीब दो एकड़ भूमि एक व्यक्ति के लिए खाद्यान्न जुटा पाती है। अन्य देशों की स्थिति एक ओर तो उनके भोजन-स्तर पर निर्भर है और दूसरी ओर उत्पादन-क्षमता पर। बहुत-कुछ पशुधन से मिलने वाले पदार्थों की उपभोग मात्रा (गोश्त, दूध, मक्खन आदि) पर भी निर्भर होता है क्योंकि भूमि के रूप में इनका खर्च बहुत अधिक बैठता है। उदाहरण के लिए, यूरोप की तुलना में भारत में कैलोरियों का प्रतिव्यक्ति उपभोग दो तिहाई से भी कम है और प्रोटीन का उपभोग तो बहुत ही थोड़ा है, लेकिन भूमि की उत्पादन-क्षमता कम होने के कारण भारत को भोजन-स्तर की इस कमी का तुलनात्मक लाभ नहीं मिल पाता, और उसकी जनसंख्या के प्रतिव्यक्ति भाग की सतह ०.८ एकड़ से होती है।

खाद्यान्न आयात करने की सम्भावना हो तो कृषि-भूमि की धारण-क्षमता अधिकतम वाञ्छनीय जनसंख्या का निर्धारण करते समय निर्णायक नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में देश अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान कौशलों या साधनों के विकास पर ध्यान केन्द्रित करके ही अपनी आय बढ़ा सकता है और जान-बूझकर जमीनों को बेकार पड़ी रहने दे सकता है और अपनी जरूरत के योग्य खाद्यान्न उपजा लेने की सामर्थ्य होते हुए भी उनका आयात करने का फैसला कर सकता है। भोजन व्यवस्था के लिए काफी भूमि न होने पर भी कोई देश तब तक कम जनसंख्या वाला माना जाएगा जब तक कि उसके पास ऐसे दूसरे साधन या कौशल मौजूद हैं जिनका उपयोग करके बढ़ती हुई जनसंख्या प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाती रह सकती है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कोई देश तब तक जनाधिक्य वाला नहीं माना जा सकता जब तक कि वहाँ के लोगों को विनिर्माण या दूसरे कार्यों में लगे रहने की गुंजाइश हो, क्योंकि यदि जनसंख्या कम करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता हो तो यह मानना पड़ेगा कि विनिर्माण, कृषि या किसी अन्य क्षेत्र में जनाधिक्य है। इस पैरा में हम यही कहना चाहते हैं कि किसी देश में जनाधिक्य है या नहीं, इसका निर्णय करते समय केवल उस देश के कृषि-साधनों को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए बल्कि अन्य सभी काम-धन्धों पर विचार कर लेना चाहिए।

लेकिन जहाँ एक ओर यह सही है कि भोजन का प्रबन्ध न कर पाने से ही कोई देश निश्चित रूप से अधिक जनसंख्या वाला नहीं माना जा सकता, वहाँ समूचे संसार पर यह तर्क लागू नहीं होता। जैसा कि हम देख चुके हैं, संसार की वर्तमान धारण-क्षमता २½ अरब और १० अरब के बीच है और वृद्धि की वर्तमान दर पर (१½ प्रतिशत प्रतिवर्ष) संसार की जनसंख्या लगभग एक शताब्दी में अधिकतम अर्थात् १० अरब तक पहुँच जाएगी। साथ ही खाद्यान्न-उत्पादन की टेक्नीकें भी निरन्तर सुधर रही हैं। उन्नत कृषि-देशों में प्रति एकड़ उपज बहुत अधिक बढ़ी है और यह बता पाना लगभग असम्भव है कि भविष्य में तकनीकी प्रगति की दर क्या होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि संसार की जनसंख्या में हो रही वृद्धि प्रति एकड़ उपजों में हो रही वृद्धि से अधिक है, अनेक लोग इस तर्क को और जोर से पेश करते हैं कि किसी देश के लिए खाद्यान्न के आयात पर निर्भर रहना खतरनाक है। उदाहरण के लिए, उनका विचार है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या ढाई करोड़ से अधिक न हो तो ब्रिटेन का भविष्य कहीं अधिक सुरक्षित रह सकता है, क्योंकि इतनी जनसंख्या की सहायता से लोकोपयोगी सेवाओं और विनिर्माण-उद्योगों में बड़े पैमाने के लगभग सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं, साथ ही बाहर से खाद्यान्न मँगाने की भी बहुत

ही कम जरूरत पड़ेगी। वैसे ये सभी तर्क अत्यधिक अनिश्चित भविष्य के सम्बन्ध में अटकलों पर ही आधारित हैं।

यह बात भी स्पष्ट करना जरूरी है कि यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि जनसंख्या में २० प्रतिशत या इसके आसपास कमी करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि फालतू लोगों को बाहर भेजकर या जन्म-दर में अपेक्षित कमी करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा। जनसंख्या-सम्बन्धी ये तुलनाएँ इस पूर्व-धारणा पर आधारित हैं कि बूढ़े और बच्चे, पुरुष और स्त्री कुशल और अकुशल की दृष्टि से जनसंख्या के गठन में कोई परिवर्तन नहीं हो रहे। लेकिन व्यवहार्यतः जनसंख्या में परिवर्तन होने के साथ उसके गठन में भी परिवर्तन होता है और उसके परिणाम सदा ही लाभकर नहीं होते। संक्रमण की समस्याओं पर हम इस अध्याय के खण्ड १ (ख) में पहले ही विचार कर चुके हैं।

जनाधिक्य के अन्तिम अर्थ का सम्बन्ध उस स्थिति से है जबकि देश की जनसंख्या इतनी अधिक होती है कि उसे और बढ़ाने से उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती। यह जनाधिक्य के पहले अर्थ की ही चरम अवस्था है। पहले अर्थ में जनसंख्या बढ़ने के साथ प्रतिव्यक्ति उत्पादन घटता है, लेकिन कुल उत्पादन बढ़ता है, इस अर्थ में कुल उत्पादन भी नहीं बढ़ता। दुर्भाग्य से जनाधिक्य की यह चरम अवस्था भी कई जगह पाई जाती है। प्रायः यह अवस्था अर्थ-व्यवस्था के कतिपय क्षेत्रों में लगे लोगों की अत्यधिक संख्या के रूप में प्रकट होती है, विशेषकर घरेलू नौकरी, छोटे-छोटे व्यापार, अस्थायी रोजगार और कृषि में। घरेलू नौकरियों की संख्या इसलिए बढ़ जाती है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में इस प्रकार के समजन हो जाते हैं कि हर व्यक्ति जितने अधिक लोगों को रोजगार दे सकता है, देता है, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक माना जाने लगता है कि हर व्यक्ति जितने हो सके नौकर रखे, और समुदाय में अपेक्षाकृत धनी लोगों को अपने घर नौकरों के झुण्ड-के-झुण्ड रखने पड़ते हैं जो उसकी आय पर आवश्यकता से अधिक भार होते हैं। इसका एक चरम उदाहरण बारबेडोस का द्वीप है जहाँ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या के १६ प्रतिशत लोग घरेलू नौकरियों में लगे हैं। छोटे-छोटे व्यापारों में भी इसी प्रकार का विकास होता है, बाजारों में छोटी-छोटी दुकानों की भरमार हो जाती है जिनमें हर विक्रेता बहुत ही थोड़ी चीजें बेचता है—वह सामान भी बेचता चलता है और साथ ही गप्पें लड़ाकर समय भी गुजारता जाता है। इनके अतिरिक्त कुलियों, छोटा मोटा काम करने वाले मालियों, और दूसरे लोगों की संख्या भी बहुत अधिक बढ़ जाती है जो सप्ताह में एक-आध दिन जब भी कोई अस्थायी काम मिल जाता है कर लेते हैं।

कृषि में यह फार्मों के छोटे आकार के रूप में दिखाई पड़ता है, औसत परिवार का प्लाट इतना छोटा होता है कि उनके परिवार के सभी सदस्य पूरे समय उस पर काम नहीं कर सकते। जनाधिक्य के प्रमाण कृषि-क्षेत्र में मिलेंगे, या घरेलू नौकरियों के रूप में या व्यापार और अस्थायी कामों के रूप में। यह इस पर निर्भर करता है कि कृषि-कार्य मजदूरों की सहायता से होता है या किसान करते हैं। यदि कृषि-कार्य मजदूरों की सहायता से होता हो (जैसा कि बारबडोस द्वीप में होता है) तो खेती के लिए जितने लोगों की आवश्यकता होगी उससे अधिक लोग नहीं रखे जाएँगे, और बची लोगों को कृषि-क्षेत्र से बाहर काम ढूँढना पड़ेगा। लेकिन यदि कृषि-कार्य किसान करते हों तो बेशी लोग पारिवारिक फार्मों पर ही रहते हैं, और कृषि के बाहर के धन्धों में बहुत ही थोड़ी बेशी दिखाई देती है। जनाधिक्य वाले देशों में सामान्य प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि बड़े जमींदार कृषि-मजदूर रखकर खेती कराने की अपेक्षा अपनी जमीनें किसानों को किराये पर उठा देते हैं। इस प्रकार उन्हें अधिक धन मिलता है, क्योंकि किसानों से किराए वसूल करने के बाद उनके पास जो कुछ बचता है उससे कहीं अधिक कृषि-मजदूरों को मजदूरी के रूप में देना पड़ता।

इस चरम अर्थ में जनाधिक्य कितना है यह जानने के लिए कई तरह के प्रयत्न किये गए हैं। देहात में बेशी लोगों की संख्या निकालने के लिए यह अनुमान लगाते हैं कि वर्तमान फसलों, टक्नीकों और इस समय प्रयोग में आ रहे उपस्कर को देखते हुए प्रति एकड़ कृषि-भूमि पर कितने लोग अर्थकर ढंग से काम कर सकते हैं। कुछ फसलें दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रम-प्रधान होती हैं, जैसे गेहूँ की अपेक्षा चावल और मक्का, कोको या रबर की अपेक्षा गन्ना और चाय कहीं अधिक श्रम प्रधान हैं। उपस्कर से भी बड़ा अन्तर पड़ता है, क्योंकि कुदाल की सहायता से खेती करने वाला परिवार अधिक-से अधिक ४ या ५ एकड़ पर काम कर पाता है, पशुओं और हलों की सहायता से खेती करने वाला परिवार १० से १५ एकड़ तक के बीच खेती कर सकता है, और ट्रैक्टर से खेती करने वाला परिवार ३० या इससे भी ज्यादा एकड़ों पर काम कर सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भिन्न-भिन्न कृषि-कार्यों में श्रम की आवश्यकता भिन्न भिन्न होती है, कुछ फसलों में खेत जोतते समय अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है, जबकि दूसरी फसलों में फसल काटते समय अधिक श्रमिक चाहिएँ। अतः जनाधिक्य की मात्रा किसी सामान्य निष्कर्ष के आधार पर नहीं कूती जा सकती, बल्कि हर जगह के लिए अलग अलग गणना करनी चाहिए। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में इस प्रकार की गणना करने से पता चलता है कि हलों और

पशुओं की सहायता से धान्यों (चावल को छोड़कर) की खेती के लिए प्रति सौ एकड़ कृषि-भूमि पर लगभग १८ से २० लोगों के श्रम की आवश्यकता होती है। भारत के सम्बन्ध में जहाँ इस समय प्रति सौ एकड़ कृषि-भूमि पर लगभग २७ व्यक्ति अर्थंकर ढंग से लगे हुए हैं, विस्तृत गणना से यह परिणाम निकला है कि कृषि पर निर्भर जनसंख्या का कम-से-कम एक चौथाई फालतू है। यह लगभग दो करोड़ स्थायी रूप से बेरोजगार लोगों के बराबर बैठता है, अतः इसे अक्सर 'प्रच्छन्न बेरोजगारी' के नाम से पुकारा जाता है। अफ्रीका और लैटिन अमरीका में यह परिस्थिति अपवाद-स्वरूप ही पाई जाती है लेकिन चीन, इंडोनेशिया, मिस्र और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में देखने को मिलती है।

इस प्रकार के जनाधिक्य से श्रम की बरबादी होने के साथ-साथ प्रायः भूमि की उर्वरता भी कम होती है। इसका एक कारण तो यह है कि अक्सर मामलों में लोग पशु नहीं रख पाते, क्योंकि पशुओं के लिए बहुत अधिक खुराक का प्रबन्ध करना पड़ता है, और पशु न रखने से किसानों को खाद नहीं मिल पाता (भारतीय किसान जितने पशु रखते हैं उतने रखना दरअसल उनकी सामर्थ्य से बाहर है, लेकिन धार्मिक कारणों से पालते हैं, वैसे इतने अधिक पशु रखने पर भी भूमि को इसलिए लाभ नहीं मिल पाता कि वहाँ आधे के करीब गोबर ईंधन के रूप में जला दिया जाता है)। दूसरा कारण भूमि के हर छोटे-से-छोटे टुकड़े को इस्तेमाल में लाने की विवशता है, जो भूमि जंगलों के लिए छोड़ दी जानी चाहिए थी या भूमि-संरक्षण के प्रयोजन से छोड़ देनी चाहिए थी उस पर भी खेती शुरू कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि पर आवश्यकता से अधिक फसलें उगाने का प्रलोभन भी देखने में आता है, एक साल में जितनी फसलें उगानी चाहिएँ उससे कहीं अधिक उगाई जाती हैं। या जमीन परती छोड़ने की अवधि कम कर दी जाती है। ह्रासमान प्रतिफल के नियम के अनुसार यदि बहुत ही थोड़ी जमीन पर बहुत अधिक लोग खेती करें तो श्रम का सीमान्त-उत्पादन ऋणात्मक होता है, और सचमुच ही यह जनाधिक्य वाले देशों का एक आम लक्षण है।

इतनी अधिक जनसंख्या की स्थिति में निश्चित रूप से हमारी नीति यही होनी चाहिए कि जितना अधिक-से-अधिक कृष्येतर रोजगार पैदा कर सकें उतना करें। इससे केवल कृष्येतर उत्पादन में ही वृद्धि नहीं होगी, बल्कि स्वयं भूमि की उर्वरता बढ़ने की दिशा में भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। यदि कुछ लोगों को कृषि के धन्धे से हटाया जा सके, कुछ भूमि वापस जंगलों के लिए छोड़ी जा सके, कुछ भूमि कटाव पर नियन्त्रण रखने के लिए छोड़ी जा सके, और जमीन को परती छोड़ने की अवधियाँ बढ़ाई जा सकें, तो सिद्धान्त की दृष्टि

से कृषि-उत्पादन में वृद्धि होने लगेगी, भले ही वस्तुतः वृद्धि होने में थोड़ा समय लगे। इसमें प्रति किसान की जोत का आकार भी बढ़ाया जा सकता है, लेकिन उसके परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रति एकड़ अधिकतम उपज प्रायः फार्मों के छोटे-से-छोटे होने पर ही प्राप्त होती है, लेकिन यदि बेहतर स्थिति में आने के कारण किसान अधिक धन बचाने लगें और उसे अपनी भूमि के सुधार पर खर्च करने लगें तो कृषि के उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। लेकिन कृष्येतर रोजगारों में इतनी तेजी से विस्तार करना आसान नहीं है कि बढ़ती हुई जनसंख्या को भी काम दिया जा सके और साथ ही कृषि-क्षेत्र के बेशी लोगों की संख्या भी थोड़ी-बहुत घटाई जा सके। मान लीजिए कृषि-कार्य में जनसंख्या के ७० प्रतिशत व्यक्ति लगे हुए हैं, और देश की जनसंख्या १½ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रही है, तो कृषि-क्षेत्र से बेशी श्रमिकों की संख्या कम करने के लिए कृष्येतर रोजगारों में ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक की वृद्धि करनी होगी। बहुत ही थोड़े देश इतनी तेजी से उद्योगीकरण करने में सफल हुए हैं कि उनकी कृषि पर निर्भर जनसंख्या में निरपेक्ष कमी हो गयी है। जापान और रूस इस प्रकार के सफल देश माने जा सकते हैं, लेकिन अमरीका या जर्मनी तक की तुलना में भी उनके औद्योगिक विस्तार की गति चमत्कारिक रही है।

कृष्येतर रोजगार में अधिक लोग लगाने से भोजन की समस्या हल नहीं होती; बल्कि खाद्यान्न की सप्लाई को देखते हुए उनकी माँग बढ़ती जाती है। अतः अधिकाधिक उद्योगीकरण की किसी भी नीति के साथ कृषि-सम्बन्धी नयी जानकारी की अधिक-से-अधिक व्यापक उपलब्धि, उर्वरकों के अधिक-से-अधिक प्रयोग, बेहतर रूप के बीजों की पैदावार और वितरण, पानी का अधिकाधिक संरक्षण और वितरण, और ऐसे ही दूसरे उपायों से कृषि की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने का जोरदार कार्यक्रम भी शामिल होना चाहिए। जापान ने इसी प्रकार के उपायों से अपने कृषि-उत्पादन में तेजी से वृद्धि कर दिखाई है। इसके अलावा उद्योगीकरण की नीति में और भी बातें शामिल हैं। जब रहन-सहन का स्तर नीचा होता है तो विनिर्मित वस्तुओं की आन्तरिक माँग कम होती है—विनिर्माण के क्षेत्र से अर्जित आय (अर्थात् कच्चे सामान के मूल्य को निकालकर) के अर्थों में राष्ट्रीय आय के पन्द्रह प्रतिशत से कम, और रोजगार में लगे लोगों की संख्या के अर्थों में इससे भी कम। अतः यदि लोगों को विनिर्माण-क्षेत्र में रोजगार दे दिया जाए तो जल्दी ही एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जब कुछ विनिर्मित वस्तुएँ लाभप्रद कीमतों पर देश में नहीं बिक पाएंगी। इसलिए यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति तक पहुँचना हो तो देशी विनिर्मित-वस्तुओं का निर्यात कर दिया जाना चाहिए। इन सब देशों का,

यही भविष्य है जिनकी जनसंख्या उनके कृषि साधनों की तुलना में अधिक है—ब्रिटेन, जापान, मिस्र, जर्मनी, भारत आदि—वे अपने सब लोगों के लिए आजीविका का प्रबन्ध तभी कर सकते हैं जब विनिर्माण-क्षेत्र की वस्तुओं का निर्यात करें और बदले में खाद्य और कच्चा माल मंगाएं। ऐसे सभी देशों के विकास-कार्यक्रमों में विनिर्मित वस्तुओं के विदेशी व्यापार पर कब्जा करने का प्रयत्न शामिल होना चाहिए (जैसा कि जर्मनी और जापान में रहा है), अन्यथा (भारत की पहली पंचवर्षीय आयोजना की तरह) उन्हें उद्योगीकरण में हाथ खींचना पड़ेगा, और कृषि क्षेत्र के बेशी लोग जहाँ हैं वहीं रहेंगे।

विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-बाजार को अधिकाधिक हथियाना आसान काम नहीं है। धातु से बनी चीजों और इंजीनियरी उत्पादों की मांग प्रायः स्थिर गति से बढ़ती है, लेकिन और वस्तुओं की मांग बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ती है, या कुछ मामलों में (जैसे वस्त्र-उद्योग में) निरपेक्ष दृष्टि से संकुचित होती जाती है। अतः प्रयत्न करने पर वे देश विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अपना भाग अधिक आसानी से बढ़ा सकते हैं जिनके पास कोयला और लोहा है। दूसरी ओर वे जनाधिक्य वाले देश, जिनके पास कोयला या कच्ची धातुएँ बहुत ही कम हैं, केवल ऐसी ही चीजों में प्रभावशाली ढंग से प्रतियोगिता कर सकते हैं (वस्त्र, चमड़े का सामान, छोटे बरतन), जिन्हें बेचना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि जो देश अपने प्राकृतिक साधनों की तुलना में जनसंख्या को बहुत अधिक बढ़ने देता है उसे अपने लोगों के लिए पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने और रहन-सहन का उचित स्तर कायम करने में बहुत अधिक कठिनाई होगी।

उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में क्या हम संसार के विभिन्न देशों की जनाल्पता या जनाधिक्य की वर्तमान मात्राओं के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं? यह बेहद कठिन काम है, क्योंकि विभिन्न देशों के साधनों का ठीक-ठीक पता नहीं है, और जितना पता है उसकी सम्भावनाएँ नयी टेक्नीकों और नयी मांगों के साथ बदलती रहती हैं। लेकिन जो भी जानकारी हमारे सामने है उसके आधार पर महाद्वीपों की जनसंख्याओं के बारे में निम्नलिखित अनुमान लगाए जा सकते हैं। अफ्रीका में जनाल्पता है, क्योंकि इस महाद्वीप में आज भी कृषि-योग्य भूमि खाली पड़ी है, और वर्तमान विरल जनसंख्या के कारण लोकोपयोगी सेवाओं पर काफी खर्च पड़ रहा है, यदि अफ्रीका की जनसंख्या बढ़ जाए तो सड़कों, बिजली, पानी की सप्लाई, रेलों, अस्पतालों और दूसरी सेवाओं पर होने वाला प्रतिव्यक्ति खर्च कम हो जाएगा, साथ ही इन सेवाओं की कोटि में भी सुधार होगा। अफ्रीका में पूर्व नाइजीरिया, केन्या के कुछ भाग और दक्षिण अफ्रीका संघ के कुछ भाग घने बसे हुए हैं, लेकिन

स्थान में केवल दक्षिण का सारा अफ्रीका महाद्वीप कम बसा हुआ है। सम्भवतः लेटिन अमरीका और आस्ट्रेलिया भी इसी अर्थ में जनाल्पता वाले देश हैं, यद्यपि इन दोनों देशों में कृषि-योग्य भूमि कितनी खाली पड़ी है, इसके बारे में बहुत कम निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इसके विपरीत एशिया में बहुत जनाधिक्य है, यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ भागों में ऐसा नहीं है। सम्भव है भविष्य में एशिया के प्राकृतिक साधन के मूल्य बढ़ें, नयी टेक्नीकों की सहायता से उसकी जमीन हमारी वर्तमान कूत के मुकाबले बहुत अधिक उत्पादक बन सकती है या ऐसे नए खनिज साधनों के विकास अनुसार मिल सकते हैं जिनके बारे में इस समय गुमान भी नहीं है। लेकिन वर्तमान जानकारी के अनुसार यह निर्विवाद है कि जनसंख्या अधिक होने से एशियावासियों के रहन-सहन का स्तर निम्न बना हुआ है। इन दो चरम अवस्था वाले देशों के बीच यूरोप और उत्तरी अमरीका की मध्य-अवस्थाएँ हैं। ये एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं, अतः इन पर साथ ही विचार करना चाहिए। यदि यूरोप को उत्तरी अमरीका से सस्ती कीमतों पर खाद्य और कच्चे पदार्थ मिलते रहें, जैसे कि १९३९ तक मिलते थे, तो यूरोप की जनसंख्या अधिक नहीं मानी जाएगी। नये साधनों की खोज को देखते हुए कनाडा जनाल्पता वाला देश माना जा सकता है। अमरीका की स्थिति बड़ी सन्देहजनक है, शायद न तो वहाँ जनाल्पता है और न जनाधिक्य है। यूरोप और उत्तरी अमरीका के बारे में पक्के निर्णय न दे सकने से प्रकट होता है कि खाद्य और कच्चे सामानों के प्रसंग में बड़ी जनसंख्या की हानियों, और विनिर्माण, लोकोपयोगी सेवाओं और दूसरी सेवाओं के प्रसंग में उसके लाभों की तुलना करना कितना कठिन है।

(ग) धन्धे—जनसंख्या का धन्धों के अनुसार गठन उसकी आयु-रचना, साधनों की प्रकृति, आकार और प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय का परिणाम है।

जनगणना की परिभाषा के अनुसार जनसंख्या का 'अर्जक धन्धों में लगा' या 'आर्थिक दृष्टि से सक्रिय' अनुपात अंशतः जनसंख्या की आयु-रचना पर, और अंशतः स्त्रियों के रोजगार की मात्रा पर निर्भर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए अर्जक धन्धे में लगे लोगों की गणना करने का आधार ढूंढ़ना इसलिए कठिन है कि यह आसानी से तय नहीं किया जा सकता कि किसानों की स्त्रियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाए। अतः जनगणना के आंकड़ों को सोच-समझकर काम में लाना चाहिए। वैसे, आंकड़ों को तुलना योग्य आधार देने पर मालूम होता है कि जनसंख्या का अर्जक ढंग से लगा अनुपात लगभग ३३ प्रतिशत से ४५ प्रतिशत तक होता है, जो देश जितना ही निर्धन होता है उसका अनुपात उतना ही कम होता है और जो देश धनी होता है उसका उतना ही अधिक होता है।

आयु-रचना महत्त्वपूर्ण है। इससे बड़ा फर्क पड़ता है कि १५ वर्ष से कम की आयु के बच्चे कुल जनसंख्या का २० प्रतिशत, या ४० प्रतिशत और ६५ वर्ष से अधिक आयु वाले वयस्क कुल जनसंख्या का ५ प्रतिशत है या १५ प्रतिशत। इससे भी फर्क पड़ता है कि बच्चे और बूढ़े काम पर लगे हैं या नहीं। आर्थिक विकास होने के साथ साथ स्कूल जाने वाले बच्चों का अनुपात बढ़ता है, और स्कूली जीवन भी लम्बा होता जाता है। निवृत्ति की आयु भी कम होने लगती है क्योंकि बीमा और पेंशन की योजनाएँ व्यापक रूप से लागू कर दी जाती हैं। लेकिन इन बातों के बावजूद जनसंख्या में बच्चों के घटते हुए अनुपात का प्रभाव इतना होता है कि यदि हम केवल पुरुषों की संख्या पर विचार करें तो हम देखेंगे कि निर्धन देशों की अपेक्षा धनी देशों में लगभग सर्वत्र ही अर्थकर कामों में लगी जनसंख्या का अनुपात बहुत अधिक होगा।

अर्थकर धन्धों में लगी स्त्रियों का अनुपात कुछ तो वयस्क जनसंख्या में स्त्रियों और पुरुषों के तुलनात्मक अनुपात पर निर्भर होता है और कुछ घरों के अन्दर स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले काम के परिमाण पर निर्भर होता है। ये दोनों बातें मिलकर बड़ा अन्तर पैदा करती हैं। ब्रिटेन में पुरुषों की संख्या के ४७ प्रतिशत के बराबर स्त्रियाँ अर्थकर धन्धों में लगी हैं जबकि अमरीका में, जहाँ जनसंख्या में वयस्क पुरुषों और वयस्क स्त्रियों का अनुपात बराबर है, अर्थकर धन्धों में लगी हुई स्त्रियाँ पुरुषों की संख्या के केवल ३३ प्रतिशत के बराबर हैं, और मिस्र में यह प्रतिशत केवल १७ है क्योंकि वहाँ स्त्रियों का रोजगार के बहुत ही कम अवसर प्राप्त हैं।

जनसंख्या में पुरुषों और स्त्रियों के अनुपात का अन्तर युद्ध, प्रवास, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की अधिक पैदाइश और पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की दीर्घ आयु पर निर्भर होता है। ब्रिटेन में २० से ६४ के बीच के आयु-वर्गों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ११ प्रतिशत अधिक हैं और यही मुख्य कारण है कि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन में पुरुषों की अपेक्षा अर्थकर धन्धों में लगी स्त्रियों का अनुपात कहीं अधिक है। (बाल मृत्यु-संख्या घटने से स्त्रियों की बढ़ती कम हो रही है, क्योंकि इसका प्रभाव लड़कियों की अपेक्षा लड़कों पर अधिक पड़ता है।) इससे आगे यदि हम विकसित और कम विकसित देशों की तुलना करें तो हम पाएँगे कि इसका मुख्य कारण यह है कि अधिक विकसित देशों में स्त्रियों के लिए घर से बाहर काम करने के अवसर बहुत अधिक होते हैं।

घर से बाहर स्त्रियों के रोजगार की मात्रा मुख्यतः देश के आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर होती है। आर्थिक विकास होने से स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से मुक्ति मिलती है। ऐसे अनेक काम, जो वे पहले अनुत्पा

ढंग से लेकिन बड़ी मेहनत से करती थीं बाद में बाह्य प्रतिष्ठान करने लगते हैं, जो इन कामों को अधिक विशेषज्ञता और अधिक पूंजी लगाकर सम्पन्न करते हैं—जैसे घरों में पानी पहुँचाना, अनाज पीसना, दोपहर का भोजन तैयार करना, कातना, बुनना और पोशाकें तैयार करना, बच्चों को पढ़ाना, बीमारों की तीमारदारी आदि। इसके परिणामस्वरूप स्त्रियों को घर के काम से छुट्टी मिल जाती है, और वे बाहर के प्रतिष्ठानों में काम करने लगती हैं जहाँ या तो वे इसी तरह के काम करती हैं या कार्यालयों, दुकानों, फैक्ट्रियों और भिन्न-भिन्न व्यवसायों में ऐसे काम हाथ में लेती हैं जो पहले उन्हें उपलब्ध नहीं थे। इस तुलना के लिए भिन्न-भिन्न जनगणनाओं का विश्लेषण करते समय पता चलता है कि एक दशाब्दी और दूसरी दशाब्दी के बीच ज्यों-ज्यों आर्थिक विकास होता जाता है त्यों-त्यों गृहस्थ से बाहर अर्थकर धन्धों में लगी स्त्रियों का अनुपात बढ़ता जाता है। (यदि आर्थिक विकास के बिना ही जन-संख्या बढ़ रही हो तो इसके उल्टा हो सकता है, ऐसी स्थिति में रोजगार पाने की धींगामुश्ती में पुरुष स्त्रियों को रोजगारों से बाहर कर देते हैं, और अर्थकर ढंग से लगी स्त्रियों का अनुपात गिर जाता है। ब्रिटिश वेस्ट इंडीज़ की जनगणनाओं में ऐसी बात देखने में आई थी, लेकिन परिभाषाएँ बदल जाने से इन जनगणनाओं की विश्वसनीय व्याख्या करना कठिन हो गया है।) अर्थकर ढंग से लगी स्त्रियों का अनुपात बढ़ जाने से उत्पादन में इसी सीमा तक वृद्धि नहीं होती, क्योंकि इसके साथ ही घरों के अन्दर स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला काम कम हो जाता है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इससे निवल वृद्धि अवश्य होती है, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक विशेषज्ञता, पूंजी और मशीनों की सहायता से बाह्य प्रतिष्ठानों में किया गया काम कहीं अधिक उत्पादक होता है। साथ ही स्त्रियों की हैसियत भी बहुत बढ़ जाती है, और उनके लिए रोजगार की सम्भावनाओं में भी भारी वृद्धि हो जाती है।

एक ही देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भी स्त्रियों के रोजगार की मात्रा बड़ी भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरण के लिए १९३१ में जहाँ लंकाशायर के इलाके में पुरुषों की तुलना में ५७ प्रतिशत स्त्रियाँ अर्थकर धन्धों में लगी थीं वहाँ साउथ वेल्स में यह अनुपात केवल १५ था। इस अन्तर का पहला कारण तो हर समुदाय के बुनियादी उद्योग से सम्बन्धित है, उन इलाकों में स्त्रियों को अधिक रोजगार मिल जाता है जहाँ हल्के उद्योग बहुतायत से स्थापित हैं, जबकि वे इलाके जहाँ भारी उद्योग, खनन, कृषि या ऐसे धन्धे बहुतायत से होते हैं जिनमें स्त्रियों को काम पर रखने की परम्परा नहीं है वहाँ अर्थकर धन्धों में लगी स्त्रियों की संख्या बहुत कम होती है। इसका मतलब यह है कि बाद वाले इलाके में यदि कुछ साहसी उद्यमकर्ता नये हल्के उद्योग खोल दें तो

काम पर आने योग्य स्त्री-श्रमिकों की भारी संख्या उपलब्ध हो सकती है। वस्तुतः १९३९ के बाद से ग्रेट ब्रिटेन के रोजगार में जो भारी विस्तार हुआ है, उसका एक बड़ा कारण इसी प्रकार के इलाकों में नयी फैक्ट्रियों की स्थापना है जिससे स्त्री-श्रमिकों को नये रोजगार के अवसर मिल गए। कम विकसित देशों में राष्ट्रीय आय बढ़ाने का यह एक अच्छा उपाय है। इनमें से अनेक देशों में विशेषकर अफ्रीका और लेटिन अमरीका में, पुरुष-श्रमिकों का अभाव है जिसकी पूर्ति स्त्री-श्रमिकों का बेहतर उपयोग करके की जा सकती है। यह समस्या एशिया के उन देशों के लिए उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जहाँ निश्चित रूप से पुरुष श्रमिकों की बेशी है। लेकिन वहाँ भी स्त्रियों के अनुकूल उद्योग प्रारम्भ करके आमदनियाँ बढ़ायी जा सकती हैं। ब्रिटेन-जैसे अधिक औद्योगिक देशों का अनुभव यह है कि जहाँ एक बार किसी उद्योग में ऐसे स्थानों की ओर गतिशील होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ स्त्री-श्रमिकों का अभी पूरी तरह उपयोग नहीं किया जा रहा है वहाँ दूसरी ओर निजी पहल बड़ी धीरे-धीरे काम करती है—यदि ऐसा न होता तो लंकाशायर और साउथवेल्स के उपयुक्त आँकड़ों में इतना अन्तर न पाया जाता। श्रमिक विभाग और दूसरे ऐसे विभागों संस्थाओं या लोगों के लिए, जिनका काम श्रमिक बाजार की माँग और सप्लाई का सन्तुलन कायम किये रहना है यह बात ध्यान में रखना बड़ा महत्वपूर्ण है।

अब तक हमने उन कारणों की चर्चा की जो यह निर्धारित करते हैं कि जनसंख्या में अर्थकर ढंग से लगे हुए लोगों का अनुपात कितना होता है। अब हम यह देखेंगे कि अर्थकर ढंग से लगे ये लोग भिन्न-भिन्न आर्थिक विभागों के बीच किस प्रकार बँटे होते हैं। यह कुछ सीमा तक देश के साधनों पर निर्भर करता है, लेकिन इससे भी अधिक देश के वर्तमान आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर होता है। आर्थिक अनुसन्धान की इस शाखा पर डॉक्टर कोलिन क्लार्क ने बहुत अधिक काम किया है जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी कण्डीशन्स ऑफ इकॉनॉमिक प्रोग्रेस' से प्रेरणा लेकर इस विषय पर हाल ही में कई अनुसन्धान किये गए हैं। इन अनुसन्धानों की विचारार्थ सामग्री जनगणना की रिपोर्टों से मिलती है, लेकिन इन रिपोर्टों से निष्कर्ष निकालने में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं जिन पर पहले चर्चा करके तब हम आगे बढ़ेंगे।

पहली कठिनाई आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप बढ़ती हुई विशेषज्ञता के कारण पैदा होती है। उदाहरण के लिए, आर्थिक विकास के निम्न स्तर पर मनुष्य स्वयं अपने लिए मकान बना लेता है, खाने के लिए अन्न पैदा कर लेता है, उसे स्वयं बाजार ले जाकर बेच लेता है, बदले में सूत, ऊन आदि खरीद लाता है और उससे खुद अपने लिए कपड़े तैयार कर लेता है। जनगणना की

रिपोर्टों में ऐसे व्यक्ति को किसान की संज्ञा दी जाती है। बहुत काफी विकास हो जाने के बाद इनमें से सभी क्रियाएँ विशेषज्ञों द्वारा की जाने लगती हैं—इमारत बनाने वाले राज मजदूरों द्वारा, किसानों द्वारा, परिवहन-उद्योग के कर्मचारियों द्वारा, वाणिज्यिक एजेंटों द्वारा और विनिर्माताओं द्वारा—अत जनगणना से इन व्यापारों में भारी विस्तार का पता चलता है और किसानों का अनुपात घटता दिखाई देता है। जनगणना से विशेषज्ञता की मात्रा का पता चलता है, यह नहीं पता चलता कि किस प्रकार का काम किया जा रहा है। ऐसी ही कठिनाई उन व्यापारों के विस्तार की व्याख्या करने में होती है जो घर के अन्दर किए जाने वाले कामों को अपने हाथ में ले लेते हैं, ज्यों ही गृहणियाँ पानी भरकर लाना बन्द कर देती हैं अपने हाथ से अनाज पीसना बन्द कर देती हैं, परिवार के बीमार सदस्यों की देखभाल बन्द कर देती हैं और इसी प्रकार के अन्य घरेलू काम-काज करना बन्द कर देती हैं, जनगणना की रिपोर्ट इन व्यापारों में विशेषज्ञता प्राप्त लोगों की संख्या में एकदम से वृद्धि प्रकट करने लगती है, जो समुदाय द्वारा वास्तव में इन सेवाओं के उपभोग में हुई निवल वृद्धि से कहीं अधिक होती है। इसके अलावा एक और कठिनाई यह है कि जनगणना के आँकड़ों के अनुसार सकुचित होने वाले व्यापार वास्तव में इसलिए सकुचित नहीं होते कि उनमें किये जाने वाले काम में कमी आ गई होती है, बल्कि केवल इसलिए सकुचित होते हैं कि उसमें लगे लोगों के पास पूरे वक्त का काम हो जाता है। अनाधिक्य वाले देशों में किसान, छोटे-छोटे व्यापारी, घरेलू नौकर और कई प्रकार के अस्थायी श्रमिक पूरे समय तक काम पर नहीं लगे होते। आर्थिक विकास होने के साथ लोग नये पैदा होने वाले रोजगारों में जाने लगते हैं और देसी श्रमिकों वाले व्यापारों में सापेक्ष सकुचन होने से 'प्रच्छन्न बेरोजगारी' कम हो जाती है। सचाई यह है कि जनगणना के आँकड़ों से सेवाओं की माँग के बारे में केवल अप्रत्यक्ष प्रभावों का पता चलता है, अत क्रमिक जनगणनाओं के परिणामों की तुलना करते समय हमें भिन्न भिन्न धन्धों में लगे लोगों की संख्या के परिवर्तनों की ही बात करनी चाहिए, और इन परिवर्तनों के कारण माँग में होने वाले परिवर्तनों का केवल संकेत करना चाहिए, और वह भी बहुत अधिक सावधानी के साथ।

धनी और निर्धन देशों, चाहे वे एक ही समय के भिन्न-भिन्न देश हों या भिन्न-भिन्न-कालों में एक ही देश हों, की जनगणनाओं की तुलना करते समय सबसे उल्लेखनीय बात यह दिखाई देती है कि निर्धनता की स्थिति से सम्पन्नता की ओर बढ़ते समय कृषि में लगे लोगों का अनुपात तेजी से गिरता जाता है। सर्वाधिक निर्धन देशों में ७० प्रतिशत या इससे भी अधिक लोग कृषि में लगे होते हैं, जबकि सर्वाधिक धनी देश अपनी जनसंख्याओं का केवल १२ से १५

प्रतिशत ही कृषि में लगाकर उससे दूना भोजन जुटा सकते हैं। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, कृषि-क्षेत्र में वास्तव में उतना काम नहीं होता जितना कि वह ७० या इससे भी ऊँचा प्रतिशत प्रकट करता है—इस स्थिति में किसान खेती के अलावा और बहुत तरह के काम करते हैं, कुछ 'प्रच्छन्न' बेरोजगारी भी होती है और किसानों की पत्नियों का वर्गीकरण करने की कठिनाइयाँ भी हैं। इसके अलावा कृषि-उत्पादन की माँग और सप्लाई को प्रभावित करने वाली ऐसी वास्तविक शक्तियाँ भी होती हैं जो कृषि-कार्य में किये जाने वाले वास्तविक श्रम को भी कम कर देती है। माँग को प्रभावित करने वाली बात यह है कि खाद्य की माँग की आय-सापेक्षता इकाई से कम होती है अर्थात् जैसे जैसे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ती जाती है, खाद्य-पदार्थ की माँग उससे कम तेजी से ही बढ़ती है। सप्लाई को प्रभावित करने वाली बात कृषि-में पूँजी का अधिकाधिक उपयोग है, जिसके फलस्वरूप कृषक पहले की अपेक्षा अधिक एकड़ों पर कृषि करने में समर्थ हो जाता है और दूसरी चीज बढ़ती हुई तरक्कीकी जानकारी है जिससे प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ जाती है। खेती में जनसंख्या का कितना अनुपात लगा होना चाहिए यह केवल इस पर निर्भर करता है कि प्रति व्यक्ति खाद्य की माँग कृषि-कार्य में लगे प्रति व्यक्ति की उत्पादकता की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है या धीरे-धीरे बढ़ रही है। यदि इन दोनों की दरें समान हों तो कृषि-कार्य के लिए अपेक्षित जनसंख्या का अनुपात स्थिर रहेगा, जबकि, उदाहरण के लिए, यदि खाद्य की प्रतिव्यक्ति माँग में ०.८ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हो रही हो और कृषि की प्रतिव्यक्ति उत्पादकता १.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही हो तो ५० वर्ष में कृषि-कार्य के लिए अपेक्षित लोगों का अनुपात २२ प्रतिशत घट जाएगा। प्रति व्यक्ति आय बढ़ने के साथ कृषि-कार्य में लगे लोगों का अनुपात घटने जाने का मुख्य कारण यह है कि प्रतिव्यक्ति उपभोग की तुलना में कृषि की प्रति व्यक्ति उत्पादकता अधिक तेजी से बढ़ती है।

इस सम्बन्ध को उलटा करके यह भी कहा जा सकता है कि निर्विदेश व्यापार-व्यवस्था में आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी होती है कि कृषि-उत्पादकता तेजी से बढ़नी चाहिए। बात यह है कि यदि उत्पादकता माँग की अपेक्षा अधिक तेजी से नहीं बढ़ेगी तो और उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक मजदूर कृषि-क्षेत्र से नहीं लिये जा सकेंगे और व्यापार-शर्तों के निरन्तर अपने प्रतिकूल जाने से भी इन उद्योगों का विस्तार रुक जाएगा (अर्थात् अन्य सभी वस्तुओं की कीमतों की तुलना में खाद्यान्नों की कीमतें अधिक तेजी से बढ़ेंगी)। विदेश व्यापार वाली अर्थ-व्यवस्था में भी कृषि की उत्पादकता बढ़ाना बड़ा सुविधाजनक रहता है, क्योंकि इससे बाजार में आर्थिक

विकास के साथ-साथ खाद्यान्न का आयात भी बढ़ता जाता है और यदि अन्य आयातों में कमी न की जाए या यदि निर्यात न बढ़ाये जाएँ तो भुगतान-शेष असंतुलित हो जाता है, ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास निर्यातों की वृद्धि-दर पर निर्भर हो जाता है। दूसरी ओर यदि कृषि की उत्पादकता काफी तेज़ी से बढ़ रही हो तो किसानों को बलात् या स्वेच्छा बचतों से अर्थ-व्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में निवेश किया जा सकता है। इसलिए जनसंख्या का कृषि कार्य में लगा अनुपात और कृषि की उत्पादकता में होने वाली वृद्धि-दर आर्थिक विकास की मात्रा के सबसे अच्छे द्योतक हैं।

आर्थिक विकास के साथ जिस प्रकार कृषि में लगे लोगों के अनुपात में उल्लेखनीय कमी होती है उसी प्रकार विनिर्माण में लगे लोगों के अनुपात में वृद्धि होती है। यहाँ भी हमें जनगणना के आँकड़ों में उचित कटौती कर लेनी चाहिए, क्योंकि विनिर्माण-उद्योग में लगे लोगों के अनुपात की वृद्धि का कुछ अंश घरों के अन्दर किये जाने वाले काम को ही फैक्ट्रियों में कर रहा होता है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रतिव्यक्ति आय बढ़ने के साथ विनिर्माण-कार्य के अनुपात में काफी वृद्धि होती जाती है। निर्धनतम देशों की जनगणना के अनुसार वहाँ विनिर्माण में पाँच से दस प्रतिशत तक लोग ही लगे होते हैं, जिन निर्धन देशों में घरेलू हस्तशिल्पों को सुरक्षित रखा जाता है (जैसे कि भारत में) वहाँ अनुपात निम्नतम होता है, और जिन देशों में फैक्टरी की बनी हुई सस्ती चीज़ें आयात करके घरेलू हस्तशिल्पों को जल्दी-से-जल्दी नष्ट कर दिया जाता है (जैसे कि श्रीलंका में) वहाँ यह अनुपात अधिक होता है। सर्वाधिक धनी देशों में, यदि वे विनिर्मित वस्तुओं का अपेक्षाकृत थोड़ा ही व्यापार कर रहे हों (जैसे कि अमरीका), यह अनुपात २५ प्रतिशत के आसपास होता है, जबकि उन धनी देशों में जो अपनी विनिर्मित वस्तुओं का लगभग एक-तिहाई निर्यात करके विदेश-व्यापार से जीविका कमा रहे हों, यह अनुपात ३५ प्रतिशत या उससे भी अधिक पाया जाता है। विनिर्माण-उद्योग में अनुपात बढ़ने का एक कारण यह है कि आय बढ़ने के साथ-साथ विनिर्मित वस्तुओं की माँग में उनकी उत्पादकता की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से वृद्धि होती है और दूसरा कारण, जनाधिक्य वाले देशों में, यह है कि पूर्ण रोज़गार और खाद्य सामग्री की व्यवस्था करने का एकमात्र उपाय विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात है। अतः कृषि में लगे लोगों के अनुपात की भाँति विनिर्माण उद्योगों में लगे लोगों का अनुपात भी आर्थिक विकास की मात्रा का बड़ा ही स्पष्ट द्योतक होता है।

स्वयं विनिर्माण के क्षेत्रों में विभिन्न उद्योगों के बीच काफी परिवर्तन होता है, जैसा कि डॉक्टर हॉफमैन ने बताया है (इस अध्याय की सदर्भ

टिप्पणी देखिए)। आर्थिक विकास के आरम्भिक दिनों में प्रतिव्यक्ति पूंजी थोड़ी होती है और निवेश और मशीन के बदलाव का क्षेत्र भी थोड़ा ही होता है। अतः विनिर्माण-उद्योग में लगे लोगों का अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में लगा होता है—विशेषकर कपड़ा के उत्पादन में। इसके विपरीत विकास की बाद की अवस्थाओं में कुल निवेश बढ़ जाता है—उदाहरण के लिए यह कुल राष्ट्रीय आय के ६ प्रतिशत से बढ़कर २० प्रतिशत तक हो सकता है और इसके साथ ही उपभोक्ता पदार्थ उद्योगों की तुलना में इस्पात, मशीन, सीमेंट और इमारत बनाने के दूसरे सामानों के उद्योगों का विस्तार होता है। यह परिवर्तन तेजी से भी किया जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सम्भव है कि काफी पूंजी-निर्माण होने की अवस्था तक उपभोग को न बढ़ने देकर आर्थिक विकास के शुरू में ही भारी निवेश कर दिये जाएं, १९३० और १९३९ के बीच [illegible] सोवियत रूस की आयोजनाओं का यही आधार था। ऐसा किया जाने पर पहले पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों का भारी विस्तार होता है और उसके बाद उपभोक्ता पदार्थ तैयार करने वाले उद्योग विकसित होते हैं। इस प्रकार की आयोजना में सबसे बड़ी बाधा ऐसे समय में भारी पूंजी-निवेश के कार्यक्रम में पैसा लगाने की होती है जबकि वास्तविक आमदनियां बहुत ही थोड़ी होती हैं। पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों पर जो खर्च होता है उससे उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ती है और यदि उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योग अधिक तेजी से विकास कर रहे होते हैं तो देश को स्फीति के सभी आर्थिक और राजनीतिक परिणाम भुगतने पड़ते हैं, बशर्ते कि वहां बचत की प्रवृत्ति न बढ़ रही हो। अधिकांश देशों के लिए उद्योगीकरण के आरम्भिक दौर में उपभोक्ता पदार्थ तैयार करने वाले उद्योगों का विस्तार करना आसान पड़ता है, क्योंकि उन्हें काफी बचत करने में या ऊंचे स्तर के निवेश-कार्यक्रम में पैसा लगाने के लिए भारी कर लगाने में कठिनाई मालूम होती है।

उपभोक्ता पदार्थ और पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों का सापेक्ष महत्त्व प्राकृतिक साधनों और विदेश-व्यापार की सम्भावनाओं पर भी निर्भर होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण पूंजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योग सस्ते ईंधन और कच्ची धातुओं पर आधारित होते हैं और जिन देशों के पास ऐसे ईंधन और धातुओं के भण्डार नहीं हैं वे इस प्रकार के उद्योगों का अधिक विस्तार नहीं कर सकते। शलों का महत्त्व भिन्न भिन्न अनुप्रयोगों की जांच करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के लिए गोल्ड कोस्ट अपनी विनिर्मित वस्तुओं की अधिकांश आवश्यकताएँ आयात से पूरी करता है फिर

न आयातों का (खनिज तेल छोड़कर) लगभग ६० प्रतिशत धातु से बनी वस्तुओं के रूप में होता है। या ब्रिटेन का उदाहरण लीजिए जहाँ विनिर्माण-उद्योगों में लगे लोगों का ४७ प्रतिशत धातु के सामान तैयार करने वाले या धातु का उपयोग करने वाले उद्योगों में काम करता है। इसी प्रकार विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार के आँकड़े देखने पर आप पाएँगे कि उनका ५६ प्रतिशत धातु से बनी विनिर्मित वस्तुओं के रूप में होता है। चूँकि ईंधन और कच्ची धातुएँ हर देश में नहीं पाई जातीं, अतः अन्य देशों की अपेक्षा कुछ देशों के लिए धात्विक उद्योगों में विशेषज्ञता हासिल कर लेना स्वाभाविक है। धातु से बनी चीजें कुछ देश निर्यात करते हैं और बाकी देश उनका आयात करते हैं। अब जैसा कि हम पहले देख चुके हैं जिन देशों में अपने कृषि-साधनों को देखते हुए जनाधिक्य है उनकी स्थिति तब और भी खराब हो जाती है यदि उनके पास ईंधन और खनिजों के समुचित भण्डार न हों, क्योंकि तब उन्हें विवश होकर ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने में विशेषज्ञता हासिल करनी पड़ती है जो कोई भी देश अपने-आप बना सकता है, जापान ऐसे देश का उदाहरण है, जहाँ १९३६ में फैक्ट्रियों में लगे लोगों का केवल ३८ प्रतिशत धात्विक उद्योगों में काम कर रहा था और जहाँ से निर्यात की जाने वाली विनिर्मित वस्तुओं में केवल २० प्रतिशत धात्विक थीं।

कृषि में लगे लोगों का अनुपात जितना गिरता है ठीक उतना ही विनिर्माण का अनुपात नहीं बढ़ता। यदि हम सर्वाधिक धनी देशों को लें, तो पाएँगे कि वहाँ कृषि में यदि ५५ की कमी हुई है (उदाहरण के लिए यदि अनुपात ६७ से गिरकर १२ रह गया है) तो विनिर्माण-उद्योगों का अनुपात केवल २५ बढ़ा है (उदाहरण के लिए, ५ से बढ़कर ३० प्रतिशत हो गया है), शेष ३० प्रतिशत अन्य प्रकार के रोजगारों के विस्तार में लग जाता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ प्रायः सरकारी काम-काज, शिक्षा, चिकित्सा-सुविधाओं, भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरंजनों और वाणिज्य एवं वित्त में तेजी से विस्तार होता है। यह विचारणीय है कि इन कामों में से कितना राष्ट्रीय आय में निवल वृद्धि करने वाला माना जाना चाहिए (उदाहरण के लिए परिवहन का वह भाग जो मैन्चेस्टर के माल से लादा जाता है राष्ट्रीय आय में निवल वृद्धि करता है या नहीं) और कितना राष्ट्रीय उत्पादन यथास्थान पहुँचाने का खर्च माना जाना चाहिए (उदाहरण के लिए परिवहन का वह भाग जो माल ढोता है या लोगों को काम पर पहुँचाता है)। राष्ट्रीय उत्पादन में वास्तविक वृद्धि का आकलन करते समय कुछ लोग इन सेवा-उद्योगों में से अधिकांश को शामिल नहीं करते। वे खानों, खानों और फैक्ट्रियों के उत्पादन के आँकड़े ले लेते हैं और आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की मदों में भी सीमित

राशियाँ शामिल कर लेते हैं पर लोक-प्रशासन, परिवहन और वाणिज्य में होने वाली वृद्धि के अधिकांश को छोड़ देते हैं। हम यहाँ इन समस्याओं की अधिक चर्चा नहीं करते हैं क्योंकि राष्ट्रीय आय का आकलन किस प्रकार किया जाए, यह बताना इस पुस्तक का काम नहीं है (देखिए अध्याय १)। यहाँ इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि आर्थिक विकास होने के साथ-साथ जनगणना की रिपोर्टें यह बताती हैं कि कृषि और विनिर्माण को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में लगे लोगों का अनुपात देश के कुल कार्यकर दल में लगे लोगों के लगभग पच्चीस प्रतिशत या इससे भी कम से बढ़कर पचास प्रतिशत या इससे भी अधिक हो जाता है। विभिन्न धन्धों में लगे लोगों के प्रतिशत के कुछ हाल के आँकड़े इस प्रकार हैं

	मिस्र	जापान	इटली	ग्रेट ब्रिटेन
	१९३७	१९४७	१९३६	१९३१
कृषि सम्बन्धी कार्य	७१	५६	४९	१२
विनिर्माण	८	१७	२२	३५
वाणिज्य	८	७	९	१६
संचार-साधन	२	५	४	७
निर्माण-कार्य	२	४	५	५
सरकारी नौकरियाँ	३	४	५	८
अन्य सेवाएँ	६	७	६	१७
जोड़	१००	१००	१००	१००

सेवा-धन्धों की वृद्धि का एक उल्लेखनीय परिणाम यह होता है कि मज़दूरी लेकर काम करने वाले लोगों का अनुपात घटता जाता है—कम-से-कम शहरी क्षेत्रों में—और स्वतन्त्र रूप से काम करने वालों और मालिकों का अनुपात बढ़ता जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि सेवाओं में मज़दूरी लेकर काम करने वाले लोगों का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है। यह बात मार्क्स की भविष्यवाणी का ठीक उलटा है।

चूँकि आर्थिक विकास के फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्त्व कम हो जाता है अतः अनिवार्य रूप से शहरीकरण बढ़ता जाता है। २००० से कम की आबादी के कस्बों में रहने वाले लोगों का अनुपात कुल जनसंख्या के ८० प्रतिशत या इससे भी अधिक से घटकर २० प्रतिशत या इससे भी कम रह जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि जो काम बड़े पैमाने पर करने से लाभप्रद रहते हैं वे प्रायः शहरों में किये जाते हैं—विनिर्माण, थोक व्यापार, लोकोपयोगी सेवाएँ, केन्द्रीय सरकार का प्रशासन, शिक्षण आदि। डा० एच० डब्ल्यू० सिंगर ने बताया है ([illegible]) कि इन देशों के विभिन्न

आकार के नगरों की संख्या का अध्ययन करने से पता चलता है (एक परेटो नियम) कि ज्यों-ज्यों नगरों का आकार बढ़ता जाता है, इनकी संख्या में कमी होती जाती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जिन देशों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय एक निश्चित स्तर तक पहुँच चुकी है उन सभी का एक निश्चित सीमा तक शहरीकरण हुआ है या होना आवश्यक है।

देहातों की जनसंख्या का स्तर ८० प्रतिशत से कम किये बिना प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि २००० की बसावट में कम के कस्बों में बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ नहीं उठाए जा सकते। यदि कृषि के लिए अपेक्षित जनसंख्या का अनुपात घटकर १२ प्रतिशत रह जाता है, तो भले ही हम ऐसे विनिर्माण-उद्योगों को ग्राम-क्षेत्रों में स्थापित करने की नीति पर अधिक बल दें जिनके लिए एक स्थान पर स्थापित होना अनिवार्य नहीं है, पर २००० और उससे कम की बसावट के कस्बों में रहने वाली जनसंख्या को देश की कुल जनसंख्या के ३० प्रतिशत से नीचे गिरने से नहीं रोक सकते। यह भी नहीं माना जा सकता कि शहरीकरण अवाञ्छनीय है। जैसा कि हम अध्याय २ में देख चुके हैं, अनेक लोगों की राय है कि जीवन में जिन चीज़ों को हम सबसे अधिक महत्त्व देते हैं—विज्ञान, धर्म, कला आदि—वे शहरों में ही उपलब्ध होती हैं। हाँ, उत्पादन या सांस्कृतिक मूल्यों को हानि पहुँचाए बिना, और साथ ही अन्य दिशाओं में काफ़ी फायदा उठाते हुए, यह अवश्य किया जा सकता है कि एक लाख से अधिक की जनसंख्या वाले नगरों की संख्या न बढ़ने दी जाए। फिर भी कुछ 'दूर' क्षेत्र अवश्य स्थापित करने होंगे, जहाँ भारी जनसंख्या वाले बड़े-बड़े औद्योगिक इलाकों में ईंधन और कच्ची धातुओं की एक साथ उपलब्धि का फ़ायदा उठाया जा सके। ख़तरा यही है कि इन क्षेत्रों में ऐसे दूसरे उद्योगों को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति होती है जो बिना अधिक हानि के दूसरे स्थानों पर विकसित किये जा सकते हैं। अतः यदि अत्यधिक शहरी-करण से बचना हो तो यह आवश्यक है कि उद्योगों के स्थानीयकरण पर कुछ नियन्त्रण रखा जाए, उदाहरण के लिए, जो क्षेत्र वाञ्छनीय आकार के हो चुके हों वहाँ इमारतें बनाने पर कठोर नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

तेज़ी से बढ़ता हुआ शहरीकरण उन सभी देशों के लिए एक समस्या है जहाँ आर्थिक विकास अभी अभी शुरू हुआ है। इन देशों में जनसंख्या प्रायः काफ़ी तेज़ी से बढ़ रही होती है। साथ ही इनके देहाती क्षेत्रों में रोज़गार बहुत कम उपलब्ध होता है जिससे लोग अस्थायी काम की तलाश में शहरों की ओर खिंचते हैं। बड़े शहर इसलिए भी विशेष रूप से आकर्षक होते हैं कि आर्थिक विकास के फल पहले-पहल वहीं चखने को मिलते हैं—सिनेमा,

बिजली, पानी, परिवहन की सुविधाएँ आदि के रूप में, और शहरों में ही स्वास्थ्य-सुविधाओं, स्कूलों सहायता-प्राप्त आवासों और निर्धन-सहायता आदि के रूप में समाज-सेवाओं की सर्वाधिक व्यवस्था होती है। अत अधिक तेजी से आर्थिक विकास न भी हो रहा हो तो भी शहरों की जनसंख्या २० वर्ष में दुगुनी हो जाती है। ऐसी स्थिति में उन सरकारों को, जो उद्योगीकरण की सक्रिय नीति पर चल रही है यह निर्णय लेना पड़ता है कि वे बड़े-बड़े शहरों में फैक्ट्रियों की स्थापना को बढ़ावा दें या नयी फैक्ट्रियों को जहाँ तक सम्भव हो विकेन्द्रित करें—हो सके तो देहाती क्षेत्रों म ले जाएँ। इस समस्या के अनेक पहलू है। एक तो राजनीतिक पहलू है, कहीं-कहीं बेरोजगार लोगों में आक्रोश न बढ़ने देने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि बड़े शहरों में उद्योग स्थापित कर दिये जाएँ जबकि कुछ अन्य देशों म दूरस्थ प्रान्तों की विरक्ति के कारण अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त उन लोगों के मतभेद का सवाल भी महत्त्वपूर्ण होता है जो बड़े शहरों के जीवन को पसन्द करते हैं, और जो बड़े शहरों को पृथ्वी के लिए कलंक मानते हैं। इस मतभेद को दूर करने के लिए आर्थिक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि एक सीमा तक फैक्ट्रियों को एक स्थान पर केन्द्रित करने से कई लाभ होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में आर्थिक दृष्टि से यह बेहतर होगा कि थोड़े-से सुसगठित औद्योगिक केन्द्र बनाये जाएँ। जब ये भली प्रकार स्थापित हो चुकें, और उद्योगीकरण के आरम्भिक कष्टों की अवधि समाप्त हो चुके, तो इस प्रकार के और भी केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं।

धन्धों के अनुसार जनसंख्या के विभाजन में होने वाले परिवर्तन—कृषि-क्षेत्र से विनिर्माण और दूसरी सेवाओं के क्षेत्र में—पारिश्रमिक के अन्तरों से प्रभावित होते हैं। चूँकि कृषि-क्षेत्र संकुचित हो रहा होता है और शहरी धन्धे बढ़ रहे होते हैं, अत कृषि और उद्योग की प्रति-व्यक्ति आमदनियों में उल्लेखनीय अन्तर पाया जाता है। मुद्रारूपी आय के कुछ अन्तर तो भ्रामक हैं, गाँव में काम करने वालों को कुछ आमदनी जिन्स के रूप में होती है, उन्हें कई चीजें सस्ती मिलती हैं (विशेष रूप से खाद्य-पदार्थ और रहन के लिए मकान), और रहन-सहन के दूसरे खर्चों और सुखोपभोग (जैसे परिवहन) पर भी उतना पैसा नहीं खर्च करना पड़ता जितना शहरी जनता को करना पड़ता है। फिर भी यह सच है कि जिन देशों में अन्य धन्धों की अपेक्षा कृषि-क्षेत्र सकुचित हो रहा हो वहाँ विनिर्माण की तुलना में कृषि-क्षेत्र में प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय कम होती है। कृषि-क्षेत्र की वास्तविक आय कम होने के साथ जो तर्क लगा है वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि कृषि-उत्पादकता

बढ़े बिना ही आर्थिक विकास होगा तो औद्योगिक आयों की तुलना में कृषि की आय घटने लगेगी। औद्योगिक क्षेत्र और कृषि-क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति वास्तविक आयों का यह अन्तर बढ़ना इस बात का द्योतक होता है कि खाद्य-पदार्थों की माग इतनी तेजी से नहीं बढ़ रही है जितनी तेजी से कृषि-उत्पादकता बढ़ रही है।

यदि कृषि और विनिर्माण को छोड़कर अन्य सेवाएँ एक जगह इकट्ठी कर दी जाएँ, तो पता चलेगा कि जिस प्रकार विनिर्माण क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति आय कृषि-क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति आय से अधिक होती है ठीक उसी प्रकार विनिर्माण की तुलना में अन्य सेवाओं में प्रति-व्यक्ति आय अधिक होती है। वैसे, प्रति-व्यक्ति आय एक भ्रामक आकड़ा है। यह बात नहीं है कि मजदूरों को विनिर्माण की तुलना में इन अन्य सेवाओं में अधिक मजदूरी मिलती है, बल्कि सचाई यह है कि विनिर्माण की तुलना में इन सेवाओं में स्वतन्त्र कार्यकर्ताओं, वेतन-भोगी कार्यकर्ताओं और कुशल कार्यकर्ताओं का अनुपात कुल मिलाकर अधिक होता है। इसी वर्ग में दूकानदार, बाल बनाने वाले, लारियों के स्वामी और पदावर तथा स्वतन्त्र कार्य करने वाले दूसरे लोग होते हैं। इस वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक आमदनियों का कारण शायद इसकी वर्ग-रचना है।

चूँकि कृषि, विनिर्माण और दूसरी आर्थिक क्रियाओं की प्रति-व्यक्ति आय भिन्न-भिन्न होती है, अतः राष्ट्रीय आय में इन क्षेत्रों का योगदान ठीक उसी अनुपात में नहीं होता जिस अनुपात में इनमें रोजगार में लगी जनसंख्या बँटी होती है। कृषि में प्रति-व्यक्ति आय औसत प्रति-व्यक्ति आय के ५० प्रतिशत और ७५ प्रतिशत के बीच होती है, अतः यदि कुल जनसंख्या का ८० प्रतिशत भी कृषि में लगा हो तो कृषि-क्षेत्र की कुल आय राष्ट्रीय आय के ६० प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाती (सख्याशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय आय में कृषि-योग का आकलन बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि किसान द्वारा स्वयं उपभोग किए गए अनाज की कीमत थोक कीमतों के आधार पर लगायी गई है या खुदरा कीमतों पर)। विनिर्माण में प्रति-व्यक्ति आय औसत आय के बराबर से लेकर उससे शायद डेढ़ गुनी तक होती है, और अन्य कार्यों में लगे लोगों की प्रति-व्यक्ति आय औसत आय के दुगुने तक होती है।

औसत प्रति-व्यक्ति आमदनियों के इन अन्तरों से प्रायः बड़े भ्रामक निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं। 'अन्य क्रियाओं' की तुलना में विनिर्माण में प्रति-व्यक्ति आय कम होती है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए विनिर्माण से हटाकर लोगों को खुदरा व्यापार, सरकारी नौकरियों या अधिक प्रति-व्यक्ति आय वाली अन्य सेवाओं में लगा दिया जाए। न लोगों को कृषि से हटाकर विनिर्माण में लगाने से

वास्तविक आय बढ़ाई जा सकती है। आर्थिक विकास के साथ लोगों का कृषि से हटकर अन्य धन्धों में लगना विकास का परिणाम है न कि उसका कारण। कृषि से विनिर्माण में अन्तर बिना कठिनाइयाँ पैदा किए तभी हो सकता है जब या तो कृषि की उत्पादकता बढ़ाई जाए या कृष्येतर पदार्थों के निर्यातों में वृद्धि की जाए। यदि कृषि की उत्पादकता बढ़ाए बगैर ही इस प्रकार का अन्तरण किया गया तो उससे कृषि-पदार्थों की कमी हो जाएगी, यह कमी भुगतान शेष में घाटा पैदा कर देगी या फिर रहन-सहन के खर्च को बढ़ा देगी जिसके फलस्वरूप मजदूरियाँ बढ़ जाएँगी और नए विनिर्माण उद्यमों को लाभप्रद ढंग से काम करने में कठिनाई होने लगेगी। यदि कृषि की उत्पादकता बढ़ाए बिना ही श्रमिकों को कृषि-क्षेत्र से हटाया जाए तो उन्हें ऐसे उद्योगों में लगाया जाना चाहिए जो विदेशी मुद्रा कमाते हों, ताकि आयातों में बचत करके या निर्यात बढ़ाकर खाद्य-पदार्थ खरीदे जा सकें, इसकी लाभप्रदता देश और विदेश की तुलनात्मक लागतों पर निर्भर करती है (इस अध्याय का खण्ड २ (क) देखिए)।

२. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में किस सीमा तक भाग ले सकता है यह कुछ तो उसके साधनों पर निर्भर होता है, कुछ व्यापार में उसके द्वारा लगायी गई बन्दिशों पर और कुछ उसके विकास की अवस्था पर।

वह देश दरअसल आत्मनिर्भर हो सकता है जिसके पास अनेक प्राकृतिक साधन हों—उपजाऊ जमीन, कई प्रकार की जलवायु और अनेक खनिज। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अमरीका है जिसके आयात उसकी राष्ट्रीय आय के केवल ४ प्रतिशत के बराबर हैं जबकि ब्रिटेन के आयात लगभग २५ प्रतिशत हैं और आयातों पर कठोर नियन्त्रण किये जाने से पहले के दिनों में लगभग ३५ प्रतिशत थे। इसका अर्थ यह है कि विदेश-व्यापार की सीमा अंशतः देश के आकार पर निर्भर करती है, या इसको दूसरी तरह यों भी कह सकते हैं कि देश की राजनीतिक सीमाओं पर अवलम्बित है।

दूसरे, विदेश-व्यापार की सीमा देश की नीति पर निर्भर होती है, सभी देश प्रयत्न करने पर अपने को थोड़ा या अधिक आत्मनिर्भर बना सकते हैं। आज से ४०० साल पहले से ही, जबकि अर्थशास्त्र के विषय को मान्यता मिली, विदेश-व्यापार के सरकारी नियन्त्रण के पक्ष और विपक्ष में बराबर वादविवाद किया जाता रहा है, अतः इस विषय पर यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। मुक्त व्यापार के पक्ष में प्रस्तुत किए जाने वाले आर्थिक तर्कों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञता के लाभ हैं, जिन्हें सभी जानते हैं। और मुक्त व्यापार के विरुद्ध दिए जाने वाले आर्थिक तर्क मुक्त उद्यम प्रणाली

की खामियों पर आधारित हैं, जिनसे कीमतें सामाजिक लागतों की वास्तविक द्योतक नहीं रह जातीं। कुछ क्षेत्रों में ये खामियाँ विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए मुक्त उद्यम प्रणाली में अत्यधिक विशिष्टता की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है जिसमें इस बात का ध्यान नहीं रहता कि समूची अर्थ-व्यवस्था कितनी जोखिम उठा सकती है युद्ध-काल में सप्लाई की कमी की जोखिम, व्यापार-शर्तों में भारी उतार-चढ़ाव की जोखिम, लगातार एक ही फसल उगाने से महामारियों के फैल जाने की जोखिम। दूसरी खामी विनिर्माण में बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ हैं, जो काफी समय बाद मिलने शुरू होते हैं। अतः उद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में विनिर्माण-उद्योग को संरक्षण देने के लिए विशेष उपाय करने पड़ते हैं। इसके अलावा बेरोजगारी की समस्याएँ हैं, जो उन देशों के लिए बहुत कठिनाई पैदा करती हैं जहाँ कृषि-साधनों की तुलना में जनसंख्या का आधिक्य है, और इसलिए जहाँ संरक्षण देकर नये उद्योगों का विकास करने की आवश्यकता पड़ती है। संरक्षण के पक्ष में इन आर्थिक कारणों के अलावा राजनीतिक और भावनात्मक कारण भी हैं जिनसे समूचे राष्ट्र के आर्थिक हितों का मेल नहीं बैठता। व्यापार-रोधों की सीमा के बारे में कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। यदि इसके केवल आर्थिक पहलू ही होते तो उद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में विभिन्न राष्ट्र काफी ऊँचे टैरिफ लगाते, और उद्योगों के अच्छी तरह स्थापित हो चुकने के बाद टैरिफों का स्तर काफी नीचा कर देते। १८वीं और १९वीं शताब्दियों में ब्रिटेन ने यही प्रवृत्ति दिखाई थी, और अब २०वीं शताब्दी में यही अमरीका कर रहा है, रूस भी इसका अनुसरण करेगा या नहीं यह देखना बाकी है। लेकिन आर्थिक विकास के साथ टैरिफों की घट-बढ़ का सम्बन्ध बताने वाले सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करना ठीक नहीं है, क्योंकि टैरिफों की घट-बढ़ जितनी आर्थिक हितों पर निर्भर करती है उतनी ही राजनीतिक चलन पर निर्भर होती है।

आयातों पर इसलिए भी नियन्त्रण लगाया जा सकता है कि जनता जितनी आयात-वस्तुएँ खरीदना चाहती हो उतनी की अदायगी करने के लिए विदेशी मुद्रा उपलब्ध न हो। यह प्रायः देश के भीतर के उपभोग के लिए उत्पादन और निर्यातों के लिए उत्पादन के बीच ठीक समञ्जन न होने का चिह्न है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय ५ खण्ड ३(ग)), यदि कम विकसित देश अपनी अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उचित संतुलन स्थापित किए बिना ही देश के भीतर के उपभोग के लिए उत्पादन बढ़ाना आरम्भ कर दें तो उन्हें इस कठिनाई में फँसना पड़ सकता है। स्फीति के कारण भी विदेशी मुद्रा की कठिनाई पैदा हो सकती है (अध्याय ५, खण्ड २ (क)), या

इस कारण भी पैदा हो सकती है कि निवेश की दर में स्वरण होने के साथ-साथ आयात-प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है (अध्याय ५, खण्ड २ (ग))। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों को अपनी विदेशी मुद्रा की कमाइयों में कहीं अधिक चक्रीय उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ता है, क्योंकि मूलतः आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है (अध्याय ५, खण्ड ३ (ग))। अतः विदेशी मुद्रा पर प्रतिबन्ध लगाए बिना ही यदि ये देश चक्रीय उतार-चढ़ाव का सामना करने की सामर्थ्य पैदा करना चाहें तो इन्हें विदेशी मुद्रा की काफी मात्रा संचित रखनी चाहिए।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विकास प्रारम्भ होने से पहले विदेश-व्यापार राष्ट्रीय आय के अनुपात में प्रायः थोड़ा ही होता है लेकिन विकास के चरण बढ़ने के साथ-साथ यह अनुपात तेजी से बढ़ता जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड ३ (क)) कि आर्थिक विकास का श्रीगणेश करने में विदेश-व्यापार का योग कितना महत्त्वपूर्ण है। इसका एक परिणाम यह होता है कि विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में आय की अपेक्षा विदेश-व्यापार अधिक तेजी से बढ़ता है। यह किसी एक देश के लिए भी सही है और समूचे विश्व-व्यापार के लिए भी। आरम्भिक अवस्थाओं में देश इस-लिए आत्मनिर्भर होता है कि उसके उत्पादन का एक बड़ा भाग उन आत्म-निर्भर किसानों द्वारा तैयार किया जाता है जो मुद्रा का बहुत थोड़ा उपयोग करते हैं, और अपनी उपज के बहुत ही थोड़े भाग का व्यापार करते हैं। यही मुख्य कारण है कि नाइजीरिया के आयात उसकी राष्ट्रीय आय का केवल १० प्रतिशत हैं, और भारत के आयात राष्ट्रीय आय का केवल सात प्रतिशत हैं, यह निश्चित है कि प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने के साथ, और अलग-अलग इलाकों को विश्व की अर्थ-व्यवस्था से जोड़ने वाले आन्तरिक संचार साधनों के विस्तार के साथ आयात के ये अनुपात बढ़ जाएँगे। समूचे विश्व व्यापार के साथ भी लगभग यही होता है। १८७० और १९१३ के बीच खाद्य का विश्व-उत्पादन २ प्रतिशत प्रतिवर्ष से कुछ ही कम बढ़ा था, और विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष से कुछ ही कम बढ़ा था। इसी बीच विश्व की वास्तविक आय शायद २½ से ३ प्रतिशत की दर से बढ़ी, और विश्व-व्यापार में लगभग ३½ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई। यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञता में उल्लेख-नीय वृद्धि होती है, जिसके साथ ही संचार-साधनों का भी विकास होता है, और फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की अपेक्षा व्यापार अधिक तेजी से प्रगति करता है।

विकास की बाद की अवस्थाओं की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है। १९वीं

शताब्दी के पहले पचहत्तर वर्षों में ब्रिटेन के आयात उसकी राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत तेजी से बढ़े थे, लेकिन पुनर्निर्यात को छोड़कर और व्यापार-शर्तों में हुए परिवर्तनों का ध्यान में रखते हुए, कहा जा सकता है कि पिछले साठ सालों में ब्रिटेन के आयात और राष्ट्रीय आय के अनुपात में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके विपरीत अमरीका के अनुपात ऐसी अर्थ-व्यवस्था के द्योतक हैं जहां अनेक साधन अभी प्रयोग में नहीं लाये गए। जैसे-जैसे अमरीका ने अपने साधनों का प्रयोग आरम्भ किया राष्ट्रीय आय की तुलना में उसके आयातों की वृद्धि का अनुपात घटता गया और अस्सी वर्ष पहले की तुलना में अब यह अनुपात घटकर आधा रह गया है। अब अमरीका अपने खनिज साधनों में से कुछ के उपयोग की पराकाष्ठा को पहुंच रहा है, और उसके कच्चे सामान के आयात बराबर बढ़ रहे हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि अब अमरीका के आयातों में कम-से-कम उतनी वृद्धि अवश्य हुआ करेगी जितनी कि उसकी आय में होगी, लेकिन कहा नहीं जा सकता कि आगे क्या होगा। पिछले दो विश्व-युद्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को इतना गड़बड़ा दिया है कि हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि आगामी दशाब्दियों में क्या होगा। यहां हम हाल के कुछ आंकड़े दे रहे हैं, जो थोड़े-बहुत उपयोगी हो सकते हैं। १९४८ और १९५२ के बीच विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन ७७ प्रतिशत बढ़ा, विश्व का कृषि-उत्पादन ९ प्रतिशत बढ़ा, और विश्व-व्यापार ३४ प्रतिशत बढ़ा (इनमें रूस के आंकड़े शामिल नहीं हैं)। इन आंकड़ों से पता चलता है कि विश्व-व्यापार उत्पादन की अपेक्षा कुछ अधिक तेजी से ही बढ़ रहा है—यद्यपि वृद्धि की इस ऊंची दर का एक कारण युद्धकालीन निम्न स्तरों का पुनरुत्थान भी है।

आर्थिक विकास के साथ-साथ विश्व-व्यापार के गठन में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का, और व्यापार में भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न देशों का सापेक्ष महत्त्व भी बदलता है।

कभी-कभी यह आशा की जाती है कि आर्थिक विकास होने पर विश्व-व्यापार में कच्चे माल और खाद्य-पदार्थों की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं का महत्त्व कम हो जाएगा, क्योंकि ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है देश को विनिर्मित वस्तुओं के आयात की आवश्यकता कम रह जाती है और कच्चे सामान के आयात की दर बढ़ जाती है। लेकिन व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता। पिछले अस्सी साल के आंकड़े हमारे पास हैं, जिनसे पता चलता है कि विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं के मूल्य का अनुपात स्थिर रहा है (पैंतीस प्रतिशत से चालीस प्रतिशत के बीच)। हां विश्व-व्यापार में कच्चे सामान का अनुपात बढ़ा है, लेकिन उसके बजाय खाद्य के पदार्थों का व्यापार घटा है,

जिनकी माँग आय की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ती है। विश्व-व्यापार का विकास कुछ इस ढंग से हुआ है कि कतिपय देश मुख्य रूप से खाद्य-पदार्थ और कच्चा सामान आयात करते हैं और उनके बदले विनिर्मित वस्तुएँ और अदृश्य सेवाएँ (नौपरिवहन, भाड़ा, कमीशन आदि) निर्यात करते हैं। वैसे, यह विश्व-व्यापार की पूरी तस्वीर नहीं है। विनिर्माता देश भी कुछ विशेष चीजों के उत्पादन में विशेषज्ञता हासिल कर लेते हैं और एक-दूसरे से काफी-कुछ खरीदते रहते हैं और इसी प्रकार कृषि-प्रधान देशों में भी विशेषज्ञता और एक-दूसरे से माल खरीदने की प्रवृत्ति पाई जाती है। तुलनात्मक लागत-सिद्धान्त जिस प्रकार उद्योग और कृषि के बीच लागू होता है, उसी प्रकार एक विनिर्माण-उद्योग और दूसरे विनिर्माण-उद्योग के बीच भी लागू होता है। फिर भी औद्योगिक राष्ट्र विश्व-व्यापार में शामिल होनेवाली मूलतः आवश्यक वस्तुओं का दो तिहाई लेते हैं और विनिर्मित वस्तुओं का केवल एक चौथाई आयात करते हैं इस प्रकार विदेशी व्यापार मुख्य रूप से औद्योगिक देशों और मूलतः आवश्यक वस्तुओं के उत्पादकों के बीच होता है। यदि औद्योगिक देश ये वस्तुएँ अधिक खरीद लेते हैं तो इनके उत्पादक बदले में अधिक विनिर्मित वस्तुएँ ले लेते हैं। इसलिए मूलतः आवश्यक वस्तुओं का व्यापार और विनिर्मित वस्तुओं का व्यापार साथ-साथ में बढ़ता है। इनका यह सम्बन्ध कभी-कभी उलट सकता है, सम्भव है विनिर्मित वस्तुओं का परस्पर विनिमय बढ़ जाए, या मूलतः आवश्यक वस्तुओं के परस्पर विनिमय में वृद्धि हो जाए, ऐसा होने पर विश्व व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का अनुपात बदल जाएगा। इस समय हम इतना ही कह सकते हैं कि पिछले अस्सी वर्षों में इस अनुपात में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए हैं।

यदि विश्व व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का आनुपातिक मूल्य स्थिर रहे, तो विश्व व्यापार में मूलतः आवश्यक वस्तुओं के परिमाण की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं के परिमाण की घट-बढ़ इन दोनों चीजों की सापेक्ष कीमतों पर निर्भर होती है। यदि विनिर्मित वस्तुओं की सापेक्ष कीमत बढ़ती है तो उनका सापेक्ष परिमाण कम हो जाता है और यदि उनकी सापेक्ष कीमत गिरती है तो सापेक्ष परिमाण बढ़ जाता है। इस प्रकार, इस शताब्दी के तीसरे दशक में विनिर्मित वस्तुओं के व्यापार का परिमाण बहुत कम था, जबकि पाँचवें दशक में यह परिमाण बहुत अधिक रहा है, और दोनों ही मामलों में इसका कारण सापेक्ष कीमतों की घट-बढ़ थी। अतः विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं की कमी या वृद्धि के लिए सापेक्ष कीमतों की घट बढ़ बड़ा महत्त्व रखती है।

यद्यपि विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का व्यापार काफी स्थिर रहा है लेकिन उसके गठन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। वस्त्रों का व्यापार पर

उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, जबकि यान्त्रिक और इंजीनियरी की चीज़ों में स्थिर गति से वृद्धि हो रही है। १८९९ में वस्त्र और पोशाकें विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार का ४० प्रतिशत थीं, जबकि १९५० में घटते-घटते यह अनुपात केवल २० प्रतिशत रह गया। इसी बीच धातु से बनी चीज़ों का अनुपात ३१ प्रतिशत से बढ़कर ५६ प्रतिशत हो गया, जबकि अन्य सभी विनिर्मित वस्तुएँ २९ से घटकर २४ प्रतिशत रह गईं। इन परिवर्तनों को समझना मुश्किल नहीं है। उद्योगीकरण बढ़ने के साथ देश सबसे पहले अपने लिए कपड़े बनाना आरम्भ करते हैं। वस्त्रोद्योग कहीं भी आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि इसके काम में आने वाले कच्चे सामान हल्के और आसानी से इधर-उधर ले जाने योग्य हैं, और इसके लिए अपेक्षित कौशल भी आसानी से सीखे जा सकते हैं। धातुओं की बात इससे बिलकुल उलटी है। इनका उत्पादन मात्र वे ही देश कर सकते हैं जिनके पास सस्ता ईंधन और कच्ची धातुएँ होती हैं। इंजीनियरी में भी बराबर तकनीकी प्रगति होती रहती है, अतः नये देशों की तुलना में पहले से जमे हुए देशों के पास सदा ही कुछ ऐसे कौशल होते हैं जिनके कारण वे अपेक्षाकृत लाभदायक स्थिति में रहते हैं। ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि भविष्य में भी यही प्रवृत्तियाँ जारी न रहें। धातु की चीज़ों का विनिर्माण अन्य चीज़ों की तुलना में बराबर बढ़ता जाएगा, और जिन देशों के पास काफी ईंधन और कच्ची धातुएँ हैं उन्हें ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सर्वाधिक महत्त्व मिलेगा।

पिछले पचास सालों में विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार का विभिन्न देशों के बीच वितरण भी बहुत-कुछ बदल गया है। १८९९ से १९३७ की तुलना करने पर पता चलता है कि फ्रांस और ब्रिटेन का महत्त्व घट गया है, और उनके स्थान पर अमरीका, कनाडा और जापान विश्व-व्यापार में अधिकाधिक भाग ले रहे हैं। कनाडा ने विश्व-व्यापार में जितना योग बढ़ाया है वह लगभग सारा ही अलौह धातुओं और लुग्दी एवं कागज के निर्यात के रूप में है। जापान ने मुख्य रूप से वस्त्रों का निर्यात बढ़ाया है, हालाँकि अन्य सभी वस्तुओं में भी उसने बड़ी प्रतियोगिता की है। अमरीका ने भी सभी विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात बढ़ाए हैं जिनका श्रेय मुख्य रूप से विश्व-युद्धों को दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, १८९९ और १९१३ के बीच विश्व-व्यापार में अमरीका का योग ११ प्रतिशत से बढ़कर केवल १२½ प्रतिशत तक पहुँचा था; प्रथम विश्व-युद्ध के फलस्वरूप यह एकदम बढ़कर २०½ प्रतिशत हो गया, लेकिन १९३७ में घटकर १९½ प्रतिशत रह गया, इसके बाद द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण फिर तेज़ी से बढ़कर १९५० में २६ प्रतिशत हो गया। विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अमरीका का उतना बड़ा

भाग कायम रह सकेगा या नहीं यह कुछ तो इस पर निर्भर है कि आयातों और विदेशी निवेश के जरिए अमरीका कितने डालर प्रचलन में ला सकता है और कुछ इस पर निर्भर है कि खाद्यान्न के मामले में विश्व के बाकी देश उस पर अधिकाधिक निर्भर रहेंगे या नहीं। विदेशी निवेश की बात छोड़ दीजिए, अमरीका मूलतः आवश्यक वस्तुओं और विनिर्मित वस्तुओं दोनों का निवल निर्यातक नहीं बना रह सकता, इनमें से कौन-से निर्यातों में अधिक कमी होगी यह देखना बाकी है।

विश्व-व्यापार में ब्रिटेन के योग का ह्रास अपने-आपमें कोई चिन्ता का विषय नहीं है। किसी देश के योग में परिवर्तन का अर्थ केवल इतना ही होता है कि उस देश के निर्यात और विश्व-निर्यात भिन्न-भिन्न दरों से बढ़ रहे हैं, और यह आवश्यक नहीं है कि सभी देश अपने निर्यातों में एक ही दर से वृद्धि करें। विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में यदि पुराने औद्योगिक देशों का योग घट रहा हो तो उन्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए, बशर्ते कि निरपेक्ष दृष्टि से उनका योग इतना काफी हो जिससे देश के भीतर पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम रखी जा सके, और आवश्यकता के सभी आयातों का मूल्य चुकाया जा सके। ब्रिटेन के मामले में यह बात महत्वपूर्ण नहीं थी कि विश्व-व्यापार में उसका सापेक्ष योग कम हो गया था (१८९९ में ३३ प्रतिशत था जो १९३७ में २२ प्रतिशत रह गया), बल्कि यह थी कि १९२० के बाद उसका योग इतना काफी नहीं रह गया था कि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रह सके, और १९३० के बाद से तो इतना गिर गया है कि सभी अपेक्षित आयातों का भुगतान नहीं किया जा सकता।

विश्व-व्यापार के इस रूप से आर्थिक विकास के उस सिद्धान्त की याद आती है जिस पर १९वीं शताब्दी के कुछ अर्थशास्त्री विश्वास रखते थे। यह दीर्घकालीन गतिरोध के सिद्धान्त का ही एक रूप था। इसके समर्थकों का कहना था कि जो देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रमुख बन जाता है वह फिर अपने-आप ऐसे काम करता है जिससे कुछ समय में वह अपना नेतृत्व खो बैठता है। इसके निर्यातों की भारी माँग अन्य देशों की तुलना में इसकी कीमतों को बढ़ा देती है, जिसके फलस्वरूप और देशों को भी प्रतियोगिता के आधार पर उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है। पूँजी इन नए देशों में जाने लगती है जिसका एक उद्देश्य तो ऐसे उद्योगों की स्थापना करना होता है जिनकी सफलता की सम्भावनाएँ अग्रगामी देश पहले ही सिद्ध कर चुके होते हैं। दूसरा उद्देश्य नये देशों की सस्ती मजदूरियों और दूसरी कम कीमतों का फायदा उठाना होता है और तीसरा यह तर्क-सम्मत सिद्धान्त होता है कि हर उद्योग पुराने देश में उसके बाजार की अधिकतम सीमा तक विकास करता है और

उसके बाद पूंजीपतियों को अपने लाभों का निवेश करने के लिए दूसरे स्थान ढूंढने पड़ते हैं (इस विषय पर अध्याय ५, खण्ड २ (ग) देखिए)। इसके अलावा सबसे पहले उद्योग आरम्भ करने की एक हानि भी बताई जाती है : पुराना देश जो १८५० के कौशल और पूंजी उपस्कर में बँध चुका है वह १८८० में मैदान में आने वाले नये देशों से प्रतियोगिता करने में कठिनाई अनुभव करता है। लेकिन पुराने देश की प्रतिकूल स्थिति वाली बात बड़ी भ्रामक मालूम होती है, यदि १८८० में दो देशों के पास निवेश करने के लिए बराबर पूंजी है, तो यह नहीं समझ में आता कि जो देश १८५० से ही पूंजी निवेश करता आ रहा है उसे १८८० में काम आरम्भ करने वाले देश के साथ प्रतियोगिता करने में क्या कठिनाई हो सकती है, क्योंकि जो नया उपस्कर नया देश खरीद सकता है वही पुराना देश भी खरीद सकता है। सम्भव है पुराने देश को अपने पुराने उपस्कर रखने से ही लाभ दिखाई दे और उसे यह सुविधा भी हो सकती है कि जब तक नया देश पुराने कामों में उसकी बराबरी तक पहुँचे तब तक वह अपनी बचतों का उपयोग करके नये काम शुरू कर सकता है। यह तर्क अधिक सही मालूम देता है कि पुराने देश को अपनी विशेषता के कारण हानि होती है, १८५० के बाद के वर्षों में भी वह १८५० में माँगी जाने वाली वस्तुओं की सप्लाई करने की सुविधाओं (बैंकिंग, विपणन, प्रशिक्षण, परिवहन, इंजीनियरी आदि) का विकास करता है; ऐसा करते-करते वह एक ढर्रे पर पड़ जाता है, या इसी बात को और सुन्दर ढंग से यों कह सकते हैं कि वह १८५० और उसके बाद किये गए प्रयत्नों के वेग में बहता जाता है और १८८० की बदलती हुई माँगों के अनुसार अपने को नहीं ढाल पाता। अतः जब नये उद्योग जन्म लेते हैं तो वे उन नये देशों में स्थापित होते हैं जो पुराने तौर-तरीकों से बहुत अधिक नहीं बँधे होते। अपने ढर्रे के कारण पुराने देशों को औद्योगिक नेतृत्व भी खोना पड़ सकता है, क्योंकि उनके सर्वाधिक बुद्धिमान लोग पुराने उद्योगों की समस्याओं को ही हल करने में लगे रहते हैं। इस बीच नए देशों के बुद्धिमान व्यक्ति पुराने उद्योगों के सम्बन्ध में पुराने देश का अनुकरण और बराबरी ही नहीं करते रह जाते, बल्कि नये उद्योगों में आगे निकल जाते हैं, और विकासशील व्यापारों में पुराने देश से औद्योगिक नेतृत्व छीन लेते हैं।

इस फार्मूले में शायद ब्रिटेन का उदाहरण बहुत अच्छी तरह फिट होता है। एशिया में वस्त्र-उद्योग की उन्नति का एक बड़ा कारण वहाँ की अपेक्षाकृत कम मजदूरियाँ हैं और इसी के फलस्वरूप विश्व-व्यापार में वस्त्रों का अनुपात कम हो गया है। निवेश का तर्क भी ब्रिटेन के उदाहरण से ठीक बैठता है, १८७० से ब्रिटेन अपनी बचतों का अधिकाधिक भाग विदेशों में

निवेश पर रहा था यहाँ तक कि १९१३ से ठीक पहले लगभग आधी बचत बाहर के देशों में निवेश की जाती थी। इनकी सहायता से विदेशों में विशेष कर उत्तरी अमरीका भारत और जापान में प्रतियोगी उद्योग खड़े हो गए जबकि ब्रिटेन औद्योगिक उन्नति में पिछड़ गया। यही नहीं रसायन मशीनी औजार या बिजली के उपस्कर आदि तेजी से बढ़ने वाले उद्योगों में अपना उचित भाग बनाए रखने में या इन क्षेत्रों का औद्योगिक नेतृत्व प्राप्त करने में भी ब्रिटेन को बड़ी असफलता का सामना करना पड़ा। इस असफलता का एक कारण तो यह हो सकता है कि ब्रिटेन के व्यवसायी पहले से जमे हुए वस्त्र उद्योगों पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किये रहे और दूसरा यह हो सकता है कि ब्रिटेन के प्राचीन विश्वविद्यालय और उनके विद्यार्थी वैज्ञानिक और औद्योगिक अध्ययनों को नीची नजर से देखते रहे। इनके विपरीत ऐसे कारण भी दिखाई देते हैं जिनसे लगता है कि इस प्रकार के कानून ब्रिटेन के मामले में लागू नहीं होते। पहला कारण तो यह है कि वस्तु निर्यात की धीमी वृद्धि के बावजूद १९१३ तक ब्रिटेन का भुगतान शेष निरंतर उसके पक्ष में बढ़ रहा था। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि निर्यातों की वृद्धि धीमी होने से उत्पादन कम हो रहा हो और इसीलिए आयातों में भी वृद्धि न हो रही हो। लेकिन इसका एक सीधा-सादा कारण यह भी हो सकता है कि वस्तु निर्यातों पर जोर देने के बजाय ब्रिटेन को यही लाभप्रद मालूम हुआ हो कि नौपरिवहन बीमा और ऐसी ही दूसरी सेवाओं से होने वाली अदृश्य आय बढ़ाई जाए। कानूनों के अनुसार दूसरी बात यह है कि चाहते हुए भी ब्रिटेन अपनी स्थिति इससे बेहतर नहीं कर सकता था। ब्रिटेन के लिए यदि वह चाहता तो इस प्रकार का निर्यात व्यापार आंदोलन चलाना कोई बड़ी बात नहीं थी जैसे जर्मनी या जापान चला सके। वास्तविकता यह है कि जब तक ब्रिटेन को आसानी से व्यापार-सुविधाएँ मिलती रहीं तब तक उसने कोई प्रयत्न नहीं किये लेकिन निकट भविष्य में ऐसे प्रयत्न करने पड़ सकते हैं और यह बड़ा संदेहजनक है कि तब ब्रिटेनवासियों के चरित्र की संरचना उसमें बाधक बन जाएगी। इसके अलावा चूँकि बढ़ते हुए बाजारों में विश्व व्यापार का अधिकांश जापान या जर्मनी के नहीं बल्कि अमरीका के हाथ में है अतः यह भावना कि निर्धन प्रतियोगियों के साथ अधिक कठोरता से व्यवहार न किया जाए इस मामले में लागू नहीं होगी और इसके साथ ही देश में [illegible] ही पसन्द करना जाएगा।

विश्व-व्यापार में समुचित भाग बनाए रखने के अलावा जनन संबंधी प्रक्रिया पर भी विचार होता है। नवीन प्रक्रिया के [illegible] में ब्रिटेन [illegible] दाताओं [illegible] (जो विश्व का आविष्कार

के क्षेत्र में नेतृत्व से भिन्न है) औरों के हाथ में चला गया है। नेतृत्व में इस प्रकार के परिवर्तन आना अनिवार्य है, क्योंकि बुद्धिमानी या उत्साह पर किसी देश के लोगों का स्थायी एकाधिकार नहीं रह सकता। धातुओं और रसायनों के उत्पादन और प्रयोग की नवीन प्रक्रियाओं के प्रवर्तन में ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका के बीच होड़ थी और इससे पहले परिवहन-व्यापार में फ्रांस और हालैंड के बीच होड़ थी। इससे भी पहले कुछ समय तक स्पेन के हाथ में नेतृत्व था और इससे जितना पीछे चलते जाएं रोम और कार्थेज के बीच होड़ से पहले के भी उदाहरण मिलते जाते हैं। यह केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं समझाया जा सकता कि बड़े राष्ट्रों का नेतृत्व क्यों बदलता रहता है। मस्तिष्क की प्रवृत्तियां, देश की आन्तरिक तनातनी, राजनीतिक घटनाएं, सांस्कृतिक परिवर्तन, युद्ध और बहुत-सी दूसरी बातें भी इसके लिए जिम्मेदार होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगितात्मकता में परिवर्तन शायद देशों के भीतर होने वाले दूरगामी परिवर्तनों के प्रतिबिम्ब-मात्र होते हैं।

उन्नत औद्योगिक देशों के बीच नेतृत्व बदलने की प्रक्रिया जितनी दिलचस्प है उतनी ही दिलचस्प कम विकसित देशों की विदेश-व्यापार में अपना स्थान बना लेने सम्बन्धी असफलता है (इसका अपवाद केवल जापान है)। लोगों का कहना है कि यह भी एक देश के दूसरे देश पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तन्त्र ऐसा है कि विकसित और कम विकसित देशों के बीच की खाई अनिवार्य रूप से चौड़ी होती जाती है। जब कोई देश प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नवीन प्रक्रिया का सूत्रपात करता है और अधिक उत्पादक बन जाता है तो उसके निर्यातों की कीमत गिरने लगती है। जब ये सस्ते निर्यात कम विकसित देशों में पहुंचते हैं तो वहां के प्रतियोगी उद्योगों को नष्ट कर देते हैं। यह बात सही है, उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि १९वीं शताब्दी में भारत की यही हालत हुई। लंकाशायर और बर्मिंघम के सस्ते कपड़ों ने भारत के अत्यन्त विकसित हस्तशिल्प-उद्योगों को बड़ा आघात पहुंचाया। इस सिद्धान्त के अनुसार, यह आघात संचयी होता है। विनिर्माण-उद्योग में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना लाभप्रद होता है, अतः जैसे-जैसे (मान लीजिए) इंग्लैंड के उद्योग उन्नति करते जाते हैं और (मान लीजिए) भारत के उद्योगों में गिरावट आती जाती है, वैसे-वैसे इन दो देशों की उत्पादकता का अन्तर बढ़ता जाता है। भारत कृषि पर अधिकाधिक ध्यान देने के लिए मजबूर हो जाता है, जिसमें बड़े पैमाने के कोई लाभ नहीं मिलते, जबकि इंग्लैंड निरन्तर धनी होता जाता है।

यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त से बिलकुल उल्टा है जिस पर हम पहले विचार कर चुके हैं, अर्थात् यह कि सचमुच शक्तियां विकसित और कम विकसित देशों

के बीच के अन्तर को बढ़ाती नहीं बल्कि कम करती हैं। इस बारे में सरल सिद्धान्त निर्धारित करना अनुपयुक्त है कि एक राष्ट्र की उत्पादकता बढ़ने से बाकी सभी राष्ट्रों पर क्या प्रभाव पड़ते हैं क्योंकि ये प्रभाव अनेक प्रकार के होते है। यदि किसी देश की उत्पादकता बढ़ती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह अपना सामान सस्ती कीमतों पर बेचे ही, उसकी मुद्राएँ भी आयें बढ़ सकती हैं और आयात-निर्यात स्थिति अपरिवर्तित रह सकती है। यदि वह अपना सामान दूसरे राष्ट्रों को सस्ती कीमतों पर बेचता है तो भी इन राष्ट्रों को हानि पहुँचना आवश्यक नहीं है क्योंकि तब वे दूसरे उद्योगों में विशेषज्ञता हासिल कर सकते है, यदि ऐसा होता है तो वहाँ की अर्थ-व्यवस्थाएँ दुष्प्रभावित होने के बजाय गतिरोध की स्थिति से निकल आती है। हम पहले भी अवसर इसकी चर्चा करते रहे हैं कि विदेश-व्यापार बढ़ने के फलस्वरूप गतिरुद्ध देश प्राय आर्थिक विकास के प्रगति-पथ पर आ खड़ा होता है। फिर भी यह अवश्य है कि उन्नत औद्योगिक देशों की प्रतियोगिता के कारण कम विकसित देशों को अपना उद्योगीकरण करने में बड़ी कठिनाई होती है। आइए, हम इस समस्या पर और अधिक विचार करें।

यदि विनिर्मित वस्तुएँ विदेशों से सस्ती खरीदी जा सकें तो आर्थिक दृष्टि से देश के लिए उन्हें स्वयं तैयार करना वाञ्छनीय नहीं है। यह केवल देश के भीतर माल बनाने की द्रव्य-लागत और विदेश की द्रव्य-लागत की तुलना का ही मामला नहीं है, क्योंकि द्रव्य-लागत और वास्तविक लागत में प्राय कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। न इस प्रसंग में वर्तमान लागतों की तुलना करना ही उपयुक्त है, क्योंकि विकास का मतलब ही यह है कि इससे लागतें कम हो जाती हैं। अत सही नीति निर्धारित करते समय उद्योगीकरण के फलस्वरूप लागतों पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में विचार करना आवश्यक होता है। यदि उद्योगीकरण की गति निजी उद्यमकर्ताओं द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों पर ही पूरी तरह छोड़ दी जाए, तो यह लगभग सदा ही लाभप्रद गति से कम रहेगी।

पहले, काम शुरू करने की कठिनाइयों को लें। शुरू में सदा ही भारी खर्च उठाना पड़ता है अत लोग पुराने काम में ही चिपके रहना पसन्द करते हैं। विशेषज्ञता के लाभ ही उत्पादन के पैमाने के लाभ है। ये लाभ उत्पादन के लगभग सभी क्षेत्रों में उपलब्ध होते हैं और इन्हीं के आकर्षण में लोग एक काम छोड़कर दूसरा काम करना पसन्द नहीं करते। उदाहरण के लिए, जिन देशों ने कृषि में विशेषज्ञता हासिल की होती है उनमें कृषि के लिए उपयुक्त परिवहन और प्रशिक्षण आदि की सुविधाओं का विकास देखने में आता है, न कि विनिर्माता देशों में पाई जाने वाली सुविधाओं का। ऐसी स्थिति में थोड़ा परिवर्तन असलाभकर होता है, लेकिन नये कामों को शुरू करने का भारी खर्च उठा-

पर बड़ा परिवर्तन ला देने से कुछ समय में ही पुराने काम की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ होने लगते हैं। व्यवहार में इस तरह के बड़े परिवर्तन आसानी से नहीं किये जा सकते। ये केवल प्रबल विश्वास के बल पर ही किये जा सकते हैं क्योंकि परिवर्तन के दौरान कम या अधिक समय तक नये कामों की उत्पादन-क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। कुछ निजी उद्यमकर्ता इस मामले में धैर्य दिखाने के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन आम तौर पर बड़े परिवर्तन सरकारों को ही करने पड़ते हैं और बाद में नये कामों को संरक्षण या आर्थिक सहायता भी देनी पड़ती है। यह तर्क उद्योगीकरण पर विशेष रूप से लागू होता है जब औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार होने लगता है तो शुरू में उसकी उत्पादकता कम होती है, उसके श्रमिकों को ग्राम-जीवन छोड़कर उद्योग-जीवन के लिए उपयुक्त प्रवृत्तियाँ अपनाने में एक या दो पीढ़ियाँ लग जाती हैं, लोकोपयोगी सेवाओं का पूरी तरह इस्तेमाल शुरू नहीं हो पाता, अतः वे अपनी सेवाओं के बदले भारी प्रभार वसूल करती हैं, ऐसी अनेक फर्मों का जाल नहीं बिछ पाता जो एक-दूसरे का पोषण करती हैं। यदि ऐसी आशा हो कि वर्तमान ऊँची लागतें केवल आरम्भिक अवस्था की 'कठिनाइयाँ' हैं तो विनिर्माण-उद्योग को इस दौर से गुजार ले जाना अन्ततः लाभप्रद सिद्ध होता है। यह 'शिशु उद्योगों' के तर्क का ही बड़ा रूप है, जो पिछली डेढ़ शताब्दी से लगभग सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा माना जाता रहा है और उद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्था में सभी देशों ने इसके अनुसार आचरण किया है। उदाहरण के लिए, सन् १७०० के आस-पास तक औद्योगिक टेकनीकों में इंग्लैंड यूरोप में पीछे था। इससे पहले उसकी सर्वाधिक औद्योगिक प्रगति के तीन काल रह चुके थे जिनमें वह शिल्पियों के आप्रवासन को बढ़ावा देकर यूरोप के देशों से टेकनीकें सीख रहा था—यह आप्रवासन विशेषकर एडवर्ड तृतीय, एलिज़ाबेथ और उत्तरवर्ती स्टुअर्टों के शासन-काल में हुआ। इसके साथ बड़ी सावधानी से संरक्षणात्मक उपाय किये गए थे, दूसरे औद्योगिक देशों से काफी आगे निकल जाने पर ही इंगलैंड ने मुक्त व्यापार-प्रणाली अपनाई। उद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्थाओं में ऐसी ही संरक्षण-नीति जर्मनी, फ्रांस, अमरीका और अन्य सभी औद्योगिक राष्ट्रों ने अपनाई थी। लेकिन ध्यान रहे कि यह तर्क उद्योगीकरण की केवल आरम्भिक अवस्थाओं पर लागू होता है। एक बार यदि देश उस अवस्था में पहुँच जाए जहाँ बड़े पैमाने के सारे लाभ मिलने लगते हैं तो संरक्षण के पक्ष में यह तर्क लागू होना बन्द हो जाता है।

आरम्भिक खर्च के अलावा आरम्भिक अजानता पर भी विजय पानी होती है, क्योंकि इसके एवं नये उद्योगों को शुरू करने में भी रुकावट पैदा होती है जो बिना संरक्षण के सफलतापूर्वक चलाए जा सकते हैं। उन्नत औद्योगिक

देशों में अनेक अनुभवी उद्यमकर्ता नये-नये कामों की खोज में रहते हैं, लेकिन कम विकसित देशों में इनका अभाव होता है। विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में कम विकसित देशों के उद्यमकर्ता कृषि और व्यापार में विशेषज्ञता हासिल कर लेते हैं, नये विनिर्माण-उद्योगों की वे न तो टकनीकें जानते हैं और न उन्हें उनकी जोखिम के बारे में कोई अनुमान होता है। अगर सरकार के विचार में लाभप्रद नये उद्योग केवल इसलिए खड़े नहीं किये जा रहे कि लोगों को उनके बारे में जानकारी नहीं है, तो फिर सरकार को अग्रगामी का कर्तव्य निभाना चाहिए। वह माँग और उत्पादन की समस्याओं में अनुसन्धान आरम्भ करके सम्भावी उद्यमकर्ताओं की जानकारी के लिए उसके परिणामों का प्रचार कर सकती है। अगर यह काफी न हो तो वह बाहर से अनुभवी उद्यमकर्ताओं को बुलाकर देश में उद्योग स्थापित करा सकती है। अगर मुख्य बाधा जोखिम की हो तो सरकार कुल या कुछ पूंजी लगाकर, या नयी पूंजी पर ब्याज की गारण्टी देकर, या नये उद्योग के अन्तर्गत बनी चीज़ों को (अपने अस्पतालों, कार्यालयों, जेलों आदि में इस्तेमाल करने के लिए, या पुनः-विक्रय के लिए) खरीदने का संविदा करके, या अन्य तरीकों से उद्योग को आर्थिक सहायता या संरक्षण देकर काम आरम्भ करने की जोखिम अपने ऊपर ले सकती है। इस नेतृत्व का प्रभाव कितना हो सकता है यह सबसे अधिक जापान ने सिद्ध किया है, १८७० और १९०० के बीच वहाँ जितने भी उद्योग स्थापित हुए उनमें से लगभग सभी सरकार ने ही स्थापित किये थे और वही उन्हें चलाती थी, और आरम्भ की कठिनाई के कम हो जाने पर उन्हें निजी उद्यमकर्ताओं को बेच देती थी। काम की शुरुआत करा देने का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि बाद में बहुत लाभकर सिद्ध होने वाले उद्योग भी शुरू-शुरू में अक्सर फेल हो जाते हैं। जब कोई नवीन प्रक्रिया लागू की जाती है, चाहे वह नयी मशीन हो, उत्पादन की कोई नयी वस्तु हो, रेल हो, या कोई नया विदेशी बाजार हो, तो प्रायः काम शुरू करने वाली फर्म दिवालिया हो जाती है और उसके बाद दो या तीन हाथों से गुज़र चुकने पर ही वह उपक्रम वाणिज्यिक दृष्टि से सफल हो पाता है। काम शुरू करने की इस भारी कठिनाई से उद्यमकर्ता घबराते हैं—विशेषकर कम विकसित देशों के, जहाँ उद्यमकर्ता न तो संख्या में बहुत होते हैं और न उनका अनुभव अधिक होता है। अतः अधिक विकसित देशों की तुलना में कम विकसित देशों में अग्रगामी के रूप में सरकार का योग कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ छोटे देशों में उद्योगीकरण के लिए केवल देश के भीतर के बाजार को ही अस्थायी संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि यदि कोई सीमा-शुल्क-संघ स्थापित किया जाए तो तब भी अस्थायी संरक्षण देना होता है।

दो देश क और ख का उदाहरण लीजिए जिनमें से किसी का बाजार इतना विस्तृत नहीं है कि वहां बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ उठाए जा सकें। ऐसी स्थिति में यदि कुछ उद्योगों में क विशिष्टता हासिल कर ले और दूसरों में ख करे, और वे अपने बाजार बांट लें तो हो सकता है कि सतत संरक्षण के बिना ही समय पाकर दोनों के उद्योग कार्यकुशल और लाभप्रद हो जाएँ। कोई सीमाकर-संघ न होने पर शायद क देश अपने उद्योग चालू ही न कर सके, क्योंकि सम्भव है वह शुरू से ही ख के बाजारों में अपना माल खपाने के लिए प्रतियोगिता न कर पाए। परिणाम यह होगा कि न तो क देश के उद्योग आरम्भ हो पाएँगे और न ख देश के। या फिर यह हो सकता है कि क और ख दोनों ही सारे उद्योग चालू कर दें, और अपने-अपने बाजार को संरक्षण दें। ऐसी हालत में इन देशों में से किसी के उद्योग लाभप्रद ढंग से नहीं चल सकेंगे। सीमाकर-संघ से दोनों पक्षों को तब लाभ होता है जब दोनों उद्योगीकरण करें, और उनमें से हरेक भिन्न उद्योगों में विशिष्टता हासिल करे। अगर उद्योगीकरण केवल क में ही किया जाए तो ख देश को तब तक कोई लाभ नहीं पहुँचेगा जब तक क देश में उत्पन्न रोजगार के नये अवसरों का लाभ उठाने के लिए ख देश के लोग क देश में जाकर नहीं बसेंगे। हां, यदि सीमा-कर-संघ बनाकर भी उद्योग इस कारण चालू न किए जा सकें कि वे लाभप्रद नहीं हैं, तो ऐसा संघ बनाने से दोनों पक्षों को हानि होगी। अतः आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के साधन के रूप में सीमाकर-संघ के लाभ और हानियाँ हर मामले में बड़ी सावधानी से आंकी जानी चाहिए। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कई ऐसे देश, जो इस समय टैरिफ के प्रतिबन्धों के कारण एक-दूसरे से कटे हुए हैं, समूचे संसार के लिए अपने प्रतिबन्ध कम करके फायदे में नहीं रह सकते (क्योंकि ऐसा करने पर उनके शिशु-उद्योग कभी आरम्भ ही नहीं होंगे), बल्कि तब अधिक फायदे में रह सकते हैं जब वे अपने पड़ोसी देशों से ऐसे सीमित करार कर लें जिनके अन्तर्गत हर देश कुछ निर्दिष्ट वस्तुओं का ही उत्पादन करे।

विपणन की समस्याओं, नये कामों की प्रारम्भिक कठिनाइयों, और अज्ञानता के कारण कम विकसित देशों को उद्योगीकरण करने में उन्नीसवीं शताब्दी में जितनी बाधाएं थीं उनकी अपेक्षा आज कहीं अधिक हैं, क्योंकि अन्य देशों की तुलना में सर्वाधिक उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों को आज तकनीकी दृष्टि से जितनी श्रेष्ठता प्राप्त है उतनी उन दिनों नहीं हुआ करती थी जब वे अपना औद्योगिक जीवन आरम्भ ही कर रहे थे। यदि कम विकसित देशों में संरक्षण के विशेष उपाय न किये गए तो विशेषज्ञता की तेज गति के कारण ही उनके और औद्योगिक राष्ट्रों के बीच की खाई चौड़ी होती जाएगी। सन्यातक अर्थ-

शास्त्रियों द्वारा मान्य अस्थायी औद्योगिक संरक्षण का तर्क आज जितना सबल मालूम देता है उतना पहले कभी नहीं था।

यह तर्क जनाधिक्य वाले देशों और जनाल्पता वाले देशों पर समान रूप से लागू होता है। अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उसके अलावा उन कम-विकसित देशों को, जिनकी जनसंख्या कृषि-साधनों की तुलना में अधिक है, अपने विनिर्माण उद्योग को इसलिए भी संरक्षण प्रदान करना चाहिए कि इन देशों में कीमत सम्बन्ध वास्तविक सामाजिक लागतों में कतई प्रभावित नहीं होते। इसका कारण यह है कि उनके कृषि श्रमिकों को, जिनकी सीमान्त उत्पादकता कृषि में शून्य या ऋणात्मक होती है उनकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है। यदि ये थोड़ा-बहुत भी निवल उत्पादन दत रहे तो इन वेशी श्रमिकों को विनिर्माण में लगाना वास्तविक सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद है लेकिन शुद्ध आर्थिक दृष्टि से इन्हें तब तक विनिर्माण में लगाना लाभप्रद नहीं माना जा सकता जब तक कि इनका निवल उत्पादन इन्हें मिलने वाली मजदूरी से अधिक न हो। इनमें से भारत-जैसे कतिपय देशों ने विनिर्मित वस्तुओं के मुक्त व्यापार की छूट देकर (या छूट देने के लिए मजबूर किये जाने से) नुकसान उठाया है, इसके बदले उन्हें लाभ कोई नहीं हुआ बल्कि उनके देशीय उत्पादन सदा के लिए समाप्त हो गए और बेरोज़-गारी की समस्या बढ़ गई। ऐसे देशों में सही नीति यही है कि विनिर्माण-उद्योगों में जितना अधिक-से-अधिक रोजगार दिया जा सके, दिया जाए, और जब तक विनिर्माण में श्रमिकों का निवल उत्पादन धनात्मक न हो जाए तब तक प्रतियोगी आयातों की कीमतों से संरक्षण प्रदान किया जाए। यह तर्क सामान्य रूप से सभी कम विकसित देशों पर लागू नहीं करना चाहिए, यह भारत, मिस्र या जमैका-जैसे जनाधिक्य वाले देशों पर लागू होता है, गोल्ड कोस्ट या ब्राज़ील जैसे जनाल्पता वाले देशों पर लागू नहीं होता।

यद्यपि अन्य देशों की अपेक्षा इन जनाधिक्य वाले देशों को अधिक तेजी से उद्योगीकरण करने की ज़रूरत है, लेकिन उनकी कठिनाइयाँ भुगतान शेष की समस्या से और भी बढ़ जाती हैं। रहन-सहन का स्तर नीचा होने के कारण इन देशों में विनिर्मित वस्तुओं की अपेक्षा खाद्य-पदार्थों की माँग अधिक होती है। अत:, एक प्रकार से, इन देशों में औद्योगीकरण की एक मुख्य बाधा आवश्यक खाद्य-पदार्थों के आयात के बदले विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात की है, अर्थात् उन्हें विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अपना हिस्सा अधिकाधिक बढ़ाने की ज़रूरत होती है। ऐसा करना सम्भव है, पहले ब्रिटेन ने किया, उसके बाद जर्मनी और जापान ने किया और समय पाकर भारत और दूसरे देश भी करेंगे। लेकिन आज यह उतना आसान नहीं

है जितना कि ब्रिटेन के उत्थान में था क्योंकि अब पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचे दर्जे की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। जापान और जर्मनी अपनी सरकारों द्वारा घोषित निर्यात-प्रोत्साहन के बल पर ही विश्व-व्यापार में अपना स्थान बना सके। उन्होंने बड़ी जोरदार नीतियाँ अपनायीं, समुद्र पार के बाजारों में अपने विक्रेता भेज दिए, उधार की व्यापक सुविधाएँ दीं, कीमतों में कटौतियाँ कीं और अपने ग्राहकों की इच्छाओं का बड़ा लिहाज रखा। एक दूसरा उपाय यह भी है कि माल की बिक्री में प्रतियोगिता करके विश्व-व्यापार हथियाने के बजाय अन्य देशों से ऐसे व्यवसायी बुला लिए जाएँ जिनकी बिक्री-स्रोत पहले से ही बने हुए हों और जो नए देशों में आकर फैक्टरियाँ खड़ी करें और वहीं से अपने पहले वाले बाजारों में ले जाकर माल बेचें। लगभग छः शताब्दी पहले इंग्लैंड ने इसी प्रकार विश्व-बाजारों में कदम रखा था। अनेक देशों ने इस उदाहरण का अनुकरण किया है, जिनमें सबसे उल्लेखनीय हाल का उदाहरण पुअर्टोरिको की अमरीकी विनिर्माताओं को अपने यहाँ बुलाने की व्यवस्था है। किसी बाजार को हथिया लेना इतना कठिन होता है कि यदि ऐसे उद्यमकर्ताओं से काम शुरू कराया जाए, जिनकी बिक्री के स्रोत पहले से ही बने हुए हों तो आधा मैदान मार लिया समझिए। इसके अलावा एक बात यह भी है कि अन्य कारणों से बाजार हाथ से निकल जाने पर औद्योगिक राष्ट्र जितना हंगामा मचाते हैं उससे कहीं कम क्षुब्ध तब होते हैं जबकि उनके अपने ही व्यवसायी बाहर जाकर अपनी ही पूँजी से उनका बाजार छीन लेते हैं। लेकिन कम विकसित देश इस प्रकार अपना निर्माण करना बुरा समझते हैं (देखिए अध्याय ५, खण्ड ३ (ग))।

इन कम विकसित देशों की कठिनाई यह है कि वे अपने यहाँ मजदूरियों का वह स्तर नहीं रख पाते जिससे विश्व-बाजारों में प्रतियोगिता की जा सके। यदि उद्योग केवल आन्तरिक बाजार के लिए ही उत्पादन कर रहा हो तो दूसरे देशों से वस्तुओं की कीमतें अधिक होने पर भी संरक्षण के बल पर उद्योग को बचाए रखा जा सकता है, लेकिन विश्व-बाजारों में अपना सामान बेचने के इच्छुक [illegible] वाले देश को आन्तरिक संरक्षण से विशेष लाभ नहीं पहुँचता, क्योंकि यदि वह ऐसी कीमतों पर सामान तैयार न कर सके जो आन्तरिक बाजार पर कब्जा बनाए रखने के लिए अपेक्षित हों तो दूसरे बाजारों पर कब्जा करने के अवसर भी थोड़े रह जाते हैं। यह कठिनाई मुद्रा रूपी लागत और वास्तविक लागतों के अन्तर के कारण पैदा होती है जिस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। श्रमिकों की बेशी होने की स्थिति में उन्हें विनिर्माण-उद्योग में लगाने की वास्तविक लागत शून्य के बराबर होती है, लेकिन मुद्रा रूपी लागत ज्यादा पड़ती है। श्रमिकों को नगरों में लाकर बसाने के लिए

किसानी कमाई के औसत स्तर की अपेक्षा विनिर्माणों में अधिक मजदूरियाँ देनी पड़ती हैं, क्योंकि शहर में रहन-सहन का खर्च अधिक होता है। इसके अलावा मजदूर-संघ भी होते हैं जो औद्योगिक श्रमिकों को संगठित करने में बड़े पटु होते हैं, और मुद्रारूपी मजदूरियाँ लगातार बढ़ाते रहते हैं। मुद्रारूपी मजदूरियों के इस स्तर पर प्रायः यह होता है (जैसा कि इस समय अमरीका में हो रहा है) कि देश केवल इसीलिए उद्योगीकरण नहीं कर पाता कि उसके उत्पादन की मुद्रारूपी लागत बहुत ऊँची होती है। इसका उपाय या तो उत्पादन में आर्थिक सहायता देना है, या मुद्रा का अवमूल्यन करना है। खुल्लमखुल्ला आर्थिक सहायता देने से औद्योगिक प्रतियोगी विरोध करते हैं, अतः अधिकांश औद्योगिक देश कम स्पष्ट प्रकार की सहायता ही देते हैं, जैसे वाणिज्यिक विक्रयों पर चुंगियाँ उठाना, रेटों और करों में छूट देना, बिजली, पानी या परिवहन के लिए कम प्रभार लेना, आदि। यह हमेशा काफी नहीं होता, अतः जैसा कि जापान में किया गया, निर्यात-आन्दोलन प्रारम्भ करने के साथ-साथ मुद्रा का अवमूल्यन भी करना पड़ सकता है। अधिक विकसित देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों को अवमूल्यन करने में कम कठिनाई होती है, क्योंकि उनकी आयात-निर्यात स्थिति पर इसका बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है (उनके आयातों और मूलतः आवश्यक वस्तुओं के निर्यातों की कीमतें विदेशी मुद्रा में होने के कारण उन पर अवमूल्यन का प्रभाव नहीं पड़ता), और क्योंकि उनके बाह्य ऋण और परिसम्पत्तियाँ प्रायः विदेशी मुद्रा में आँकी जाती हैं। हाँ, रहन-सहन के खर्च और इसके परिणाम-स्वरूप मुद्रारूपी मजदूरियों पर पड़ने वाले प्रभावों के कारण अवमूल्यन का उपयोग अधिक सन्देहास्पद हो जाता है। यदि मुद्रारूपी मजदूरियों को उसी सीमा तक बढ़ाना पड़े तो अवमूल्यन का कोई लाभ नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक किसी देश के लोग इस काम में सहयोग देने को तैयार न हों तब तक देश अपनी आर्थिक समस्याएँ नहीं सुलझा सकता।

विश्व-व्यापार में अपना स्थान बनाने में इतनी बाधा आती है कि केवल साहसी और दृढ़-निश्चयी राष्ट्र ही उसमें सफलता पा सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ब्रिटेन ने अपना विनिर्माण सारी दुनिया में भेजकर इस काम में सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों यह आज की अपेक्षा सरल था क्योंकि ब्रिटेन को अपने से बहुत बड़े प्रतियोगियों से लोहा नहीं लेना पड़ा। इसके बाद जर्मनी आया, जिसके प्रयत्न और भी दृढ़ थे और जिसे सरकारी सहायता भी अधिक प्राप्त थी। हालाँकि उसे अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई हुई लेकिन विश्व-व्यापार में जितना स्थान वह चाहता था उतना उसे मिल गया। जापान का यह दुर्भाग्य था कि वह बड़ी मन्दी के दौरान इस क्षेत्र में आया,

उस समय समूचा विश्व-व्यापार सङ्कुचित हो रहा था लेकिन इसके बावजूद जापान ने १९२९ और १९३७ के बीच अपने निर्यात दुगुने कर लिए। भारत और इटली-जैसे कुछ देशों के लिए विश्व-व्यापार का बड़ा महत्त्व है, लेकिन उनमें सफलता की कमी है। इन विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में इनका योग १८९९ में २.३ और ३.७ प्रतिशत था वह १९३७ में घटकर २.१ और ३.०६ प्रतिशत रह गया। ये दोनों देश ऐसे हैं जो यदि अपनी जनसंख्या के लगभग ३५ प्रतिशत को विनिर्माण-कार्यों में न लगाएँ तो अपने वासियों को रोज़गार और अच्छा खाना नहीं दे सकते और यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात बढ़ाने का आन्दोलन उनकी आर्थिक नीतियों का सबसे प्रमुख अंग न समझा जाए। ऐसे देशों में भारत आदि का स्थान सबसे अनुकूल है, क्योंकि उनके पास धातु-उद्योगों के लिए आवश्यक ईंधन और कच्ची धातुएँ मौजूद हैं। मिस्र आदि दूसरे देशों की इस मामले में स्थिति अच्छी नहीं है, क्योंकि वे केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्यात कर सकते हैं जिनकी विश्व-माँग बढ़ती रहने की सम्भावना नहीं की जा सकती। यदि इन्हें अपनी जनसंख्याओं को रोज़गार देना है और उनके लिए भोजन की व्यवस्था करनी है तो इन्हें और भी ज़ोरदार प्रयत्न करने होंगे। इससे निम्नतर औद्योगिक देश दो भागों में बँट जाते हैं—एक तो वे जो धातु और मशीनों का निर्यात करते हैं और दूसरे वे जो खनिज-पदार्थों की कमी के कारण वस्त्र और दूसरी ऐसी वस्तुओं का निर्यात करते हैं जिनमें कुल कीमत को देखते हुए धातु पर लगायी गई लागत थोड़ी ही होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्नत औद्योगिक देश इन निर्यात-आन्दोलनों का विरोध करते हैं। वे इनके तौर-तरीकों को बुरा बताते हैं—विक्रीकार, उधार की गुंजाइशें, उपदान, विदेशों से आकर बसने वाले विनिर्माताओं के सामने रखे गए आकर्षण, मुद्रा-अवमूल्यन, कम मजदूरियाँ, करों में छूट—और इस बात पर बड़ा हो-हल्ला मचाते हैं कि इन निर्यात-आन्दोलनों के पीछे सरकार का हाथ होता है। लेकिन विश्व-व्यापार के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले नये-नये देशों के पास एक अकाट्य उत्तर होता है, वह यह कि वे जितना बेचते हैं उतना ही खरीदते भी हैं, अतः उनके विश्व-बाजार में आने से किसी देश के विश्व-व्यापार में कमी नहीं आनी चाहिए। यदि इन्हें मूलतः आवश्यक वस्तुओं की अधिक उत्पत्ति करनी है तो इससे पुराने औद्योगिक देशों की विनिर्मित वस्तुओं के बदले मूलतः आवश्यक वस्तुएँ आयात करने की क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। नये देशों के उद्योगीकरण से पुराने देशों को तभी कठिनाई पैदा होती है जबकि मूलतः आवश्यक वस्तुओं का विश्व-उत्पादन साथ-साथ नहीं बढ़ रहा होता। यह समूचे संसार की

अर्थ-व्यवस्था के सन्तुलन की समस्या है। मूलत आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई बढ़ाने का उत्तरदायित्व स्पष्टतया उन देशों पर है जिनके पास ये साधन हैं— सर्वाधिक उत्तर और दक्षिण अमरीका आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के विरल बसावट वाले महाद्वीपों पर। यदि ये देश शेष संसार की आवश्यकतानुसार सामान सप्लाई करने के लिए आप्रवासियों को भी निकाल दें और मूलत आवश्यक साधनों का विकास भी न कर सकें, तो इसका दोष मुख्य रूप से उन्हीं के ऊपर होगा।

घूम फिरकर हम फिर उसी सवाल पर आ जाते हैं जो हमने पहले उठाया था, अर्थात् यह कि विश्व-व्यापार में सन्तुलन विनिर्मित वस्तुओं कच्चे सामानों और खाद्य-पदार्थों की सन्तुलित वृद्धि पर निर्भर है। १६२६ से पहले के पचास वर्षों में जब विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन लगभग ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा था तो कच्चे सामानों में ३½ प्रतिशत और खाद्य-पदार्थों में २ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होने पर आयात-निर्यात स्थिति अपरिवर्तित रही थी। विनिर्मित वस्तुओं, कच्चे सामान और खाद्य-उत्पादन का यह सम्बन्ध अभी तक कायम है या नहीं यह तो हमें नहीं पता लेकिन इसमें कोई बड़ा परिवर्तन होने का कारण दिखाई नहीं देता। इसकी तुलना में विकास की दरों में बड़े परिवर्तन आ सकते हैं। वास्तव में कम विकसित देशों के उद्योगीकरण से इन दरों पर बहुत थोड़ा फर्क पड़ता है। उदाहरण के लिए, एशिया के औद्योगिक विकास की दर में काफी परिवर्तन आने पर भी विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-उत्पादन की वृद्धि में उतना अन्तर नहीं आएगा जितना कि अमरीका के उद्योगों के विकास की दर में थोड़ा-सा परिवर्तन आने पर ही पैदा हो जाएगा। जैसे, यदि अमरीका गिरावटों पर नियन्त्रण करने की पद्धति निकाल ले, तो उसके आर्थिक विकास की सामान्य दर में जो वृद्धि होगी वह मूलत आवश्यक वस्तुओं की विश्व-सप्लाई पर उससे कहीं अधिक दबाव डालेगी जो भारतीय उद्योग के १० प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होने पर पड़ सकता है। इसी प्रकार, चूंकि एशिया और अफ्रीका मिलकर संसार के खाद्य-पदार्थों का आधे से बहुत ही कम उपभोग करते हैं अत काफी विकास कर लेने तक ये महाद्वीप खाद्य-पदार्थों की विश्व-मांग पर उतना प्रभाव नहीं डाल पाएंगे जितना कि इस समय यूरोप और अमरीका की वृद्धि-दरों में थोड़ा-सा परिवर्तन ही डाल सकता है। इन महाद्वीपों के आर्थिक विकास के प्रभाव तब तक पता नहीं चलते जब तक कि हम इन्हें समूचे विश्व की मांग या सप्लाई की तुलना में रखकर नहीं देखते। चाहे जल्दी हो या देर से, यदि मूलत आवश्यक वस्तुओं की कमी पैदा हुई तो वह अफ्रीका या एशिया की जनसंख्या-वृद्धि या उद्योगीकरण के फलस्वरूप बढ़ने वाली छोटी-मोटी मांग के कारण नहीं होगी, बल्कि

यूरोप और अमरीका की पहल से ही बढ़ी हुई माँग में और द्रुत विस्तार होने कारण होगी।

अब अनेक लोग यह आशंका प्रकट करने लगे हैं कि १९२९ से पहले की सन्तुलित विकास वाली अवस्था दुबारा लाना कठिन है। उनका विचार है कि औद्योगिक वस्तुओं का विश्व-उत्पादन अब औसतन ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी ऊँची दर से बढ़ेगा क्योंकि औद्योगिक देश गिरावटों पर नियन्त्रण करना सीख गए हैं और इनके अलावा नए-नए देश अपना उद्योगीकरण कर रहे हैं। यह कच्चे सामान के उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर है जिसके बिना औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती। वैसे कच्चे सामान का उत्पादन वाणिज्यिक आधार पर किया जाता है अतः खनिज-पदार्थों की कमी को छोड़-कर, ऐसे आसार दिखाई नहीं देते कि बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए यथेष्ट कच्चा सामान उपलब्ध नहीं होगा।

खाद्यान्न के उत्पादन की सम्भावना इससे अधिक सन्देहजनक है। १९२९ तक खाद्यान्न के उत्पादन में जो २ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हो रही थी उसका एक कारण यह भी था कि उत्तर और दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रे-लिया में नयी-नयी जमीनें खेती के काम में लाई जा रही थीं। अब चूँकि नयी जमीनों को खेती के उपयोग में लेने का काम धीमा हो चला है, अतः खाद्यान्नों के उत्पादन को पहली जितनी दर कायम रखना प्रति एकड़ उपज की वृद्धि पर निर्भर होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दो या तीन दशाब्दियों तक एशिया और अफ्रीका में प्रति एकड़ उपज में समुचित वृद्धि होती रहेगी, क्योंकि इस समय इनकी प्रति एकड़ उपज बहुत कम है जिसे भविष्य में बढ़ाने की काफी गुंजाइश है, लेकिन कृषि के उत्पादन में जिस प्रकार की वृद्धि जापान में हुई वैसी ही इन देशों में होना मुश्किल है, क्योंकि इसमें भारी राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी बाधाएँ हैं। अतः हम विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि आगामी दो या तीन दशाब्दियों में संसार के खाद्य-उत्पादन में अपेक्षित दरों पर वृद्धि हो सकेगी। वैसे, सभी लोग इन आशंकाओं को ठीक नहीं मानते। कुछ लोगों का तो विश्वास है कि निकट भविष्य में ही ऐसी नयी कृषि क्रान्ति आने वाली है जिससे सारा संसार खाद्यान्न से पट जाएगा। यदि इन लोगों का विश्वास गलत हो तो संसार में केवल उत्तर अमरीका ही ऐसा देश बच रहता है जिससे खाद्यान्न की कमी दूर करने की आशा की जा सकती है। खाद्यान्न की कमी की आशंका करने वाले लोग अपने तर्क के समर्थन में पिछले २० वर्षों के परिवर्तनों का लेखा-जोखा दे सकते हैं। १९४७ में लैटिन अम-रीका के निवल कृषि-निर्यात १९३४-३८ की अपेक्षा २३ प्रतिशत घट गए और निकट-पूर्व और सुदूर-पूर्व के निर्यातों में भी क्रमशः ७२ प्रतिशत और

६० प्रतिशत की कमी हुई। इन कमियों को दूर करने के लिए किन्हीं अन्य देशों में अनुरूप वृद्धियाँ नहीं हुईं। अमरीका के निवल-निर्यात १६ प्रतिशत बढ़े और ओशियाना के २१ प्रतिशत पर सबसे अधिक वृद्धि अमरीका ने की जिसके कृषि-निर्यात बढ़ते-बढ़ते दून हो गए। असंतुलन का भय इस पर आधारित नहीं है कि खाद्यान्न का विश्व उत्पादन निरपेक्ष दृष्टि से समुचित मात्रा में नहीं बढ़ेगा, बल्कि यह है कि संसार के बाकी देश अपनी कमियों की पूर्ति के लिए अमरीका पर अधिकाधिक निर्भर होते जाएँगे। यदि अमरीका की जनसंख्या वर्तमान ऊँची दरों पर ही बढ़ती रही तो सम्भव है कि अमरीका आगे चलकर खाद्यान्न का निर्यात न कर सके, लेकिन फिलहाल—अर्थात् अगले २५ वर्ष या इससे भी अधिक तक—अमरीका संसार की खाद्यान्नों की कमी को दूर करता रह सकता है बशर्ते कि इसमें उसे कोई आर्थिक घाटा न हो।

खाद्यान्न के लिए अमरीका पर निर्भर रहने में दो कठिनाइयाँ हैं, पहली आयात-निर्यात स्थिति पर पड़ने वाले प्रभावों की है और दूसरी डालरों की माँग और उनकी सप्लाई पर पड़ने वाले प्रभावों की है। अमरीका पर निर्भर रहने से आयात-निर्यात की स्थिति अन्य औद्योगिक देशों के प्रतिकूल हो जाएगी। अमरीका की श्रेष्ठता कृषि-पदार्थों की अपेक्षा विनिर्मित वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता में है। अतः यदि अमरीका खाद्यान्न का निर्यात करता है तो उसके बदले अन्य देशों को विनिर्मित वस्तुओं के रूप में बहुत मँहगी कीमत चुकानी पड़ेगी। अर्थात् अमरीका से खाद्यान्न आयात करने वाले औद्योगिक देशों को आयात किये गए खाद्यान्न के बदले बहुत अधिक विनिर्मित वस्तुएँ अमरीका को भेजनी होंगी। लेकिन अमरीका को अन्य देशों की विनिर्मित वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता बहुत ही कम है। वह खाद्यान्नों के निर्यात के बदले अधिकाधिक विनिर्मित वस्तुओं का आयात करना नहीं चाहेगा, बल्कि अपने विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात कम करके भुगतान-शेष सन्तुलित रखने का प्रयत्न करेगा। अमरीका के ऐसा करने पर विनिर्मित वस्तुओं के विश्व व्यापार में उसका योग कम हो जाएगा। चूँकि विश्व-व्यापार में अमरीका की विनिर्मित वस्तुओं की प्रतियोगिता करने की क्षमता बहुत अधिक है, अतः अमरीका के भाग में कमी करना अत्यधिक कठिन है। यह कठिनाई डालर की कमी के रूप में प्रकट होती है। यह कमी इस बात का संकेत है कि अन्य राष्ट्र अमरीका से खाद्यान्न भी खरीद रहे हैं और विनिर्मित वस्तुएँ भी ले रहे हैं जबकि वास्तव में उन्हें अमरीका से विनिर्मित वस्तुएँ कम-से-कम लेनी चाहिएँ और दूसरे देशों से अपेक्षाकृत अधिक खरीदनी चाहिए।

युद्धोत्तरकालीन डालर की कमी बिलकुल इसी प्रकार की है। द्वितीय

विश्व-युद्ध के फलस्वरूप जर्मनी और जापान का औद्योगिक उत्पादन कम हो गया और यूरोप और एशिया के कृषि-उत्पादन को भी धक्का लगा, अतः विश्व के सभी देश खाद्यान्न कच्चे सामान और विनिर्मित वस्तुओं, तीनों के मामले में अमरीका पर अधिकाधिक निर्भर हो गए। डालर की वर्तमान कमी तभी दूर हो सकेगी यदि अमरीका पर अन्य देशों की निर्भरता कम हो जाए। १९३९ से पहले संसार के बाकी देशों को अमरीका से खाद्यान्न मँगाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। बल्कि अमरीका ही खाद्यान्न का निवल आयातक था। यह स्थिति फिर वापस आ सकती है यदि संसार के बाकी देशों में खाद्यान्न के उत्पादन में तेजी से वृद्धि की जा सके। लेकिन यदि खाद्यान्न का उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ा तो विनिर्मित वस्तुओं की तुलना में खाद्यान्न मँहगे और औद्योगिक देशों को विश्व-बाजार में अमरीका की विनिर्मित वस्तुओं के योग में कमी करना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इस कठिनाई की मात्रा मुख्य रूप से इस पर निर्भर है कि स्थिति को देखते हुए कीमतों में उचित समंजन कितनी तेजी से होता है। डालर की कमी केवल इसी बात की द्योतक है कि अमरीका अपनी विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के लिए बहुत ही कम कीमतें वसूल कर रहा है या मूलतः आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही बहुत कम कीमतें अदा कर रहा है। कीमतों में उचित समंजन होने पर डालर की कमी अपने-आप दूर हो सकती है, लेकिन समंजन में समय लगता है।

संक्षेप में, विश्व-व्यापार के भविष्य के बारे में कुछ भी कहना असम्भव है। चूँकि संसार के कुछ देश अपनी जनसंख्या के लिए खाद्य-पदार्थों का प्रबन्ध स्वयं नहीं कर पा रहे, अतः मूलतः आवश्यक वस्तुओं के निवल आया-तकों और इन वस्तुओं के निवल निर्यातकों के रूप में विश्व दो भागों में बँटा रहेगा और कुछ जनाधिक्य वाले देशों के विश्व व्यापार में जोर-शोर से भाग आ जाने पर यह स्थिति और भी गम्भीर हो सकती है (विश्व-व्यापार में अपना योग तेजी से बढ़ाने वाले देशों में भारत, टर्की, चीन, जावा और शायद रूस हैं)। उद्योगीकरण बढ़ने के साथ-साथ ये देश शायद अपनी खाद्यान्न और कच्चे सामान की माँग अधिकाधिक बढ़ाएँगे। यह मुख्यतः सापेक्ष कीमतों और सापेक्ष सप्लाई पर निर्भर करेगा कि कौनसे दूसरे देश मूलतः आवश्यक वस्तुओं के निवल आयातक या निवल निर्यातक बन जाते हैं। अमरीका की स्थिति दो बार बदल चुकी है (पहले वह निवल निर्यातक था, उसके बाद निवल आयातक हुआ, और अब फिर निवल निर्यातक बन गया है) और यह नहीं कहा जा सकता कि अब अमरीका किस करवट बैठेगा। यह तो निश्चित है कि विश्व-व्यापार में निरन्तर वृद्धि होगी, लेकिन इस बारे में मौन रहना ही अच्छा है कि मूलतः आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई करने में कौन देश प्रमुखता

प्राप्त करेंगे, या समुचित सप्लाई प्राप्त करने के लिए क्या कीमतें अदा करनी होगी।

(ख) प्रवास—अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास के अनेक कारण होते हैं जिनमें से सभी का सम्बन्ध आर्थिक विकास से नहीं होता। कुछ लोग धार्मिक, राजनीतिक या जातिगत कारणों से दूसरे देशों में जाते हैं जिसके पीछे या तो अपने यहाँ के उत्पीडन से बचने की भावना होती है या प्रचारक के रूप में दूसरे देश में अपना सन्देश ले जाने की इच्छा होती है। विश्व इतिहास में प्रवास के अनेक उदाहरण मिलते हैं : मिस्र से यहूदियों का प्रवास, अमरीका में प्यूरिटनों का प्रवास, भारत से बौद्धों का प्रवास और इसी प्रकार के अन्य प्रवास। दुर्भाग्य से बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों में उपर्युक्त कारणों से जितना प्रवास हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था, जिसका कारण यही बताया जा सकता है कि विज्ञान या धन में वृद्धि होने के साथ स्वतन्त्रता और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि नहीं हुई है। इन पचास वर्षों में साम्यवाद और फासिस्टवाद अभ्युदय के कारण और पैलेस्टाइन, भारत और कोरिया के विभाजनों के कारण बड़े पैमाने पर लोगों की भगदड़ और कत्ल हुए हैं। पिछले पाँच हजार वर्ष से साक्षर होने पर भी मानव-जाति अपनी किसी दुष्ट प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकी है।

यदि हम प्रवास के शुद्ध आर्थिक कारणों पर विचार करें तो देखेंगे कि इतिहास के कुछ सबसे भारी प्रवास दुर्भिक्ष और भुखमरी से बचने के लिए हुए हैं। मध्य एशिया के मैदानों से हूण और मंगोल आदि जातियों के भारी प्रवास का कारण प्रायः जलवायु का परिवर्तन बताया जाता है हालांकि हम ठीक से नहीं कह सकते कि वास्तविक कारण क्या था। भूख की समस्या के अलावा लोग इसलिए भी दूसरे देशों में जाकर प्रवास करते हैं कि वहाँ उन्हें अपने देश की अपेक्षा अधिक सुरक्षा या बेहतर आर्थिक अवसर मिलने की आशा होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जो बड़े प्रवास आन्दोलन आरम्भ किये गए और प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक पहले जिसकी चरम अवस्था में दस लाख से भी अधिक यूरोपवासी, चीनी और भारतीय हर साल स्थायी रूप से अपने देश छोड़ रहे थे, मुख्यतः इसी आशा पर आधारित थे कि समुद्र-पार देशों में बेहतर आर्थिक अवसर उपलब्ध हैं।

आर्थिक विकास की दृष्टि से उत्प्रवास का सम्बन्ध अपरिहार्य जनाधिक्य के सिद्धान्त से है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो देश सौभाग्य से अपने रहन-सहन के स्तर को उठाने का कोई साधन ढूंढ निकालता है—उदाहरण के लिए विदेश-व्यापार का अवसर या सिंचाई या बेहतर बीज या फसलों के नव हेर-फेर-जैसा कोई नयी कृषि टेक्नीक—या अपनी मृत्यु-दर कम करने का कोई उपाय निकाल

लेता है—उदाहरण के लिए पानी की सफाई या लोक-स्वास्थ्य में सुधार—उसकी जनसंख्या में इतनी तेजी से वृद्धि होती है कि आर्थिक दृष्टि से वह देश पिछड़ी हालत में पहुँच जाता है। अतः हम ऐसा देश, जहाँ आर्थिक विकास थोड़ा-बहुत हो चुका है अन्ततः उतने अधिक जनाधिक्य की स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे अपने देशवासियों को अन्य देशों में भेजना पड़ता है। विश्व-इतिहास में अक्सर ऐसा हुआ है। ईसा से ७५० से ५५० वर्ष पूर्व के बीच ग्रीक उपनिवेशों की स्थापना इसका जाना हुआ उदाहरण है। हाल के जमाने में आयरलैंड, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, चीन और जापान के उत्प्रवास भी इसी प्रकार के थे। इसी तर्क से उलटा निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि उत्प्रवास से जनाधिक्य की समस्या को कोई राहत नहीं मिलती, क्योंकि यदि जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमा तक बढ़ने की प्रवृत्ति होती है तो उत्प्रवास के फलस्वरूप पैदा होने वाली जनसंख्या की कमी जल्दी ही पूरी हो जाती है। ढूँढने पर शायद इसके कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। लेकिन जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जनसंख्या की अतिरिक्त वृद्धि अपरिहार्य नहीं है—शायद पहले कभी रही हो लेकिन आज तो निश्चय रूप से नहीं है। मनुष्य ने जन्म और मृत्यु दोनों पर नियन्त्रण करना सीख लिया है और भविष्य में कुछ भी असम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम देख चुके हैं, जनाधिक्य का एकमात्र उपाय उत्प्रवास नहीं है, जिसमें जनसंख्या का वह भाग, जिसके लिए देश में अन्न नहीं जुटाया जा सकता, बाहर के देशों में चला जाता है। इसका एक दूसरा उपाय यह भी है कि विदेश-व्यापार में अपना योग बढ़ाया जाए, विनिर्माण-उद्योगों या नौवहन, बीमा, पर्यटन-उद्योग, शिल्प-उद्योग आदि का विकास करके अन्न खरीदने के लिए विदेशी मुद्रा कमाई जाए। इससे इस अर्थ में तो जनाधिक्य दूर नहीं किया जा सकता कि देश के नागरिकों को अन्य स्थानों में अधिक धन कमाने के अवसर मिल सकते हैं—ब्रिटेन के फैक्टरी मजदूरों को न्यूजीलैंड आदि स्थानों पर काम करना अधिक लाभकर सिद्ध हुआ था—लेकिन इस अर्थ में अवश्य जनाधिक्य की स्थिति को दूर किया जा सकता है कि ऐसा न करने पर लोगों को ठीक से भोजन नहीं दिया जा सकेगा (जैसी कि भारत और चीन में इस समय स्थिति है)। लेकिन यहाँ भी हम दीर्घकालीन गतिरोध के सिद्धान्तवादियों से नहीं बच सकते। जैसा कि हम देख चुके हैं, इन लोगों का कहना है कि विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात-व्यापार बढ़ाने से जनाधिक्य की हालत में केवल अस्थायी राहत मिलती है, क्योंकि देश विश्व-व्यापार में अपना योग अधिक दिन तक कायम नहीं रख सकता, ऐसी शक्तियाँ सक्रिय हो उठती हैं जिनके कारण देश को विश्व-व्यापार में अपना स्थान खो

देना पड़ता है। (देखिए इस अध्याय का खण्ड २ (क)) अतः वे कहते हैं कि आर्थिक सफलता का अपरिहार्य अंग जनाधिक्य और उत्प्रवास है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व-इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं आपत्ति केवल 'अपरिहार्य' शब्द के प्रयोग पर है।

कभी-कभी अधिक जनसंख्या वाला देश उत्प्रवास के लिए सुविधाएँ देना चाहता है, हालांकि सदा ही ऐसा नहीं होता। कुछ कबीलों ने अपने सदस्य दासों के रूप में काम करने के लिए बेचे हैं। चीन और भारत आदि कुछ देशों की सरकारों ने अन्य देशों के भरती एजेण्टों को करारबद्ध श्रमिक ले जाने की सुविधाएँ दी हैं—करारबद्ध श्रमिकों की स्थिति अस्थायी दासता से कोई विशेष भिन्न नहीं होती। ब्रिटेन ने भी उत्प्रवास की सुविधाएँ दी हैं, १७वीं, १८वीं और १९वीं शताब्दियों में उसने अपराधियों और बागियों को दूसरे देशों में ले जाकर बसाया और अब २०वीं शताब्दी में लोगों को डामिनियनों में जाकर बसने के लिए यात्रा-व्यय का कुछ हिस्सा सरकारी खजाने से दिया जाता है।

उस देश के सामने कई समस्याएँ आ जाती हैं जहाँ के लोग अन्य देशों में बसने के लिए जा रहे होते हैं। भरती एजेंटों के धोखा से उत्प्रवासियों को बचाने की समस्या के अलावा बहुत भीड़भाड़ वाले या समुद्र-यात्रा की दृष्टि से अयोग्य जहाजों में लोगों के भेजे जाने का खतरा, नए देशों में मालिकों का दुर्व्यवहार, या जाति या धर्म के कारण उत्पीडन के प्रश्न भी होते हैं। ये समस्याएँ काफी बड़ी हैं, और असन्तुष्ट होने पर भारत सरकार ने कई बार उन देशों के लिए उत्प्रवास पर पाबन्दी लगाई है जहाँ उसके विचार में प्रवासी भारतीयों के साथ उचित व्यवहार नहीं किया जाता। निष्ठा की समस्या भी एक बड़ी समस्या है। उत्प्रवासियों को बसाने वाले कुछ देश उन्हें आत्मसात् कर लेना चाहते हैं क्योंकि इससे अल्पसंख्यकों के कारण पैदा होने वाली समस्याओं में काफी कमी हो जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर वे अपने स्कूलों या अदालतों में आप्रवासियों की भाषा को मान्यता नहीं देते, आप्रवासियों के बच्चों और देशी बच्चों के साथ यथासम्भव एकसा ही व्यवहार किया जाता है। अमरीका की आप्रवास-सम्बन्धी नीति का आधार यही है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोपीय महाद्वीप से आने वाले आप्रवासियों के प्रति ब्रिटेन ने भी यही नीति अपनायी थी कानून के द्वारा उनके लिए यह अनिवार्य बना दिया गया था कि उन्हें देशी अंग्रेजों को शिक्षुओं के रूप में रखना पड़ेगा, इसके अलावा प्रशासनिक उपायों से अपने अलग बस्ती बनाने या अन्य प्रकार से ब्रिटेनवासियों के साथ घुल मिल जाने का विरोध करने से रोका जाता था। इन नीतियों का विरोध ऐसे आप्रवासी करते हैं जो नए देश में अपनी संस्कृति और भाषा प्रयत्न से जीवित रखना चाहते हैं। चीन के

उत्प्रवासी चीन देश के प्रति अपनी निष्ठा छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। यदि प्रवासी नए देश के लोगों के साथ घुलने-मिलने से इन्कार कर दें तो वस्तुतः उनसे अनेक असाध्य राजनीतिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। ऐसी ही कठिनाइयाँ तब भी पैदा होती हैं जब प्रवासियों का नए देश तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न देशों के आन्तरिक मामलों में दखल बढ़ जाता है जिनसे प्रवासी लोग आकर बसे होते हैं। दूसरी ओर, यदि आप्रवासियों को घुल-मिल जाने की अनुमति न दी जाए या उनके प्रति भेदभाव बरता जाए तो उनका मूल देश निश्चय ही विरोध करता है जैसे कि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन ने चीन से विरोध प्रकट किया था और बीसवीं शताब्दी में भारत ने दक्षिण अफ्रीका से किया है।

इन राजनीतिक कठिनाइयों के अलावा, उत्प्रवास से आर्थिक कठिनाइयाँ भी पैदा होती हैं। उत्प्रवासियों में अधिकतर २० और ३० वर्ष के बीच के लोग होते हैं। मूल देश उनके पालन-पोषण और शिक्षा पर खर्च करता है लेकिन जब उनकी काम करने की उम्र आती है तब वे देश से बाहर चले जाते हैं। इन जवान लोगों के चले जाने पर देश की जनसंख्या में बूढ़े और आश्रितों का अनुपात बढ़ जाता है और काम करने की उम्र वाले लोगों के ऊपर अधिकाधिक भार पड़ता है। हाँ, यदि उत्प्रवासी अपने पीछे छोड़े हुए लोगों का भरण-पोषण करने के लिए रुपया भेजते रहें तो मूल देश के लोगों के ऊपर भार नहीं पड़ता। साथ ही, इस प्रकार से प्राप्त रुपयों की सहायता से देश के भुगतान-शेष की स्थिति भी काफी सुधर जाती है। उत्प्रवास से स्त्री-पुरुषों की संख्या का सन्तुलन भी बिगड़ जाता है, क्योंकि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का उत्प्रवास अधिक होता है, वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में बारबेडोज में भारी उत्प्रवास के उपरान्त वयस्क स्त्रियों की संख्या पुरुषों से दूनी हो गई थी। अपने कुशल लोगों को बाहर भेजने से भी प्रायः हर देश को बड़ी हिचकिचाहट होती है, विशेषकर जब यह पता हो कि लोग बाहर जाकर ऐसे प्रतियोगी उद्योग खड़े करेंगे जिनसे मूल देश को हानि होगी, अनेक देशों ने उदाहरण के लिए १८वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने, इसीलिए अपने कुशल शिल्पियों को बाहर भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया है।

मूल देशों की भाँति आप्रवासियों को बसाने वाले देशों का दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न होता है और वह भी आर्थिक, राजनीतिक, जातीय और धार्मिक विचारों के इसी मिले-जुले रूप से प्रभावित होता है।

आर्थिक दृष्टि से, लगभग सभी देश कुशल आप्रवासियों का स्वागत करते हैं विशेषकर यदि उनमें किन्हीं नये उद्योगों को शुरू करने की सामर्थ्य हो। स्वागत की भावना तब और अधिक हो जाती है जब आप्रवासी पूरी तरह देशी

लोगों के साथ घुल मिल जाने के लिए इच्छुक हों, क्योंकि अधिकांश देश विदेशी वर्गों के प्रति सकालु होते हैं। आप्रवासियों को बसाने वाले देश की प्रसन्नता तब और बढ जाती है जब आप्रवासी देशी शिशुओं को अपना कौशल सिखाने के लिए तैयार हो जाते हैं। १४८४ के ब्रिटेन के कानून ने जो १५२३ में दुबारा पास किया गया, आप्रवासियों पर यह बंदिश लगा दी थी कि वे अपने बच्चों के अलावा अन्य कोई विदेशी शिशु न रख सकेंगे। यदि आप्रवासियों के पास कोई नया कौशल न हो, विशेषकर यदि वे सब किसी एक ही व्यापार के विशेषज्ञ हों तो अधिक कठिनाई पैदा होती है। उदाहरण के लिए, अनेक प्रकार के कौशलों की जानकारी रखने वाले आप्रवासियों के समूह की तुलना में केवल डॉक्टरों या खान खोदने वालों के आप्रवास का विरोध अधिक होता है। विदेशी व्यवसायियों के आप्रवास से भी इसी प्रकार की समस्याएँ खड़ी होती हैं। अनेक देश इस बात के लिए जोर देते हैं कि इन व्यवसायियों को देशी लोग नौकरी में रखने चाहिएं। कुछ देश चाहते हैं कि आप्रवासी केवल नये उद्योगों तक ही सीमित रहें और ऐसे नियम बना देते हैं कि आप्रवासी छोटे-छोटे देशी व्यापारियों की प्रतियोगिता में काम-धन्धे खड़े नहीं कर सकते। नई फैक्ट्रियों के समान नये-नये उद्योग खड़े करने के लिए आने वाले व्यवसायियों का पूर्व निर्धारित शर्तों के अनुसार अवश्य स्वागत किया जाता है जबकि पश्चिमी अफ्रीका में आने वाले सीरियावासी या वेस्ट इंडीज में जाने वाले चीनी पसारियों आदि ऐसे व्यवसायियों का काफी विरोध होता है जो केवल देशी व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता करने के लिए जाते हैं।

वैसे, अकुशल लोगों के भारी आप्रवास की अपेक्षा विशेष योग्यता प्राप्त आप्रवासियों से बहुत ही थोड़ी राजनीतिक समस्याएँ पैदा होती हैं। भारी आप्रवास का स्वागत केवल बहुत ही सीमित परिस्थितियों में किया जाता है। ऐसा तभी सम्भव है जबकि देश में बहुत जमीन खाली पड़ी हो और ऐसा खयाल किया जाता हो कि जनसंख्या बढ़ने से बड़े पैमाने के लाभ उठाए जा सकते हैं, उदाहरण के लिए अमरीका में आप्रवास के लिए तब तक द्वार खुले रहे जब तक कि वहां भूमि उपलब्ध थी लेकिन सारी भूमि पर बसावट हो चुकने के बाद आप्रवास के विरुद्ध इतनी आवाजें उठीं कि उनकी उपेक्षा करना कठिन हो गया। राजनीतिक कारणों से भी आप्रवास का स्वागत किया जा सकता है, आस्ट्रेलिया आर्थिक कारणों से आप्रवासियों को नहीं बसा रहा, बल्कि उसका मुख्य उद्देश्य एशिया के विरुद्ध अपनी सुरक्षा बढ़ाना है। आर्थिक दृष्टि से उचित न होने पर भी इजराइल इसीलिए आप्रवासियों को बसने की अनुमति दे रहा है क्योंकि वह अन्य देशों में उत्पीड़ित सभी यहूदियों के लिए अपने देश का द्वार खुला रखना अपना कर्तव्य समझता है। ब्रिटेन और

अमरीका-जैसे कई राष्ट्रों की आप्रवास-सम्बन्धी नीतियाँ बड़ी हद तक उत्पीड़ित लोगों को आश्रय देने की भावना से प्रभावित रही हैं।

जहाँ तक आर्थिक हितों का प्रश्न है, आप्रवास के परिणामस्वरूप मजदूरों और पूंजीपतियों या भूस्वामियों के बीच संघर्ष छिड़ जाने की काफ़ी सम्भावना रहती है। यदि बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ मिलने की गुंजाइश हो तो जनसंख्या के सभी वर्गों को आप्रवास से लाभ पहुँचता है, लेकिन इसमें भी पूंजीपतियों और भूस्वामियों को सबसे अधिक लाभ मिलता है। बड़े पैमाने पर आप्रवास होने से मजदूरियाँ घटकर आप्रवासियों के मूल देश की मजदूरियों के स्तर पर आ जाती हैं और किराये एवं लाभ एकदम बढ़ जाते हैं। इससे प्रेरित होकर भूस्वामियों और पूंजीपतियों में बाहर से दास लाने (देखिए अध्याय ३, खण्ड ८ (ख)), या भारत या चीन से करारबद्ध मजदूर लाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। कालान्तर में इससे मिश्रित समाज की सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, लेकिन पूंजीपति और भूस्वामी इसकी परवाह नहीं करते। जब तक भूमि काफ़ी मात्रा में उपलब्ध हो या आप्रवासियों की संख्या के अनुसार नये उद्योग खड़े किये जा रहे हों, तब तक देशी किसान या मजदूर नवागन्तुकों को सहते रहते हैं, लेकिन देर-सवेर वे भारी आप्रवास के विरोध में अपने को संगठित कर लेते हैं और मताधिकार मिलते ही आप्रवास का मार्ग बन्द करा देते हैं।

आप्रवासियों द्वारा अपने मूल देश को भेजे जाने वाले धन से भी कई बार काफ़ी हंगामा मचता है, क्योंकि देश के आन्तरिक विकास की तुलना में यदि उसके निर्यात न बढ़ रहे हों तो इस प्रकार भेजे जाने वाले धन से कठिन समस्या पैदा हो सकती है। वैसे, प्रायः आप्रवासियों द्वारा भेजे जाने वाला यह धन भुगतान-शेष की एक छोटी-सी ही मद होती है और राजनीतिक आधार पर इसका विरोध आप्रवास के विरुद्ध सामान्य आन्दोलन के एक अंग के रूप में ही किया जाता है।

आप्रवासी कितनी जल्दी नये देश को पाट देते हैं, यह अन्य बातों के साथ-साथ आप्रवासियों में स्त्री और पुरुषों के अनुपात पर निर्भर करता है। यदि केवल पुरुष ही आकर बसें तो अगली पीढ़ी नहीं चल पाती और आप्रवासियों की देशी जनसंख्या स्थापित नहीं होती। इस दृष्टि से केवल पुरुषों का आप्रवास कोई मानी नहीं रखता। उदाहरण के लिए, लाखों अफ्रीकी दास बनाकर वेस्ट इण्डीज़ भेजे गए थे, लेकिन उसका कोई खास नतीजा नहीं निकला। चूंकि उनमें स्त्रियों की संख्या थोड़ी ही थी, अतः आप्रवासी पुनरुत्पादन के द्वारा अपनी संख्या स्थिर नहीं रख पाए और इसके लिए प्रतिवर्ष अनेक दासों को लाने की ज़रूरत पड़ती रही। सभी आप्रवासी समुदायों में पुरुषों की संख्या

अधिक होती है, अतः यदि स्त्री-पुरुषों का अनुपात ठीक रखने का प्रयत्न न किया जाए तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनकी संख्या घटती जाती है। यही कारण है कि आप्रवास में सहायता देने वाले देश आजकल प्रायः इस बात पर बड़ा ध्यान देते हैं कि पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी आएँ। बहरहाल आजकल जब कि स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले काम-धन्धों का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है, पत्नियों और माताओं के रूप में अपना योग देने के साथ-साथ अर्थकर धन्धों में लगने के लिए भी स्त्री आप्रवासियों का स्वागत किया जाता है।

भावी आप्रवास के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण होने पर आप्रवासियों को बसाने की दर कई बातों पर निर्भर होती है। यह आप्रवासियों की जाति, धर्म और संस्कृति पर निर्भर करता है कि वे कितनी जल्दी आत्मसात् कर लिए जाते हैं और कुछ देश (जैसे अमरीका और आस्ट्रेलिया) आप्रवासियों की राष्ट्रीयता और संख्या के बारे में निर्णय करते समय इन बातों को बड़ा महत्त्व देते हैं। आर्थिक दृष्टि से आप्रवासियों को मकानों, जमीनों या नौकरियों की ज़रूरत होती है और उतने ही आप्रवासी बसाए जा सकते हैं जितने के लिए इनका प्रबन्ध किया जा सके। इस प्रबन्ध के लिए पूँजी की ज़रूरत पड़ती है। कुछ आप्रवासी अपनी पूँजी लेकर आते हैं, अथवा आप्रवासियों को बसाने वाला देश विदेशों से इस काम के लिए कर्ज़ ले सकता है। यदि विदेशों से धन न मिल सके तो आप्रवास की दर घरेलू बचतों की दर पर निर्भर होती है और यदि घरेलू निवेश घरेलू बचतों से बढ़ जाए तो उसके कारण पैदा होने वाले भुगतान-शेष के भारी घाटे पर भी निर्भर करती है। धन उपलब्ध होने पर भी स्थूल कारणों से पूँजी-निर्माण की दर पर अंकुश लग सकता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय ४ खण्ड १) पूँजी-निवेश का ५० से ६० प्रतिशत तक इमारतों और उनके निर्माण-कार्य में लगता है, अतः निवेश इमारत उद्योग की क्षमता से अधिक नहीं बढ़ सकता। यदि उचित ध्यान रखा जाए तो इमारत उद्योग को बढ़ाना सदा सम्भव होता है, लेकिन यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि प्रशिक्षित श्रम के अनुसार इमारत उद्योग की क्षमता न बढ़ने के कारण निवेश की अनेक आयोजनाएँ असफल हो जाती हैं। इन वित्तीय और स्थूल कठिनाइयों को देखते हुए यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि पिछली शताब्दी के बड़े-से-बड़े आप्रवास भी आप्रवासियों को बसाने वाले देशों की जनसंख्या के १ या २ प्रतिशत वार्षिक से अधिक नहीं रहे।

नये देश में पहुँचने पर आप्रवासियों को शुरू-शुरू में प्रायः बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है और उनमें से कुछ लोग परेशान होकर वापस लौट जाते हैं। नये देश में आने और बस जाने की इच्छा कुछ सीमा तक आप्रवासियों के लिए की गई तैयारियों पर निर्भर होती है। इससे बड़ा फर्क पड़ता है कि

आप्रवासियों के लिए पहले से मकान तैयार कर लिये गए हैं, या उन्हें बैरकों या तम्बुओं में रखा जाएगा, या अपनी व्यवस्था स्वयं करने के लिए छोड़ दिया जाएगा। उन्हें आते ही नौकरियाँ दे दी जाएँगी, या अपनी थोड़ी-बहुत जमा-पूँजी बरबाद करते हुए उन्हें गली-गली में काम के लिए खाक छाननी पड़ेगी? यदि उन्हें खेती करनी है तो उनके लिए जमीन तैयार रखी जाएगी, या उन्हें स्वयं जंगल काटकर जमीन निकालनी पड़ेगी? जमीन तक आने-जाने के मार्ग बन होंगे और पानी उपलब्ध होगा या उन्हें स्वयं सड़कें बनानी पड़ेंगी और अपने कुएँ खोदने पड़ेंगे? पहली फसल तैयार होने तक वे किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करेंगे या खाद और पशु-धन में लगाने के लिए या अन्य पूँजीगत कार्यों के लिए पैसा कहाँ से लाएँगे? लोगों को जमीन पर बसाने का काम बड़ा कठिन रहा है। आप्रवासियों के लिए जमीन तैयार रखने पर, और उनके आवास और कार्यकर पूँजी के लिए मोटी रकमों की व्यवस्था करने पर कुछ सरकारों ने बड़ा पैसा खर्च किया है। दूसरी ओर, जैसे कनाडा में, आप्रवासियों के लिए यह भी बड़ा सुविधाजनक रहा है कि वे अपने पहले मौसम के दौरान दूसरे किसानों के साथ रहें, उनके यहाँ मजदूरी पर काम करके देश के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करें, कुछ पैसा बचाएँ और कुछ मित्र बनाएँ। चूँकि आप्रवासियों का बहुत छोटा-सा अंश ही कुशल किसानों के रूप में होता है, अतः जैसा कि गिबन वेकफ़ील्ड ने कहा है, "यह शायद बड़ा वांछनीय है कि आप्रवासियों को अपने फ़ार्मों पर खेती शुरू करने से पहले शहरों में या फ़ार्मों पर कुछ समय के लिए नौकरी करनी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास से सर्वाधिक कठिनाइयाँ तब पैदा होती हैं जब उसके फलस्वरूप दो भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों या संस्कृतियों के लोग एक दूसरे से मिलते हैं। पिछले उदाहरणों से पता चलता है कि आप्रवास के फलस्वरूप किसी-किसी देश के आदिवासी पूर्णतः या अंशतः नष्ट हो गए हैं। अनेक बार आदिवासी केवल इसीलिए समूल नष्ट हो जाते हैं कि नवागन्तुक अपने साथ कोई ऐसी विचित्र बीमारी लाते हैं जिसकी प्रतिरोधक शक्ति आदिवासियों में मौजूद नहीं होती—हालाँकि कुछ मामलों में इससे उलटी बात भी हुई है। उदाहरण के लिए, पश्चिम अफ्रीका के तटीय लोग उत्तर से आने वाली सेसे मक्खी के उत्पात से इसीलिए बच सके कि उसने मुसलमानों के घोड़े मार डाले, और समुद्री मच्छरों से इसलिए बच सके कि उन्होंने मलेरिया और पीला बुखार फैलाकर यूरोप से आने वाले आप्रवासियों को खत्म कर दिया। बीमारियों के अलावा, दास बनाकर या जमीनों से खदेड़कर या अन्य किसी व्यवहार से भी देसी लोगों का सफाया किया जा सकता है—इस प्रकार एंग्लो-सैक्सनों के आने पर केल्टों, जुलुओं के आने पर हॉटेनटॉटों, अमरीकियों के

आने पर रेड इंडियनों या न्यूजीलैण्डरों के आने पर माओरियों का सफाया कर दिया गया। बहुत कुछ तो इस पर निर्भर करता है कि आप्रवासियों के मुकाबले देशी लोगों की संस्कृति कितनी दृढ़ है। कभी कभी पराजित जातियाँ ही विजेताओं को आत्मसात् कर लेती हैं जैसे मुसलमानों ने तुर्कों को किया या चीनियों ने मंगोलों का किया।

यदि एक ही देश में दो संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रह रहे हों तो उनकी प्रतियोगितात्मक शक्ति प्रायः एक समान नहीं होती। यहूदी और अरब, मलायी और चीनी, भारतीय और अफ्रीकी, बामर और अंग्रेज, भारतीय और बर्मी, अंग्रेज और फ्रांसीसी कनाडियन, डच और मुसलमान, सभी के साथ यही बात है। प्रतियोगितात्मक शक्ति के इन अन्तरों का कारण कभी कभी जाति बताया जाता है, लेकिन यदि जाति से हमारा तात्पर्य जीवात्मक क्षमता से हो तो इसमें कोई विशेष सचाई नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जातियों की जीव-क्षमता के बारे में हमारा ज्ञान अभी बहुत थोड़ा है। कुछ लोग इन अन्तरों का सम्बन्ध धर्म से भी जोड़ते हैं, लेकिन इसका अनौचित्य हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय ३, खण्ड ८ (क)) (बोअर भी आखिर काल्विन के अनुयायी हैं और यह माना जाता रहा है कि तपस्यात्मक व्यावसायिक वृत्ति को बढ़ावा देने में काल्विन का मत सबसे आगे है)। वास्तव में प्रमुख कारण आप्रवासियों की मनोवृत्ति मालूम होती है। आप्रवासी चुने हुए लोग होते हैं; वे अपनी स्थिति को बेहतर बनाने के लिए ही अपना देश छोड़ते हैं। स्वयं आप्रवास की परिस्थितियाँ उन्हें अधिक पैना बना देती हैं, क्योंकि इसके दौरान वे एक नये पर्यावरण के सम्पर्क में आते हैं और उनकी आलोचना-शक्ति भी बढ़ती है (हर आप्रवासी की लगभग पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि वह हर नयी चीज की आलोचना करता है)। उनमें देशी लोगों को नीची नजर से देखने की और उन पर अपनी बेहतर कार्यक्षमता की धाक जमाने की सहज प्रवृत्ति होती है। कहीं-कहीं आप्रवासी समुदाय के लोग एक दूसरे की सहायता करने, नौकरियाँ दिलाने और रुपया उधार देने में कोई कसर नहीं उठा रखते। परिणाम यह होता है कि देशी समुदाय की अपेक्षा आप्रवासियों का समुदाय अधिक उन्नति करता है, क्योंकि देशी समुदाय आर्थिक अवसर अपने तक ही सीमित रखने के लिए विशेष प्रयत्नशील नहीं होता। आप्रवास की स्मृति धुंधली पड़ जाने पर ये प्रवृत्तियाँ बदल जाती हैं। तीसरी या चौथी पीढ़ी में जाकर आप्रवासी देशी लोगों से इतने घुल मिल जाते हैं कि उन्हें अलग से पहचाना भी नहीं जा सकता (जैसे योरप में भारतीय) और इसके बाद यदि किसी दूसरी जाति के लोग आते हैं तो वे पहले आये हुए इन आप्रवासियों को भी काहिल समझकर उनको भी नीची नजर से देखते हैं जैसे

से उन्होंने मूल निवासियों को देखा था।

यदि दो जातियों के लोगों को बिना लड़-झगड़ एक ही देश में रहना हो, तो उनकी जातियों का कोई आर्थिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी सामाजिक वर्गों में प्राय: सभी स्तरों पर, और सभी धन्धों में दोनों जातियों के लोग होने चाहिएँ और उनकी प्रतियोगितात्मक शक्ति भी बराबर होनी चाहिए। यह सबसे अधिक शिक्षा पर निर्भर करता है। दोनों जातियों के बच्चों की शिक्षा पर प्रति व्यक्ति खर्च बराबर होना चाहिए, और यदि सम्भव हो तो उन्हें एक ही स्कूल में पढ़ाना चाहिए। इसके अलावा, भूमि के स्वामित्व की कुछ आप्रवासी समुदायों में खुदरा व्यापार में विशेषज्ञता और 'एकाधिकार' प्राप्त करने की प्रवृत्ति की, शहरीकरण की आशिक भाषा की, और इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ भी हैं। यदि दोनों जातियों की स्थिति इन मामलों में एकसी न हो—उदाहरण के लिए यदि आप्रवासी अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित हों, या उन्हें व्यवसाय का अधिक अनुभव हो—तो देशी लोगों के बच्चों की शिक्षा का खर्च निकालने के लिए आप्रवासियों पर भारी कर लगाने चाहिएँ, और इसी प्रकार की अन्य नीतियाँ अपनानी चाहिएँ जिससे दोनों जातियों के लोग समान स्तर पर आ सकें। वास्तव में, समान स्थिति में साथ-साथ रहने के लिए सहिष्णुता की आवश्यकता होती है जिसका प्राय: अभाव पाया जाता है, अत: इसे ऊपर से लागू करना पड़ता है। सर्वश्रेष्ठ साम्राज्यवादी शासनों—रोमन साम्राज्य, आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, आटोमन साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य—की सबसे बड़ी खूबी कम-से-कम लड़ाई-झगड़े के साथ भिन्न-भिन्न जातियों को साथ-साथ रखने की योग्यता थी। सदा तो नहीं पर अधिकांश मामलों में इसका रहस्य साम्राज्यवादी जाति में अल्पसंख्यकों के प्रति अनादर की भावना से उत्पन्न तटस्थता और साथ ही हर व्यक्ति को अपना काम-धन्धा स्वतन्त्रतापूर्वक करने देने की उदार भावना, और लोगों के बीच शान्ति बनाये रखने की इच्छा थी।

इसके विपरीत, साम्राज्यवादी शासन की स्थिति तब बहुत खराब होती है जब सरकार साम्राज्यवादी जाति के केवल मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में होती है जो देशी लोगों की भारी संख्या की प्रतियोगिता में आकर जीविका कमाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी देशों से आकर बसने वाले लोगों के लिए स्थान बनाने के ख्याल से देशी लोगों को उनकी जमीनों से खदेड़ दिया जाता है, या दास बनाकर, या कराधान के जरिए बाध्य करके या दूसरी आर्थिक जबरदस्तियाँ करके उन्हें खानों, बागानों या घरेलू नौकरियों में जाने के लिए मजबूर कर दिया जाता है; और काम-धन्धों में ऐसी जातीय बन्दिशें लगा दी जाती हैं जिनसे सर्वाधिक लाभप्रद काम और व्यापार

केवल साम्राज्यवादी जाति के सदस्यों के लिए ही रक्षित रह जाते हैं। जिस जाति के आर्थिक हित निष्पक्षता को दबा दें वह जाति किसी दूसरी जाति पर शासन करने योग्य नहीं होती।

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान यूरोपवासियों के उत्तर या दक्षिण अमरीका या आस्ट्रेलिया में भारी आप्रवास से इस तरह की कोई भी समस्याएँ उग्र रूप में पैदा नहीं हुईं, क्योंकि खाली स्थान को देखते हुए इन महाद्वीपों की देशीय जातियाँ छोटी थीं और उनमें अधिक प्रतिरोध की शक्ति भी नहीं थी। लेकिन यूरोपवासियों के एशिया और अफ्रीका में प्रवास, और जापानी, भारतीय और चीनियों के अन्य एशियाई देशों में या अफ्रीका, आस्ट्रेलिया या अमरीका में प्रवास की बात बिलकुल दूसरी थी। यदि समूचे संसार के दृष्टिकोण से देखा जाए तो इस समय प्रवास की सर्वाधिक आवश्यकता भारतीयों, जावा निवासियों, चीनियों और जापानियों को है जिन्हें बाहरी इंडोनेशियाई द्वीपों, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण एवं उत्तर अमरीका में बसाया जाना चाहिए। लेकिन समूचे संसार का दृष्टिकोण-जैसी कोई चीज नहीं है। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देश आप्रवासियों को बसाने के लिए तैयार नहीं होंगे, क्योंकि इससे जातीय समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। इसके अलावा यदि काफी बड़ी संख्या में आप्रवासी भेजे जाएँ तो उत्तर और दक्षिण अमरीका तथा आस्ट्रेलिया के रहन-सहन के स्तर में भी काफी गिरावट आ जाएगी। आप्रवासियों के बसाने के विरुद्ध यूरोपवासी प्रायः यह तर्क देते हैं कि भारतीय और चीनियों को अपनी जनसंख्या इतनी बढ़ाने का कोई हक नहीं है, और यदि वे बढ़ाते हैं तो उन्हें दूसरे देशों से अपनी भारी जनन क्षमता के परिणामों को भुगतने के लिए नहीं कहना चाहिए। लेकिन भारत या चीन की अपेक्षा उत्तर और दक्षिण अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में जनसंख्या की सहज वृद्धि-दर अधिक है, और यदि भारत एवं चीन की जन्म-दरें घटकर १० प्रति हजार भी रह जाएँ तो भी जातीय या आर्थिक कारणों से बड़े पैमाने पर इनके प्रवास का इतना ही विरोध किया जाएगा।

इस समस्या के भविष्य के बारे में इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता। जिस देश के लोगों को जगह की कमी ने सताया है वे सदा ही दूसरे देशों में गये हैं, और युद्ध के जरिए वहां के लोगों की जमीनें छीन ली हैं। इसी उद्देश्य से जापान दो लड़ाइयाँ छेड़ चुका है और कोई वजह नहीं है कि एक-न-एक दिन भारत और चीन भी ऐसा ही न करें। यह सोचना अच्छा लगता है कि आर्थिक विकास और शासन सामंजस्य पैदा करता है जिससे लोगों को बिना लड़ाई-झगड़े के साथ-साथ रहने का अवसर मिलता है, लेकिन वास्तव में यह बात सही नहीं है। इसके विपरीत, अनेक भिन्न-भिन्न विचारों वाले लोग कह

चुके हैं कि आर्थिक विकास की परिणति अन्ततः साम्राज्यवाद और युद्ध के रूप में होती है जिस पर हम अभी विचार करेंगे।

(ग) **साम्राज्यवाद**—साम्राज्यवाद के कारण पूर्णतः आर्थिक नहीं हैं, लेकिन इसके राजनीतिक कारण भी आर्थिक विकास की अवस्था से कुछ-न-कुछ सम्बन्धित अवश्य हैं। हम पहले उन कारणों पर विचार करेंगे जो आर्थिक माने जाते हैं, उसके बाद राजनीतिक कारणों पर विचार करेंगे और अन्त में शासित जनता और साम्राज्यवादी राष्ट्र दोनों पर साम्राज्यवाद के प्रभावों की चर्चा करेंगे। यह बहुत बड़ी समस्या है जिसका आर्थिक विकास से केवल थोड़ा-सा सम्बन्ध है अतः हम इस पर बहुत संक्षेप में ही विचार करेंगे।

कुछ राष्ट्र साम्राज्यवाद और युद्ध की ओर इसलिए उन्मुख होते हैं कि उन्हें अपने देशवासियों को बसाने के लिए अधिक और बेहतर जमीनों की आवश्यकता होती है। हम पहले देख चुके हैं कि आर्थिक विकास का एक परिणाम यह भी हो सकता है। आर्थिक विकास का पहला ही परिणाम यह होता है कि इससे जनसंख्या बढ़नी शुरू हो जाती है, और इस बात की काफ़ी सम्भावना रहती है कि कुछ समय बाद देश इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए अन्न नहीं जुटा पाएगा। ऐसी स्थिति में या तो प्रवास का सहारा लेना पड़ता है, या विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात-व्यापार बढ़ाना पड़ता है या किसी दूसरे देश से नजरें वसूल करने की कोशिश की जाती है। इन तीनों में से किसी भी उपाय के परिणामस्वरूप युद्ध छिड़ सकता है।

प्रवसन के कारण युद्ध तब छिड़ता है जब दूसरे देश आप्रवासियों को बसाने से इन्कार कर देते हैं या उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं, या आप्रवासी वहाँ जाकर देशी लोगों को उनकी जमीनों से खदेड़कर, या उनके राजनीतिक अधिकार छीनकर या उनका बिलकुल सफाया करके उन्हें असहाय करने का प्रयत्न करते हैं। आर्थिक दृष्टि से सशक्त राष्ट्र अपनी जनसंख्या की समस्याओं को सुलझाने के लिए दूसरे देशों के कमजोर लोगों की जमीनें छीनना बड़ा सुविधाजनक उपाय मानते हैं। नजरें वसूल करना इसी से सम्बन्धित है, और इसके भी कई रूप होते हैं। पराजित लोगों का पूरी तरह सफाया कर देना सदा ही लाभदायक नहीं होता। फायदा इसी में रहता है कि उन्हें दास बना लिया जाए, और विजेताओं के लाभ के लिए खानों या बागानों में काम पर लगा दिया जाए। या यह भी किया जा सकता है कि इन लोगों को उन्हीं की जमीनों पर किरायेदारों के रूप में रखा जाए, और इनसे उत्पादन के पचास प्रतिशत या इससे भी अधिक के बराबर किराये और कर वसूल किये जाएँ। मनुष्य में अपने साथियों का शोषण करने की प्रवृत्ति वस्तुतः असीम है।

शोषण की इस प्रवृत्ति को सच मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि

साम्राज्यवाद के मूल में आर्थिक आवश्यकता का होना अनिवार्य नहीं है। सम्भव है कोई राष्ट्र जनसंख्या की वृद्धि या अकाल के भय से दूसरे देश पर आक्रमण करे लेकिन ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। आक्रान्ता कम जनसंख्या वाला राष्ट्र भी हो सकता है जिसका प्रमुख उद्देश्य मानव शोषण हो। इसी प्रकार अधिक उन्नत राष्ट्र ही सदा कम उन्नत राष्ट्रों पर आक्रमण नहीं करते। बर्बर जातियाँ भी अक्सर किसी धनी और शान्तिप्रिय सभ्यता को लूटने के उद्देश्य से आक्रमण कर देती हैं। ईसा से ८००० वर्ष पूर्व जबकि महान नगर सभ्यताएँ उभरीं यूरेशिया महाद्वीप का इतिहास बताता है कि खानाबदोश घुड़सवार जातियाँ प्रायः अपने घास के मैदानों से निकलकर अपेक्षाकृत धनी किसान बस्तियों पर आक्रमण कर देती थीं। खानाबदोश जातियों के ये समय समय पर होने वाले भीषण अभियान आधुनिक समय में ही जाकर समाप्त हुए जब कि औद्योगिक उन्नति के कारण नगर सभ्यताओं की सैन्य शक्ति निश्चित रूप से उनसे श्रेष्ठ हो गई। पश्चिम सूडान (अफ्रीका) में भी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ऐसी ही घटनाएँ होती रहीं। आर्थिक विकास के कारण जहाँ एक ओर उन्नत राष्ट्रों को दूसरों पर बल-प्रयोग करने का मौका मिलता है वहाँ दूसरी ओर उन्नत शान्तिप्रिय राष्ट्रों को लूटने के प्रयत्न भी किये जाते हैं।

प्रवास और नजरें वसूल करने के अलावा जनाधिक्य की समस्या सुलझाने का तीसरा उपाय विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात व्यापार का विकास, परिवहन के क्षेत्र में विशेषज्ञता या अन्य प्रकार की निधान-सेवाएँ उपलब्ध कराना है। उदार संसार में यह उपाय बिना युद्ध के अपनाया जा सकता था लेकिन दुर्भाग्य से संसार उदार नहीं है। हो सकता है दूसरे राष्ट्र जनाधिक्य वाले देश से विनिर्मित वस्तुएँ खरीदना न चाहें, या अपने ही नौपरिवहन का संरक्षण करने पर जोर दें। ऐसी स्थिति में अनुदार राष्ट्रों को व्यापार के लिए मजबूर करने की दृष्टि से युद्ध छेड़ा जा सकता है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोपीय राष्ट्रों ने लैटिन अमरीका में स्पेन के खिलाफ युद्ध छेड़ने का एक कारण यह भी बताया था। इसी वजह से उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप, चीन और जापान के सम्बन्ध बिगड़े थे और यह भी एक कारण था कि हर यूरोपीय राष्ट्र अफ्रीका के एक न एक हिस्से पर अपना कब्जा करना चाहता था। 'उदार' युद्ध का उद्देश्य व्यापार आरम्भ करना हो सकता है, जबकि 'अनुदार' युद्ध व्यापार के लिए विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने की दृष्टि से छेड़ा जा सकता है। साम्राज्य का एक उपयोग यह है कि शासित जनता को ऊँची कीमतों पर साम्राज्यवादी देश में बनी चीजें खरीदने और साम्राज्यवादी देश के हाथों अपेक्षाकृत सस्ती कीमतों पर अपना माल बेचने के लिए विवश किया जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य ने १८८६ और १९१६ के बीच यह

नीति त्याग दी थी, लेकिन उसका यह काम एक अपवाद ही माना जाएगा। जिन दशों की जीविका का मुख्य साधन नौशक्तिहन या विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात है व दर-सबर 'उदार' या 'अनुदार' युद्ध की ओर अवश्य उन्मुख होते हैं। जर्मनी और जापान इसके सबसे ताजा उदाहरण हैं और यदि युद्ध की सम्भावनाओं को समाप्त करने वाले नये राजनीतिक संस्थान स्थापित न किये गए तो अन्य राष्ट्र भी निस्सन्देह ऐसा ही करेंगे।

बाजारों की खोज, विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के प्रयत्न और खाद्य एवं कच्चे सामान के स्रोतों की खोज सब एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। इसका सम्बन्ध इस तर्क के साथ नहीं जोड़ना चाहिए कि अपने उत्पादन का स्वयं उपभोग न कर पाने के कारण विनिर्माता राष्ट्र को विदेशों में माल खपाने की आवश्यकता पड़ती है। आयातों का भुगतान करने की दृष्टि से निर्यात करना, और उपभोग एवं उत्पादन के अन्तर को बनाए रखकर निर्यात करना अलग-अलग बातें हैं। कोई विनिर्माता राष्ट्र खाद्य आयात करने के लिए अपनी विनिर्मित वस्तुओं को विदेशों में बेचने के प्रयत्न कर सकता है। यदि राष्ट्र की कृषि-उत्पादकता को देखते हुए जनसंख्या अधिक हो तो यह वस्तुतः अनिवार्य हो जाता है। एक दूसरी सम्भावना यह है कि कोई छोटा देश इसलिए निर्यात करना चाहता है कि जब तक वह कुछ विशेष चीजों के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त न करे तब तक उसे बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ नहीं मिल सकते, अतः वह अपनी आन्तरिक आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ तैयार करके उसके बेशी भाग का निर्यात कर देता है। इन निर्यातों के बदले वह आयात भी करता है, जो या तो विनिर्मित वस्तुएँ हो सकती हैं या मूलतः आवश्यक वस्तुएँ। सभी छोटे-छोटे विनिर्माता राष्ट्र (उदाहरण के लिए हालैंड और स्वीडन) इसी नीयत से निर्यात करते हैं। और यह भी एक कारण है कि विनिर्माता राष्ट्र स्वयं बड़ी मात्रा में विनिर्मित वस्तुओं का आयात करते हैं, जैसे हालैंड और स्वीडन, जो खाद्य की दृष्टि से आत्म-निर्भर हैं अपनी विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के बदले दूसरी विनिर्मित वस्तुओं और कच्चे सामानों का आयात करते हैं। यह उस स्थिति से बिलकुल भिन्न है जिसमें विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात इसलिए किया जाता है कि आन्तरिक बाजार में उपभोक्ता माँग उत्पादन से कम होती है। यदि इस प्रकार की निवल कमी होती है तो निर्यात के बदले मँगायी गई आयात-वस्तुएँ आन्तरिक बाजार में नहीं खपाई जा सकती।

यह तर्क कि किसी उन्नत औद्योगिक राष्ट्र को अपनी पूँजी का निर्यात इसलिए करना पड़ता है कि उसकी आन्तरिक माँग कम होती है, हमें वापस दीर्घकालीन गतिरोध के सिद्धान्त पर ले जाता है जिसके बारे में हम अध्याय

५, खण्ड ३ (घ) में विचार कर चुके है। यदि उपभोग की अपेक्षा बचत अधिक तेज़ी से बढ़ रही हो और यदि निवेश मुख्य रूप से उपभोग से ही निर्धारित होता हो तो सारी बचतों का देश के अन्दर ही इस्तेमाल करने योग्य निवेश के अवसर अधिक नहीं रहेंगे या कम-से कम इन बचतों को प्रतिफल की उचित दर पर निवेश के लिए नहीं दिया जा सकेगा। जैसा कि हम देख चुके हैं अधिकांश अर्थशास्त्रियों का यह मत रहा है कि पूँजी-संचय के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास की बाद की अवस्थाओं में पूंजी की लाभप्रदता कम हो जाती है। हम यह भी देख चुके हैं कि यदि नये आविष्कार पर्याप्त मात्रा में किये जाते रहें तो ऐसी स्थिति आना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि तब पूंजी की मांग लगातार बनी रहेगी। निवेश की दर आर्थिक विकास के साथ-साथ गिरते जाना अनिवार्य नहीं है। इसके विपरीत, हम यह भी देख चुके हैं कि अनेक कारणों से विदेशी निवेश अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। (अध्याय ५, खण्ड २ (ग)), और इसके साथ-साथ उन अनेक कारणों पर भी चर्चा कर चुके हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नेतृत्व एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र के हाथ में चला जाता है (इस अध्याय का खण्ड २ (ख) देखिए)। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है कि अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कुछ निवेश करना लाभप्रद दिखायी ही दे पर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे प्रायः इस प्रकार का निवेश करते हैं।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जो देश विदेशों में पूँजी-निवेश करना चाहे उसे साम्राज्यवाद या युद्ध का सहारा लेना अनिवार्य है। वस्तुतः विदेशी निवेश का बड़ा भाग उपनिवेशों में नहीं लगा होता, सबसे बड़े उधारकर्ता देश अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और अर्जेंटाइना रहे हैं—इन सभी की सरकारें पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न न थीं। विदेशी निवेश के लिए युद्ध छेड़ना आवश्यक नहीं है लेकिन इसकी सम्भावना तब हो सकती है जबकि वह देश, जिसमें विदेशी लोग पूँजी लगाना चाहते हैं या तो इसके लिए रियायतें देने को तैयार नहीं होता या भिन्न भिन्न उधारदाताओं के बीच भेदभाव बरतता है, या अपने वायदे तोड़ने के प्रयत्न करता है। इस तरह की किसी भी कार्रवाई से 'उदार' युद्ध छिड़ सकता है, जिसका उद्देश्य निवेश के अवसर खुले रखना, व्यवहार की समानता और संविदों के प्रति आदर-भाव पैदा करना हो सकता है। कम विकसित देश प्रायः इस तरह की लड़ाइयों में फँस जाते हैं, क्योंकि वे विदेशियों के प्रति सशंक होते हैं या उचित रियायतें नहीं देना चाहते, या अपने वायदों को पूरा करने में ढीले होते हैं, मिस्र शायद इसका ताज़ा उदाहरण है। एक ओर जहाँ ऐसे दो देशों के बीच उधारदाता बनने पर युद्ध

की गुंजाइश नहीं होती जिनके दृष्टिकोण, सम्पत्तियां और कानूनी सन्धान एक-दूसरे से मिलते जुलते हैं, वहां दूसरी ओर यह लगभग अनिवार्य होता है कि उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों के पूंजीपति कम विकसित देशों की प्रथाओं और संस्थानों से इतने परेशान हो जाते हैं कि या तो वे उन देशों में पूंजी निवेश के लिए तैयार ही नहीं होते या फिर उन्हें साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत ले लेना चाहते हैं। इतनी ही सम्भावनाएं 'अनुदार' युद्धों की भी हैं जिनमें कोई देश अपने निवेशकर्ताओं के लिए ऐसी विशेष सुविधाएं प्राप्त करना चाहता है जो या तो अन्य किन्हीं विदेशियों को प्राप्त न हों, या जिनसे उस देश के लोगों को हानि पहुंचती हो जहां निवेश किया जाता है। साम्राज्य से एक लाभ यह होता है कि खानों और बागानों में काम करने के लिए पर्याप्त श्रमिक उपलब्ध होते रहते हैं, और विदेशी पूंजी की जरूरतों को देखते हुए यथास्थान सड़कें और बन्दरगाह बनाए जा सकते हैं। कमजोर जातियों से फायदा उठाने की प्रवृत्ति बड़ी बलवती होती है, और सबल राष्ट्र इस पर अमल करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते।

इस प्रकार, साम्राज्यवाद और युद्ध के अनेक आर्थिक कारण हो सकते हैं, जिनमें कुछ कारण 'आवश्यकताजन्य' होते हैं—खनिज और भूमि, बाजार और मूलतः आवश्यक वस्तुओं की कमी—और कुछ 'लोभजन्य' हो सकते हैं—ईर्ष्या, शोषण की इच्छा, या अधिक लाभप्रद बाजारों की खोज। इन सब कारणों को दूर करने के उपाय उन लोगों ने सुझाए हैं जिनका विश्वास है कि युद्ध के मुख्य कारण आर्थिक होते हैं। इस प्रकार एक 'उदार' दृष्टिकोण यह है कि यदि सभी देश मुक्त व्यापार-नीति अपनाएं और किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न रखें तो युद्ध के खतरे कम हो सकते हैं, निश्चय ही इससे साम्राज्य स्थापित करने के विशेष लाभ नहीं रहेंगे क्योंकि तब कोई देश, प्रवास, व्यापार, या निवेश के ऐसे अवसर उपलब्ध नहीं कर सकेगा जो किसी अन्य देश के लोगों को उपलब्ध न हो, और अन्य राष्ट्रों द्वारा अपने को वंचित कर दिए जाने के भय से किसी को उपनिवेश स्थापित करने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी, लेकिन कौन कह सकता है कि हर देश इस प्रकार की प्रतिबन्धहीन व्यवस्था में योग देता रहेगा? इसके अलावा शासन और शासित के सम्बन्धों का सवाल भी है, जब तक शोषण के तरीके बने हुए हैं तब तक कुछ देश दूसरों पर शासन करने के इच्छुक रहेंगे। इसका समाधान उन विचारकों के पास है जो चाहते हैं कि युद्ध के खतरों को कम करने के लिए सभी साम्राज्यवादी शक्तियां अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण के अधीन कर दी जाएं, या सारे उपनिवेश अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के अधीन हो जाएं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि बदले में कोई लाभ मिले बिना ही साम्राज्यवादी शक्तियों को उपनिवेशों का विकास

करने पर भारी खर्च करना पड़े तो साम्राज्यवाद की लोकप्रियता कम हो जाएगी। एक सम्प्रदाय का यह भी विश्वास है कि युद्ध की सम्भावनाएं कम करने का एकमात्र उपाय यह है कि कम विकसित देशों का तेज़ी से विकास किया जाए ताकि वे कमज़ोर और शोषण के पात्र न बने रहें। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यदि कमज़ोर राष्ट्र मज़बूत हो जाएं तो पहले से मज़बूत राष्ट्रों में उन पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति कम हो जाएगी। इसके अलावा एक दृष्टिकोण हॉब्सन का है जिसे अब नवनिर्माणवादियों ने अपना लिया है जिसके अनुसार युद्ध का कारण विदेशी निवेश है जो देश में लाभों की दर कम हो जाने पर किया जाता है और लाभों की दर तब कम होती है जब उपभोग अपर्याप्त होता है। अतः युद्ध रोकने का उपाय यह है कि सरकारी खर्च बढ़ाकर या कराधान के ज़रिये उपभोग बढ़ाया जाए यदि अर्थ व्यवस्था पूंजीवादी हो और यदि अर्थ व्यवस्था समाजवादी हो तो या तो यही उपाय अपनाये जाएं या इसके अतिरिक्त निवेश की दर और उपभोग के स्तर का सम्बन्ध भी तोड़ दिया जाए। युद्ध रोकने के लिए समाजवाद न तो आवश्यक है और न उसका पर्याप्त कारण। यदि युद्ध जनाधिक्य के कारण पैदा हों या खाद्यान्न और कच्चा सामान प्राप्त करने की ज़रूरत के कारण हों या दूसरी जातियों का शोषण करने की इच्छा से हों तो ये सभी कारण जिस प्रकार पूंजीवादी समाज में पैदा हो सकते हैं उसी प्रकार समाजवादी समाज में भी हो सकते हैं जहां तक मूल स्पार्टावासियों के आपसी सम्बन्धों का प्रश्न है स्पार्टा लगभग एक साम्यवादी समाज था।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध के कुछ कारण आर्थिक भी हैं और इन्हें दूर करने के उपायों से युद्ध की सम्भावना कम हो सकती है। लेकिन केवल आर्थिक नीति से युद्ध का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि युद्ध के मूल में अनन्य रूप से या मुख्य रूप से आर्थिक कारण ही नहीं होते। सिकन्दर ने पूर्व पर और सीज़र ने पश्चिम पर इसलिए आधिपत्य नहीं किया था कि उन्हें व्यापार, निवेश या भूमि के प्रति कोई विशेष आकर्षण था। यह बताना बड़ा कठिन है कि युद्ध में आर्थिक कारणों का योग कितना रहा है। यदि हम विश्व इतिहास के सभी युद्धों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि इनमें से अधिकांश का बाज़ारों या जनसंख्या की समस्या से बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध था, वे मुख्य रूप से यशार्जन के या धार्मिक या सैद्धान्तिक कारणों से लड़े गए या दूरस्थ प्रदेशों या स्वयं साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा से प्रेरित थे। यद्यपि इन युद्धों का भी एक आर्थिक पहलू था, लेकिन प्रायः वह मुख्य पहलू नहीं था। इस प्रसंग में आर्थिक विकास का सम्बन्ध इतना ही है कि आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के बाद ही किसी देश में साम्राज्यवादी महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा

पैदा होती है। यदि कोई देश आर्थिक दृष्टि से सफल हो जाता है, और दूसरों की तुलना में अधिक धनवान बन जाता है तो उसमें राजनीतिक बड़प्पन के विचार पैदा होते हैं जिनसे प्रेरित होकर वह सैन्य-वृत्ति अपना सकता है। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं होता। इतिहास में प्रायः ऐसे धनी राष्ट्रों का उदाहरण मिलता है जो शांतिप्रिय व्यापारी के रूप में पनपते रहे हैं और उन पर सैन्य-वृत्ति वाले ऐसे निर्धन राष्ट्रों ने आक्रमण किये हैं जो उनके वैभवपूर्ण रहन-सहन को घृणा की दृष्टि से देखते थे।

कोई राष्ट्र सैन्य-कीर्ति को महत्त्व क्यों देता है इसका समाधान नहीं किया जा सकता। इस समस्या पर वर्ग-रचना से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसे राष्ट्रों पर प्रायः अभिजात लड़ाकू जाति का प्रभुत्व रहता है, जो बाकी वर्गों को दबाकर रखती है—इन अधीनस्थ वर्गों में व्यापारी-वर्ग भी रहता है जो कुल मिलाकर युद्ध से डरता है और युद्ध की प्रवृत्ति रखने वालों का विरोध करता है। हां, कुछ व्यापारी अवश्य ऐसे होते हैं जो युद्ध का समर्थन करते हैं—जैसे, सेनाओं के लिए हथियार तैयार करने वाले या अन्य सामान तैयार करने वाले व्यवसायी, और वे लोग जिन्हें विजय के बाद रिआयतें मिलने की या युद्ध के दौरान भारी लाभ कमाने की आशा होती है—लेकिन ये लोग अन्य व्यवसायियों की तुलना में बहुत थोड़े होते हैं। अधिकांश व्यवसायी जानते हैं कि युद्ध में कर बढ़ते हैं, विदेशी व्यापार-मित्रों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने में अड़चन होती है, और अभिजात लड़ाकू वर्ग की शक्ति सर्वोपरि हो जाती है जिन पर व्यवसायी समुदाय को आमतौर से अविश्वास होता है। लड़ाकू जाति के शासन में चलने वाले समुदाय की अपेक्षा वह लड़ाई बहुत कम छेड़ता है जिसका शासन व्यापारी-वर्ग के हाथ में होता है। वैसे, लड़ाकू जाति ही हमेशा राष्ट्र को युद्ध में प्रवृत्त नहीं करती। कई बार ऐसे महान् शूरवीर भी पैदा हो जाते हैं जो शक्ति और कीर्ति तथा साम्राज्य के स्वप्न देखा करते हैं—सिकन्दर और सुलेमान जैसे राजे-महाराजे, या मुसोलिनी या नेपोलियन-जैसे महत्त्वाकांक्षी। लेकिन यदि हम यह जानना चाहें कि कुछ राष्ट्र अपने को युद्ध से अपेक्षाकृत दूर क्यों रखते हैं जबकि दूसरे राष्ट्र लड़ाकू जातियों और शूरवीरों के वश में क्यों हो जाते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि इस प्रश्न का कोई पूर्णतया सन्तोषजनक समाधान हमारे पास नहीं है।

कीर्ति कमाने के सपनों और आर्थिक विकास की अवस्था के बीच यदि कोई सम्बन्ध है तो वह केवल आर्थिक विकास की 'बीच' की अवस्थाओं में देखने को मिलता है। सर्वाधिक धनी देश प्रायः शान्तिप्रिय होते हैं, जो कुछ उन्हें उपलब्ध होता है उसका उपभोग करते हैं, और किसी से ईर्ष्या नहीं रखते, और सर्वाधिक निर्धन देश इतने जड़ और असंगठित होते हैं कि युद्ध

नहीं छेड़ सकते। केवल उन्नति के मार्ग पर पद रखने वाले और अपने पड़ोसी देशों से कुछ आगे निकल जाने वाले देश ही ऐसे होते हैं जो अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने की इच्छा से लड़ाई के मंसूबे बाँधते हैं। बाजारों और कच्चे सामानों के लिए अपेक्षाकृत पुराने और धनी देशों के साथ बढ़ती हुई प्रतियोगिता से भी ये मंसूबे पैदा हो सकते हैं। उन देशों की अपेक्षा जो अपने भूतकाल पर गर्व कर सकते हैं, वे देश प्रायः विश्व-शांति के लिए अधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं जो समझते हैं, कि उनका भविष्य बड़ा सुनहला है। इस प्रकार विश्व का सैन्य-नेतृत्व भी एक देश के हाथ से दूसरे देश के हाथ में ठीक उसी प्रकार जाया करता है जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नेतृत्व जाता है और दोनों के कारण भी सम्भवतः समान हैं (इस अध्याय का खण्ड २ (क) देखिए)।

युद्ध के समस्त कारणों का विश्लेषण करना इस पुस्तक की विषय वस्तु से बाहर है। हमारा उद्देश्य केवल आर्थिक विकास और युद्ध के सम्बन्ध की चर्चा करना है। चूंकि युद्ध अनन्य रूप से या केवल मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से नहीं छिड़ता, अतः आर्थिक विश्लेषण से युद्ध के बुनियादी कारणों पर बहुत ही थोड़ा प्रकाश पड़ता है। युद्ध के कारणों का समाधान देना अर्थशास्त्रियों का नहीं बल्कि मनोविज्ञान, राजनय, कानून, धर्म और मानव विज्ञान के विद्यार्थियों का काम है।

साम्राज्यवाद के कारणों की चर्चा के बाद अब हम उसके आर्थिक प्रभावों के बारे में कुछ कहेंगे। शासित देश की प्रजा के ऊपर उसके साथ किए गए व्यवहार के अनुसार साम्राज्यवाद के प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। एक चरम स्थिति तो यह होती है कि शासित देश की प्रजा का बिलकुल सफाया हो जाता है। दूसरी चरम स्थिति में वे इतनी तेजी से आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति करते हैं जितनी कि उनके पिछले इतिहास में कहीं देखने में नहीं आती। एक ही साम्राज्यवादी शक्ति भिन्न-भिन्न लोगों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करती है, ब्रिटेन वालों की केन्द्रीय अफ्रीका में रोजगार के मामले में रंग-भेद की कठोर नीति के साथ पश्चिम अफ्रीका के अफ्रीकियों के साथ सम्मानपूर्ण सामाजिक समानता की नीति की तुलना करके देखिए। बढ़िया साम्राज्यों से मानव-सुख में भारी वृद्धि हुई है, उन्होंने व्यापक क्षेत्रों में शांति स्थापित की है, सड़कें बनवाई हैं, सार्वजनिक सुधार किया है, व्यापार को बढ़ावा दिया है, कानूनों में सुधार किया है, नया तकनीकी ज्ञान प्रदान किया है, और इसी प्रकार के अच्छे काम किये हैं। इसके विपरीत बुरे साम्राज्यों की स्थापना के दौरान लूटमार, वध और दासता का बोलबाला रहा है।

स्वयं साम्राज्यवादी शक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव भी उसके अपने व्यवहार

पर निर्भर करता है। सभी साम्राज्यवादी शक्तियों को साम्राज्य का मूल्य चुकाना पड़ता है। कुछ को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है, जबकि दूसरे अक्सर ही साम्राज्यवाद के कारण कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं।

साम्राज्य का मूल्य अनेक रूपों में चुकाना पड़ता है। पहला तो युद्धों का प्रत्यक्ष व्यय है। इनके लिए सेनाएँ भर्ती करनी पड़ती हैं और रसद का प्रबन्ध करना पड़ता है। उपनिवेशों की सुविधा के निमित्त वहाँ की जनता पर काफ़ी कर लगा देने के बावजूद युद्ध के कारण उपनिवेशवादी देशों के साधनों पर भारी बोझ पड़ता है। इसके अलावा साम्राज्य की रक्षा के लिए शान्ति-काल में भी बड़ी सेना रखनी पड़ती है और साम्राज्य जितना ही बड़ा होता है उप-निवेशवादी देश के उतने ही अधिक लोग इस काम पर लगाने पड़ते हैं। साम्राज्यवादी देश को इतना बड़ा शासन चलाने के लिए भी अपने सबसे योग्य व्यक्ति नियुक्त करने पड़ सकते हैं। वैसे, शासन-कार्य के लिए प्रायः बीच की योग्यता के लोगों को भेजने की प्रवृत्ति होती है जिससे साम्राज्य के पतन की नौबत आ सकती है, लेकिन इस काम के लिए यदि सर्वाधिक योग्य व्यक्ति बाहर भेज दिए जाएँ तो उपनिवेशवादी देश के घरेलू कामकाज चलाने में कठिनाई होती है। प्रायः देखने में आता है कि उपनिवेशवादी देश के बीच की योग्यता वाले लोग तो उपनिवेशों का शासन सँभाल रहे होते हैं, और उपनिवेशों के सर्वाधिक योग्य व्यक्ति उपनिवेशवादी देशों में जाकर जम जाते हैं। साम्राज्य से जाति-प्रथा को भी बढ़ावा मिलता है, साम्राज्य में सैनिकों का सबसे अधिक महत्त्व होता है, और लड़ाकू जातियों की प्रतिष्ठा इसीलिए होती है कि उन्हें भारी उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। इसे मात्र संयोग ही नहीं कहा जा सकता कि बड़े-बड़े साम्राज्य (रोमन और आटोमन) अपने अवसान-काल में सैनिकों के चंगुल में फँस गए थे।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप अपेक्षाकृत बड़ी और खर्चीली लड़ाइयाँ छेड़ी जा सकती हैं। आदिम समाजों में जहाँ जनसंख्या का ७० प्रतिशत या इससे भी अधिक देश के लिए अन्न जुटाने के निमित्त खेती में लगा होता है, बहुत ही थोड़े लोग सेना में भर्ती किए जा सकते हैं। ऐसे देशों में युद्ध के अभि-यान फसल कट चुकने और नयी फसल बोए जाने के बीच की अवधि में ही चलाए जाते हैं, अन्यथा सेना को अपनी रसद के लिए अधिकांशतः लूटमार पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके विपरीत जब इतना आर्थिक विकास हो चुकता है कि जनसंख्या का केवल २० प्रतिशत देश के लिए खाद्यान्न का प्रबन्ध कर सकता है तो भारी सेनाएँ तैयार की जा सकती हैं, और इनके लिए देश से ही रसद भेजी जा सकती है। साथ ही लड़ाई के साज-सामान तैयार करने पर अपेक्षाकृत बहुत लोग लगाए जा सकते हैं, और वैज्ञानिक उन्नति के बल पर

सम्भावनाओं की सहायता से शक्ति बहुत अधिक बढ़ाई जा सकती है। अतः एक ओर जहाँ आदिम समाज बड़ी कठिनाई से ही युद्ध का खर्च उठा सकता है वहाँ दूसरी ओर भली प्रकार उन्नत अर्थ-व्यवस्थाएँ अपने साधनों का ५० प्रतिशत या इससे भी अधिक युद्ध पर खर्च कर सकती हैं।

कभी-कभी कहा जाता है कि युद्ध से आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है। कुछ हद तक यह ठीक हो सकता है। युद्ध के दौरान कुछ उपयोगी आविष्कार किये जा सकते हैं, लेकिन प्रोफेसर नेफ के अनुसन्धानों से पता चलता है कि ऐसे उपयोगी आविष्कारों की संख्या बहुत ही थोड़ी होती है। युद्ध से ऐसे उद्योगों को बढ़ावा मिल सकता है जिनका विस्तार हर दृष्टि से वांछनीय है--उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में नैपोलियनी लड़ाइयों के दौरान लोहा उद्योग, प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान रसायन-उद्योग, और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इलैक्ट्रोनिक्स और जेट-चालन को प्रोत्साहन मिला, लेकिन युद्ध का सामान तैयार करने वाले उद्योगों में युद्ध के बाद कई साल तक अति-विस्तार और बेरोजगारी की समस्याएँ भी पैदा हो जाती हैं। युद्ध के दौरान कुछ व्यवसायी मोटे लाभ कमाते हैं जिससे उनके पूँजी-निर्माण बढ़ता है, लेकिन पूँजी-निर्माण पर युद्ध का निवल प्रभाव प्राय यही होता है कि यह युद्ध के दौरान घट जाता है। इसके अलावा तटस्थ देशों से युद्ध का सामान खरीदने में विदेशी-निवेश और सोना भी खर्च करना पड़ता है। युद्ध से सम्पत्ति का नाश हमेशा उतना नहीं होता जितनी कि आशंका की जाती है, बात यह है कि सम्पत्ति का मूल्य-ह्रास तो होता ही रहता है और देर-सबेर उसका बदलाव करना पड़ता है मुख्य हानि मूल्य-ह्रास के तेजी से हो जाने के रूप में होती है। यदि निष्क्रिय साधनों का उपयोग लड़ाई के कामों में कर लिया जाए, या लड़ाई के बाद उसकी मूल्य-ह्रास की पूर्ति कर ली जाए तो भी लड़ाई उतनी महँगी नहीं पड़ती जितनी कि दिखाई देती है। अमरीका इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है, द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण अमरीका की पिछली एक दशाब्दी का गतिरोध समाप्त हो गया, और उत्पादन में इतनी वृद्धि हुई कि नागरिकों के रहन-सहन में कोई कमी किये बिना ही लड़ाई का खर्च उठाया जा सकता था। लेकिन लड़ाई न भी होती तो भी शायद अमरीका की अर्थ-व्यवस्था देर-सबेर सुधरती ही, क्योंकि मकानों और दूसरी पूँजियों का मूल्य-ह्रास हो जाने पर थोड़े-बहुत दिनों में नये निवेश में तेजी अवश्य आती। नये बाजारों पर कब्जा करने के उद्देश्य से भी युद्ध छेड़ा जा सकता है, लेकिन उसके फलस्वरूप बाजार छिन जाने की भी उतनी सम्भावना रहती है। नये-नये बाजार मिलने की दृष्टि से पिछले दो विश्व-युद्धों से सबसे अधिक लाभ अमरीका को हुआ है, जिसका विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-व्यापार पहले विश्व-युद्ध के दौरान अतिरिक्त ८ प्रतिशत बढ़ा और

दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान अतिरिक्त ६ प्रतिशत बढ़ा, और युद्धों के बाद भी यह बढ़ोतरी कायम रही। युद्ध के कारण मरने वाले लोगों में अनेक बड़े मेधावी होते हैं जिनके न रहने से भी अर्थ-व्यवस्था की बड़ी हानि होती है। पहले और दूसरे विश्व-युद्धों के बीच फ्रांस की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के ह्रास का यही कारण बताया गया है और इसमें शायद कुछ सत्यता भी हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्थिक दृष्टि से युद्ध का बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। विजय हो जाने पर उसके बदले कुछ लाभ भी हो सकते है। वर्तमान युद्ध-विरोधी प्रचार का दावा है कि ये लाभ नगण्य होते हैं, लेकिन सदैव ऐसा नहीं होता। अनेक बार विजेताओं के कब्जे में बड़ी समृद्ध जमीनें आ जाती हैं, या दास मिल जाते हैं, या व्यापार की भारी रियायतें मिलती हैं। यदि विजेता और कुछ न करके पहले के गड़बड़ शासन को समाप्त कर उसके स्थान पर शान्ति ही स्थापित कर देते हैं तो उनको और बाकी सभी को व्यापार के विस्तार से इतना लाभ होता है कि उसके सामने युद्ध का खर्च कोई चीज नहीं है। सर्वसत्तावादी आधार पर दो समान रूप से मजबूत सरकारों द्वारा लड़े जाने वाले आधुनिक युद्धों का खर्च उनके बदले मिलने वाले लाभ से कहीं अधिक होता है, लेकिन सभी युद्ध इतने सर्वांगीण या भयानक नहीं होते। जिन देशों ने अभी हाल ही में आर्थिक विकास शुरू किया है उन्हें एक अल्पकालीन जोरदार लड़ाई से खर्च को देखते हुए कहीं अधिक लाभ हो जाता है (जर्मनी की १८७० की लड़ाई, अमरीका की १८९८ की लड़ाई, जापान की १८९४ की लड़ाई इसी प्रकार की थीं)।

अन्त में, युद्ध छेड़ने वाले देश स्वयं उसी के शिकार हो जाते हैं। साम्राज्यवाद से दासों या नजरों या व्यापार के रूप में दो या तीन शताब्दियों तक भारी लाभ हो सकते हैं, लेकिन साम्राज्यवाद अपने अन्त का कारण स्वयं बनता है। शासित प्रजा देर-सवेर साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर देती है—विद्रोह तब और भी जल्दी होता है जब शासित प्रजा के साथ साम्राज्यवादी लोग अच्छा व्यवहार करते हैं, क्योंकि तब आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उनका बड़ा उत्कर्ष होता है, और थोड़े ही समय में वे अपनी हीन स्थिति के विरुद्ध आवाज उठा देते हैं। अच्छे साम्राज्यों में हीन स्थिति लगभग मिट जाती है, और दूरस्थ उपनिवेशों के लोग शासकों के देश में ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर काम करते दिखाई देते हैं लेकिन इतना होने पर भी शासित प्रजा विद्रोह करती ही है, स्थानीय राष्ट्रीयता सदा ही साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर देती है और तब साम्राज्यवादी दल के लोग जो बहुत दिनों से प्रशासन, वाणिज्य, पर्यटन उद्योग और उपनिवेशवादी जीवन के अन्य धन्धों से जीविका

कमाने के आदी हो चुकते हैं, फिर से कृषि और उद्योग अपनाने में भारी कठिनाई अनुभव करते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि शासित प्रजा के विद्रोह करने से पहले ही बाहरी शत्रु साम्राज्य को तहस-नहस कर देते हैं। साम्राज्य जितना ही विशाल और समृद्ध होता है साम्राज्यहीन राष्ट्र उसके प्रति उतने ही अधिक ईर्ष्यालु होते हैं। साम्राज्य को सब तरफ से घेरने के लिए ईर्ष्यालु राष्ट्र आपसी साँठ-गाँठ करते हैं। परिणामस्वरूप साम्राज्य की रक्षा बड़ी खर्चीली हो जाती है। उसकी लड़ाइयों से, जिनकी संख्या बराबर बढ़ती जाती है, कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ये विशुद्ध रक्षात्मक लड़ाइयाँ होती हैं, जिनमें सफलता मिलने पर भी लड़ाई का खर्च निकालने के लिए न तो नयी ज़मीनें हाथ लगती हैं और न कोई लाभप्रद रियायतें मिलती हैं। ऐसी स्थिति में *साम्राज्यवादी देश के लोगों की हिम्मत टूटती जाती है और वे स्वयं इस बात पर शंका करने लगते हैं कि उन्हें इतने विशाल क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार है या नहीं।* इसके बाद आन्तरिक और बाह्य दबावों के कारण साम्राज्य जल्दी ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

साम्राज्य की निवल आर्थिक लाभप्रदता पर सदेह करने वाले लोग ही कभी-कभी यह विचार व्यक्त करते हैं कि सबसे सुखी और समृद्ध राज्य वे होते हैं जो पहले कभी साम्राज्यवादी रहे थे। उनके सुख का रहस्य उनकी पिछली कीर्ति की स्मृतियाँ होती हैं और वे शानदार भविष्य के सपने देखने की ग़लतियाँ नहीं करते। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे देश समृद्ध भी हों। उदाहरण के लिए स्वीडन समृद्ध है लेकिन स्पेन नहीं। दूसरी ओर, साम्राज्य नष्ट हो जाने के बाद अपने ही काम-काज पर ध्यान लगाने वाले देशों को नया जीवन मिला। कौन कह सकता है कि हालैंड, जो अपना साम्राज्य खोने वाले राष्ट्रों में सबसे बाद का है, हिम्मत खो बैठेगा, या अपने अनुभव से नया जीवन पाएगा।

राष्ट्रसंघ की दि डिटरमिनेंट्स एण्ड कान्सीक्वेंसेज ऑफ पॉपुलेशन ट्रेंड्स (*जनसंख्या की प्रवृत्तियों के निर्धारक और परिणाम*), न्यूयार्क, १९५३, में सम्बन्धित साहित्य के व्यापक सन्दर्भों सहित जनसंख्या के सिद्धान्तों और आँकड़ों का उत्तम सर्वेक्षण किया गया है। एच० ब्राउन की दी चैलेंज ऑफ मैन्स फ्यूचर (मनुष्य के भविष्य की चुनौती) न्यूयार्क, १९५३, सर चार्ल्स डार्विन की दी नेक्स्ट मिलियन ईयर्स (आगामी दस लाख वर्ष), लंदन, १९५२, जी० एफ० मैकिनटॉश की दी माल्थूसियन पॉपुलेशन थ्योरी (माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त), लंदन, १९५३, सर जान रसेल की वर्ल्ड पॉपुलेशन एण्ड वर्ल्ड सप्लाईज़ (विश्व की जनसंख्या और खाद्य-पदार्थों की सप्लाई), लंदन, १९५४,

सदर्भ-टिप्पणी

एल० डी० स्टाम्प की अण्डरडेवलप्ड वर्ल्ड (हमारा कम विकसित विश्व), लदन १९५३ भी देखिए।

व्यावसायिक रचना और शहरीकरण पर आर्थिक विकास के प्रभावों के बारे में कोलिन क्लार्क की दी कंडीशन्स ऑफ़ इकॉनमिक प्रोग्रेस (आर्थिक प्रगति की शर्तें), द्वितीय संस्करण, लदन १९५१, एस० कुजनेट्स द्वारा सम्पादित इनकम एण्ड वेल्थ, सीरीज २ इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ़ दी यूनाइटेड स्टेट्स (आय और धन, सीरीज २ अमरीका की आय और धन), कैम्ब्रिज, १९५२; एच० डब्लू० सिंगर का इकॉनमिक जर्नल (अर्थशास्त्र जर्नल), जून १९३६, में 'कार्ब दे पॉपुलेशन्स पेरेटो के नियम की सादृश्यता' ने शीर्षक लेख पढ़िये। उद्योगीकरण पर डब्लू० हॉफमैन की स्टैडियन एण्ड टाईपेन डर इण्डस्ट्रियलाइजिरुंग, जेना, १९३१ (जिसका संशोधित संस्करण अंग्रेजी में १९५५ में छपेगा), डब्लू० ए० लुईस की इण्डस्ट्रियल डेवलपमेंट इन दी कैरिबियन (कैरिबियन में आर्थिक विकास), पोर्ट ऑफ-स्पेन, १९५०, के० मैंडेलबाम (अब मार्टिन) की दी इण्डस्ट्रियलाइज़ेशन ऑफ बैकवर्ड एरियाज़ (पिछड़े देशों का उद्योगीकरण), आक्सफ़ोर्ड, १९४५, जे० यू० नेफ की इण्डस्ट्री एण्ड गवर्नमेंट इन फ्रांस एण्ड इंगलैंड १५४०-१६४० (फ्रांस और इंगलैंड में उद्योग और सरकार १५४०-१६४०), न्यूयार्क, १९४०, पी० एन० रोज़ेन्स्टीन-रोडन का इकॉनमिक जर्नल (अर्थशास्त्र जर्नल) जून-सितम्बर १९४३, में 'पूर्व और दक्षिण-पूर्व यूरोप में उद्योगीकरण की समस्याएँ' शीर्षक लेख; एच० डब्लू० सिंगर का इण्डियन इकॉनमिक रिव्यू (भारतीय अर्थशास्त्र समीक्षा), अगस्त १९५२, में 'आर्थिक विकास का तन्त्र' शीर्षक लेख पढ़िये।

विश्व-व्यापार की रूपरेखा और विकास पर ए० जे० ब्राउन की इण्डस्ट्रियलाइज़ेशन एण्ड ट्रेड (उद्योगीकरण और व्यापार), लदन, १९४३; ए० ओ० हिर्शमैन की नेशनल पॉवर एण्ड दी स्ट्रक्चर ऑफ फॉरेन ट्रेड (राष्ट्रीय शक्ति और विदेश-व्यापार की रूपरेखा) बर्कले, १९४५; डब्लू० ए० लुईस का मांचेस्टर स्कूल, मई १९५२, में 'विश्व-उत्पादन, कीमतें और व्यापार, १८७०-१९६०' शीर्षक लेख, डब्लू० ए० लुईस का डिस्ट्रिक्ट बैंक रिव्यू (जिला बैंक समीक्षा), दिसम्बर १९५४ में 'व्यापार आन्दोलन' शीर्षक लेख, ई० स्टेली की वर्ल्ड इकॉनमिक डेवलपमेंट (विश्व का आर्थिक विकास), मांट्रियल, १९४४, एच० टिजिन्स्की का मांचेस्टर स्कूल, सितम्बर १९५१, में 'विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-व्यापार १८९९-१९५०' शीर्षक लेख; राष्ट्रसंघ की इंडस्ट्रियलाइज़ेशन एण्ड फ़ॉरेन ट्रेड (उद्योगीकरण और विश्व-व्यापार), जेनेवा, १९४५ पढ़िये।

प्रवास पर डब्लू० जे० वेटर की दी इकॉनमिक पोज़ीशन ऑफ़ दी माइग्रेंट

इन दी नीदरलैंड्स इंडीज (नीदरलैंड इंडीज में चीनियों की आर्थिक स्थिति), शिकागो, १९३६, आई० फेरेंजी और डब्लू० एफ० विलकाक्स की **इण्टरनेशनल माइग्रेशन्स** (अन्तर्राष्ट्रीय प्रवसन) न्यूयार्क, खण्ड १, १९२९, खण्ड २, १९३१, जे० आइज़क की **इकॉनमिक्स ऑफ माइग्रेशन** (प्रवसन का अर्थशास्त्र), लंदन, १९४७, सी० कोंडापी की **इण्डियन ओवरसीज़**, १८३८-१९४९ (प्रवासी भारतीय १८३८-१९४९), नयी दिल्ली, १९५१, डब्लू० ए० लुईस का जर्नल ऑफ **एग्रीकल्चरल इकॉनमिक्स** (कृषि-अर्थशास्त्र का जर्नल), जून १९५४, में 'भूमि पर बसाने के सम्बन्ध में विचार' शीर्षक लेख, ब्रिनले टामस की माइग्रेशन **एण्ड इकॉनमिक ग्रोथ** (प्रवास और आर्थिक विकास), कैंम्ब्रिज १९५४ देखिए।

युद्ध पर क्रोयर क्लार्क की ए प्लेस इन दी सन (अनुकूल परिस्थिति) न्यूयार्क, १९३७, जे० ए० होबसन की इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद), तृतीय संस्करण, लंदन, १९३८, जे० यू० नेफ की वार एण्ड ह्यूमन प्रोग्रेस (युद्ध और मानव-प्रगति), लंदन, १९५०, एल० सी० रॉबिंस की दी इकॉनमिक **कॉजेज ऑफ वार** (युद्ध के आर्थिक कारण), लंदन, १९४०, ई० स्टेली की **वार एण्ड दी प्राइवेट इन्वेस्टर** (युद्ध और निजी निवेशकर्ता) न्यूयार्क, १९३५, क्विंसी राइट की ए स्टडी ऑफ वार (युद्ध का एक अध्ययन), शिकागो, १९४२, पढ़िए।

अध्याय ७

सरकार

आर्थिक क्रिया को बढ़ावा देने या निरुत्साहित करने में सरकार का योग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना उद्यमकर्ताओं, माता-पिताओं, वैज्ञानिकों या पुरोहितों का होता है। लेकिन राजनीतिक पूर्वाग्रह के कारण यह महत्त्व सरलता से सामने नहीं आ पाता। एक ओर तो वे लोग हैं जो निजी पहल को शंका की दृष्टि से देखते हैं, और सरकारी योग को अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहते हैं। दूसरी ओर वे हैं जो सरकारों के प्रति शंकालु हैं, और निजी पहल में अधिकाधिक वृद्धि पसन्द करते हैं। इतिहास की घटनाओं से दोनों पक्षों का समर्थन किया जा सकता है। कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार से सक्रिय प्रोत्साहन पाए बिना आर्थिक विकास नहीं कर सका है। इंगलैण्ड के बारे में तो यह पूरी तरह सच है, जिसकी विशाल औद्योगिक शक्ति की नींवें एडवर्ड तृतीय और उसके बाद के बुद्धिमान शासक रखते आए हैं। इसी प्रकार, अमरीका की राज्य और सघीय सरकारों ने भी आर्थिक क्रिया को बढ़ावा देने में सदा ही बड़ा योग दिया है। इसके विपरीत, कुछ देशों के आर्थिक जीवन को वहाँ की सरकारों ने इतने आघात पहुँचाए हैं कि आर्थिक जीवन में सरकारी योग के विरुद्ध चाहे जितना लिखा जा सकता है। बुद्धिमान लोग इन तर्कों में नहीं फँसते कि आर्थिक विकास सरकारी कार्रवाई के फलस्वरूप होता है या निजी पहल के, वे जानते हैं कि इसके मूल में दोनों का योग होता है, अत वे अपने को इसी बात पर विचार करने तक सीमित रखते हैं कि दोनों का समुचित योग कितना होना चाहिए।

इस क्षेत्र में सरकारों की असफलता का कारण यह होता है कि या तो वे बहुत कम योग देती हैं, या बहुत अधिक दे बैठती हैं। इस अध्याय के पहले दो खण्डों में हम इस बात पर विचार करेंगे कि आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में सरकारें किस प्रकार योग दे सकती हैं। अन्तिम खण्ड में उन तरीकों पर चर्चा की जाएगी जिनसे कोई शरारती सरकार विकास में बाधक बन

जाती है, या गतिरोध और गिरावट पैदा कर देती है।

इस खण्ड में हम सरकार और समूची अर्थ-व्यवस्था के परस्पर-सम्बन्ध पर विचार करेंगे। अगले खण्ड में विशेष रूप से अर्थ-व्यवस्था के लोक-क्षेत्र पर विचार किया जाएगा, अतः इस खण्ड में सरकार और निजी क्षेत्र के सम्बन्धों पर ही अधिक ज़ोर दिया गया है।

२. उद्यम की रूपरेखा

(क) सरकार के कार्य—आर्थिक विकास की दिशा में सरकारें अनेक कार्रवाइयाँ करती हैं। हम इन्हें निम्नलिखित नौ वर्गों में बाँट सकते हैं: लोक-सेवाओं को बनाए रखना, प्रवृत्तियों को प्रभावित करना, आर्थिक संस्थान बनाना, साधनों के उपयोग को प्रभावित करना, आय के वितरण को प्रभावित करना, मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना, उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करना, पूर्ण रोज़गार की व्यवस्था करना और निवेश के स्तर को प्रभावित करना। पिछले अध्याय में सरकारी क्रिया की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रसंग में विचार करते समय हम इन सभी समस्याओं पर प्रकाश डाल चुके हैं, अतः आगे के पैराग्राफों में सम्बन्धित समस्याओं का संक्षेप देना ही पर्याप्त होगा।

पहले लोक-सेवाओं को लें। सरकार का मुख्य कार्य अमन-चैन बनाए रखना है। समय के साथ इसमें अन्य सेवाएँ भी शामिल हो गई हैं—सड़कें, स्कूल, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सर्वेक्षण, अनुसन्धान और निरन्तर बढ़ती हुई अन्य सेवाएँ। इन आन्तरिक कार्यों के अलावा अन्य सरकारों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने के सिलसिले में सरकार के बाह्य कार्य भी होते हैं—नागरिकों का संरक्षण, सन्धि, युद्ध आदि। लोक-सेवाओं के बारे में अधिक कुछ कहने को नहीं है, जो कुछ है हम अगले खण्ड में कहेंगे, इस समय तो हम सरकार और अर्थ-व्यवस्था के निजी क्षेत्र के सम्बन्धों पर ही विचार करेंगे।

सरकार का दूसरा काम प्रवृत्तियों को प्रभावित करना है—काम के प्रति, मितव्ययिता के प्रति, परिवार के आकार के प्रति, विदेशी व्यवसायियों के प्रति, सामाजिक गतिशीलता के प्रति, लाभार्जन के प्रति, पशुधन की पवित्रता के प्रति, नई टेक्नालोजी के प्रति। हम बार-बार यह देख चुके हैं कि विकास के प्रतिकूल प्रवृत्तियों की अपेक्षा उसके अनुकूल प्रवृत्तियाँ किसी समुदाय के आर्थिक विकास में कितनी अधिक सहायक होती हैं। इन प्रवृत्तियों के निर्धारण में सरकारें बड़ा योग देती हैं। यह सही है कि सरकारों पर जनमत का बड़ा दबाव होता है, वे जनमत से न तो बहुत आगे जा सकती हैं, और न बहुत पिछड़ सकती हैं। लेकिन यह भी सही है कि जनमत तैयार करने में सरकार का कुछ-न-कुछ हाथ अवश्य होता है। ख्याति-प्राप्त सार्वजनिक नेताओं के भाषण और लेख, और विधानमण्डल द्वारा कोई कार्रवाई करने या न करने का

निर्णय जनमत बनाने में बड़े सहायक होते हैं। जनमत को ढालने या उसकी अवज्ञा करने में कुछ सरकारें दूसरों की अपेक्षा अधिक उदार होती हैं, जो इस पर निर्भर करता है कि उनकी जनता को अपनी सरकार में विश्वास अधिक है या वह उससे डरती बहुत है।

इस प्रसंग में सरकार एक नेता का काम करती है। समुदाय के और बहुत से वर्ग भी यह कर्तव्य निभाते हैं—पुरोहित, समाचार-पत्रों के सम्पादक, मजदूर संघ के नेता, अध्यापक और अन्य महत्त्वपूर्ण लोग। स्थिर समुदायों में सरकार बहुत ही थोड़े मामलों में दखल देती है उदाहरण के लिए, वह जन्म-दर पर निर्णय देने का काम पुरोहितों पर छोड़ देती है, और कृत्रिम खादों पर निर्णय देने का काम वैज्ञानिकों को करने देती है, लेकिन जिन समुदायों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है वहां की सरकार शायद ही किसी पहलू की उपेक्षा कर सकती है। गतिरोध से निकलकर आर्थिक विकास के पथ पर आने वाले समाजों के जीवन का हर पहलू उससे प्रभावित होता है—धर्म, वर्ग-सम्बन्ध, आचार, पारिवारिक जीवन, आदि—और हर मामले में कानून बनाकर नहीं तो कम-से-कम भाषण देकर सरकार के नेताओं को ऐसे मामलों में हाथ डालना पड़ता है जो अधिक स्थिर समाजों में राजनीतिज्ञों द्वारा सहज ही अन्य संस्थानों पर छोड़ दिए जाते हैं। यह भी एक कारण है कि क्रान्ति के बाद—वह हिंसात्मक हो या शान्तिपूर्ण—नयी सरकार समुदाय के जीवन के लगभग हर क्षेत्र—धर्म, समाचार-पत्र, कानून, विभिन्न पेशे, सेना, बैंक विश्व-विद्यालय, उद्योग आदि—के पुराने नेताओं को अपदस्थ कर देती है और उनके स्थान पर अपने ही विचारों वाले नये लोगों को बिठाती है और उसके बाद इस ओर से आश्वस्त होकर कि अन्य क्षेत्रों में जनमत उन्हीं के अनुकूल बन रहा है, नयी सरकार के राजनीतिज्ञ अपने 'सामान्य' क्षेत्रों में काम करने लगते हैं। जो क्रान्तिकारी हर बड़े सामाजिक संस्थान को अपनी क्रान्ति से प्रभावित नहीं कर पाते वे मुश्किल से ही अपने उद्देश्य में सफल होते हैं और उनकी सत्ता भी बनी रहना कठिन हो जाता है।

अब हम आर्थिक संस्थानों पर आते हैं। हर सरकार को इन मामलों पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करना पड़ता है कि वह बड़े पैमाने के उद्यम पसन्द करती है या छोटे पैमाने के, प्रतियोगिता का पक्षपाती है या एकाधिकार की, निजी उद्यमशीलता का समर्थक है या सहकारी संगठनों को या लोक-संचलन की, और उसके दृष्टिकोण पर कानून के माध्यम से अमल होना है या प्रशासनिक कार्रवाई के द्वारा। उसे यह भी तसल्ली करनी पड़ती है कि देश के कानूनों में न्याय और प्रेरणा दोनों का सामंजस्य है। इस दृष्टि से संविदों, भूमि-धारणाधिकारों, कम्पनियों, साझेदारियों, सहकारी मण्डलों, मजदूर-संघों,

एकाधिकारों और पारिवारिक सम्पत्ति आदि के बारे में व्यापक कानून बनाए जाते हैं। अनेक ऐसी एजेंसियाँ भी स्थापित की जाती हैं जो (धन या सलाह देकर) निजी संस्थानों का नियमन करती हैं या उनकी सहायता करती हैं उदाहरणार्थ न्यास-विरोधी एजेंसियाँ सहकारिता-विभाग कृषि-विस्तार सरकारी उधार एजेंसियाँ, आदि। इन सभी मामलों में उन देशों के कानून और प्रथाएँ आर्थिक विकास के प्रतिकूल होती हैं जिनमें अभी तक आर्थिक विकास नहीं हुआ है। अतः आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में आर्थिक विकास के उपयुक्त नया कानूनी और प्रशासनिक ढाँचा खड़ा करने में काफी समय लग जाए तो कोई बड़ी बात नहीं है।

साधनों के उपयोग को प्रभावित करने की जरूरत सरकारों को इसलिए पड़ती है कि कीमत-तन्त्र के, जो साधनों के उपयोग का मुख्य निर्धारक है, परिणाम सामाजिक दृष्टि से सदा ही स्वीकार्य नहीं होते। हम इसके कई उदाहरण देख चुके हैं, जैसे साधनों के संरक्षण की समस्या है (देखिए अध्याय ३, खण्ड ३ (ग) और अध्याय ६, खण्ड १ (ख), लोग मिट्टी, पानी, जंगल या खनिज वाली भूमि-सतहों का कभी-कभी इस प्रकार उपयोग करते हैं कि यह भारी बरबादी ही मानी जा सकती है, या कभी-कभी सरकार किसी मूल साधन—जैसे कोई नदी-नाला—को इस प्रकार विकसित करना चाहती है जिसके लिए सारे सम्बन्धित क्षेत्र में जमीन के उपयोग पर नियन्त्रण करने की जरूरत होती है। इलाकेबन्दी की कार्रवाइयों के जरिए भूमि के उपयोग को नियन्त्रित करने की आम समस्या इसीसे सम्बन्धित है, नगरों के लिए यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, यदि उनका विकास व्यवस्थित ढंग से करना हो, जिसमें काम, मकान और मनोरंजन के लिए अलग-अलग स्थानों का समुचित निर्धारण किया गया हो, लेकिन देहात में भी कृष्येतर कामों के लिए उपजाऊ जमीन के इस्तेमाल पर रोक लगाने की दृष्टि से कुछ इलाकेबन्दी की जरूरत होती है, और अत्यधिक केन्द्रण, अत्यधिक छितराव, और गन्दे इलाकों को बसने से रोकने के लिए उद्योगों की स्थापना के मौकों पर भी कुछ नियन्त्रण रखना जरूरी होता है (देखिए अध्याय २, खण्ड २ (ग), और अध्याय ६, खण्ड १ (ग))। इसके अलावा अति विशेषज्ञता की आम समस्या भी है जिसकी वजह से संरक्षण, अनुदान आदि के जरिए या तो कुछ कार्रवाइयाँ रोक देनी पड़ती हैं—उदाहरण के लिए, एक ही फसल उगाने जाने के खतरे को रोकने के लिए उसके निर्यात पर कर लगाया जा सकता है, या सड़क-परिवहन के मामले में लाइसेंस-प्रथा लागू की जा सकती है—या कुछ कार्रवाइयों को प्रोत्साहन देना पड़ता है—उदाहरण के लिए, उद्योगीकरण को। कुछ सरकारें उपभोग के गठन में परिवर्तन लाने के लिए साधनों पर सीधा नियन्त्रण करती

हैं—उदाहरण के लिए, विलास वस्तुओं के उत्पादन या आयात पर प्रतिबन्ध लगाती हैं, या दूध के उत्पादन में आर्थिक सहायता देती हैं—जबकि अन्य सरकारें आय के वितरण को प्रभावित करके अप्रत्यक्ष रूप से उपभोग को प्रभावित करना पसन्द करती हैं।

आय के वितरण के कारण कम विकसित देशों में विचित्र रूप से कठिन समस्याएँ पैदा होती हैं, क्योंकि ये देश आय की समानता बनाए रखना चाहते हैं, और साथ ही प्रेरणाओं और बचतों के उच्च स्तर में भी कमी नहीं होने देना चाहते। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि कौशल, कठिन परिश्रम, शिक्षा और जोखिम उठाने और उत्तरदायित्व संभालने की इच्छा को देखते हुए आमदनियों में समुचित अन्तर रखे जाएँ। साथ ही यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि का पर्याप्त भाग उन लोगों की जेबों में जाने की बजाय, जो उसे उपभोग पर खर्च कर देंगे, उन लोगों के पास पहुँचना चाहिए जो उसे बचा लेंगे। निम्नतम आय वाले वर्ग—अकुशल मजदूर और शायद किसान भी—उनमें से किसी भी श्रेणी में नहीं आते जिनके उत्कर्ष से विकास को बढ़ावा मिलता है, यदि आय के अन्तरों और बचतों को ही कसौटी माना जाए तो अन्य वर्गों की तुलना में निम्न आय वाले वर्गों की आमदनियाँ बढ़ाने के स्थान पर घटाई जानी चाहिएँ (देखिए अध्याय ४, खण्ड २ (ख), और अध्याय ५, खण्ड २ (ग))। दूसरी ओर, जिन देशों में जमींदार थोड़ा ही उत्पादक निवेश करते हैं वहाँ उनकी आय छीनने से विकास में कोई विशेष बाधा नहीं आती। लेकिन लाभ छीनने से विकास में भारी रुकावट आ सकती है, क्योंकि एक तो इससे निवेश के प्रति प्रेरणा समाप्त हो जाती है, और दूसरे फर्मों के पास नये निवेश के लिए पैसा नहीं बचता। अतः करों के रूप में लाभों का एक बड़ा भाग छीनने के गम्भीर परिणाम होते हैं। यदि ऐसे करों की आय से सरकार गरीबों का उपभोग-स्तर बढ़ाने का प्रयत्न करे तो इसके परिणामस्वरूप बचतें कम हो जाएँगी। लाभों पर लगाए जाने वाले कर का आय शिक्षा और पूँजी-निर्माण जैसे उत्पादक कामों पर खर्च की जानी चाहिए। इसकी कुछ राशि विकास-बैंक जैसे सरकारी वित्त-संस्थानों की मार्फत उत्पादक उद्यमों को वित्तीय सहायता देने के लिए भी निर्धारित करनी चाहिए। और यदि लाभों पर कर लगाने से प्रेरणाओं का हनन होता हो तो सरकार को नये उद्योगों की स्थापना में अग्रणी बनना चाहिए, और जिन कामों को भारी जोखिम उठाने के लिए लोगों में बहुत कम प्रेरणा दिखाई देती हो वहाँ उचित प्रतिफल की गारण्टी देनी चाहिए। कम विकसित देशों की प्रगति एक ऐसी शताब्दी में आरम्भ हो रही है जब हर आदमी दो घोड़ों पर एक साथ सवार होना चाहता है—आर्थिक समानता के घोड़े पर, और आर्थिक

विकास के घोड़े पर। रूस भी समझ गया है कि दोनों घोड़े एक ही दिशा में नहीं बढ़ते, अतः उसने एक को छोड़ दिया है। अन्य कम विकसित देशों को भी इस मामले में अपना-अपना निर्णय लेना पड़ेगा।

यदि द्रव्य मुख्यतया बहुमूल्य धातुओं के रूप में हो तो सरकार को उसकी मात्रा को नियमन करने की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि सिक्कों के खरेपन पर नियंत्रण रखने के लिए उसे सिक्के बनाने के काम पर नियंत्रण रखना चाहिए। लेकिन इन दिनों मुद्रा प्रायः ऐसी धातुओं से बनाई जाती है जिनका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य से कम होता है, ऐसी स्थिति में यदि सरकार मुद्रा की मात्रा का नियमन न करे, तो निजी लोग इतनी मुद्रा बना डालेंगे जिससे कीमतें तब तक तेजी के साथ बढ़ती चली जाएँगी जब तक कि हर सिक्के या नोट का अंकित और वास्तविक मूल्य बराबर न हो जाए। यदि मुद्रा कागज या निकृष्ट धातुओं से तैयार की जाती हो तो उसकी मात्रा पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिए। इसके लिए नियमन की कोई स्वचल प्रणाली भी अपनायी जा सकती है। उदाहरण के लिए, स्वर्णमान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक उतनी ही मुद्रा जारी कर सकता है जितने का सोना उसके पास सुरक्षित हो, अथवा ब्रिटेन के उपनिवेशों की मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत, जैसे या मुद्रा प्राधिकारियों द्वारा जारी किये गए नोटों के मूल्य के बराबर स्टर्लिंग ऋण-पत्रों का होना आवश्यक है। स्वचल प्रणाली के स्थान पर मुद्रा-नियंत्रण की सप्रयास प्रणाली भी अपनायी जा सकती है, अर्थात् स्वर्ण या ऋण-पत्रों के रूप में रक्षित निधि होने पर भी सरकार को यह अधिकार हो सकता है कि वह जब चाहे मुद्रा जारी करे, या जब चाहे वापस ले ले। इसी प्रकार बैंक-जमा का परिमाण, जो औद्योगिक देशों में मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप होता है, बढ़ाना या घटाना बैंकों के विवेक पर छोड़ा जा सकता है, या किन्हीं स्वचल नियमों के आधार पर केन्द्रीय बैंक द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है, या सरकार स्वयं अपने विवेक के अनुसार केन्द्रीय बैंक की मार्फत नियंत्रित कर सकती है। मुद्रा के परिमाण का सप्रयास नियंत्रण बुद्धिमानी से करना बहुत कठिन होता है। इतिहास में इस बात के अनेक उल्लेख मिलते हैं कि जहाँ सरकारों ने अपने विवेकाधिकार का अबुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रयोग किया है वहाँ वे बुरी तरह असफल रही हैं, इसीलिए मुद्रा-नियंत्रण की स्वचल प्रणालियों का अधिकाधिक उपयोग उन्नीसवीं शताब्दी की एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। वैसे स्वचल प्रणालियाँ युद्धों और गिरावट के दौरों में ठीक से काम नहीं कर सकी हैं, और बीसवीं शताब्दी में सरकारों के बढ़ते हुए अधिकारों से भी इनका मेल नहीं बैठता। अब फिर से मुद्रा के परिमाण पर सरकार द्वारा सविवेक नियंत्रण की प्रथा चल पड़ी है। बुद्धिमान सरकार के हाथों सविवेक नियंत्रण कहीं

लाभप्रद सिद्ध होता है लेकिन यदि प्रशासन में बुद्धि का अभाव हो, या वे कमज़ोर या भ्रष्ट हों तो इसके घातक परिणाम भी निकल सकते हैं।

औद्योगिक देशों में मुद्रा-परिमाण के सविवेक नियंत्रण की वर्तमान लोकप्रियता का एक मुख्य कारण यह है कि उनकी सहायता से मुद्रा घटा-बढ़ाकर अन्य आर्थिक उतार-चढ़ावों के प्रभाव दूर किये जा सकते हैं और इस प्रकार आर्थिक प्रणाली में अधिकाधिक स्थायित्व लाया जा सकता है। अधिकांश सरकारें अब यह मानने लगी हैं कि अधिकाधिक स्थायित्व पैदा करना उनके कर्तव्यों में से एक है। अध्याय ५, खण्ड ३ (ग) में हम इस विषय पर पहले ही चर्चा कर चुके हैं, अतः औद्योगिक देशों में उतार चढ़ाव के नियंत्रण के बारे में यहाँ कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि कम विकसित देशों के बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव विश्व-व्यापार के उतार-चढ़ावों का परिणाम होते हैं, जिन पर उनका कोई वश नहीं चलता। वे अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि घरेलू कीमतों में उतनी घट-बढ़ न होने दें जितनी उनकी विदेश-व्यापार की कीमतों में होती है, और तेज़ी के ज़माने में विदेशी मुद्रा की रक्षित निधियाँ बना लें जो गिरावट के दौर में उनके काम आयें, और इस प्रकार अपनी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को विश्व-व्यापार के उतार-चढ़ावों से कम-से-कम प्रभावित होने दें। यह कर सकना काफी कठिन होता है, क्योंकि यह कोई नहीं जानता कि विश्व-व्यापार की कीमतें भविष्य में घटेंगी या बढ़ेंगी। फिर भी, अधिकांश कम विकसित देश अपने बचाव के लिए जितने प्रयत्न करते हैं उनसे अधिक करने की गुंजाइश है।

औद्योगिक देश मुद्रा के परिमाण पर सविवेक नियंत्रण इसलिए भी रखते हैं कि उन्होंने अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूर्ण रोज़गार की स्थिति कायम करने का दायित्व सँभाल लिया है। वैसे, औद्योगिक देशों में इसके लिए मुख्यतः उतार-चढ़ावों की मात्रा कम कर देने से ही काम चल जाता है। इसके विपरीत, कम विकसित देशों में बेरोज़गारी का मुख्य कारण लोगों के पास काम करने के लिए साधनों का अभाव है। इसे केवल पूंजी निर्माण से ही दूर किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप नये साधन पैदा होते हैं, या वर्तमान साधनों (जैसे पूंजी) के अधिकाधिक प्रयोग निकाले जाते हैं। इस प्रकार रोज़गार की समस्या आर्थिक विकास की सभी समस्याओं से सम्बन्धित है। मुद्रा के परिमाण का सविवेक नियंत्रण केवल पूंजी-निर्माण में ही सहायता पहुँचा सकता है जैसा कि हम देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड २ (क))। विशिष्ट परिस्थितियों में उधार विस्तार के ज़रिए पूंजी-निर्माण को बढ़ावा दिया जा सकता है, लेकिन किन्हीं अन्य परिस्थितियों में, या गलत हाथों में, इससे लाभ मिलने के बजाय हानियाँ ही मिलने लगती हैं।

अब हम सरकारों द्वारा अपने हाथ में लिए गए अन्तिम कार्य पर आते हैं, अर्थात् निवेश का स्तर ऊँचा करके विकास की गति बढ़ाने का काम। अध्याय ५, खण्ड २ (ग) में हम देख चुके हैं कि सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में घरेलू बचत की दर मुख्यतः राष्ट्रीय आय के अनुपात में लाभों की दर पर निर्भर होती है। जहाँ लाभ कम होते हैं वहाँ बचतें भी कम होती हैं और पूँजीवादी क्षेत्र के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाती है। यह मानने के कोई स्पष्ट कारण नहीं हैं कि इस प्रकार निर्धारित बचत की दर ही सबसे वांछनीय दर क्यों मानी जाए। वास्तव में जिन देशों में श्रमिकों की बेशी है वहाँ कुछ प्रकार के पूँजी-निर्माण लगभग शून्य वास्तविक लागत पर किए जा सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में लाभप्रद उपाय काम में न लाना कोई बुद्धिमानी नहीं है। दूसरी ओर, घरेलू बचत की दर जबरदस्ती करके ही बढ़ाई जा सकती है—किसानों और जमींदारों पर कर लगाकर या स्फीति के माध्यम से। इस प्रकार की जबरदस्ती की जाए या नहीं, यह एक राजनीतिक समस्या है जिसे हर देश को अपनी परिस्थितियाँ देखकर स्वयं सुलझाना चाहिए। जापान की सरकार अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में यह काम 'कर ले गई', और गोल्ड कोस्ट की सरकार अपनी परिस्थितियों में इस पर अमल कर रही है, लेकिन बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में रूसी सरकार द्वारा की गई जबरदस्ती का किसानों की ओर से डटकर विरोध किया गया, जिसमें लाखों जानें गईं। भारत-जैसे देश के सामने इस समय सबसे बड़ा राजनीतिक प्रश्न यह है कि क्या वह अपनी जनता में व्यापक रूप से घृणा और हिंसा पैदा किये बगैर अपनी घरेलू बचतें दूनी या तिगुनी कराने के मामले में जबरदस्ती कर सकता है।

जैसा कि ऊपर बताये गए सरकारी कार्यों से स्पष्ट है, सरकार द्वारा किये जा सकने वाले लाभप्रद कार्यों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है, और उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा कम उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं में तो यह और भी विस्तृत है। उदाहरण के लिए, कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में अनुसन्धान-कार्य निजी धन की अपेक्षा लोक-धन पर अधिकाधिक निर्भर होता है, लोगों की प्रवृत्तियों में अनुकूल परिवर्तन लाने के लिए सरकार को अधिकाधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं, कीमत-तन्त्र ठीक से काम नहीं करता, कमियों के रूप में सरकार को अधिकाधिक काम करने होते हैं, बचतों की समस्या भी विकट होती है, गरीबी दूर करने का काम भी बड़ा भारी होता है, और इसी प्रकार के अन्य काम भी होते हैं। पर साथ ही कम विकसित देशों की सरकारें इतने अधिक काम करने में समर्थ नहीं होतीं। उनका प्रशासन अधिक विकसित देशों की तुलना में अधिक भ्रष्ट और कम कुशल होता है, और सरकारी काम के लिए

राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत कम भाग ही खर्च किया जाना सम्भव होता है। यह भी आर्थिक विकास का एक विरोधाभास है। जिस प्रकार निर्धन देशों को धनी देशों की अपेक्षा अधिक बचत करने की आवश्यकता होती है, पर वे कर नहीं पाते, उसी प्रकार धनी देशों की अपेक्षा निर्धन देशों की सरकारों को कहीं अधिक काम अपने हाथ में लेने की आवश्यकता होती है, लेकिन वे थोड़े-से ही काम कर पाती हैं, और जो कर पाती हैं वे भी ठीक तरह से नहीं होते। वास्तव में किसी काल्पनिक आधार पर यह मानना बेकार है कि कोई सरकार कितने काम अपने हाथ में ले सकती है, जब तक कि उस सरकार की क्षमताओं को ध्यान में न रखा जाए। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार पर कर्तव्यों का अधिक बोझ लादना बड़ा आसान है, लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि अधिक हाथ-पैर फैलाने के बजाय उन्हें केवल उतने ही कामों में हाथ डालना चाहिए जितने उनकी सामर्थ्य में हों।

यहीं अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी सहायता कार्यक्रमों की उपयोगिता सिद्ध होती है। जिस प्रकार बाह्य वित्त घरेलू बचत का पूरक होता है, उसी प्रकार घरेलू सरकार बाह्य सहायता से अपने अभाव दूर कर सकती है। इस प्रकार, साम्राज्यवादी सरकारें यदि चाहें तो प्रशासन के खर्च का कुछ अंश अपने पास से देकर, या योग्य कर्मचारी भेजकर, या अधिक कुशल और कम भ्रष्ट प्रशासन स्थापित करके अपने अधीन देशों की सहायता कर सकती हैं। लेकिन कुशलता की दृष्टि से लाभप्रद स्थिति में होने पर भी उपनिवेशी सरकारों में सकल्प का प्रायः अभाव होता है, क्योंकि अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए सभी उपनिवेशी सरकारें अग्रता के आधार पर कार्यक्रम तैयार नहीं करतीं। साम्राज्यवादी सरकारें अपने अधीन लोगों को इस बात का विश्वास नहीं दिला पाई हैं कि वे उनकी दशा सुधारना चाहती हैं, और राष्ट्रवादी नेताओं ने इस असफलता का खूब लाभ उठाया है। उनका कहना है कि यदि वे ताकत में आ गए तो लोगों की भलाई के लिए अधिक काम करेंगे। लेकिन स्वतन्त्र देशों की सभी सरकारें अपने देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के प्रति सचेष्ट नहीं हैं, उनमें से कई तो इस मामले में साम्राज्यवादी सरकारों से बहुत पीछे हैं। और जिन सरकारों में सकल्प है उनमें क्षमता नहीं है। बिना प्रतिबन्धों के दी गई और ली गई अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी सहायता से धन और तकनीकी कौशल की कमी दूर होती है, और योग्य सरकारें इनसे बड़ा लाभ उठा रही हैं। लेकिन तकनीकी सहायता विकास के लिए सकल्प या प्रशासन की ईमानदारी का स्थान नहीं ले सकती।

(ख) उत्पादन-कार्यक्रम—हर अर्थ-व्यवस्था के लिए एक पूरा कार्यक्रम तैयार किया जा सकता है, जिसमें यह बताया गया हो कि सरकार देश के

साधनों का भिन्न भिन्न कामों में प्रयोग करना चाहती है। इस प्रकार के कार्यक्रम का सांख्यिकीय भाग भिन्न-भिन्न प्रकार की सारणियों के रूप में होता है, जिनमें से हर सारणी अर्थ-व्यवस्था के एक-एक पहलू पर प्रकाश डालती है। एक सारणी में भिन्न-भिन्न प्रकार के (भिन्न भिन्न कौशल वाले) श्रमिकों का ब्योरा दिया होता है, और वे उद्योग या सेवाएं दी गई होती हैं जिनमें जन-संख्या को रोजगार दिया जाएगा। इसी प्रकार की अन्य सारणियों में कच्चे सामान, भूमि, इमारतों या मशीनों के उपयोग बताये जा सकते हैं। एक अन्य सारणी में साधनों के प्रस्तावित बँटवारे के अनुसार हर उद्योग का अनुमानित उत्पादन दिखाया जा सकता है। एक और सारणी यह बताने के लिए तैयार की जा सकती है कि उत्पादन कार्यक्रमों से कितनी आय होगी, और उसका किस प्रकार उपयोग किया जाएगा, इस सारणी से ही यह पता चलेगा कि उपभोग, पूँजी निर्माण और सरकारी सेवा के बीच राष्ट्रीय आय का विभाजन किस प्रकार किया जाना है। एक सारणी ऐसी भी तैयार की जा सकती है जिसमें दृश्य और अदृश्य निर्यात से होने वाली आय, और दृश्य और अदृश्य आयातों के लिए किये जाने वाले भुगतान के अनुमानित आंकड़े हों। इस प्रकार, अर्थ-व्यवस्था के व्यापक कार्यक्रम में बीसियों पृष्ठ आंकड़ों के रूप में हो सकते हैं।

उत्पादन कार्यक्रम तैयार करते समय कई समस्याएँ पैदा होती हैं। पहली तो यह कि कार्यक्रम का उद्देश्य क्या है? दूसरी साधनों के उपयोग का निर्धारण—अर्थात् संतुलित विकास की समस्या। तीसरी समस्या सामंजस्य की है। और चौथी यह है कि कार्यक्रम के लक्ष्य किस प्रकार प्राप्त किये जाएँ।

कार्यक्रम का उद्देश्य क्या है? उत्तर इस पर निर्भर करता है कि अर्थ-व्यवस्था मुख्यतर कीमतों से नियमित होती है या सरकारी नियन्त्रण से। यदि श्रमिकों, इमारतों, कच्चे सामानों, और आयातों या उपभोग या पूँजी-निर्माण के स्तरों के बारे में सरकार को निरन्तर निर्णय लेने पड़ते हों तो अपने निर्णयों में सामंजस्य रखने के लिए सरकार को समूची अर्थ-व्यवस्था के बारे में व्यापक पैमाने पर आंकड़े इकट्ठे करने होंगे। इसके विपरीत, यदि सरकार को थोड़े ही निर्णय लेने पड़ते हों तो जानकारी भी अधिक इकट्ठी करने की आवश्यकता नहीं होगी। जिन अर्थ-व्यवस्थाओं का नियमन कीमतों द्वारा होता है वहाँ उत्पादन कार्यक्रम तैयार किये बिना भी काम चल सकता है, इस स्थिति में हर आदमी अपना अलग कार्यक्रम बनाता है, और थोड़े-से केन्द्रीय नियन्त्रण की सहायता से ही बाजार-तन्त्र सब लोगों की आर्थिक क्रियाओं का समन्वय कर लेता है।

व्यापक उत्पादन-कार्यक्रम बनाने के हानि-लाभ वही हैं जो केन्द्रीय कार्या-

लय म आयोजना तैयार करने म होते है। यहाँ इस पर ब्योरेवार विचार करना शायद ठीक न होगा, मैं इस विषय पर अलग से एक पुस्तक प्रकाशित कर चुका हूँ। मोटे तौर पर ब्योरेवार केन्द्रीय आयोजन के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह अनौपचारिक, नौकरशाही और अनम्य होता है और इसमे गलती या गडबड की गुजाइश बहुत रहती है। इसके अलावा यह अनावश्यक भी है। टुकडो म तैयार की जाने वाली आयोजनाओ का समर्थन करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक आधार है। य आयोजनाएँ उन थोडे-से मामलो को लेकर तैयार की जाती हैं जिन पर विशिष्ट प्रभाव डालना होता है, जैसे निर्यातो की मात्रा पर, या पूँजी-निर्माण औद्योगिक उत्पादन, या खाद्य-उत्पादन के स्तर पर, और शेष अर्थ-व्यवस्था को माँग और सप्लाई के अनुसार स्वय समजित होने के लिए छोड दिया जाता है। कुछ-न-कुछ आयोजन आवश्यक होना ही है, क्योकि माँग और सप्लाई के परिणाम सामाजिक दृष्टि से पूरी तरह मान्य नही होते, लेकिन आयोजन उन क्षेत्रो तक सीमित रखा जा सकता है जहाँ यह दिखाई देता हो कि केवल बाजार की शक्तियो से पैदा होने वाले परिणामो मे हेर-फेर करना आवश्यक है।

टुकडो मे तैयार की जाने वाली आयोजनाएँ अर्थ-व्यवस्था के उन क्षेत्रों के लिए सबसे आवश्यक होती हैं जहाँ वर्तमान कीमतो पर माँग और सप्लाई का सन्तुलन स्थापित नही हो पाता। यदि स्फीति की अवस्था चल रही हो, विशेषकर यदि सरकार कीमतो पर नियन्त्रण लगाकर स्फीति का सामना करने की कोशिश कर रही हो, तो सारी ही अर्थ-व्यवस्था मे माँग और सप्लाई असन्तुलित होती है। स्फीति से वस्तुओ की कमी पैदा हो जाती है जिसके कारण आवश्यक साधनो, विशेष रूप से खाद्य, कुछ कच्चे सामान, विदेशी मुद्रा और इमारत बनाने की क्षमता पर राशन या प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता पडती है, और इस प्रकार का राशन तब तक प्रभावशाली ढग से नही लगाया जा सकता जब तक कि राशन की गई हर वस्तु के लिए अलग-अलग ऐसा बजट तैयार न किया जाए जिसमे अनुमानित माँग और सप्लाई के आँकडे दिये हो। स्फीति के अलावा, विकासशील अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे अक्सर माँग बढ जाती है, जबकि दूसरे क्षेत्रों म मन्दी की स्थिति चल रही होती है। आम तौर से सभी प्रकार के कुशल श्रमिको की, और विशेष रूप से इमारत उद्योग के कुशल श्रमिकों की, माँग लगभग निश्चित रूप से बढती है, अत यह बडा आवश्यक हो जाता है कि कुशल श्रमिकों की सप्लाई के बारे मे और उनकी सम्भावित माँग के बारे मे जितने अधिक-से-अधिक आँकडे इकट्ठे किए जा सकें, किए जाएँ। यदि घरेलू उत्पादन आयातो की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार किये बिना ही निर्यातो की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रहा हो तो

विदेशी मुद्रा की माँग भी बढ़ जाती है। यदि अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के
विकास के मुकाबले कृषि-उत्पादकता पिछड़ रही हो तो खाद्य-पदार्थों की माँग
बढ़ जाती है। चूँकि यह आशा नहीं की जा सकती कि अर्थ-व्यवस्था के सभी
क्षेत्र एक-दूसरे के साथ बिलकुल ठीक सन्तुलन बनाए रखकर बढ़ते रहेंगे, अतः
आर्थिक विकास के फलस्वरूप किन्हीं क्षेत्रों में बेशियाँ और किन्हीं में कमियाँ
पैदा हो जाती हैं और यहीं पर माँग और सप्लाई का असन्तुलन अधिक स्पष्ट
और प्रबल हो उठता है। अतः इनके बारे में अधिक-से-अधिक जानकारी
इकट्ठी करनी चाहिए और इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि सीमित
साधनों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो।

तीन सबसे बड़े अभाव, जो किसी उत्पादन-कार्यक्रम का स्वरूप निर्धारित
करते हैं, पूँजी का अभाव, कुशल श्रमिकों का अभाव और विदेशी मुद्रा का
अभाव है। इन्हें दूर करने के लिए तीन उपाय काम में लाने चाहिएँ, एक तो
सम्पूर्ण कार्यक्रम का आकार उपलब्ध साधनों की सीमा को देखकर निर्धारित
करना चाहिए, दूसरे, आयोजनाओं को ऐसे तरीकों से कार्यान्वित करना
चाहिए जिनमें दुर्लभ साधनों का अधिक से अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग हो
और तीसरे उन आयोजनाओं को प्रमुखता दी जाए जिनसे दुर्लभ साधनों की
सप्लाई तेजी से बढ़ाई जा सके। अन्तिम बात सबसे महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि
इसकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। आयोजना की सच्ची कसौटी यह नहीं
है कि दुर्लभ साधनों के उपयोग पर कितने प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिबन्ध लगाया
जाता है, बल्कि यह है कि इन साधनों की सप्लाई में वृद्धि करके कितनी
जल्दी इनका अभाव दूर किया जाता है।

सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूँजी की कमी नहीं होती। द्वितीय विश्व-युद्ध के
ठीक बाद कई देश तो ऐसे थे जिनके पास बड़े निवेश कार्यक्रमों में पैसा लगाने
के लिए काफी पूँजी और विदेशी मुद्रा थी किन्तु उनकी मुख्य समस्या प्रशि-
क्षित मजदूरों और इस्पात तथा सीमेंट-जैसी वस्तुओं की कमी थी। वैसे, यह
एक अस्थायी स्थिति थी जिसका कारण रक्षित निधियों का युद्धकालीन सचय
था। अधिकांश कम विकसित देश अब फिर पूँजी के अभाव की पुरानी स्थिति
में आ गए हैं। अब इन्हें अपने निवेश कार्यक्रमों को उपलब्ध वित्त की सीमा
में रखना है, साथ ही उपभोग पर बन्धन लगाकर अधिक-से-अधिक वित्त
उपलब्ध करना है। निवेश और बचत के बीच उचित सन्तुलन रखना इसलिए
आवश्यक है कि इन दोनों में अधिक अन्तर होने से स्फीति पैदा हो जाती है।
हम देख चुके हैं कि थोड़ी-सी स्फीति पूँजी-निर्माण में सहायक होती है, लेकिन
कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा यह उद्योग-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में अधिक
कारगर होती है, और इस पर बड़ी सावधानी से नियन्त्रण रखना पड़ता है,

अन्यथा यह अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचा सकती है (अध्याय ५, खण्ड २ (क))। अतः उपलब्ध बचतों और अनुमत स्फीति (यदि स्फीति की गुंजाइश हो) के योग से अधिक का निवेश कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। साथ ही पूंजी-निर्माण की दर बढ़ाने वाले कार्यक्रम में उपभोग पर बन्धन लगाने के उपाय भी शामिल होने चाहिएँ, चाहे ये बन्धन स्वेच्छा बचत के रूप में हों, विलास-वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण के रूप में हों, या कराधान के रूप में हों। हम इसी अध्याय में आगे चलकर (खण्ड ७ (ग)) इस विषय पर और चर्चा करेंगे।

पूंजी की कमी का प्रभाव प्रायोजनाओं के चुनाव पर भी पड़ता है और उन्हें कार्यान्वित करने के तरीक़े पर भी। प्रायोजनाओं का चुनाव करते समय यह नियम सामने रखा जाता है कि केवल उन्हीं कार्यों में निवेश किया जाए जिनमें पूंजी का प्रति इकाई सीमान्त प्रतिफल अधिकतम हो। इसका आकलन केवल इसी आधार पर नहीं किया जा सकता कि उत्पाद किस कीमत पर बेचा जा सकेगा, क्योंकि कुछ प्रायोजनाओं से उनके मुद्रारूपी प्रतिफलों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ मिलता है, यह बात विशेषकर लोकोपयोगी सेवाओं पर लागू होती है—परिवहन, पानी और बिजली की सप्लाई में सुधार करने से इन सेवाओं की आमदनियों को देखते हुए अन्य उद्योगों के उत्पादन में कहीं अधिक वृद्धि होती है। न यह नियम उन प्रायोजनाओं पर लागू होता है जहां श्रम के अनुपात में पूंजी का प्रयोग काफ़ी कम किया जाता है, क्योंकि अधिकांशतः जिन उद्योगों में पूंजी के कारण उत्पादन बढ़ता है वे पूंजी-प्रधान भी होते हैं—जैसे कुछ लोकोपयोगी सेवाएँ, खानें या इस्पात के कारखाने।

किसी प्रायोजना को कार्यान्वित करने के लिए चाहें तो बहुत कम पूंजी का उपयोग कर सकते हैं और चाहें तो बहुत अधिक पूंजी भी लगा सकते हैं। यदि पूंजी की कमी हो तो ऐसे उपाय अपनाने चाहिएँ जिनमें पूंजी कम लगे, अर्थात् जिनकी आरम्भिक लागत कार्यकारी लागत के अनुपात में थोड़ी हो और जिनसे उत्पादन आरम्भ करने में समय भी थोड़ा लगे। विभिन्न उपायों की तुलनात्मक लागत का आकलन करते समय यदि ब्याज की दर ऊँची रखी जाए (सरकारी बांडों की ब्याज-दर से अधिक, जो समुदाय के लिए पूंजी के वास्तविक मूल्य से प्रायः कम होती है), तो यही पद्धति अनुकूल पाई जाती है।

उन देशों में विशेष सावधानी बरतने की ज़रूरत है जहां अकुशल श्रमिकों की भारी बेशी होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में मुद्रारूपी मज़दूरियां श्रमिकों के उपयोग की वास्तविक सामाजिक लागत का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इन परिस्थितियों में यदि पूंजी उन कामों पर लगाई जाए जो श्रमिक भी उतनी

ही अच्छी तरह कर सकते हों तो पूंजी उत्पादक सिद्ध नहीं होती, मजदूरियों के इस स्तर पर पूंजी निवेश पूंजीपतियों को बहुत लाभ दे सकता है लेकिन समूचे समुदाय की दृष्टि से यह लाभप्रद नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे उत्पादन तो नहीं बढ़ता लेकिन बेरोजगारी अवश्य बढ़ जाती है। पूंजी का दुरुपयोग अधिकांशतः खेती के मशीनीकरण और कुटीर-उद्योगों की प्रतियोगिता में बड़े पैमाने के उद्योग खड़े करने के रूप में दिखाई देता है (अध्याय ३, खण्ड ४ (घ) और (ङ)), अतः इस प्रकार के निवेशों को हतोत्साहित करना चाहिए। कभी-कभी पूंजी निवेश से उत्पादन में कोई वृद्धि न होने पर भी इसके प्रति विशेष आकर्षण इसलिए होता है कि इससे श्रम की बड़ी बचत होती है (उदाहरण के लिए मिट्टी उठाने की मशीन) या मजदूरों से कराने की अपेक्षा इसमें पैसा कम लगता है और जिन वित्त-मन्त्रियों को लोक-निवेश के लिए धन उपलब्ध करने में कठिनाई होती है वे निश्चय ही ऐसे तरीकों से बचना चाहते हैं जिनमें मजदूरों के ऊपर बहुत अधिक खर्च होता हो, लेकिन तथ्य यह है कि—सामाजिक दृष्टिकोण से इन दशाओं में ऐसे कामों में मशीनों का इस्तेमाल करना बरबादी है जो बड़ी श्रमिक भी उतनी ही अच्छी तरह कर सकते हों। इन दशाओं में पूंजी उन्हीं रोजगार बढ़ाने वाले कामों में सर्वाधिक उत्पादक हो सकती है जहाँ यह ऐसी प्रायोजनाओं पर लगाई जाए जिनमें हाथ से काम करना सम्भव न हो या जिनमें हाथ से काम कराने पर सामर्थ्य से अधिक खर्च पड़ता हो (वित्त-मन्त्री प्रायः इस वाक्य की दुहाई देते हैं)। हाथ से किए जाने वाले कामों के स्थान पर पूंजी लगाना तब भी उत्पादक सिद्ध हो सकता है जब अतिरिक्त उत्पादन बेरोजगारी पैदा किए बिना खपाया जा सके—मांग की मूल्य-सापेक्षता या उत्पादित वस्तु में पूंजी के प्रयोग से होने वाले सुधार के बल पर ऐसा करना सम्भव है। ऐसे भी काम हैं जिनमें पूंजी लगाकर राष्ट्रीय उत्पादन तो बढ़ाया जा सकता है पर साथ ही बेरोजगारी भी बढ़ जाएगी, जैसे घोड़ों और मनुष्यों की सहायता से की जाने वाली कृषि के स्थान पर मशीनों का इस्तेमाल करके लोगों के लिए अधिक अन्न उपजाया जा सकता है। निर्णायक आर्थिक कसौटी यह है कि पूंजी उन कामों में लगाई जाए जहाँ इससे कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती हो, भले ही रोजगार या मुद्रास्फीति लागत पर इसका कोई भी प्रभाव पड़े। लेकिन, व्यवहार में, राजनीतिक कारणों से यह आसान नहीं होता कि जहाँ मुद्रास्फीति लागत काफी कम है वहाँ श्रमिकों के स्थान पर पूंजी का व्यर्थ प्रयोग रोका जा सके या जहाँ बेरोजगारी फैलने का भय है वहाँ पूंजी के स्थान पर श्रम की बरबादी रोकी जा सके।

पूरक शक्तियों की कमी से भी वैसी ही समस्याएं पैदा होती हैं जैसी

पूंजी की कमी से होती है। यदि कुशल श्रमिकों की कमी हो तो मितव्ययिता करने की दृष्टि से काम के व तरीके चलने चाहिएं जिनमें कौशल की अधिक आवश्यकता न पड़े। इस प्रसंग में एक कमी, जो लगभग सदा देखने में आती है वह उद्यमों के प्रशासन में कुशल व्यक्तियों की है। अतः कम विकसित देशों में इस प्रकार के कार्यक्रम तैयार किए जाने चाहिएं जिन्हें बड़े पैमाने के संगठनों की अपेक्षा छोटे पैमाने पर कार्यान्वित किया जा सके (अध्याय ३, खण्ड ८ (ग))। अव्यवस्था और बरबादी को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि कार्यक्रम का विस्तार इतना न किया जाए कि उपलब्ध कौशल कम पड़ जाए। यह बात विशेष रूप से इमारत उद्योग पर लागू होती है। हम देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड १) कि निवेश का पचास से साठ प्रतिशत तक इमारतों के निर्माण में लगा होता है और इमारत उद्योग की क्षमता कम होने से ही प्रायः पूंजी-निर्माण की गति बढ़ाने में कठिनाई होती है। वैसे, यह कोई बहुत बड़ी बाधा नहीं है, क्योंकि जितनी तेजी से सेना का विस्तार किया जा सकता है उतनी ही तेजी से इमारत उद्योग को भी बढ़ाया जा सकता है, बशर्ते कि समस्या पर ठीक से ध्यान दिया जाए और अपेक्षित श्रमिकों की भरती और प्रशिक्षण के उपाय कर लिए जाएं। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि अनेक उत्पादन-कार्यक्रम इमारत उद्योग का विस्तार न किये जाने के कारण ही असफल हो जाते हैं।

देश में विदेशी मुद्रा की कमी है या नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि आर्थिक विकास मुख्यतः निर्यात उद्योगों में किया जा रहा है या अन्य उद्योगों में (अध्याय ५, खण्ड ३ (ख)) और देश कितनी विदेशी पूंजी का आयात कर रहा है। यदि मुख्यतः घरेलू क्षेत्रों का विकास किया जा रहा है (जैसे कि भारत या आस्ट्रेलिया में) तो विदेशी मुद्रा की कठिनाई अवश्य पड़ती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के वे तरीके अपनाने चाहिएं जिनमें आयात की जाने वाली मशीनों और कच्चे सामान का उपयोग कम-से-कम होता हो। साथ ही, यह भी वांछनीय है कि जो उद्योग विदेशी मुद्रा कमाते हों या उसकी बचत करते हों उनका पोषण किया जाए—उससे कुछ अधिक जो इन उद्योगों की द्रव्यगत लागत और द्रव्यगत आय को देखते हुए उचित हो। इस विकास कार्यक्रम का उद्देश्य देश और विदेश व्यापार के बीच समुचित सन्तुलन कायम करना होना चाहिए। कम विकसित अर्थ-व्यवस्था में आयात उतनी ही तेजी से बढ़ते हैं जितनी तेजी से आय बढ़ती है, बल्कि प्रायः इससे भी अधिक तेजी से बढ़ते हैं। रूस, चीन या अमरीका जैसे देश जहां अनेक प्रकार की जलवायु और प्राकृतिक साधन हैं अपने विकास के साथ-साथ आयातों की स्थानापन्न वस्तुओं का देशीय उत्पादन बढ़ा सकते हैं अतः इन देशों को सारी आयातों में रुकावट

की वृद्धि हुए बिना ही बढ़ सकती है। अन्य अधिकांश देश इस दृष्टि से बहुत छोटे हैं। उनको खाद्य वस्तुओं के साथ-साथ उन्हें अधिकाधिक वस्तुएँ और कच्चा सामान आयात करने पड़ते हैं और यदि उनकी जनसंख्याएँ तेजी से बढ़ रही हों तो खाद्यान्न का आयात भी बढ़ाना पड़ता है। अतः विकास-कार्यक्रम में यथाधिक अपनी निर्यात-योग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने और नये बाजारों के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। आयातों की अधिक आवश्यकता के लिए विदेशी निवेश और अनुदान मिलने की सम्भावना से स्थिति और भी उलझ जाती है। इससे निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता अस्थायी रूप से कम हो जाती है लेकिन बाद में जब मूलधन और ब्याज की अदायगियाँ करनी होती हैं तो निर्यातों को और भी अधिक बढ़ाना पड़ता है। दो मामलों में यह समस्या विशेष रूप से कठिन होती है। एक तो तब जब देश का अधिकांश निर्यात खाद्य पदार्थों के रूप में होता है। इस स्थिति में यदि खाद्य उत्पादन में तेजी से वृद्धि न की जाए तो आंतरिक माँग बढ़ने पर उपभोक्ता जो कुछ देश में पैदा होता है खा जाते हैं और निर्यात के लिए खाद्य पदार्थ नहीं बचते। युद्ध के बाद अर्जेंटाइना में यही हुआ है। दूसरा मामला उस जनाधिक्य वाले देश का है जिसे उद्योगीकरण करना है और विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-व्यापार बढ़ाना है (अध्याय ५, खण्ड २ (ग))। यह निश्चय करना सरल नहीं होता कि कौन सी वस्तु निर्यात की जाए और उसे किस देश को बेचा जाए लेकिन कठिन होने के कारण ही समस्या से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।

किसी देश की कमी इसी बात की द्योतक होती है कि देश में विनिर्माण और कृषि क्षेत्रों के बीच समुचित सन्तुलन नहीं है। यदि इनमें से किसी एक क्षेत्र का ज्यादा विस्तार होता है तो दूसरे क्षेत्र के उत्पादों की माँग भी बढ़ जाती है और यदि इस बढ़ती हुई माँग को पूरा न किया जा सके तो भुगतान शेष पर दबाव पड़ता है। उद्योगों का तेजी से विकास होने के साथ कृषि का भी तेजी से विकास होना चाहिए। औद्योगिक श्रमिकों को अधिकाधिक भोजन की आवश्यकता होती है। कृषकों को इनमें मजदूर भरती करते होते हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की माँग के लिए किसानों की आमदनियाँ बढ़नी आवश्यक होती हैं या औद्योगिक निर्माण में किसानों की बचतों या उनसे लिये गये करों का पैसा लगाना होता है। इसी प्रकार कृषि-क्षेत्र का तेजी से विस्तार होने के साथ उद्योग भी बढ़ने चाहिए जिससे कृषि-क्षेत्र की बढ़ती उपज और बचे श्रमिक अन्य क्षेत्रों में लगाए जा सकें और किसानों को अधिकाधिक उपभोक्ता और पूँजीगत वस्तुएँ उपलब्ध कराई जा सकें। प्रतिस्पर्धित कृषि उत्पादकता में वृद्धि न होने से उद्योगों के विकास में रुकावट आती है और भुगतान शेष पर दबाव पड़ता है क्योंकि तब विकासमान उद्योगों को अधिक

धिक आयात करने पड़ेंगे और कभी उत्पादन का निर्यात करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि कृषि-उत्पादकता बढ़ रही है तो औद्योगिक उत्पादन और भी तेजी से बढ़ना चाहिए क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय की तुलना में खाद्य-पदार्थों की मांग उतनी तेजी से नहीं बढ़ती जितनी तेजी से विनिर्मित वस्तुओं की बढ़ती है। सन्तुलित वृद्धि का अर्थ समान वृद्धि नहीं है बल्कि मांग की वृद्धि-दरों के अनुरूप वृद्धि है। यदि उद्योग और कृषि-क्षेत्रों के बीच सन्तुलन कायम करने पर ध्यान न दिया जाए जैसा कि आस्ट्रेलिया या अर्जेंटाइना में हुआ, या ठीक सन्तुलन स्थापित न किया जाए जैसा कि रूस में हुआ तो आगे उन्नति नहीं हो पाती। अन्य देशों की तुलना में जापान की विकास आयोजना की श्रेष्ठता इसका स्पष्ट उदाहरण है।

आन्तरिक सामञ्जस्य की दृष्टि से उत्पादन-कार्यक्रम के विभिन्न अंगों की जांच करने पर भी सन्तुलन के अभाव का पता चल सकता है। पहले तो यह देखने के लिए कि उपलब्ध साधनों के अनुरूप कार्यक्रम बनाया गया है या नहीं, सम्पूर्ण सन्तुलन के बारे में जांच की जा सकती है। उदाहरण के लिए, भिन्न-भिन्न वर्गों के कुशल श्रमिकों की संख्या बताने वाले श्रम-शक्ति बजट से यह पता चल सकता है कि वास्तव में जितने श्रमिक उपलब्ध हैं, विकास-कार्यक्रम के लिए उनसे अधिक की आवश्यकता तो नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार के बजट कच्चे सामानों, पूंजी, विदेशी मुद्रा, परिवहन-सुविधाओं, इमारतों या अन्य ऐसे साधनों के लिए तैयार किए जा सकते हैं जिनकी कमी पड़ने की सम्भावना हो। इन व्यापक परीक्षणों से यह पता चल जाता है कि अर्थ-व्यवस्था को कुल कितने साधनों की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उत्पादन की मांग के बारे में भी जांच की जा सकती है। बजट के अध्ययन से इस बात के कुछ संकेत मिल सकते हैं कि आय में वृद्धि होने पर उपभोग किस प्रकार बढ़ेगा। इस प्रकार की जांच से यह पता चलता है कि आय के आयोजित स्तर पर खाद्यान्न की आयोजित सप्लाई उसकी आयोजित मांग के बराबर है या नहीं। इसीसे यह भी पता चलता है कि आयोजित सप्लाई की तुलना में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग कितनी होगी, और यह भी पता चल जाता है कि उपभोक्ताओं से जितनी बचतों की आशा की जाती है उसकी तुलना में बचतों की आयोजित रकम कितनी रखी जा सकती है। इसके बाद लियोन्टीफ की आदान-उत्पादन टेक्नीक की सहायता से हर उद्योग की अलग-अलग जांच की जा सकती है। पुर्जे, परिवहन, पानी, इंजीनियरी सेवा आदि सप्लाई करने वाले उद्योगों के उत्पादनों में जितने विस्तार की योजनाएं बनायी गई हैं उनकी तुलना उन उत्पादनों में लगने वाले आयोजित आदानों से की जा सकती है, और आयोजित उत्पादनों की तुलना निर्यातों, उपभोक्ता मांग और गौण उत्पादों या अन्य

मध्यवर्ती उत्पादों का प्रयोग करने वाले उद्योगों के आयोजित विस्तार से भी जा सकती है। चूँकि विकास-कार्यक्रम में मुख्य बाधा इमारत उद्योग की है अतः इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि उत्पादन या आयातों के ज़रिए इमारती सामान और घटक वस्तुओं—विशेषकर सीमेण्ट, ईंटें, इस्पात और लकड़ी का आयोजित उत्पादन यथेष्ट रहे। देहात में मुख्य बाधा पानी की होती है, अतः इस बात की विशेष रूप से जाँच करनी चाहिए कि कार्यक्रम में देहाती क्षेत्रों के लिए पानी की सप्लाई के संरक्षण और विस्तार की गति क्या रखी गई है।

यदि आवश्यक जानकारी उपलब्ध हो तो इस प्रकार के अनेक सांख्यिकीय परीक्षण किए जा सकते हैं जिनसे उत्पादन-कार्यक्रम के असन्तुलन का पता चल सके। लेकिन मुख्य कठिनाई यही है कि जानकारी उपलब्ध नहीं होती। बजट अध्ययन, उपभोग-सम्बन्धी आँकड़े, श्रम-शक्ति की गणना, उत्पादन की गणना, साधन-उत्पादन की सारणियाँ, राष्ट्रीय आय की सारणियाँ आदि अपेक्षित आँकड़े या तो उपलब्ध ही नहीं होते, या उनमें त्रुटि की भारी गुंजायश होती है। यदि आँकड़े ठीक भी हों तो माँग और उत्पादन के परस्पर सम्बन्धों में अप्रत्याशित परिवर्तन हो सकते हैं। इसके अलावा, उत्पादन और निर्यातों के आयोजित अनुमान इस पर निर्भर होते हैं कि उत्पादन-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए उठाये गए कदम कितने प्रभावशाली होंगे जो एक ऐसी बात है जिसे पहले से ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता। विकास-कार्यक्रम बहुत-कुछ आशा पर आधारित होता है, इसके आयोजित अनुमान एकदम सही नहीं माने जा सकते, यह तो केवल इतना ही बताता है कि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कितना-कितना विकास होने की आशा है। फिर भी कार्यक्रम चाहे जितना अनुमानमूलक हो, आन्तरिक सामंजस्य की दृष्टि से उसकी जाँच करना आवश्यक है, भले ही जाँच के उपाय भी अनुमानमूलक ही हों क्योंकि जाँच न किए जाने की स्थिति में अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का परस्पर सन्तुलन बुरी तरह बिगड़ सकता है। ऐसे मामलों में कोरे अनुमान पर चलने के बजाय यह अधिक सुरक्षित है कि पहले आँकड़ों पर विश्वास किया जाए और उसके बाद अनुमानों का सहारा लिया जाए, भले ही आँकड़े स्वयं आंशिक रूप से अनुमान पर आधारित हों।

अब तक की चर्चा केवल कागज़ी कार्रवाई के बारे में थी, अर्थात् अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य-निर्धारण के बारे में। लेकिन कोरे लक्ष्य निर्धारित करने का कोई महत्त्व नहीं है अगली चीज़ साधनों को सही दिशाओं में प्रयुक्त करने के लिए किये जाने वाले उपाय हैं—श्रमिकों का प्रशिक्षण, गाढ उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन, उपभोग पर नियन्त्रण, निवेश को प्रोत्साहन

त्यादि। यह आयोजना का सबसे कठिन और उपेक्षित पहलू है। अर्थ-व्यवस्था के लोक-क्षेत्र में तो इसे करना फिर भी आसान है लेकिन निजी क्षेत्र में अपेक्षित कदम उठवा लेना बड़ा कठिन होता है—जैसे उचित कामों में मजदूर लगवाना, प्रशिक्षण-कार्यों में दाखिला करना, उद्यमकर्त्ताओं से पूंजी-निवेश कराना, जनता से बचत कराना, किसानों को नयी टेक्नीकें अपनाने के लिए राजी करना, उधारकर्ता, खरीदार या निविदा के रूप में विदेशियों से अपेक्षित योग लेना। उत्पादन-कार्यक्रम की सबसे निर्णायक कसौटी यह है कि निजी लोगों से अपेक्षित काम करवा लेने में वह कितनी कारगर होती है।

निजी लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सरकार समझाने-बुझाने, बल प्रयोग करने और पारितोषिक के प्रलोभन का सहारा लेती है। समझाने-बुझाने का प्रभाव बड़ा क्षणिक होता है, लोग अपनी निजी इच्छा के विरुद्ध कोई काम अधिक दिन तक नहीं करते रह सकते, भले ही राजनीतिक नेता कहते रहें कि यह सार्वजनिक हित की बात है। कार्यक्रम के प्रधान लक्ष्यों को लेकर भाषण और प्रचार करना उपयोगी होता है और जनता का जोरदार समर्थन प्राप्त करना बड़ा वांछनीय भी है, लेकिन अधिकाधिक समर्थन तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कार्यक्रम में हर आदमी से निःस्वार्थ काम करने की बजाय यह स्पष्ट किया गया हो कि इसमें सहयोग देने से उन्हें कितना व्यक्तिगत लाभ होगा। बल-प्रयोग का भी सीमित उपयोग है। इसकी सहायता से लोगों को कुछ ऐसे काम करने से रोका जा सकता है जिन्हें करना कार्यक्रम के प्रतिकूल हो, लेकिन इसकी सहायता से लोगों को कार्यक्रम की सिद्धि के लिए काम करने को प्रेरित करना बड़ा मुश्किल है विशेषकर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में। जैसे, लोगों पर अपेक्षित अंकुश रखने की दृष्टि से कुछ वस्तुओं का राशन किया जा सकता है, या कच्चे सामान या इस्पात के लिए लाइसेंस-प्रथा लागू की जा सकती है, लेकिन उद्यमकर्त्ताओं को उद्योगों में पूंजी-निवेश करने के लिए और किसानों को ज्यादा खाद्यान्न उपजाने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, जैसा कि बाद में रूस ने अनुभव किया। लाइसेंस-प्रथा इस अर्थ में उपयोगी है कि यह लोगों को अवांछित काम करने से रोकती है और इस प्रकार, अप्रत्यक्ष रूप से, वांछित कामों की सम्भावनाओं को बढ़ाती है। लेकिन विकास-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का मुख्य तरीका पारितोषिक का होना चाहिए। यदि श्रमिकों का अपेक्षित सहयोग प्राप्त करना है तो काम के अनुसार मजदूरियों में उचित अन्तर होने चाहिएं। यदि किसानों का सहयोग लेना है तो उन्हें उसके लाभ दिखाई देने चाहिएं। इसी प्रकार, यदि उद्यम-कर्त्ताओं से पूंजी-निवेश कराना है तो समुचित लाभों की सम्भावना होनी चाहिए। उत्पादन-कार्यक्रम की सफलता सुनिश्चित करने का सबसे अच्छा

उपाय यह है कि अवांछित कार्यों पर कर लगा दिया जाए और वांछित कार्यों को बढ़ावा देने के लिए अनुदान (किसी न-किसी रूप में) दिया जाए।

एक और अनुकरणीय उपाय यह है कि उत्पादन कार्यक्रम की जिन मदों में निजी क्षेत्र से सहयोग लेना हो, उनकी रूपरेखा तैयार करते समय निजी क्षेत्र का सहयोग ले लिया जाए। राजनीतिक दृष्टि से ऐसा करना सदा आसान नहीं होता। कुछ कम विकसित देशों की सरकारें सामान्यतया निजी उद्यम और विशेषतया विदेशी उद्यम के विरुद्ध हैं और इसे उत्पादन कार्यक्रम की तैयारी में भाग लेने की अनुमति नहीं दे सकतीं। वे ऐसे कार्यक्रम तैयार करती हैं जो तभी कारगर हो सकते हैं जब व्यवसायी उनमें सहयोग दें, लेकिन साथ ही वे निजी लाभ और सहयोग दोनों से अलग बचने का प्रयत्न करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि कार्यक्रम असफल हो जाए तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। किसानों से सहयोग लेना भी इतना ही मुश्किल होता है। कुछ सरकारों पर जमींदारों का बड़ा प्रभाव होता है जो भूमि-सुधार के उपायों पर अमल नहीं होने देना चाहते, जिनके अभाव में किसानों का उत्पादन बढ़ाने के प्रति कोई प्रेरणा नहीं होती। कुछ जमींदार किसानों की बचों का पूंजी-निर्माण के काम में लगाने की कोशिश में रहते हैं। यदि सरकार पूंजीपतियों और किसानों दोनों का सहयोग प्राप्त कर ले तो विकास कार्यक्रम की सफलता सुनिश्चित हो जाती है, लेकिन बहुत थोड़ी सरकारें ऐसी हैं—कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक देशों में—जो कार्यक्रम की सिद्धि के लिए लोगों से अपेक्षित त्याग करा लेने पर भी उनका राजनीतिक विश्वास प्राप्त किए रह।

उत्पादन-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए बड़े निकट के सहयोग की आवश्यकता पड़ सकती है। निस्सन्देह कई ऐसे काम होंगे जिनमें सरकार पूंजी-निवेश कराना चाहेगी, पर उद्यमकर्ता उनके लिए तैयार नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में सरकारी एजेंसियों को अनुसन्धान करके उनके परिणामों का प्रचार करना पड़ सकता है, और कुछ पूंजी लगाने या बिक्री या लाभांश की गारण्टी देने की जरूरत पड़ सकती है। जिन अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार निजी उद्यम-कर्ताओं को प्रेरित करने, उनका मार्गदर्शन करने और उन्हें बढ़ावा देने का प्रयत्न करती है वहाँ व्यवसाय और सरकार खूब घुल-मिल जाते हैं, जैसे कि जापान में। किसानों से भी उतने ही निकट सहयोग की आवश्यकता होती है। सरकारी एजेंसियाँ अनुसन्धान करती हैं, किसानों को नए तरीके अपनाने के लिए राजी करती हैं, उन्हें उधार देती हैं, कृषि-उपज के विपणन में सहायता करती हैं और गाँवों में पानी पहुँचाती हैं। जब तक किसानों का विश्वास प्राप्त न किया जाए तब तक इन कामों का कोई फल नहीं निकलता।

चूंकि निजी क्षेत्र से अपेक्षित सहयोग मिलना कठिन होता है, कम-से-कम

सरकारी शर्तों पर। अब कुछ सरकारें निजी उत्पादकों के सहयोग के बिना ही कार्यक्रम पर अमल करना आरम्भ कर देती हैं। यदि किसान सुस्त या शंकालु होते हैं या खाद्यान्न की कीमतें ऊँची करने पर बल देते हैं तो सरकारें स्वयं फार्म खोल लेती हैं और इन्हीं की उपज बढ़ाने की कोशिश करती हैं। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में (सामूहिक खेती से पहले) रूस की यही नीति थी और उसी नीति का अनुकरण करते हुए ब्रिटेन की सरकार ने अफ्रीकी किसानों का खाद्य-उत्पादन बढ़ाने पर पैसा खर्च करने की बजाय अफ्रीका में मशीनी खेती की बड़ी-बड़ी योजनाएँ चालू की थीं। जब रूस में यह नीति असफल रही तो वहाँ की सरकार ने ऊँचे कर और कम कीमतों वाली नीति के स्थान पर किसानों को सामूहिक फार्मों में काम करने के लिए विवश किया, जहाँ उन्हें ऊपर से मिले आदेशों के अनुसार काम करना पड़ता था। बहुत-कुछ ऐसा ही दृष्टिकोण उद्योगपतियों के मामले में भी अपनाया जा सकता है। कुछ सरकारों का विचार है कि निजी व्यवसायियों को जितने लाभों की जरूरत होती है वे प्रेरणा और निवेश दोनों दृष्टियों से बहुत अधिक हैं और समृद्धि के नाम पर इनका अनुमोदन नहीं किया जा सकता। वे कीमतें और लाभ दोनों घटा देती हैं और इससे यदि निवेश को धक्का लगता है तो लोक उपक्रम स्थापित करके निजी क्षेत्र का काम अपने हाथ में ले लेती हैं। ऐसा करने से उनके ऊपर पूँजी, तकनीकी जानकारी, प्रबन्ध-कौशल और उद्योगीकरण का श्रीगणेश करने के लिए अपेक्षित उद्यम आदि दुर्लभ साधन जुटाने की भारी जिम्मेदारी और आ जाती है। आर्थिक विकास का काम इतना कठिन है कि कम-से-कम प्रारम्भिक अवस्था में सारी उपलब्ध जानकारी और पहल एक जगह से आना वांछनीय होता है, लेकिन बहुत सी सरकारें, जिनके यहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादन कम है, इस विचार से सहमत नहीं हैं।

२. लोक क्षेत्र

(क) लोक-व्यय के कार्यक्रम—उत्पादन कार्यक्रम समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए हो या न हो, परन्तु यदि सरकारी अधिकारी-वर्ग पर नियन्त्रण रखना है तो लोक-व्यय के लिए किसी कार्यक्रम का होना जरूरी है। व्यवहारतः हर सरकार अपने बजट में वार्षिक व्यय का एक कार्यक्रम बनाती है। अधिकांश कम विकसित देश एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए भी ऐसे कार्यक्रम बना रहे हैं, कुछ ने पाँच या छः या दस वर्ष तक के कार्यक्रम बनाए हैं। सच तो यह है कि कुछ देशों को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की एक शर्त के रूप में ऐसा करना पड़ता है। १९४५ में जब ब्रिटेन की सरकार ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकारों को अनुदान देने के लिए १२०० लाख पौण्ड की राशि अलग से निर्धारित की, तो उसने औपनिवेशिक सरकारों से कहा कि वे विकास-सम्बन्धी व्यय का एक

दस वर्षीय कार्यक्रम प्रस्तुत करें। इसी प्रकार १९५० में कोलम्बो आयोजना में सम्मिलित किये गए देशों से छः वर्षीय आयोजनाएं पेश करने की मांग की गई थी। राष्ट्र संघ का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक भी चाहता है कि विभिन्न देश ऐसी आयोजनाएं बनाएं और इन्हें बनाने में मदद देने के लिए वह अविकसित देशों में अपने शिष्ट मण्डल भेजता है। अमरीका ने जब पहले-पहल और बाद में यूरोप को मार्शल सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो जिन देशों को सहायता दी गई उन्हें अपनी अर्थ व्यवस्था के हर क्षेत्र—सार्वजनिक और निजी—को सम्मिलित करते हुए चार वर्षीय आयोजनाएं पेश करनी पड़ी थीं—यह उस देश ने मांगा था जहां आयोजना शब्द पर कतई विश्वास नहीं किया जाता।

बहु वर्षीय आयोजनाओं के लाभ बहुत स्पष्ट हैं। इन कार्यक्रमों की कच्ची रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया में सरकार के अनेक विभागों तथा एजेंसियों को सम्भवतः पहली बार स्वयं अपने लक्ष्य निर्धारित करने पड़ते हैं। आयोजना बनाने से उनके काम को एक दिशा मिल जाती है और काम कई चरणों में बँट जाता है जो कि अन्यथा सम्भव न होता। उसके बाद जब विभिन्न एजेंसियों के कार्यक्रम एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं तो उनकी एकरूपता और समुचित अग्रताओं के निर्धारण का अवसर मिलता है। सरकार का एक अंग प्रायः यह नहीं जानता कि उसका दूसरा अंग क्या कर रहा है और सरकार के सब कामों के लिए एक कार्यक्रम बनाने की ज़रूरत मानने पर उनके समन्वय का अवसर मिलता है। इसके अलावा कुछ विभागों के अध्यक्षों में दूसरों की अपेक्षा अधिक पहुंच होती है और अग्रताओं की न्यायपूर्ण प्रणाली के अनुसार उनके विभाग को जितना धन मिलना चाहिए उससे अधिक धन वे अपने विभाग के कार्यक्रम के लिए ले जाते हैं। यद्यपि व्यापक कार्यक्रम होने पर भी ऐसा हो सकता है परन्तु यदि सभी विभागों से एक साथ अपने अपने कार्यक्रम भेजने को कहा जाए और यदि अन्तिम रूप से उनको मानने वाली एजेंसी एकरूपता व अग्रता के महत्त्व का ध्यान रखे और उसे समुचित सन्तुलन स्थापित करने का अधिकार हो तो इस बात की सम्भावना कम हो जाती है। यह सब काफी सीमा तक केन्द्रीय आयोजना प्राधिकरण की कुशलता और उसके प्राधिकार पर निर्भर होता है। यदि प्रस्तुत किये गए कार्यक्रम निश्चय ही उपलब्ध साधनों से बहुत अधिक होते हैं तो कार्यक्रम के चुनाव और उनकी काट-छाँट में कठिनाई होती है और आयोजना प्राधिकरण को सरकार के मुख्य मंत्री का पूर्ण समर्थन मिलना और आयोजना में उसकी दिलचस्पी लेना ज़रूरी होता है। इस प्रकार एक बार कार्यक्रम बन जाने के बाद वह उन लोगों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होता है जिन्हें इसे कार्यान्वित करना है। सरकार के विभाग प्रतिदिन निर्णय का

अनुमान करके पहले से ही अपनी आयोजनाएँ बना सकते हैं। इंजीनियर अपने कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार कर सकते हैं। खरीद करने वाले विभाग सामग्री की खरीद के लिए समय पर आदेश दे सकते हैं, और इसी प्रकार अन्य काम हो सकते हैं। आयोजना बनी होने के कारण काम की प्रगति भी आँकी जा सकती है। सब लोगों को पता होता है कि किसी एजेंसी से क्या आशा की जाती है, इसलिए कार्यक्रम में निर्धारित लक्ष्यों को देखते हुए उनकी सफलता आँकी जा सकती है।

बहु-वर्षीय आयोजना के खतरे भी उतने ही स्पष्ट हैं। चूँकि भविष्य के बारे में, यहाँ तक कि भावी पाँच वर्ष की अवधि के बारे में भी, कोई कुछ नहीं जानता, अतः ऐसी किसी आयोजना के उपबन्धों में पूर्णतः बँधकर चलना अलाभप्रद हो सकता है। ये कार्यक्रम जल्दी ही पुराने पड़ जाते हैं। हो सकता है कि कीमतें तेजी से बढ़ जाएँ या उपलब्ध होने वाला धन आशा से अधिक या कम (प्रायः कम) पड़ जाए। कुछ आयोजनाएँ नियत समय से पहले पूरी हो जाती हैं, अधिकांश आयोजनाएँ सामग्री, कारीगरों, वैज्ञानिकों, या धन की अपेक्षित कमी के कारण रुक जाती हैं। अतः ऐसी कोई भी आयोजना निरन्तर पुनरीक्षण के अधीन होनी चाहिए। इस कठिनाई को दूर करने के लिए पुअर्टो-रिको की सरकार अपनी छः-वर्षीय आयोजना का पुनरीक्षण हर साल करती है, और हर साल अगले छः वर्षों की आयोजना बनाती है। किसी भी उपाय से यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि आयोजना भविष्य में बदलने वाली परिस्थितियों के अनुरूप हमेशा ठीक ही बैठे। इसके विपरीत, यद्यपि हम भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कह सकते, पर आयोजना की जरूरत इसलिए होती है कि इस समय उपलब्ध जानकारी के आधार पर भविष्य के लिए कोई आयोजना बनाए बिना हम समुचित ढंग से काम नहीं कर सकते।

इनमें से कुछ कार्यक्रम सरकारी विभागों, लोक निगमों, सरकारी वित्त निगमों तथा अन्य सरकारी एजेंसियों के प्रस्तावित पूंजीगत खर्चों की सूची-मात्र होते हैं। अन्य आयोजनाओं में सामान्यतया बजट में आने वाले सभी पूंजीगत या चालू खाते के खर्चे सम्मिलित होते हैं। केवल पूंजीगत खर्चों के बजाय सभी खर्चों का कार्यक्रम बनाना अधिक अच्छा होता है। पहली बात तो यह है कि पूंजीगत खर्च के कारण बाद में चालू खर्च बढ़ते हैं, स्कूल बनाने के फलस्वरूप बाद में अध्यापकों को वेतन देना होता है, या ट्रैक्टर खरीदने के फलस्वरूप उसके लिए ड्राइवर रखने होते हैं। यदि आवर्ती खर्च के बिना ही पूंजीगत खर्च का उल्लेख कर दिया जाए, तो यह जानना कठिन होता है कि किसी आयोजना पर कितना खर्च बैठेगा, और हो सकता है कि वित्तीय आयोजना बिलकुल गलत हो जाए। दूसरी बात यह है कि यदि आयोजनाएँ बनाने वालों

से कहा जाए कि वे पंजीगत व्यय तक सीमित कार्यक्रम प्रस्तुत करें तो हो सकता है कि उनसे स्वयं गलती न हो जाए। विकास केवल पंजीगत व्यय पर ही निर्भर नहीं होता। इसके लिए विभिन्न दिशा कार्यक्रमों पर जैसे कृषि विस्तार पर भारी आवर्ती व्यय करना पड़ता है। यदि पंजीगत व्यय पर ही जोर हो तो इन कार्यक्रमों की उपेक्षा हो जाने की सम्भावना रहती है।

यह वस्तुतः वांछनीय है कि नगर व्यय के कार्यक्रम तैयार करते समय उचित प्राथमिकताओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए परन्तु उचित प्राथमिकताएं निर्धारित करने के लिए कोई नियम निश्चित कर पाना सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि उन बातों का उल्लेख कर दें जिनके कारण कुछ कार्यक्रमों में त्रुटियाँ पायी गई हैं।

पहली बात यह है कि नगर क्षेत्र के कार्यक्रमों का निजी क्षेत्र की गतिविधियों के साथ समुचित सम्बन्ध होना चाहिए। लोकोपयोगी सेवाओं—जैसे रेल गाड़ियाँ, जल व्यवस्था, बिजली आदि का समूचा कार्यक्रम निजी निवेशकर्ताओं की आशा के अनुरूप होना चाहिए ताकि जब और जहाँ सुविधाओं की जरूरत हो उन्हें उपलब्ध कराया जा सके। इसी प्रकार कारीगरों के प्रशिक्षण का कार्यक्रम इस बात पर निर्भर होता है कि किस प्रकार के कौशल की जरूरत पड़ेगी। अतः नगर क्षेत्र के कार्यक्रम और उत्पादन के कार्यक्रम साथ साथ तैयार किए जाने चाहिए। नगर प्राधिकारियों को भी यह पता होना चाहिए कि निजी उद्यम क्या करना चाहता है और निजी व्यवसायों को नगर कार्यक्रम का स्वरूप निर्धारित करने में हाथ बंटाना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि कुछ कार्यक्रमों में नगरों को अत्यधिक महत्व दिया जाता है और देहातों की उपेक्षा की जाती है। अनेक कार्यक्रम इमारतों का, नगरों में जहाँ अधिकांश जनसंख्या रहती है, नगरों की सजावट और उनमें [illegible] मकानों, [illegible] के बहत्तर [illegible] या निर्मित सुविधाओं की व्यवस्था को बहुत प्रमुखता देते हैं। शहरों में बैठकर दफ्तरों के लिए बनायी गई आयोजनाओं का एक लक्षण विदेश से आने वालों को चमत्कृत करना होता है। थोड़े से शानदार राजपथों के निर्माण पर बहुत अधिक धन खर्च कर दिया जाता है जबकि देहातों में हजारों मील लम्बी सड़कों के निर्माण पर जिससे उत्पादन तथा आय में अधिक लाभ हो सकता है बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। अथवा सिंचाई की नहरों के निर्माण पर बहुत बड़ी मात्रा में साधन लगा दिए जाते हैं जबकि यदि उतने ही धन से अनेक छोटे तालाब और छोटे बाँध बनवाए जाएँ तो इससे अधिक लाभ हो सकता है। इस तरह की शानदार आयोजनाएँ तभी ठीक नीति का आधार होती हैं [illegible] छोटी छोटी [illegible] आयोजनाओं की [illegible]

आयोजना विकास की दृष्टि से अधिक हितकर हो सकती है। हम यह नहीं कहते कि शानदार आयोजनाओं से बचा जाए, बल्कि आयोजना तैयार करने के काम का समुचित विकेन्द्रण किया जाना चाहिए। देहातों को प्रोत्साहित किया जाए कि वे स्वयं अपनी आयोजनाएँ तैयार करें, और आयोजना-प्रक्रिया में उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए ताकि उनकी जरूरतों की उपेक्षा न होने पाए। इस सम्बन्ध में सर्वोत्तम उपाय 'सामुदायिक विकास' प्रणाली (अध्याय ३, खण्ड १ (क) और अध्याय ४ खण्ड २ (ख)) का अनुसरण है। चूँकि यह स्वेच्छा श्रम पर निर्भर होती है अतः वही योजनाएँ पूरी की जा सकती हैं जिन्हें वास्तव में लोग चाहते हों। सामुदायिक विकास अपने ढंग का सबसे अच्छा कार्यक्रम होता है और हर आयोजना में इस काम के लिए राष्ट्रीय आय का एक या दो प्रतिशत के बराबर रकम अलग से निर्धारित की जानी चाहिए।

सामुदायिक विकास का लाभ यह भी है कि इससे पूँजीगत खर्च की फिजूलखर्ची कम हो जाती है, जोकि अनेक कार्यक्रमों की गम्भीर त्रुटि है। कम विकसित देशों में पूँजी दुर्लभ होती है, अतः इसे बहुत सोच-समझकर खर्च किया जाना चाहिए। जितनी सस्ती-से-सस्ती इमारत से काम चलाया जा सके, उससे अधिक कीमती इमारतें खड़ी नहीं करनी चाहिएँ। पचास वर्ष तक चलने वाले स्कूल, या अस्पताल या तापीय बिजलीघर बनाना गलत है, यदि उससे कम खर्च में तीस वर्ष चलने वाली कोई इमारत बनाकर काम चलाया जा सकता हो—ऐसी बहुत सी इमारतें स्तरों में परिवर्तन होने या आय में वृद्धि होने के कारण तीस वर्ष बाद अनुपयुक्त समझकर स्वयं ही गिरा दी जाती हैं। इसी प्रकार, पुरानी मशीन नयी मशीन की अपेक्षा प्रायः अधिक उपयुक्त होती है, और उन्नत देशों में अप्रचलित समझे जाने वाले उपस्कर यदि सस्ते मिल सकें, तो और भी किफायत हो सकती है। अच्छी सरकार अपना हर काम अच्छे ढंग से करना चाहती है, और इस बात की इच्छुक होती है कि उसके द्वारा बनायी गई इमारतें बहुत दिन तक चलें और शानदार भी हों, परन्तु बहुत गरीब देश इस काम को मनचाहे ढंग से नहीं कर सकते। निर्माण-कार्यक्रमों का एक सामान्य दोष सीमेंट और इस्पात का अन्धाधुन्ध प्रयोग है।

वस्तुतः ऐसे कार्यक्रमों का एक अन्य दोष यह भी है कि इनमें भौतिक वस्तुओं के विकास के लिए अत्यधिक और मनुष्य के कल्याण के लिए बहुत कम निवेश किया जाता है। इसका प्रभाव विशेषतया लोक-स्वास्थ्य-कार्यक्रमों और शिक्षा-कार्यक्रमों में निवेश की कमी के रूप में दिखाई पड़ता है। जहाँ तक लोक-स्वास्थ्य का प्रश्न है, हम पहले (अध्याय ५, खण्ड २ (क) और

अध्याय ४, खण्ड ३ (ग)) देख चुके हैं कि खुराक में सुधार करने के उपायों से, और शरीर क्षीण करने वाले रोगों का उन्मूलन करने के उपायों से उत्पादकता बहुत बढ़ाई जा सकती है। और जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है हम सुझाव दे चुके हैं कि प्राथमिक, माध्यमिक, तकनीकी और विश्वविद्यालय-शिक्षा पर किए जाने वाले सामान्य खर्च के अलावा कृषि-प्रधान देशों को चाहिए कि वे अपने राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग एक प्रतिशत कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान और कृषि विस्तार पर अलग से खर्च करें (अध्याय ८ खण्ड ३ (ख))।

अन्तिम बात यह है कि लोक-क्षेत्र के बाहर प्रयोग के लिए पूंजी देने के मामले में सरकारी योग के महत्त्व को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हम पहले देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड ३ (ख)) कि घरेलू बचतें कम होने के कारण छोटे पैमाने की कृषि, औद्योगिक विकास, लोकोपयोगी सेवाओं और मकानों के लिए सरकार को ही मुख्य रूप से पूंजी देने का काम क्यों करना पड़ता है चाहे इस पूंजी की व्यवस्था सरकारी बचतों से की जाए या इसके लिए विदेशों से धन लिया जाए, या मुद्रास्फीति के जरिए पैदा किया जाए। लोक-व्यय के लिए कार्यक्रम तैयार करने में एक खतरा यह भी हो सकता है कि लोक-सेवा एजेंसियों की मांगों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाए और समुदाय के साधनों का बहुत बड़ा भाग अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा करते हुए इन पर खर्च हो जाए। यह एक अन्य कारण है कि लोक-व्यय का कार्यक्रम बनाने का काम समूची अर्थ-व्यवस्था का सर्वेक्षण करने के काम के साथ-साथ किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि लोक-सेवाओं का खर्च अर्थ-व्यवस्था के 'उत्पादक' क्षेत्र से दिया जाना चाहिए और इस बात का ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि समाज तथा कल्याण सेवाओं पर अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता से अधिक खर्च न किया जाए।

(ख) राजकोषीय समस्या—सरकारों की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताएं सदैव बढ़ती रहती हैं, क्योंकि लोक क्षेत्र समूची अर्थ व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। इसके प्रमाण अनेक रूपों में मिलते हैं, सरकारी नौकरी में लगे लोगों की बढ़ती हुई संख्या में, सरकार द्वारा अधिकाधिक साधनों के प्रयोग में, या राष्ट्रीय आय में कराधान के निरन्तर बढ़ते हुए अंश में। पहले नौकरी में लगे लोगों की बात लीजिए। रक्षा को छोड़कर सिविल नौकरियों में लोगों की संख्या कदाचित् ही अपेक्षाकृत धन्धों में लगे लोगों के २ प्रतिशत से कम होती है, और अमरीका में लगभग १० प्रतिशत तक व ब्रिटेन में ११ प्रतिशत तक है (केन्द्रीय तथा स्थानीय प्रशासनों को मिलाकर)। इसमें सशस्त्र सेनाएं जोड़िए, जोकि इंग्लैंड में [illegible] से लेकर ब्रिटेन में [illegible]

करना चाहे, और यदि उनकी किफायतों से सिर्फ ५ प्रतिशत की बचत होती हो, तो ७ प्रतिशत की कमी रह जाएगी जो किसी-न किसी प्रकार पूरी करनी होगी। १२ प्रतिशत का लक्ष्य कोई असाधारण लक्ष्य नहीं है यह दर लगभग उतनी ही है जितनी औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक चरणों में यूरोपीय अर्थ-व्यवस्थाओं की थी, साथ ही यह रूस और जापान की दरों से कम है। यदि हम पूंजी-आय का अनुपात ४ : १ मानें तो १२ प्रतिशत निवेश होने पर वास्तविक आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हो जाएगी यदि जनसंख्या १½ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही हो और लगभग पचास वर्ष में दूनी हो जाती हो, तो प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय १½ प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ेगी। इस गति से कम विकसित देशों में रहन-सहन का स्तर उसी दर से बढ़ेगा जिस दर से पश्चिमी यूरोप के देशों में बढ़ रहा है और इस प्रकार धनी और गरीब देशों के बीच खाई ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। यदि इस खाई को पाटना हो तो और भी अधिक निवेश की जरूरत पड़ेगी।

कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की सरकारें अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की सरकारों की तुलना में कम राजस्व इसलिए नहीं इकट्ठा करती कि उन्हें थोड़े ही राजस्व की जरूरत होती है, बल्कि इसलिए कि उन्हें राजस्व इकट्ठा करना मुश्किल पड़ता है। इस मामले पर वास्तविक साधनों के सन्दर्भ में विचार करना सबसे अधिक आसान है। उस अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा जहां केवल १२ प्रतिशत लोगों को खेती में लगाने की जरूरत होती है उस अर्थ-व्यवस्था में सरकारी काम के लिए बहुत थोड़े लोग उपलब्ध किये जा सकते हैं जहां जनसंख्या का ७० प्रतिशत खेती में लगा होता है और बाकी दूसरे कामों के लिए केवल ३० प्रतिशत जनसंख्या बच रहती है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में करों के रूप में उतनी रकम वसूल नहीं की जा सकती, जितनी अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में की जा सकती है। फिर भी प्रयत्न करने पर वर्तमान से अधिक रकमें वसूल की जा सकती हैं। इन देशों में अधिक राजस्व इकट्ठा करना मुश्किल है, परन्तु इतना मुश्किल नहीं है, जितना कभी-कभी कहा जाता है। इस अध्याय में लोक-वित्त पर कोई सारगर्भित लेख देने की गुंजाइश नहीं है, इस खण्ड में हम अपेक्षाकृत निर्धन देशों की कुछ विशेष समस्याओं पर ही चर्चा करेंगे।

सबसे पहले टेक्नीक की समस्याएँ हैं। कराधान का एक सिद्धान्त यह है कि ऐसे करों से बचा जाए जिनको इकट्ठा करना बहुत खर्चीला होता है क्योंकि ऐसे कर बहुत से लोगों से वसूल करने होते हैं और हर आदमी केवल मामूली सी राशि देता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों के सम्बन्ध में यह बात बराबर लागू होती है। यह भी एक कारण है जिससे

वजह से अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी आमदनियों वाले व्यक्तियों पर ही आय-कर लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, अधिकांश देशों में १५० पौंड प्रतिवर्ष से कम कमाने वाले व्यक्तियों से आय-कर लेना लाभप्रद नहीं समझा जाता। परन्तु गरीब देशों में १५० पौंड वार्षिक से अधिक कमाने वाले व्यक्तियों का अनुपात कुल जनसंख्या को देखते हुए बहुत थोड़ा होता है। इसीलिए, धनी देशों की तुलना में गरीब देशों में आय-कर से अपेक्षाकृत कम आय प्राप्त होती है। सच तो यह है कि गरीब देशों को काफी हद तक अप्रत्यक्ष करों पर इसलिए नहीं निर्भर रहना पड़ता कि वे किसी अन्य प्रकार से कर-भार का वितरण करना चाहते हैं—इस सम्बन्ध में कठिन परिणाम निकलना आवश्यक नहीं होता—बल्कि इसलिए निर्भर होना पड़ता है कि व्यावहारिक छूट सीमा के ऊपर राष्ट्रीय आय बहुत थोड़ी होती है। कर-अपवंचन की समस्या भी इसी से सम्बन्धित है, क्योंकि यदि कर लगाई जा सकने वाली आय का बहुत बड़ा भाग उन छोटे-छोटे व्यापारियों के हाथों में होता है जो ठीक ढंग से हिसाब-किताब नहीं रखते तो कर के उपबन्धों को लागू कर पाना अत्यधिक मँहगा पड़ता है। अधिकांश कम विकसित देश यदि कर-सम्बन्धी कानूनों को अधिक प्रभावी ढंग से लागू करें, तो उन्हें बहुत बड़ी मात्रा में लाभ हो सकता है, परन्तु इन कानूनों को अत्यधिक कड़ाई से लागू करने पर भी आय-कर उनके राजस्व का मुख्य स्रोत तब तक नहीं बन सकता जब तक कि कुछ ऐसे बड़े-बड़े खनन निगम या अन्य निगम न हों जिनसे भारी मात्रा में कर वसूल किया जा सके।

कुछ देशों को अप्रत्यक्ष करों की उगाही में भी बड़ी तकनीकी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अप्रत्यक्ष कर बड़ी आसानी से उन अवस्थाओं पर लगाया जा सकता है जहाँ से राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग मुट्ठी-भर लोगों के हाथों से होकर गुजर रहा हो। आयात और निर्यात का काम प्रायः थोड़े-से थोड़े व्यापारियों के हाथों में होता है, जिनसे आयात-निर्यात शुल्क आसानी से इकट्ठा किया जा सकता है। औद्योगिक देशों में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग थोड़ी-सी बड़ी-बड़ी फर्में पैदा करती हैं और इसलिए उत्पादन-कर और खरीद-कर इकट्ठा करने पर अधिक खर्च नहीं बैठता। परन्तु सभी कम विकसित देशों की अवस्था इतनी सुविधाजनक नहीं होती। श्रीलंका में निर्यात राष्ट्रीय आय के लगभग चालीस से पचास प्रतिशत तक होता है, अतः वहाँ बहुत थोड़े प्रशासकीय व्यय की सहायता से आयात या निर्यात-करों द्वारा राष्ट्रीय आय के एक बहुत बड़े भाग की वसूली कर ली जाती है। परन्तु उसके पड़ोसी देश भारत का निर्यात उसकी राष्ट्रीय आय के १० प्रतिशत से भी कम है, अतः वहाँ विदेशी व्यापार पर लगने वाले करों से थोड़ी ही आय

व्यवस्थाओं की अपेक्षा और भी अधिक असमान होता है। इनके पूंजीकृत क्षेत्रों में मजदूरियों को देखते हुए लाभों का अनुपात औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक होता है—यहाँ तक कि कुछ मामलों में, जैसे मध्य अफ्रीका की तांबे की खानों में, लाभ निवल उत्पादन का आधा या उससे भी अधिक होता है। अतः कम विकसित देशों के सम्बन्ध में कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। कुछ कम विकसित देशों में आय का वितरण अमरीका की अपेक्षा भी अधिक असमान है, जबकि कुछ अन्य देशों में जैसे गोल्ड कोस्ट और नाइ-जीरिया में, यह अपेक्षाकृत बहुत कम असमान है।

कम-से-कम कितनी आय में कर लगाना शुरू किया जाए, यह प्रदान इस बात पर निर्भर करता है कि आय का वितरण कितना असमान है, पर प्रदान इस बात पर भी निर्भर है कि प्रेरणा तथा बचतों पर कराधान का क्या प्रभाव पड़ता है। बाद वाली बात अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में भी इसका पर्याप्त महत्त्व है, पर ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में विकास की एक गति होती है, जो प्रेरणाएँ और बचतें कम हो जाने पर भी बनी रहती है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में जमींदार-वर्ग पर कर लगाना सबसे आसान होता है—इसके दो कारण हैं, एक, इससे प्रेरणाओं और बचतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे, राजनीतिक दृष्टि से भी यह आसान है क्योंकि अब लगभग सभी जगह (पर हर जगह नहीं) जमींदार राजनीतिक कृपा से वंचित हैं। किसानों को हमेशा करों का अधिक बोझ उठाना पड़ता है परन्तु कुछ ऐसे देशों में, जहाँ उन्हें हाल में ही मताधिकार मिला है (जैसे भारत में), उनके राजनीतिक क्षोभ को देखते हुए उन पर भारी कर नहीं लगाए जाते, यद्यपि इससे सरकार को परेशानी हो गई है। अधिकांश कम विकसित देशों में वेतनभोगी मध्यवर्ग पर कर लगाने में भी कठिनाई होती है, जिसका एक कारण तो यह है कि नयी राष्ट्रीय सरकारों पर उनका राजनीतिक प्रभाव होता है, और दूसरा यह है कि इस वर्ग के विस्तार के लिए प्रेरणाओं का बने रहना आवश्यक होता है, आर्थिक विकास का एक मुख्य परिणाम यह होता है कि समुदाय में अर्धकुशल, कुशल और पेशेवर लोगों की संख्या काफी बढ़ जाती है, और इन वर्गों के लोगों पर भारी कर लगाने से इनकी वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। लाभों पर कर लगाना भी कठिन होता है। हाँ, यदि पूंजी विदेशियों की हो तो राजनीतिक दृष्टि से लाभों पर कर लगाना आसान होता है, परन्तु लाभों पर कर लगाने से प्रेरणा तथा बचत दोनों को धक्का लगता है। बचत की बात अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि कोई भी समझदार सरकार निजी बचत की पूर्ति लोक-बचत से कर सकती है, पर जिन देशों में

उद्यमशीलता की कमी हो, वहाँ प्रेरणा की बात महत्त्वपूर्ण होती है। विकास को प्रोत्साहन देने वाली कुछ सरकारें वस्तुत इसका उलटा कर रही हैं, वे नये उद्योग शुरू करने वाले पूँजीपतियों को अस्थायी रूप से आय-कर में छूट दे रही हैं।

जिन सरकारों को मुख्यत निजी व्यक्तियों से समर्थन मिलता हो परन्तु जो साथ ही विकास के काम को आगे बढ़ाने के लिए आतुर हों उनको धनी लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह एक गम्भीर समस्या है। स्वयं कृषि न करने वाले जमींदारों की समस्या कोई अधिक विकट नहीं है। उनकी जमीनें खरीदी जा सकती हैं और जब उनके पास मुआवज़े का धन आ जाए और करने के लिए कोई काम न रह जाए जैसा कि जापान में हुआ, वे पूँजीपतियों का पेशा अपनाकर उद्यमशीलता की भारी कमी को दूर कर सकते हैं (अध्याय ५, खण्ड २ (ग))। उनकी जमीनों का हरण करने से भी आर्थिक विकास पर कोई प्रतिकूल प्रभाव तब तक नहीं पड़ता जब तक कि जमींदार लोग बड़ी-बड़ी जागीरों पर नये ढंग से स्वयं खेती न कर रहे हों। वाणिज्यिक और औद्योगिक पूँजीपतियों का मामला इससे बिलकुल भिन्न है, जो कि बचत तथा उद्यम के मुख्य स्रोत होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं में आर्थिक विकास के कारण राष्ट्रीय आय में लाभों का भाग बढ़ता है (अध्याय ५, खण्ड २ (ख)), इसीलिए भूतकाल में मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में बड़ी मात्रा में निजी सम्पत्तियाँ इकट्ठी हो गई थीं। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि लोकतन्त्रात्मक सरकारें इस प्रक्रिया के प्रति अधिक सशंकित क्यों रहती हैं, और वे क्यों नहीं चाहतीं कि आर्थिक विकास के फलस्वरूप पूँजीपति बड़े-बड़े लाभ कमाएँ, लेकिन यदि लाभ कम रखे जाएँ, या उन पर भारी कर लगा दिए जाएँ, तो निजी बचत थोड़ी रह जाएगी, और निजी उद्यम के लिए कोई प्रेरणा नहीं बच रहेगी। ऐसी द्विविधा के बीच उदार मार्ग यही है कि निजी पूँजीपतियों को अपने जीवन-काल में अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए, और उनकी मृत्यु के उपरान्त उन पर भारी कर लगाया जाए। यदि कड़ाई के साथ ऐसा किया जाए, जैसा कि अभी तक कहीं नहीं किया गया है तो इसका फल यह होगा कि हर पीढ़ी के लोग अपना आर्थिक जीवन आरम्भ करते समय लगभग समान अवसर पाएँगे, सम्पत्ति कमाने की प्रेरणा अवश्य कुछ कम हो जाएगी, पर हो सकता है कि आर्थिक अवसर बढ़ते रहने के कारण इसका कोई दुष्प्रभाव न पड़े (अध्याय ३, खण्ड ३ (ग))। इस समस्या का समाजवादी हल यह है कि निजी पूँजी-पतियों को समाप्त कर दिया जाए और राज्य ही उद्यम आरम्भ करे, लाभ कमाए और बचत करे। इस हल की व्यवहार्यता इस बात पर निर्भर है कि

राज्य कितना उद्यमशील बन सकता है, और उत्पादक निवेश का काम हाथ में लेने के लिए वह कहाँ तक तैयार है। निःसन्देह इस हल को अमल में लाया जा सकता है विशेष रूप से ऐसे देशों द्वारा जिन्हें अग्रणी बनने की बजाय केवल उन्नत देशों का अनुकरण करना है (अध्याय ५ खण्ड ३ (ख))। इस पर अमल करने में तभी कठिनाई आएगी यदि राज्य निजी उद्यम पर इतना कर लगाए कि प्रेरणा तथा निजी बचतें अपर्याप्त रह जाएँ लेकिन इस अभाव की पूर्ति अपनी प्रेरणा और बचत से न करे।

इस विश्लेषण से कराधान के राजनीतिक दृष्टिकोण के महत्त्व की बात भी पैदा होती है। अधिकांश सरकारों को अपने विरोधियों पर कर लगाना और अपने समर्थकों को कर से मुक्त रखना आसान मालूम होता है और कर-भार के वितरण का निर्धारण करने में इस बात का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है जितना सामान्य प्रेरणा या बचतों का। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इतने से अधिकांश अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार आर्थिक विकास में अपेक्षित भूमिका तब तक अदा नहीं कर सकती जब तक कि वह सभी वर्गों पर वर्तमान की अपेक्षा अधिक भारी कर नहीं लगा देती। ऐसे अधिकांश देशों में सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या लोगों को इस बात का महत्त्व समझाने की, और आवश्यक कार्रवाई करने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त करने की है। इस काम को सत्तावादी सरकारें लोकतन्त्रात्मक सरकारों की तुलना में अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। वे इस बात की चिन्ता किये बिना कि चुनाव पर इसका क्या प्रभाव होगा—यदि वहाँ चुनाव होते हों—राष्ट्रीय आय का बीस या तीस प्रतिशत भाग सरकार के हिस्से में ले सकती हैं, और इसके आधे भाग को पूँजी निर्माण में लगा सकती हैं। लोकतन्त्रात्मक सरकारों को इस मामले में अधिक कठिनाई का सामना करना होता है। लोक-तन्त्रात्मक व्यवस्था में यदाकदा ऐसा कोई नेता पैदा हो जाता है जो राष्ट्र के निर्माण के लिए जनता से आर्थिक त्याग कराके भी उसका विश्वास तथा उत्साह अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ होता है। परन्तु ऐसे नेता बहुत ही कम होते हैं। अनेक देशों में आर्थिक विकास की त्वरित वृद्धि के मार्ग में लोकतन्त्र एक बड़ी बाधा है। शायद यह स्वाभाविक भी है, लेकिन इस अध्याय में हमारा प्रयोजन आर्थिक विकास की वाञ्छनीयता या अवाञ्छनीयता पर विचार करना नहीं है (देखिए परिशिष्ट)।

राजनीतिक दृष्टि से किसी निश्चित राष्ट्रीय आय में से सरकार के भाग को बढ़ाना काफी कठिन है, लेकिन इस बात की व्यवस्था करना अधिक कठिन नहीं है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि का अधिकाधिक भाग सरकार को मिला करे। राष्ट्रीय आय में सरकार का भाग बढ़ाने का यही मुख्य उपाय

है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कराधान की सीमान्त दर औसत दर से काफी ऊंची होनी चाहिए। अधिक विकसित देश भी इस सिद्धान्त का पालन करते हैं। मुख्यतः इसीकी सहायता से वे राष्ट्रीय आय में होने वाली कमी-बढ़ती का सामना करते हैं, क्योंकि इसके प्रभाव-स्वरूप मन्दी में सरकार का राजस्व तेजी से कम हो जाता है और तेजी में तेजी से बढ़ जाता है। स्फीति का सामना भी वे इसी उपाय से करते हैं, उदाहरण के लिए यह भी एक कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटेन और अमरीका में कीमतों में केवल पचास प्रतिशत या इससे भी कम वृद्धि हुई जबकि अन्य बहुत से ऐसे देशों में, जिनका युद्ध से अपेक्षाकृत बहुत कम सम्बन्ध था, कीमतें २०० या ३०० प्रतिशत या इससे भी अधिक बढ़ गईं और यही कारण है कि युद्ध के बाद ब्रिटेन में साधनों पर मुद्रास्फीती माँग का दबाव अत्यधिक बढ़ जाने के बावजूद कीमतें अपेक्षाकृत तेजी से नहीं बढ़ी हैं। इन देशों में सीमान्त आय का लगभग चालीस या पचास प्रतिशत कराधान द्वारा वसूल कर लिया जाता है। यदि इसके फल-स्वरूप राजस्व बहुत तेजी से बढ़ने लगता है तो सीमान्त-दर को कम किए बिना ही कराधान का औसत-भार घटाया जा सकता है।

इसके विपरीत, कम विकसित देशों में प्रायः कराधान की सीमान्त-दर औसत दर से कम होती है—अर्थात् सरकारी आमदनियाँ राष्ट्रीय आय की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ती हैं। कारण यह है कि सरकार सामान्य कीमतें बढ़ने के साथ अपने नियन्त्रण में चलने वाली कीमतों को बढ़ाने से हिचकती है। रेल की दरें, डाक की दरें, टेलीफोन की दरें और अन्य सरकारी कीमतें धीरे-धीरे बढ़ती हैं, भूमि-करों में, यदि वे मुद्रा में नियत हों, कीमतों की वृद्धि के अनुरूप बढ़ोतरी नहीं हो पाती, या यह हो सकता है कि आयात और निर्यात-कर मूल्यानुसार होने के बजाय विशिष्टि पर आधारित हों। स्फीति में सरकार के पास धन बढ़ना चाहिए, क्योंकि सीमान्त-आय का बड़ा भाग कराधान के जरिये सरकार को मिलता है पर इसके बजाय अनेक कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कीमतें बढ़ने के फलस्वरूप बजट में घाटा पैदा हो जाता है। आजकल जबकि कीमतों का दीर्घकालीन रुख वृद्धि की ओर है, कर विशिष्ट दरों की बजाय मूल्यानुसार होने चाहिएँ और लोकोपयोगी सेवाओं तथा ओर-सेवाओं की कीमतों में फेर-बदल का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि बढ़ती हुई कीमतों का तेजी से समजन हो सके।

सीमान्त कराधान की उच्च दर सुनिश्चित करने के लिए आय-कर की सीमान्त-दर ऊंची होनी चाहिए उन उपभोक्ता वस्तुओं पर ऊंचा कर लगाया जाना चाहिए जिनकी माँग अत्यधिक तेजी से बढ़ती है और निर्यात-करों की सीमान्त-दरें ऊंची रखनी चाहिए।

अपर्याप्त है जिनमें राष्ट्रीय आय की तुलना में आयात कम हों या जिनमें आयातों की कीमतों में कोई वृद्धि हुए बिना ही स्फीति के परिणामस्वरूप घरेलू कीमतें बढ़ रही हों। दोनों ही अवस्थाओं में यदि सरकार मुद्रास्फीति आय की वृद्धि का एक बड़ा भाग हथियाना चाहे तो उसे बहुत से उत्पादन-कर और बिक्री-कर लगाने पड़ सकते हैं।

सरकार बजट और आर्थिक स्थायित्व के प्रसंग में निर्यात-करों की चर्चा हम पहले ही अध्याय ५, खण्ड २ (ग) में कर चुके हैं। सिद्धान्त यह है कि निर्यात-कर ऐसा होना चाहिए जो वस्तुओं की कीमतें बढ़ने के साथ ही पहले से नियत समर्थी स्तर के अनुसार तेजी से बढ़े। सरकारी विपणन समितियाँ जब किसी वस्तु की घरेलू कीमत को उसकी निर्यात कीमत के समान तेजी से बढ़ने से रोकती हैं तो लगभग यही प्रभाव होता है। हम देख चुके हैं कि कुछ देशों ने विशेषतया बर्मा और गोल्ड कोस्ट ने इसी ढंग से बहुत अधिक बचत की है। ऐसी योजनाएँ चालू करने का सर्वोत्तम समय तब होता है जब अमरीका में मन्दी हो। ऐसे समय पर कीमतें कम होती हैं और प्रभावी कर भी कम होता है। समर्थी स्तर यदि मन्दी के जमाने में लागू किये जायें तो वे उस स्थिति की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य होते हैं जब वे ऊँची कीमतों के जमाने में शुरू किये जाते हैं और आरम्भ से ही करारोपण की ऊँची दरें लागू करते हैं।

ध्यान रहे कि करारोपण की उच्च सीमान्त-दर से सम्बन्धित चर्चा बढ़ती हुई मुद्रास्फीति आय पर लागू होती है, न कि बढ़ती हुई वास्तविक आय पर। जिन देशों में ऐसा प्रयत्न करने की सर्वाधिक आवश्यकता है, उनमें प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बिलकुल ही नहीं बढ़ रही (जैसे भारत में) अतः यदि वहाँ की सरकार प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की वृद्धियों का अधिकाधिक भाग लेने तक ही अपना प्रयत्न सीमित रखेगी तो उसे शायद कभी सफलता न मिले। यदि प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो तो अच्छा ही है परन्तु स्थिर वास्तविक आय के अधिकाधिक भाग को कब्जे में लेना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। वास्तविक आय चाहे बढ़े या न बढ़े, परन्तु मुद्रास्फीति आय के बढ़ने की पूरी सम्भावना होती है। औद्योगिक देशों में कीमतों का रुख वृद्धि की ओर है, जिसका आंशिक कारण स्फीतिक दबाव है, और आंशिक कारण यह है कि मजदूर-संघों की कार्यवाइयों के कारण मुद्रास्फीति मजदूरियाँ उत्पादकता की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती हैं। औद्योगिक देशों में घर की बढ़ती हुई माँग से कृषि वस्तुओं की कीमतों को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है—हाँ, कुछ ज्वार-भाटा होते रहते हैं—और चूँकि निर्यात के लिए उपलब्ध खेती कृषि-पदार्थ औद्योगिक माँग के अनुरूप नहीं बढ़ते, अतः यह प्रवृत्ति आगामी कुछ

वर्षों तक बनी रह सकती है। यदि किसी सरकार का करीय ढांचा ठीक हो तो कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति होने पर सरकार राष्ट्रीय आय का एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग प्राप्त कर सकती है, चाहे वास्तविक आय बढ़ रही हो या न बढ़ रही हो।

यदि किसी सरकार के लिए कराधान द्वारा राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत बड़ा भाग पा सकना राजनीतिक दृष्टि से बहुत कठिन हो तो वह स्फीति के जरिये वैसे ही परिणाम प्राप्त कर सकती है बशर्ते कि राजनीतिक दृष्टि से यह भी उतना ही कठिन न हो। कम विकसित देशों में स्फीति और कराधान का लगभग एक-जैसा ही प्रभाव होता है [अध्याय ५, खण्ड २ (क)]। इनसे उपभोक्ता वस्तुएं शेष समुदाय से हटकर उन लोगों की ओर पहुंच जाती हैं, जो पूंजी-निर्माण में लगे होते हैं। बेरोजगार वाली औद्योगिक अर्थव्यवस्था में पूंजी-निर्माण पर पैसा लगाने के लिए कराधान के बजाय उधार-विस्तार अधिक अच्छा होता है, क्योंकि इसके फलस्वरूप अधिकाधिक उपभोक्ता वस्तुएं पैदा हो जाती हैं, परन्तु कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में श्रमिकों की कमी होते हुए भी यह कुछ अधिक सीमा तक सम्भव नहीं है। स्फीति कराधान से इस अर्थ में भी भिन्न होती है कि इससे लाभ बढ़ते हैं, और इसलिए निजी उद्यमकर्ताओं द्वारा पूंजी-निर्माण को बढ़ावा मिल सकता है। थोड़ी स्फीति आर्थिक विकास में सहायक होती है बशर्ते कि उसे सीमा के भीतर रखा जाए। यदि कीमतें ब्याज-दर की अपेक्षा धीमी गति से बढ़ रही हों तो सट्टे में कोई लाभ नहीं होता। अत यदि कीमतें औसतन तीन या चार प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रही हों, तो पूंजी-निर्माण के लिए स्फीति सब प्रकार से लाभप्रद रहती है और इस बात का कोई खास खतरा नहीं रहता कि इससे सट्टे में तेजी आ जाएगी या लोग मुद्रा से पलायन करने लगेंगे—विशेष रूप से यदि स्फीति के दौरान हर तीन या चार वर्ष के बाद कीमतों में थोड़ी अवस्फीति पैदा की जाती रहे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पूंजी-निर्माण के लिए की गई स्फीति कालान्तर में अपने-आप समाप्त हो जाती है। स्फीति की तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था में जब पूंजी-निर्माण हो रहा होता है, तो कीमतें बहुत तेजी से बढ़ती हैं। दूसरी अवस्था में स्फीति अपने-आप समाप्त हो जाती है, क्योंकि कीमतें बढ़ने से आय का पुनर्वितरण इस ढंग से हो चुका होता है कि निवेश की जरूरत पूर्ण करने के लिए स्वेच्छा बचतें तेजी से बढ़ने लगती हैं। तीसरी अवस्था में जब पूंजी निर्माण के फलस्वरूप तैयार किए गए अतिरिक्त उपभोक्ता पदार्थ बाजार में आने लगते हैं, तो कीमतें कम हो जाती हैं। इनमें पहली अवस्था ही खतरनाक और कष्टकर होती है।

पूंजी-निर्माण पर स्फीति का प्रभाव स्फीति के प्रयोजन पर निर्भर होता है। यदि स्फीति का उद्देश्य सरकार द्वारा सिविल कर्मचारियों को अधिकाधिक वेतन देना, या युद्ध में लगाने के लिए धन उपलब्ध करना हो, तो इस स्फीति से पूंजी-निर्माण में तब तक वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती जब तक कि देश के भीतर काफी संख्या में ऐसे पूंजीपति न हों जो अपने स्फीतिकालीन लाभों का अन्तर पूंजी में लगाते हों और इसकी सम्भावना अविकसित देशों की अपेक्षा विकसित देशों में अधिक होती है। इसके विपरीत कोई देश अविकसित हो या न हो, यदि स्फीति का उद्देश्य सरकार द्वारा सिंचाई-प्रणाली जैसी उपयोगी परिसम्पत्तियों के निर्माण पर धन खर्च करना हो तो इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि ऐसी उपयोगी परिसम्पत्तियाँ बढ़ जाएँगी, चाहे स्फीतिकालीन लाभों का कुछ भी प्रयोग हो रहा हो। हाल के साहित्य में कुछ सीधे-सादे अनुसन्धानकर्ताओं ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि स्फीति से पूंजी-निर्माण नहीं बढ़ता, और अपने कथन के समर्थन में उन्होंने अनेक स्थानों के नाम गिनाये हैं (खासतौर से लैटिन अमरीका), जहाँ स्फीति होने पर भी पूंजी-निर्माण नहीं बढ़ा है। परन्तु स्फीति के प्रभावों के सम्बन्ध में इस प्रकार कोई सामान्य सिद्धान्त बनाना बुद्धिमानी नहीं है। विध्वंसकारी प्रयोजनों के लिए की गई स्फीति का प्रभाव भी विध्वंसकारी होता है, जबकि पूंजी निर्माण के त्वरण के लिए की गई स्फीति के फलस्वरूप त्वरित पूंजी-निर्माण होता है, जैसा कि रूस या जापान में हुआ या हर व्यापार-चक्र की उन्नतमुखी अवस्था में होता है।

कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा आर्थिक और राजनीतिक दोनों दृष्टि से अधिक उधार-विस्तार कर सकते हैं। आर्थिक दृष्टि से मुख्य बातें ये हैं स्फीतिकालीन लाभ किसे मिलेंगे, और वे उनका क्या उपयोग करेंगे, उन्हें उपभोग पर खर्च करेंगे या वस्तुओं के सट्टे में लगाएँगे, उनसे नयी अचल पूंजी का निर्माण करेंगे, या उन्हें दबाकर रखेंगे, या उनसे सरकारी बाण्ड खरीदेंगे? क्या उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ाया जा सकेगा, या स्फीति की प्रथम अवस्था लम्बी होगी? क्या यह ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें चोर-बाजारी को बहुत अधिक न बढ़ने देते हुए अत्यावश्यक वस्तुओं की कीमतों पर आसानी से पर्याप्त नियंत्रण रखा जा सकता है? क्या वहाँ शक्तिशाली मजदूर-संघ आन्दोलन है, जो माँग-स्फीति को लागत-स्फीति में बदल दे? क्या विदेशी मुद्रा की स्थिति को सुरक्षित रखा जा सकता है? क्या वहाँ कराधान की सीमान्त-दर इतनी ऊँची है जिसकी सहायता से स्फीति के कारण बढ़ने वाली मुद्राआय का पचास प्रतिशत सरकार वापस ले लेती है? इन प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में बहुत अन्तर है, जिसका

परिणाम यह है कि एक ही मात्रा में उधार-विस्तार से एक देश में कीमतें दस प्रतिशत बढ़ जाती हैं जबकि किसी दूसरे देश में इससे दूनी हो जाती हैं। स्फीति से राजनीति पर पड़ने वाला प्रभाव भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होता है। कुछ देशों में राजनीतिक दृष्टि से यह आवश्यक माना जाता है कि सरकार को वास्तविक आय में पर्याप्त वृद्धि करने के लिए कार्रवाई करनी ही चाहिए चाहे इसके लिए कुछ स्फीति भी पैदा करनी पड़े, अत स्फीति उनके राजनीतिक अस्तित्व के लिए एक प्रकार से आवश्यक बन जाती है। हाल के वर्षों में कुछ देशों की जनता विश्वमान्यक प्रयोजनों के लिए की गई स्फीति के कष्ट सह चुकी है, और अपनी सरकारों से आशा करती है कि अब वे मुद्रा पर कड़ा नियन्त्रण रखें। चूंकि स्फीति मुख्यत राजनीति का व्यापार-पन्न है, अत इसका सहारा लिया जाए या नहीं, यह एक राजनीतिक निर्णय होता है, और इसे एक राजनीतिक विकल्प के रूप में ही चुनना पड़ता है।

स्फीति के विरुद्ध एक बड़ा राजनीतिक तर्क यह है कि यदि एक बार स्फीति का सहारा लेने की सम्भावना स्वीकार कर ली जाती है, तो किस मात्रा में स्फीति का सहारा लिया जाना चाहिए, इस मामले में सरकारों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बजट सन्तुलित होना चाहिए, इस सिद्धान्त का एक बड़ा लाभ यह है कि इसके बल पर वित्त-मन्त्री मन्त्रिमण्डल में अपने साथियों पर अनुशासन रख सकता है। मन्त्री लोग किसी सेवा के विस्तार के पक्ष का जोरदार समर्थन कर सकते हैं, पर जहां तक वित्तमन्त्री द्वारा बजट को सन्तुलित रखने की बात है, उसकी बात अन्तिम होती है। एक बार इस सिद्धान्त का त्याग कर देने पर सरकारी खर्च पर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। इस कठिनाई को हल करने का एक उपाय यह है कि दो बजट बनाये जाएं। एक, जिसमें राजस्व का पैसा लगाया जाए, और दूसरा, जिसमें केवल उत्पादन को तेज़ी से बढ़ाने वाली सेवाएं ही शामिल हों (विशेषतया भूमि-सुधार, गांवों में पानी की व्यवस्था, प्रशिक्षण-सुविधाएं, और कृषि-विस्तार), जिसका खर्च उधार-विस्तार द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। फिर भी, इससे समस्या से पूरी तरह बचा नहीं जा सकता, क्योंकि दो बजटों की प्रणाली अपनाने से यह मतभेद पैदा हो सकता है कि दूसरे बजट में कौन-कौन-सी मदें शामिल की जाएं। वस्तुत कोई प्रशासनिक उपाय सरकार को साहस का परिचय देने और संयम बरतने से मुक्ति नहीं दे सकता।

करारोपण और उधार-विस्तार के अलावा सरकार के राजस्व का एक अन्य स्रोत वे छोटी-छोटी बचतें हैं जो सरकारी संस्थानों से जमा की जाती हैं, जिनमें डाकघर बचत बैंक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जिन कम विकसित देशों में छोटी बचतों के लिए प्रयत्न किये गए हैं वहां सभी प्रकार की छोटी

बचतें मिलकर राष्ट्रीय आय के दो प्रतिशत तक बैठती हैं जिनमें सहकारी आन्दोलन और मैत्री-समितियों की बचतें भी सम्मिलित होती हैं। कहना न होगा कि ऐसी बचतों के लिए बढ़ावा देने का बड़ा महत्त्व है। बचतकर्ता के लिए इसका महत्त्व यह है कि इससे उसे आत्मनिर्भरता मिलती है, आत्म-सम्मान मिलता है और आड़े दिनों में सहायता मिलती है और इन बातों का महत्त्व ऐसी बचतों से राष्ट्र को मिलने वाली सहायता से भी अधिक है। इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता जापान को मिली है जहाँ छोटी बचतें अनुमानतः राष्ट्रीय आय की लगभग आठ प्रतिशत हैं। यह बड़ा ही अनुकरणीय है (अध्याय ५, खण्ड २ (ग))।

अन्तिम प्रश्न अनुदान द्वारा या ऋण द्वारा देश के बाहर से धन प्राप्त करने की सम्भावना से सम्बन्धित है। इस काम के लिए कुछ देशों की स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। परन्तु कुल मिलाकर सभी कम विकसित देशों को इस माध्यम से अधिक धन मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए। अफ्रीका और एशिया (चीन, जापान और रूस को छोड़कर) की राष्ट्रीय आयों का योग लगभग ७५०,००० लाख अमरीकी डालर प्रति-वर्ष के बराबर है। इसका १२ प्रतिशत ९०,००० लाख डालर बैठता है और यह राशि उस विदेशी निवेश तथा विदेशी सहायता से बहुत अधिक है जो इस समय इन दोनों महाद्वीपों को मिल रही है। यदि इन महाद्वीपों में निवल राष्ट्रीय आय के बारह प्रतिशत के बराबर पूंजी-निर्माण करना हो तो उसके लिए अपे-क्षित राशि किसी सम्भव विदेशी निवेश या विदेशी सहायता से बहुत अधिक होगी। अतः यदि इन देशों का पर्याप्त उत्थान करना हो तो विदेशों से मिलने वाली राशि के अलावा उन्हें स्वयं भी कमर कसकर प्रयत्न करना होगा।

इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है कि अधिकांश कम विकसित देश यदि चाहें तो वे अपना पूंजी निर्माण काफी बढ़ा सकते हैं। इन सभी देशों के सामने रूस और जापान का उदाहरण है जहाँ प्रतिव्यक्ति वास्तविक उत्पादन अन्य सभी स्थानों की अपेक्षा अधिक तेजी से, अर्थात् लगभग ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ा है—रूस में १९२९ से और जापान में १८७० से लगा-तार—जबकि इसकी तुलना में अमरीका में यह वृद्धि २ प्रतिशत से कम रही है, अतः उसका नम्बर इन दोनों देशों के बाद आता है। (यह जरूरी नहीं है कि उत्पादन में जितनी वृद्धि हो उतनी ही उपभोग में भी हो। रूस में १९२९ की तुलना में १९३९ में प्रतिव्यक्ति उपभोग अपेक्षाकृत अधिक नहीं था, क्योंकि रक्षा तथा पूंजी-निर्माण के लिए उत्पादन का प्रयोग बहुत बढ़ गया था।) इन देशों में विकास की इतनी ऊँची दरें तभी सम्भव हो पाईं जब

मानव-जीवन के हर क्षेत्र में बड़े परिवर्तन हुए, यहाँ तक कि निवल पूंजी-निर्माण पन्द्रह प्रतिशत वार्षिक या इससे भी अधिक दर से बढ़ा। इन दोनों ही मामलों में स्फीति तथा उच्च कराधान ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। रूस ने उद्योगीकरण पर ध्यान केन्द्रित किया और किसानों को प्रति-एकड़ उपज बढ़ाने के उपाय सिखाने की बजाय इस मामले में उनसे ज़बरदस्ती की। फलस्वरूप दस वर्षों में उसका बड़े पैमाने का औद्योगिक उत्पादन तो तीन गुना बढ़ गया लेकिन कृषि-उत्पादन वहाँ की जनसंख्या की तुलना में थोड़ी ही तेजी से बढ़ पाया। इस असन्तुलन से कीमतें बहुत बढ़ गईं—दस वर्षों में लगभग तीन गुना। जापान ने अपेक्षाकृत अधिक समझदारी से काम लिया। कुल मिलाकर उसका उत्पादन उतनी ही तेज़ी से बढ़ा जितनी तेज़ी से रूस का, परन्तु उसने उद्योग और कृषि दोनों की ओर बराबर ध्यान दिया। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तीस वर्षों में वहाँ प्रति-व्यक्ति कृषि-उत्पादन दूना हो गया। इतना होने पर, और बहुत बड़ी मात्रा में कर लगाये जाने के बावजूद इस अवधि में वहाँ मूल्य-स्तर दूना ही हुआ। लगता है कि पूंजी-निर्माण और विकास की इतनी ऊँची दरें थोड़ी-बहुत स्फीति के बिना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पन्द्रह प्रतिशत या अधिक निवल पूंजी निर्माण के लिए अपेक्षित कराधान और बचत के स्तरों तक इसके बिना नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु दस से बारह प्रतिशत तक पूंजी-निर्माण स्फीति पैदा किए बिना केवल कराधान और स्वेच्छा बचतों से ही सम्भव हो सकता है, यदि सरकार और जनता दोनों आर्थिक विकास के स्तर से सहमत हों। ऐसे देशों में तो यह और भी आसानी से किया जा सकता है, जहाँ श्रमिकों की बेशी के कारण उपभोग को घटाये बिना ही कुछ विशिष्ट प्रकार का उपयोगी पूंजी-निर्माण करना सम्भव है।

सन्देह की बात यह नहीं है कि पूंजी निर्माण की दर बढ़ाना आर्थिक दृष्टि से सम्भव है या नहीं, बल्कि यह है कि लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में रहते हुए राजनीतिक दृष्टि से ऐसा किया जा सकता है या नहीं। मुख्य समस्या यह है कि किसानों पर पर्याप्त कर लगाना राजनीतिक दृष्टि से व्यावहारिक है या नहीं। हम पहले देख चुके हैं [अध्याय ५, खण्ड २ (ख)] कि कृषि पर भारी कर लगाये बिना अविकसित देशों में पूंजी-निर्माण का त्वरण असम्भव है। सत्तावादी सरकारें ऐसा कर सकती हैं और करती भी हैं, क्योंकि उन्हें चुनाव की चिन्ता नहीं होती। लोकतन्त्रात्मक सरकारें भी ऐसा कर सकती हैं—गोल्ड कोस्ट और बर्मा में इस समय ऐसा ही हो रहा है—परन्तु वे ऐसा तभी कर सकती हैं, जब उनका नेतृत्व करने वाले राजनीतिज्ञ ऐसे हों जिन्हें अधिकांश जनता का विश्वास तथा समर्थन प्राप्त हो। संसार के

अनेक देशों में नयी राष्ट्रवादी सरकारें राष्ट्रीय भावना की उमंग लेकर सत्तारूढ़ हो गई हैं, देखना है कि वे अपने देश की गरीबी दूर करने के लिए साहस तथा संकल्प जुटा सकेंगी या नहीं।

३ अधिकार और राजनीति

देश के आर्थिक विकास पर वहाँ की सरकारों का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ सकता है। यदि सरकारें सही काम करती हैं तो आर्थिक प्रगति को बढ़ावा मिलता है। यदि वे पर्याप्त प्रयत्न नहीं करतीं, या गलत काम करती हैं या किसी बात की अति करती हैं, तो विकास रुक जाता है। इस खण्ड का आरम्भ हम उन उपायों के परीक्षण से करेंगे जिनसे विकास के मार्ग में बाधा पड़ती है, और उपसंहार उन सामाजिक परिस्थितियों का संकेत करते हुए करेंगे जिनके फलस्वरूप अच्छी सरकार बनती है।

(क) गतिरोध के कारण—जिन कारणों से सरकारें आर्थिक गतिरोध या गिरावट पैदा कर देती हैं उन्हें हम नौ भागों में बाँट सकते हैं: शान्ति बनाये रखने में विफल होकर, नागरिकों को लूटकर, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को बढ़ाकर, विदेशी संसर्ग के मार्ग में रोड़े अटकाकर, लोक-सेवाओं की अवहेलना कर, अत्यधिक निर्बन्ध नीति को अपनाकर, अत्यधिक नियन्त्रण लगाकर, अत्यधिक धन खर्च करके, और सर्वनाशी युद्ध आरम्भ करके। इनमें से हर कारण पर थोड़ी-थोड़ी चर्चा की जा सकती है।

कमजोर सरकारें अपनी सीमाओं के भीतर शान्ति स्थापित नहीं कर पातीं। चोरी-डकैती और आगजनी के कारण सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रह जाती। बटमार, लुटेरे तथा डाकू राहगीरों को लूट लेते हैं, और इस प्रकार आन्तरिक वाणिज्य ठप्प हो जाता है। छोटे छोटे सरदार व्यापार पर टोल लगाकर और देश को गृह-युद्ध में झोंककर विद्रोह कर देते हैं। जब भी कोई शासक मरता है, उत्तराधिकार के लिए संघर्ष खड़ा हो जाता है। संसार का अधिकांश इतिहास इसी प्रकार की बातों से भरा पड़ा है, केवल कुछ ऐसे अवसरों को छोड़कर जब किसी शक्तिशाली साम्राज्य ने विशाल क्षेत्र पर शान्ति स्थापित की हो। सच पूछा जाए तो इस बात का सम्बन्ध सुदृढ़ पुलिस, प्रभावशाली न्यायालय और सम्पूर्ण देश में निष्ठावान प्रशासन की व्यवस्था बनाये रखने से है। परन्तु सुव्यवस्था किस प्रकार कायम की जाए, इस बारे में संसार के सभी लोग एकमत नहीं हैं। सरकार आज्ञापालन पर निर्भर करती है, और एक बार यदि जनता में आज्ञा भंग करने की भावना पैदा हो जाए तो शान्ति स्थापित कर पाना बहुत कठिन तथा खर्चीला हो जाता है। अतः केवल समुचित सरकारी तन्त्र स्थापित करने की ही समस्या नहीं है बल्कि ऐसे ढंग से काम करने की भी समस्या है जिससे लोगों को राज्यतन्त्र के अधिकार का

बाध हों और वे हृदय से आज्ञापालन करने लगें। आर्थिक विकास हो जाने पर सम्भवतः लोगों से सरकारी आज्ञाओं का पालन अधिक सरलता से कराया जा सकता है क्योंकि उसके फलस्वरूप सरकार के हाथ में अधिक शक्ति आ जाती है और वह प्रेस व रेडियो-जैसे नए उपायों का सहारा लेकर जनता के मनोभावों को प्रभावित कर सकती है। फिर भी आज विश्व में जितनी अशान्ति है उसकी अपेक्षा १९०० में कम थी।

आर्थिक विकास के मार्ग में दूसरी बाधा भ्रष्टाचार है और कुछ ही सरकारें इससे मुक्त होती हैं। अधिकांश देशों में सिविल सेवा के लोग, या राजनीतिज्ञ या दोनों ही यह समझते हैं कि घूसखोरी, गबन, कुनबापरस्ती, या स्वयं लाभप्रद ठेके लेकर उन्हें धन कमाने का अधिकार है। वस्तुतः यह एक अचम्भा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में इन बुराइयों को कैसे दबाया गया। १८०० में ब्रिटेन का सार्वजनिक जीवन उतना ही भ्रष्ट था जितना कि अन्य अधिकांश देशों का था, परन्तु १९०० में लोकमत में बड़ा परिवर्तन हुआ, जिससे भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ देशों में भ्रष्टाचार का एक कारण यह है कि सिविल कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन नहीं दिये जाते; ऐसी स्थिति की अपेक्षा, जिसमें सिविल कर्मचारियों को समतुल्य धन्धों में लगे उनके समकक्षियों से बहुत कम वेतन मिल रहा हो, उस स्थिति में भ्रष्टाचार को समाप्त करना अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है जब सिविल कर्मचारियों को समुचित वेतन मिल रहे हों। जो भी हो, आर्थिक विकास पर भ्रष्टाचार के दुष्प्रभावों को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताया जा सकता है। व्यापारी के दृष्टिकोण से रिश्वत किसी रियायत के बदले में दिया गया मेहनताना है। परन्तु शर्त यह है कि जिस सौदे के सम्बन्ध में रिश्वत दी जाए उसके लाभों को देखते हुए रिश्वत की राशि काफी कम हो, और यह भी शर्त है कि सौदा करते समय इसका पूर्वानुमान हो, ताकि इसे लागत का ही एक अंग मानकर ग्राहक से वसूल की जाने वाली कीमत में शामिल किया जा सके। व्यापार में बाधा पदाधिकारियों के अप्रत्याशित व्यवहार के कारण पड़ती है। न जाने किस समय कौन आदमी टांग अड़ा दे और उसे खुश करने के लिए कितना धन देना पड़ जाए। पूर्व-पूंजीवादी समाजों में वाणिज्यिक वर्ग सामान्यतया सरदारों और रजवाड़ों की कृपा पर आश्रित होते हैं, जो कभी न लौटाने की नीयत से ऋण मांगते हैं, और जिनके मनमाने करों से भय खाकर पूंजीपति अपनी सम्पत्ति ऐसी चीज़ों के रूप में रखते हैं जिन्हें आसानी से छिपाया या हटाया जा सके। उससे निवेश के काम को धक्का लगता है, जो एक मुख्य कारण है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजीवादी क्षेत्र का विकास इतने धीरे-धीरे होता है। [अध्याय ५, खण्ड ८ (ख)]

तीसरी बात एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण की है। इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। वस्तुतः मार्क्सवादियों का कहना है कि इतिहास में केवल यही बात मिलती है। शोषण कई प्रकार के होते हैं जिनमें सबसे आम जमींदारों द्वारा किसानों का शोषण है। जनाधिपत्य की अवस्था में जमींदार किसानों की उपज का आधा भाग हड़प जाते हैं। दास प्रथा और कृषि-दास प्रथा के उदाहरण भी इतिहास में बहुतायत से मिलते हैं। वर्गों के रूप में समाज का यह विभाजन कुछ थोड़े से लोगों द्वारा सम्पत्ति के स्वामित्व पर आधारित हो सकता है। किसी विशेष जाति, धार्मिक या सांस्कृतिक समूह के विशेषाधिकारों को बनाये रखने के अन्य उपाय भी होते हैं जैसे औद्योगिक रंग भेद। ये उपाय प्रायः अल्पसंख्यकों द्वारा काम में लाये जाते हैं परन्तु बहुसंख्यक भी अल्पसंख्यकों के विरुद्ध इनको काम में ला सकते हैं। इनके अलावा मालिकों और नौकरों के बीच भी वर्ग-संघर्ष जारी है।

वस्तुतः सभी सरकारें इनमें से किसी वर्ग को बढ़ावा देती हैं क्योंकि उन्हें इनमें से किसी न किसी वर्ग का समर्थन मिलता है। कुछ सरकारें जमींदारों और शहरों के विरुद्ध हैं, जमींदारों की सरकारें किसानों और उद्योगपतियों के विरुद्ध हैं। इसके अलावा श्वेत प्रभुत्व वाली सरकारें, श्वेत विरोधी सरकारें, दासों के स्वामियों की सरकारें, कबायली सरकारें, ब्राह्मण सरकारें, पूंजीपति सरकारें और मजदूर सरकारें हैं—वस्तुतः मनुष्य-समुदाय के हर सम्भव विभाजन के आधार पर सरकारें बनी हुई हैं। तटस्थ सरकारें शायद ही कभी बनी हों। कुछ सर्वोत्तम सत्तावादी सरकारों ने विभिन्न वर्गों के बीच तटस्थ रहने की कोशिश की है परन्तु तटस्थ रहने का अर्थ भी यथापूर्व स्थिति का समर्थन करना है। लोकतन्त्रात्मक सरकारों के लिए तटस्थ रहना उतना आसान नहीं है जितना सत्तावादी सरकारों के लिए है क्योंकि यदि मतदाताओं में सहिष्णुता तथा समझ का परित्यागी न हो तो अधिकांश मत उन्हीं लोगों को मिलते हैं जो उनकी वर्ग भावनाओं को सबसे अधिक उभार सकते हैं।

हमें केवल इससे मतलब है कि वर्ग शोषण का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। मुख्य बात स्वयं सामाजिक स्थितिहीनता और असमानता पर पड़ने वाले प्रभावों की है। दास प्रथा, कृषि-दास प्रथा, थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रण और ऊँच-नीच, जैसे जाति या धर्म पर आधारित समस्त वर्गीकरण उद्यम और व्यावसायिक गतिशीलता को कम करता है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली लोग उच्च पदों पर नहीं पहुँच पाते और उनकी जगह समाज का अधिकांश भाग अनुचित स्थान रखता है [अध्याय ३ भाग ३ (ख)]। इसका प्रभाव कितना पड़ता है यह इस पर निर्भर है कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग कितना बड़ा और सहिष्णु है। यदि यह बहुत बड़ा होता है तो

उच्च पदों के लिए अपेक्षित प्रतिभाशाली व्यक्तियों की माँग पूरी कर सकता है। यदि वह सहिष्णु होता है तो अन्य वंचित वर्गों के सर्वाधिक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपवाद मानकर उन्हें उच्च पदों पर रख लेता है और इस प्रकार सामान्य लोगों को अपनी कड़ी अधीनता में रखते हुए भी बुद्धिमान गुलामों, या यहूदियों या अन्य जाति-निवासियों की प्रतिभा का उपयोग करके अपनी शक्ति को बढ़ा सकता है। समृद्धि के लिए केवल इतनी-सी उदग्र गतिशीलता की आवश्यकता होती है कि निचले वर्ग के सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ऊपर उठ सकें। परन्तु इसके लिए अपेक्षाकृत व्यापक प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है, क्योंकि उचित यही है कि हर व्यक्ति के सामने जो अवसर हों उनका लाभ उठाने के लिए कुछ प्रेरणा अवश्य होनी चाहिए।

प्रेरणा की कमी से कृषि-दासों, गुलामों, किसानों तथा भूतकालीन अन्य निचले वर्गों में से अधिकांश पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में अब सब लोग एकमत हैं। प्रेरणाओं की समस्याओं को लेकर आजकल दिलचस्पी मुख्यतया मालिकों और उनके कर्मचारियों के बीच चलने वाले वर्ग-संघर्ष पर केन्द्रित है। आजकल सभी पूँजीपति सरकारों को मजबूर किया जा रहा है कि वे पूँजीपतियों पर भारी कर लगाएँ, और उससे होने वाली आय से श्रमिकों को हर प्रकार की सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध करें। इस नीति की दोनों बातों की आलोचना की जाती है, पूँजीपतियों पर कर लगाने की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इससे निवेश को धक्का लगता है, और श्रमिकों को सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध कराने की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इन सेवाओं से मजदूरों की काम करने की, और स्वयं अपने बच्चों की शिक्षा या बेरोजगारी, बीमारी आदि के विरुद्ध बीमा का प्रबन्ध करने की प्रेरणा समाप्त हो जाती है। इस सैद्धान्तिक सम्भावना के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है कि गरीबों द्वारा अमीरों का धन लूटे जाने से समृद्धि समाप्त हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक प्रश्न यह है कि इसे किस सीमा तक करना निरापद है। इस सदर्भ में अनेक ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं—२५०० ई० पू० से २००० ई० पू० के बीच मिस्र की समृद्धि के नष्ट होने के बारे में अनेक सन्दिग्ध अनुमान हैं, ईसा की तीसरी शताब्दी में रोमन-साम्राज्य की समृद्धि नष्ट करने में मनमाने कराधान का कितना हाथ था, इस सम्बन्ध में भी उतने ही सदिग्ध अनुमान हैं, और हाइती में क्रान्ति के जो नतीजे निकले उनका उदाहरण भी बहुत संदिग्ध है। यदि रोम वाले मामले को प्रामाणिक माना जा सके तो उससे यही परिणाम निकलता है कि भारी कराधान की बजाय मनमाने कराधान का विध्वंसक प्रभाव ही इसके लिए उत्तरदायी था। व्यवसायी-वर्ग सम्भवतः जितना भी कर दे सकता है, बशर्ते कि उसे कर की राशि का पहले से

पता हो। जैसा कि भ्रष्टाचार के मामले में हम ऊपर देख चुके हैं, समाधान भी शायद तभी घातक होता है जबकि उसके बारे में पहले से अनुमान न हो, उदाहरण के लिए रोमनों पर अचानक कर लगाये गए थे। हम इस बात को स्वीकार कर सकते हैं कि उद्यमशील अल्पसंख्यकों का धन छीनने से उतना ही गतिरोध पैदा हो सकता है जितना बहुसंख्यकों के शोषण द्वारा, किन्तु यहाँ हम यह बताने की स्थिति में नहीं हैं कि कौनसे मामले अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित हैं और कौनसे बहुसंख्यकों से।

चौथी बात यह है कि विदेशियों के साथ सम्पर्क के मार्ग में बाधाएँ पैदा करके सरकारें आर्थिक विकास में रुकावट डाल सकती हैं। हम यह देख चुके हैं कि प्रायः विदेश-व्यापार से ही त्वरित आर्थिक विकास का श्रीगणेश होता है [अध्याय ५, खण्ड ३ (ख)]। विदेशी लोग नए कौशल, नयी रुचियाँ और पूँजी लाते हैं, और बाजार का विस्तार करते हैं। वे शोषण भी कर सकते हैं, पर यदि शोषण से बचने की धुन में कोई विदेशियों को देश में आने ही न दे तो देश विदेशियों से प्राप्त होने वाले प्रोत्साहन से भी वंचित रह जाएगा। अधिकांश सरकारें विदेशी सम्पर्क में बाधा डालने के लोभ का संवरण नहीं कर पातीं, क्योंकि विदेशियों को तंग करने से निश्चय ही सरकार की लोकप्रियता बढ़ती है। इसके विपरीत, बहुत सी कमजोर सरकारें भी हुई हैं जिन्होंने बहुत थोड़े-से मुआवजे के बदले विदेशियों को बहुमूल्य रियायतें दे दी हैं, या सहज ही विदेशी निवेशकर्ताओं की दया पर निर्भर होकर अपनी प्रभुसत्ता खो दी है [अध्याय ५, खण्ड २(ग) और अध्याय ६, खण्ड २(ग)]। सर्वाधिक कुशल सरकारें ही विदेशी धन और कौशल का अधिकाधिक लाभदायक ढंग से इस्तेमाल कर सकती हैं। इस समय अधिकांश कम विकसित देश उन्नीसवीं शताब्दी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अवस्था में हैं। उनमें विदेशी पूँजी और विदेशी प्रशासन के प्रति घृणा पैदा हो गई है और वे वर्तमान अवसरों का लाभ उठाने की अपेक्षा अपने को और शोषण से बचाने के लिए अधिक चिन्तित हैं।

पाँचवीं बात यह है कि लोक-सेवाओं पर पर्याप्त धन खर्च न करके सरकारें आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक बन सकती हैं। विकास के लिए सड़कों, पानी की व्यवस्था, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि की जरूरत होती है। इनकी कमी गम्भीर नहीं होगी यदि इनकी पूर्ति के लिए निजी उद्यमकर्ताओं के सामने पर्याप्त अवसर हों। सरकारें जो काम करती हैं लगभग वे सारे काम—अर्थात् सड़क-निर्माण, पुलिस, प्रतिरक्षात्मक सेवा, या मुद्रा-व्यवस्था आदि भी—निजी कम्पनियों ने कभी-न-कभी अवश्य किए होंगे। सच पूछा जाए तो योरोप के अधिकांश क्षेत्र में डाक का काम निजी उद्यमकर्ताओं ने किया

है और सरकारों ने अपेक्षाकृत बाद की अवस्थाओं में ही इन कामों को अपने ऊपर लिया है। परन्तु सरकारों ने हर जगह ये सेवाएँ निजी उद्यमकर्ताओं से अपने हाथ में ले ली हैं क्योंकि हर स्थान पर यही सुविधाजनक लगा है कि 'लोक सेवाएँ' 'लोक' प्राधिकरणों द्वारा ही चलाई जाएँ। इन सेवाओं की व्यवस्था के लिए सरकारों की जरूरत हो या न हो, परन्तु सरकारें पर्याप्त लोक-सेवाओं का विकास करके आर्थिक विकास के काम में बड़ी मदद दे सकती हैं, क्योंकि अन्य उद्यमों के विकास के लिए इन सेवाओं का होना अनिवार्य है।

सरकारों को प्रबन्ध के रूप में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करना होता है, जिसमें अधिकांश सरकारें विफल रहती हैं। उन्हें इस क्षेत्र में क्या-कुछ करना चाहिए, यह इस पर निर्भर होता है कि देश में निजी उद्यमकर्ता संख्या में कितने हैं, उनकी कोटि कैसी है, और उनमें जोखिम उठाने की प्रवृत्ति कितनी है। देश जितना ही पिछड़ा होगा, प्रबन्धकों के रूप में उतना ही अधिक काम वहाँ की सरकार को करना होगा। एलिज़ाबेथ प्रथम के शासन-काल में इंग्लैंड की, और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जापान की सरकार के आर्थिक कार्य इसके शानदार उदाहरण हैं। सरकारों को अनुसन्धान के लिए सहायता देनी होती है, नये उद्योग स्थापित करने के लिए आप्रवासियों को आकर्षित करना होता है, नये उद्योगों को संरक्षण देना होता है, विदेश-व्यापार-आन्दोलन को बल देना होता है, कृषि-विस्तार-सेवाएँ स्थापित करनी होती हैं, और सस्ती ब्याज-दरों पर ऋण उपलब्ध करना होता है। अब पिछड़े देश के लिए यह दुर्भाग्य की बात होगी यदि वहाँ की सरकार प्रमादवश या सैद्धान्तिक विश्वास की दृष्टि से निर्बन्ध नीति का पालन करे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य की ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य का शोषण इतिहास के अन्य किसी साम्राज्य की अपेक्षा कम किया गया है, क्योंकि लगभग एक शताब्दी तक व्यापार पर न तो कर-जोड़ी प्रतिबन्ध थे, न कोई नज़रें वसूली की जाती थीं, और जाति-प्रथा के जरिए भी आर्थिक जीवन में बहुत ही थोड़ा शोषण होता था। इनके स्थान पर ब्रिटेन के उपनिवेशों में शान्ति स्थापित की गई, भ्रष्टाचार कम किया गया, उचित न्याय-व्यवस्था स्थापित की गई, विदेश-व्यापार बढ़ाया गया, लोक-सेवाएँ स्थापित की गईं और उनका विस्तार किया गया। आर्थिक दृष्टि से इस साम्राज्य ने गलती यही की कि वह निर्बन्ध नीति का पालन करता रहा। किसानों को न तो खेती के नये ढंग सिखाये गए और न उन्हें नये बीज या उर्वरक दिये गए; इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में नये विनिर्माणों के विकास के लिए और उनको प्रारम्भिक संकट से उबारने के लिए कुछ भी

नहीं किया गया। अतः कुल उत्पादन की वृद्धि-दर हमेशा ही बहुत कम रही और जनसंख्या की वृद्धि-दर से, जो अन्य अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर बराबर बढ़ रही थी, मुश्किल से ही अधिक थी। सब आधुनिक साम्राज्य निर्बन्ध नीति का अनुसरण नहीं करते। डच लोगों ने इण्डोनेशिया में १९३०-३९ के बीच निर्बंध नीति त्याग दी और अनेक दिलचस्प कार्यक्रम आरम्भ किये परन्तु तब तक वहाँ की जनता में डचों के प्रति निष्ठा समाप्त हो चुकी थी। बेलजियम की सरकार कांगो में जोरदार आर्थिक कार्यक्रम चला रही है देखना है वहाँ इसका क्या परिणाम होता है।

निर्बन्ध नीति के बिलकुल विपरीत अर्थ-व्यवस्था के नियमन में अत्यधिक जोश दिखाकर भी सरकारें आर्थिक विकास में बाधक बन सकती हैं। कालबर्ट ने कपड़ों का अर्ज तक निर्धारित कर रखा था, और रूस की सरकार निजी खुदरा व्यापार पर भी नियन्त्रण रखना जरूरी समझती है। चूंकि कोई भी सरकार जनता की पसन्द और उसकी सूझ-बूझ का स्थान नहीं ले सकती, अतः यदि वह अपनी जनता को पसन्द करने या सूझ बूझ से काम लेने से रोकती है तो इससे आर्थिक विकास में जरूर रुकावट पड़ेगी। उदाहरण के लिए, रूस अपनी सफलता का कारण केन्द्रीय आयोजन मानता है, पर यह बात गलत है। उसकी सफलता का कारण पूंजी-निर्माण का उच्च स्तर है—जापान ने रूसी ढंग के आयोजन और उसकी स्फीति के बिना ही पूंजी-निर्माण का यह स्तर प्राप्त कर लिया था। यदि रूस में अधिक पसन्द की छूट दी गई होती तो उतने ही खर्च से उपभोक्ताओं को और अच्छी सेवाएँ मिली होतीं, और कृषि-उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया होता। आर्थिक जीवन में सरकारों के सामने अत्यधिक आयोजन और बहुत कम आयोजन तथा अत्यधिक राष्ट्रीयकरण और बहुत कम राष्ट्रीयकरण के बीच एक संतुलित रवैया अपनाने की समस्या है। इस विषय पर यहाँ लम्बी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपनी एक अन्य पुस्तक में मैं पहले ही इसकी चर्चा कर चुका हूँ।

इसके अलावा, सरकारें समुदाय के साधनों का बहुत अधिक भाग अपने निजी प्रयोजनों पर, स्मारक, टाउनहॉल, विद्यामन्दिर, सार्वजनिक बाग, सड़कें, या अन्य लोक-सेवाओं पर खर्च करके भी आर्थिक विकास में रोड़े डाल सकती है। सरकार की लगभग सभी क्रियाएँ प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन बढ़ाने में योग देती हैं, परन्तु उनमें से कुछ क्रियाएँ दूसरी क्रियाओं की अपेक्षा अधिक उत्पादक होती हैं। यदि सरकार अपनी सेवाओं पर अन्धाधुन्ध खर्च करती हो तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि वह ऐसे साधनों का उपयोग कर रही है जिनका निजी क्षेत्र में निवेश किया जाना अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक हो सकता है। ऐसा अन्धाधुन्ध खर्च कभी-कभी उन देशों में उचित ठहराया जाता

है जिनमें श्रमिकों की बेशी होती है, और इसके समर्थन में कहा जाता है कि यदि श्रमिकों को इन कामों में न लगाया जाए तो वे बेरोज़गार रहेंगे। यह सच है कि बेशी श्रमिकों का उपयोग करने पर खर्च बहुत ही थोड़ा होता है, यदि उनके साथ सामग्री और मशीन आदि दुर्लभ साधनों का इस्तेमाल न किया जाए परन्तु सामान्यतया ऐसा नहीं होता। इसके अलावा, चाहे बेशी श्रमिकों को अलाभप्रद कामों पर लगाने से उत्पादन में कोई कमी न पड़ती हो, परन्तु उत्पादक ढंग से उनका इस्तेमाल करने पर उत्पादन अवश्य बढ़ाया जा सकता है। यदि श्रमिकों की बेशी हो तो उनकी मदद से पिरामिड बनवाने की बजाय सिंचाई-प्रणाली आदि का विस्तार करना अधिक लाभप्रद है।

साधनों के अपव्यय के अलावा, सरकार के अन्धाधुन्ध खर्च से आर्थिक विकास में तब भी बाधा पड़ सकती है जब इसमें पैसा लगाने के लिए इस प्रकार के कर लगाये जाएं जिनमें प्रेरणाओं का हनन होता हो। यह मुख्यतया टेकनीक का प्रश्न है। यदि लोगों को पता हो कि उन्हें अपनी कमाई का एक बड़ा भाग किसी अन्य व्यक्ति को देना होगा तो वे कमाई बढ़ाने की दृष्टि से और अधिक प्रयत्न करने के प्रति अनिच्छुक हो जाते हैं। ऐसा होना सदा ही आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह भी हो सकता है कि रहन-सहन का अपेक्षित स्तर प्राप्त करने के लिए ही लोग कठिन परिश्रम करें, परन्तु इस प्रतिक्रिया की सम्भावना अवश्य है। यदि लोगों में यह प्रतिक्रिया होती हो, तो आय-कर और उत्पादन के अनुपात में लगाये गए भूमि-कर प्रेरणा को हतोत्साहित करते हैं, और यदि ये कर सीमान्त रूप में एक-तिहाई से अधिक हों तो हो सकता है कि वे और भी अधिक हतोत्साहित करें। परन्तु प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष कर लगाकर इस प्रभाव से काफी हद तक बचा जा सकता है। कर-दाता सामान्यतया यह नहीं जानता कि वस्तुओं की जो कीमत वह अदा करता है उसमें कितना कर सम्मिलित है, अत जहां तक कराधान के मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव की बात है, उसे प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष कर लगाकर दूर किया जा सकता है (हम खण्ड २ (ख) में देख चुके हैं कि अप्रत्यक्ष कर उतने ही आरोही हो सकते हैं जितने कि प्रत्यक्ष कर)।

इसके अलावा, करों में परिवर्तन कराधान के निरपेक्ष स्तर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। लोग करों के बढ़ाये जाने का विरोध करते है, और यह भी हो सकता है कि वृद्धि की बात दिमाग में उतर जाने तक उनमें इसके प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती रहे। किसी अप्रत्यक्ष कर में वृद्धि होने पर उसके प्रभाव-स्वरूप लोगों में मेहनत करने की प्रवृत्ति घटने की बजाय संभवत बढ़ जाती है। अध्याय ३, खण्ड २ (क) में हम देख चुके हैं कि ज्यों ज्यों लोगों के परिश्रम का प्रतिफल बढ़ता जाता है त्यों त्यों वे काम कम करते

हैं, क्योंकि आय बढ़ने के साथ-साथ उनमें आराम करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इसका मतलब यह है कि कर की दर बढ़ाने के प्रभाव-स्वरूप लोग अधिक मेहनत करने लगते हैं बशर्ते कि वृद्धि किसी अप्रत्यक्ष कर में की गई हो। लोग उन करों का भी विशेष रूप से विरोध करते हैं जो अनिश्चित होते हैं, और जिन्हें कराधान-प्राधिकारी अपनी इच्छा से घटा-बढ़ा सकते हैं। यदि आमदनियों की बजाय वस्तुओं पर स्थायी कर लगा दिए जाएँ तो लोग अधिकाधिक कर देते रह सकते हैं बशर्ते कि उसके बाद भी उनके पास रहन-सहन के समुचित स्तर के लिए धन बचा रहे। ऐसी स्थिति में आर्थिक प्रयत्नों पर करों के उच्च स्तर का वही प्रभाव होता है जो अनुर्वर भूमि या प्राकृतिक साधनों की कमी के फलस्वरूप प्रयत्नों पर पड़ता है, कम उत्पादकता प्रयत्न को बढ़ावा देगी, या हतोत्साहित करेगी या उसका उस पर कोई प्रभाव नहीं होगा, यह हम कुछ नहीं कह सकते (देखिए अध्याय २, खण्ड ३)। (किसी कर की दर बढ़ाने का क्या प्रभाव पड़ेगा, यह तो निश्चय के साथ बताया जा सकता है लेकिन साथ ही यह नहीं कहा जा सकता कि कर की ऊँची दर का प्रभाव क्या होगा, क्योंकि कर की तात्कालिक और अन्तिम प्रतिक्रिया सदा एक-जैसी नहीं होती।) इस प्रकार यदि कर अप्रत्यक्ष हों और उनके आधार भी अपरिवर्तित रहें, तो दीर्घकाल में कराधान किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है—पच्चीस प्रतिशत तक या पचास प्रतिशत तक—यह सरलता से निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतः यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो, और अप्रत्यक्ष कराधान औसत की अपेक्षा सीमान्त पर अधिक हो, तो सरकार का भाग हमेशा बढ़ता रहेगा, साथ ही लोगों के रहन-सहन का स्तर भी बढ़ता जाएगा, और करों के आधार में कोई परिवर्तन न किए जाने के कारण जनता उनकी तरफ से बेखबर बनी रहेगी। अतः यदि कराधान ठीक ढंग से न किया जाए तो उच्च कराधान के फलस्वरूप प्रेरणा को धक्का लग सकता है, परन्तु यदि सही टेकनीक का प्रयोग किया जाए तो प्रेरणा पर कराधान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आर्थिक विकास पर उच्च कराधान का वास्तविक भार इस रूप में पड़ता है कि इसमें वे साधन चुक जाते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक कामों में लगाये जा सकते थे।

साधनों का चरम अपव्यय उस स्थिति में होता है जब या तो इनका प्रयोग असफल आक्रामक युद्धों में किया जाता है, या ऐसे सफल युद्धों में किया जाता है जिनके परिणामस्वरूप विजेता देश को पराजित देश से उतनी सुविधाएँ नहीं मिल पातीं जितना युद्ध में खर्च हो गया होता है। युद्ध से पूंजी-निर्माण रुक जाता है, अनेक बुद्धिमान और उद्यमी नवयुवक नष्ट हो जाते हैं, और आर्थिक रुझान वालों की बजाय सैनिक रुझान वालों की शक्ति बढ़

जाती है और ज्ञान विस्तार के विरुद्ध इसमें उपयोगी आविष्कार के लिए कोई बढ़ावा नहीं मिलता [देखिए अध्याय ३, खण्ड ३ (ग)]। यह कितना महँगा पड़ता है इसका अभी हाल का उदाहरण जर्मनी का मामला है : इस बात पर कौन सन्देह कर सकता है कि यदि जर्मनी १९१४ और १९३९ के युद्धों में न फँसा होता तो आज वहाँ के लोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक समृद्ध होते।

हम सरकार के उन सभी कार्यों का उल्लेख कर चुके हैं जिनसे आर्थिक विकास के काम में रुकावट पड़ती है। स्पष्ट है कि अच्छी सरकार होना कठिन है अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकांश देश अपने इतिहास की लम्बी अवधि के बीच अच्छी आर्थिक प्रगति करने में विफल रहे हैं, या कुछ अपेक्षाकृत समृद्ध देश सरकार की गलतियों के फलस्वरूप नष्ट हो गए हैं। सरकार को न अत्यधिक खर्च करना चाहिए, न बहुत कम खर्च करना चाहिए, न बहुत अधिक नियन्त्रण लगाना चाहिए, न बहुत कम नियन्त्रण लगाना चाहिए, न बहुत अधिक पहल करनी चाहिए, न बहुत कम पहल करनी चाहिए, उसे न तो विदेशियों के कामों को हतोत्साहित करना चाहिए और न ही उनके चंगुल में फँसना चाहिए, उसे न तो वर्ग-शोषण होने देना चाहिए, और न ही वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देना चाहिए आदि। इन परस्पर-विरोधी खतरों में कुछ सरकारें दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमानी से अपना मार्ग निर्धारित करती हैं। पर ऐसा क्यों होता है, यह बताना मुश्किल है।

(ख) राजमर्मज्ञता के लिए पृष्ठभूमि—हमें एक या दो दशाब्दी तक चलने वाली अच्छी या बुरी सरकार की छुटपुट अवधियों को नहीं बल्कि एक या दो शताब्दियों या इससे भी अधिक समय तक चलनेवाली दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को समझने की ज़रूरत है। हर देश में समय-समय पर अच्छी या बुरी सरकारें होती हैं भले ही दीर्घकालीन दृष्टि से वहाँ की सरकार अच्छी, बुरी या मध्यम दरजे की हो। एक शताब्दी या इससे अधिक समय तक चलने के बाद अच्छी सरकारें जम जाती हैं, क्योंकि जनता के व्यवहार के उच्च स्तर निर्धारित हो जाते हैं जो बाद में देश की परम्परा का एक अंग बन जाते हैं, और आगामी पीढ़ियों के व्यवहार को नियमित करते हैं। इसी प्रकार यदि लम्बे अरसे तक बुरी सरकार चलती रहे तो बाद में बेहतर सरकार की स्थापना की सम्भावना कम हो जाती है, क्योंकि नयी पीढ़ियाँ व्यवहार के निम्न स्तर में पैदा होती हैं और उनके सामने कोई अच्छी परम्पराएँ अनुकरण के लिए नहीं होतीं। इसका अर्थ यह है कि किसी देश के इतिहास में किसी काल विशेष के दौरान उसके सार्वजनिक जीवन की कोटि की व्याख्या करने के लिए उसके प्राचीन इतिहास और परम्पराओं का बहुत-कुछ सहारा लिया जा सकता है। अन्त

यह है कि किसी देश में अपेक्षाकृत अच्छी सरकारें या अपेक्षाकृत बुरी सरकारें ही क्यों रही हैं।

एक बार पुन हम भौतिक साधनों और मानवीय गुणों के साथ उनके सम्भव सम्बन्ध पर विचार करना होगा। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ जातियों में अन्य जातियों की अपेक्षा उच्च कोटि की सरकार बनाने की क्षमता अधिक होती है। यदि 'जाति' का प्रयोग सांस्कृतिक अर्थ में किया जाए तो इससे वही समस्या पैदा होती है जिसे हल करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं यदि इसे जीवात्मक अर्थ में प्रयोग किया जाए तो इस पर तब तक आगे चर्चा नहीं की जा सकती जब तक कि हम विभिन्न लोगों के आनुवंशिक गठन के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त न कर लें। थोड़ा-बहुत जो हम जानते हैं उससे इस विचार की कोई पुष्टि नहीं होती कि अच्छी सरकार के लिए अपेक्षित जीवात्मक गुण वाले लोग किन्हीं विशेष दशा में ही पाए जाते हैं। जलवायु-सम्बन्धी आधार भी हमें इस सम्बन्ध में कुछ अधिक सहारा नहीं देता। विश्व के हर प्रकार की जलवायु वाले भागों में, हर जाति में, और प्राकृतिक साधनों के अभाव या समृद्धि की सभी अवस्थाओं में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की सरकारें हुई हैं। मानव-उपलब्धियों के मूल में केवल प्राकृतिक साधन नहीं होते।

प्लेटो के समय से लेकर अब तक के सभी राजनीतिक दार्शनिकों ने संवैधानिक स्वरूप के आधार पर अच्छी सरकार की व्याख्या की है, और अपने-अपने दृष्टिकोण या समय के चलन के अनुरूप किसी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अच्छी सरकार लोकतन्त्र की परिस्थितियों में पनपती है, किसी ने कहा है कि तानाशाही में पनपती है, और किसी ने कुलीनतन्त्र या राजतन्त्र की दुहाई दी है। यह दृष्टिकोण इतिहास के तथ्यों के अनुरूप नहीं है। उदाहरण के लिए, इटली का २५०० वर्षों का लिखित इतिहास है, और इस देश ने सभी प्रकार के संवैधानिक स्वरूप देखे हैं। परन्तु उसके इतिहास में शासन के किसी विशेष संवैधानिक स्वरूप को चाहे लोकतन्त्रात्मक स्वरूप हो, या राजतन्त्र हो, या तानाशाही हो, लेकर यह कह पाना सम्भव नहीं है कि अन्य तत्त्वों की अपेक्षा प्रमुख तत्त्व के अन्तर्गत ही सदा इटली में बढ़िया सरकारें बनी हैं। यही बात यूनान, मिस्र, भारत या चीन के सम्बन्ध में भी लागू होती है, जिनके अपेक्षाकृत अधिक लम्बी अवधि के लिखित इतिहास मौजूद हैं। अच्छी सरकार के लिए शासक की बुद्धिमत्ता और प्रजा की सहमति का संयोग आवश्यक है, और इस संयोग पर किसी राजा, या लोकतन्त्रवादी, या तानाशाह की बपौती नहीं है। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि संस्थानिक नियन्त्रणों या संवैधानिक स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं है। लोकतन्त्रात्मक

प्रणाली के अन्तर्गत यदि शासन के अधिकारों पर समुचित नियन्त्रण रखा जाए तो सरकार मनमानी नहीं कर सकती। परन्तु सभी लोकतन्त्रात्मक प्रणालियों में समुचित नियन्त्रण का विधान नहीं होता, और सर्वोत्तम संविधान भी इस बात की गारण्टी नहीं दे सकता कि निर्वाचित सरकार अच्छी ही होगी। सरकार का अच्छा या बुरा होना सरकार के स्वरूप की अपेक्षा इस बात पर अधिक निर्भर होता है कि उस देश के मतदाता कैसे हैं।

बीसवीं शताब्दी का सास्थानिक सिद्धान्त कभी-कभी साम्राज्यवाद की अपेक्षा स्वशासन को अधिक अच्छा बताता है। परन्तु इतिहास को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि स्वशासित देश का शासन विदेशी शासन की अपेक्षा अनिवार्यतः अधिक अच्छा होता है। इसके विपरीत, इतिहास के कुछ ऐसे काल सर्वाधिक खुशहाली के काल रहे हैं जब महान् साम्राज्यों ने अपने स्वर्णिम-युग में विस्तृत भूखण्ड पर शान्ति स्थापित की और लोक-सेवाओं की समुचित व्यवस्था की। बीसवीं शताब्दी में अनेक नयी राष्ट्रीय सरकारें जन्मी हैं जिनकी स्थिति उन साम्राज्यवादी सरकारों की अपेक्षा अधिक अच्छी है जिन्हें अपदस्थ करके वे आई हैं। ये सरकारें निर्बन्ध नीति को अधिक पसन्द नहीं करतीं, क्योंकि पिछड़ी अवस्था में निर्बन्ध नीति उपयुक्त नहीं होती। वे किसानों के कल्याण का अधिक ध्यान रखती हैं, और उन्हें जमींदारों तथा साहूकारों के शोषण से बचाने के लिए बड़ी प्रयत्नशील हैं। इनमें से अधिकांश सरकारें रंग-भेद को, और अपने देशवासियों के उद्यम पर लगे अन्य प्रतिबन्धों को बुरा समझती हैं। इनमें से कई ने आत्म-सम्मान की दुहाई देकर अपने देशवासियों में विकास के प्रति उत्साह की वह भावना पैदा कर दिखाई है जो उनकी पूर्ववर्ती साम्राज्यवादी सरकारें नहीं कर सकी थीं। लेकिन इन सरकारों में कुछ त्रुटियाँ भी होती हैं। उनमें अधिक स्थायित्व नहीं होता, और कुछ मामलों में तो वे देश के भीतर अमन-चैन भी नहीं बनाए रख सकतीं। आमतौर से ऐसी सरकारें (एकाध को छोड़कर) अपनी पूर्ववर्ती सरकारों की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट होती हैं। वे शहरों के हितों का अधिक ध्यान रखती हैं, और किसानों पर कर लगाकर उसी पैसे से शहरों को सुविधाएँ देती हैं। वे बड़ी आसानी से विदेशियों की धमकी से डर जाती हैं। वे अपनी पूर्ववर्ती साम्राज्यवादी सरकार द्वारा स्थापित धार्मिक, वर्गीय और जातीय निष्पक्षता को छोड़ देती हैं, जिससे देश में कलह पैदा हो जाती है। इसी प्रकार की अन्य त्रुटियाँ भी हैं। स्वशासन के कट्टर समर्थक भी इनका पक्ष इसी आधार पर लेते हैं कि स्वशासन सुशासन से अच्छा होता है। परन्तु इसका समर्थन इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि स्वशासन हमेशा ही अन्य किसी भी प्रकार की सरकार से अच्छा होता है।

कुछ लोग विचाराधीन समस्या का हल सांस्कृतिक सजातीयता में ढूंढते हैं। यदि किसी राष्ट्र के सभी सदस्य एक ही जाति, धर्म और भाषा वाले हों, तो उनके बीच झगड़े की सम्भावना कम रहती है और उनमें सहिष्णुता की भावना पैदा हो सकती है। यदि वहां न अत्यधिक धनी लोग हों और न अत्यधिक गरीब लोग हों, यानी सम्पत्ति व्यापक रूप से बंटी हुई हो, तो वहां का राजनीतिक जीवन अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। इसके विपरीत, सांस्कृतिक सजातीयता जहां झगड़े के कारणों को समाप्त करती है वहां यह निश्चय नहीं है कि इसके फलस्वरूप सरकार दृढ़तापूर्वक या बुद्धिमानी से काम कर सकेगी। दूसरी ओर, कुछ सर्वाधिक अच्छी सरकारें, साम्राज्यवादी सरकारें रही हैं जो अनेक जातियों, धर्मावलम्बियों तथा भाषा-भाषियों पर निष्पक्षतापूर्वक शासन कर चुकी हैं। सहिष्णुता पनपने के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का होना ही अनिवार्य नहीं है।

आद्य पाप में विश्वास करने वालों का विचार है कि अच्छी सरकार किसी राष्ट्र के इतिहास में थोड़े ही दिन चल पाती है, क्योंकि मानव-जाति इतनी चतुर नहीं है कि वह सरकारों को आर्थिक गतिरोध की ओर बढ़ने से रोक सके। इस प्रकार, वर्तमान तथा नये पैदा होने वाले राष्ट्र आक्रामक युद्धों का तांता लगाए रखने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते, कुछ दशाब्दियों तक इन युद्धों से लाभ हो सकता है पर अन्त में इनसे देश बरबाद हो जाता है [अध्याय ६, खण्ड ३ (ग)]। या, इसके विपरीत यदि कुछ दशाब्दियों तक शान्ति बनी रहती है तो लोक-व्यय के बड़े-बड़े कार्यक्रम लेकर नौकरशाह प्रभुत्व में आ जाते हैं और भारी कर लगाकर देश को नष्ट कर देते हैं। या सरकार में अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने और गलतियों को सुधारने की लालसा बहुत अधिक बढ़ जाती है और अधिकाधिक नियन्त्रणों द्वारा पहल की व्यक्तिगत भावना का गला घोंट दिया जाता है। या फिर सरकार अनिवार्य रूप से विभिन्न वर्गों के विवाद में उलझ जाती है, उद्यमकर्ताओं को परेशान करने लगती है, या किसानों को दास-प्रथा के बन्धनों में कसने लगती है, या शोषण को बढ़ावा देने लगती है, या प्रेरणाओं के रास्ते में रोड़े अटकाने लगती है। इस दृष्टि से विचार करने पर आश्चर्य की बात यह नहीं है कि मानवता के इतिहास में अच्छी सरकारें कितनी कम हुई हैं, बल्कि यह है कि मनुष्य की सीमित बुद्धिमत्ता और अभागे राजमर्मज्ञों के मार्ग में पड़ने वाले अनेकानेक प्रलोभनों के होते हुए भी अच्छी सरकारों की संख्या इतनी काफी क्यों रही है।

इस पुस्तक में जब भी हमने मानव-इतिहास का सूत्र ढूंढने की कोशिश की है, हम असफल रहे हैं। शायद इसका कोई सूत्र है ही नहीं। मानव-व्यवहार की हर व्याख्या स्वयं में एक प्रश्न है। अगर हम यह जानना चाहें कि

परिशिष्ट

क्या आर्थिक विकास वांछनीय है ?

हर दूसरी चीज की तरह आर्थिक विकास का भी मूल्य चुकाना पड़ता है। यदि आर्थिक विकास बिना किन्हीं हानियों के करना सम्भव होता तो हर आदमी पूरी तरह उसके पक्ष में होता। लेकिन आर्थिक विकास की कुछ वास्तविक हानियाँ हैं, अतः लोग इसके लाभ और हानियों के प्रति जैसा सापेक्ष दृष्टिकोण रखते हैं उसी के अनुसार विकास के प्रति उनके अपने अपने विचार बन जाते हैं। सम्भव है वे आर्थिक दृष्टि से विकास कर रहे समाज को पसन्द न करें, और स्थिर समाजों में पाए जाने वाली प्रवृत्तियों और संस्थानों को ही तरजीह दें। या यदि वे विकासशील समाज के संस्थानों के प्रति सहमति का दृष्टिकोण भी रखते हों तो वे संक्रमण-काल की प्रक्रियाओं को नापसन्द कर सकते हैं जिनसे होकर स्थिर समाज विकासशील समाजों का रूप ग्रहण करते हैं, अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि या तो विकास के लाभ इतने अधिक नहीं हैं कि उसके लिए अपेक्षित उथल-पुथल होने दी जाए, या वे यह चाह सकते हैं कि विकास धीरे-धीरे होना चाहिए ताकि समाज को आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढालने के लिए अधिक-से-अधिक समय मिल सके। हम पहले विकास के लाभों पर विचार करेंगे, उसके बाद विकास के लिए अपेक्षित प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे, और अन्त में संक्रमण-काल में होने वाली उथल-पुथल की समस्या को लेंगे।

(क) आर्थिक विकास के लाभ—आर्थिक विकास का लाभ यह नहीं है कि धन में वृद्धि होने से सुख में वृद्धि होती है, बल्कि यह है कि इससे मनुष्य के चुनाव का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। धन और सुख का सह-सम्बन्ध स्थापित करना बहुत कठिन है। सुख जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण पर, हर परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेने की प्रवृत्ति पर, आध्यात्मिक रुचियों के प्रति आग्रह पर और भविष्य से निर्भय रहकर जीने की भावना पर आधारित है। धन की सहायता से सुख में वृद्धि उसी स्थिति में

हो जबकि इसके फलस्वरूप आवश्यकताओं की तुलना में साधन अधिक बढ़ें, लेकिन अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं होता, और इस बात के कोई प्रमाण नहीं हैं कि निर्धन की अपेक्षा धनी अधिक सुखी होते हैं, या आय बढ़ने के साथ-साथ लोगों के व्यक्तिगत सुख में वृद्धि होती है। यदि धनार्जन के दौरान मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार अपने को नहीं ढाल पाता, और सामने और भविष्य के बारे में अधिक चिन्तित रहने लगता है तो धन में वृद्धि होने पर भी सुख में वृद्धि नहीं हो पाती। ऐसा होने के वस्तुतः कुछ प्रमाण मौजूद हैं, जहाँ तक आर्थिक विकास आर्थिक अवसरों को खोजने और उनका उपयोग करने की जागरूकता का परिणाम है, वहाँ तक यही आशा करनी चाहिए कि इससे वह सुख नहीं मिल सकता जो उन समाजों में है जहाँ लोग विकास के प्रति उत्सुक नहीं हैं। अन्य देशों की तुलना में अमरीका में मानसिक अशान्ति बहुत अधिक पायी गई है और आँकड़ों के भेदों के लिए गुंजाइश छोड़ देने के बाद भी, यह ठीक ही मालूम होता है कि आत्महत्या की बढ़ती हुई दर का सम्बन्ध धनी समुदाय के लोगों में पाई जाने वाली अधिकाधिक सफलता की उत्कट इच्छा से है। निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि धन में वृद्धि होने से लोग अधिक सुखी होते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि धन से लोगों का सुख घटता है, यदि कहने की स्थिति में होते भी तो आर्थिक विकास के विरुद्ध यह निर्णायक तर्क नहीं माना जा सकता था, क्योंकि सुख ही जीवन में सबसे अच्छी वस्तु नहीं है। हम यह तो नहीं जानते कि जीवन का उद्देश्य क्या है, लेकिन यदि सुख ही जीवन का उद्देश्य होता, तो यदि आर्थिक विकास बहुत पहले ही रुक जाता तो कोई हर्ज नहीं था, क्योंकि इस बात के कोई प्रमाण नहीं हैं कि मनुष्य सूअरों या मछलियों की तुलना में अधिक सुखी है। सूअर और मनुष्य में भेद यह है कि मनुष्य को अपने पर्यावरण पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त है, न कि यह कि मनुष्य अधिक सुखी होता है और इसी आधार पर आर्थिक विकास की वांछनीयता सिद्ध की जा सकती है।

आर्थिक विकास के पक्ष में तर्क यह है कि इससे मनुष्य को अपने पर्यावरण पर अधिकाधिक नियन्त्रण करने का अवसर मिलता है, और इससे उसकी स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है।

पहले इस चीज को प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्धों के प्रसंग में देखिए। आदिम अवस्था में मनुष्य को गुजारे के लिए संघर्ष करना पड़ता है। भारी परिश्रम के बाद ही वह भूमि से जीवित रहने भर के लिए अन्न आदि जुटा पाता है। प्रतिवर्ष उसे कुछ महीने तक भुखमरी का सामना करना पड़ता है, क्योंकि वर्ष की फसल अगली फसल तक मुश्किल से ही

चल पाती है। दुर्भिक्ष, प्लेग और महामारी बराबर उसे सताती रहती हैं। उसके आधे बच्चे दस वर्ष की अवस्था तक पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं, और उसकी पत्नी चालीस की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते थककर बूढ़ी हो जाती है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप उस इस बदमी की स्थिति से छुटकारा मिल जाता है। उन्नत टेक्नीकों की सहायता से थोड़े ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा में और कई प्रकार की भोजन-सामग्री पैदा हो जाती है। दुर्भिक्ष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। शिशु मृत्यु-संख्या २०० से घटकर ३० प्रति हजार रह जाती है और मृत्यु-दर ४० से घटकर १० प्रति हजार हो जाती है। हैजा, चेचक, मलेरिया, अंकुश कृमि, पीला बुखार, प्लेग, कोढ़ और तपेदिक का नामोनिशान नहीं रहता। इस प्रकार जीवन प्रकृति के कुछ कोपों से मुक्त हो जाता है। लेकिन हर आदमी इस स्थिति को बेहतर नहीं समझता। यदि आपका यह विचार हो कि जीने से मर जाना अच्छा है और पैदा न होना उससे भी अच्छा है तो आप पर इस बात का कोई असर नहीं पड़ेगा कि आर्थिक विकास से मृत्यु-दरों में कमी हो जाती है। पर हममें से अधिकांश अभी इतने आदिम विचारों के हैं कि मृत्यु की अपेक्षा जीवन को निर्विवाद रूप से बेहतर मानते हैं।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप अवकाश के अवसरों में भी वृद्धि हो जाती है। आदिम स्थिति में जीवित रहने भर के लिए भारी परिश्रम करना पड़ता है। आर्थिक विकास हो जाने पर हम अधिक अवकाश या अधिक वस्तुओं के उपभोग में से जिसे चाहें चुन सकते हैं, और व्यवहार्यतः हम इन दोनों के अधिकाधिक उपभोग के प्रयत्न करते हैं। लेकिन यदि निर्धन कृषि-प्रधान देशों और धनी औद्योगिक देशों की तुलना की जाए तो इससे उलटी बात सामने आती है क्योंकि कृषि-प्रधान देश के श्रमिक कृषि के प्रतिकूल मौसम में, अर्थात् वर्ष के अधिकांश भाग में, बेकार रहते हैं, जबकि औद्योगिक देश के लोग पूरे साल लगातार काम करते रहते हैं, पर वास्तव में यह तुलना भ्रामक है। यदि हम उद्योग और कृषि की परस्पर तुलना करने के बजाय धनी और निर्धन देशों के औद्योगिक क्षेत्रों की तुलना करें और इसी प्रकार दोनों देशों के कृषि क्षेत्रों की तुलना करें, तो हम देखेंगे कि आय बढ़ने के साथ-साथ दोनों क्षेत्रों में काम के घण्टे लगभग अवश्य ही कम हो जाते हैं, और मशीनी शक्ति का प्रयोग बढ़ने से परिश्रम भी उतना नहीं करना पड़ता।

आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप हमें अधिकाधिक सेवाएँ, और साथ ही पार्थिव पदार्थ या अवकाश के अवसर उपलब्ध होते हैं। निर्धन देशों में खाद्यान्न जुटाने के लिए कुल जनसंख्या के ६० या ७० प्रतिशत को कृषि कर्म करना पड़ता है, जबकि धनी देशों में इससे दूने पौष्टिक आहार की व्यवस्था

करने के लिए केवल १० से १५ प्रतिशत लोगों को ही खेती करने की आवश्यकता पड़ती है। अतः धनी देश में अन्य कार्यों के लिए अधिक लोग उपलब्ध किये जा सकते हैं—डॉक्टर, नर्स और दन्त-चिकित्सक बनने के लिए, अध्यापक का कार्य करने के लिए, अभिनय और मनोरंजन करनेवाले पेशे अपनाने के लिए, कलाकार या संगीतज्ञ बनने के लिए। दार्शनिकों द्वारा महत्वपूर्ण समझी जाने वाली उच्चतर क्रियाओं में से अनेक—कला, संगीत और स्वच्छ दर्शन का अध्ययन—एक प्रकार से विलासपूर्ण क्रियाएँ हैं जिनकी अभिवृद्धि के लिए समाज की ओर से क्षेत्र उसी स्थिति में प्रदान किया जा सकता है जब आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अन्न उपजाने के बुनियादी काम से अधिकाधिक लोगों को छुट्टी दी जा सकती हो। यह सही है कि कलाओं के पोषण के लिए अपेक्षाकृत बहुत ही कम लोगों की आवश्यकता होती है, और सर्वोत्कृष्ट कलात्मक उपलब्धियाँ उस पुराने युग की हैं जब समाज के अधिकांश लोग बहुत निर्धन थे। उच्चतम कला की कोटि या मात्रा पर अनिवार्य रूप से अच्छा या बुरा प्रभाव डाले बगैर पिछली शताब्दी में रहन-सहन के स्तर ऊँचे होने के कारण लोगों को कलाओं का आनन्द लेने और उनकी साधना करने के अधिकाधिक अवसर प्राप्त हुए हैं। वैसे भी, उच्चतम कला की बात छोड़कर, आम-जनता के अवकाश में निस्सन्देह अत्यधिक वृद्धि हुई है, और पहले जो विलास बहुत ही थोड़े लोगों को प्राप्त था उसके उपभोग के अवसर अब आम जनता को मिलने लगे हैं। मोजार्ट या बैच के जमाने में जितने लोगों ने उनके संगीत को सुना, या रेमब्रेन्ट या एलग्रीको की कलाओं को जितने लोगों ने देखा उसकी तुलना में आज कहीं अधिक लोग युग के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों की कला के सम्पर्क में आते हैं।

पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को इन परिवर्तनों से और भी अधिक लाभ होता है। अधिकांश कम विकसित देशों में स्त्री गुलाम की तरह होती है जिसे घर के अन्दर बहुत सारे काम करने होते हैं जो उन्नत समाजों में मशीनी शक्ति से किये जाते हैं—वह घण्टों चक्की पीसती है, मीलों दूर चलकर पानी लाती है, और इसी प्रकार के दूसरे भारी परिश्रमवाले काम करती है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप ये और दूसरे ऐसे काम—कताई और बुनाई, बच्चों की पढ़ाई, बीमारों की तीमारदारी—बाह्य प्रतिष्ठानों में किए जाने लगते हैं जहाँ इसके लिए अधिक विशेषज्ञता, पूँजी और बड़े पैमाने के उत्पादन के सभी लाभ उपलब्ध होते हैं। विकास की प्रक्रिया में स्त्रियों को गुलामी से छुटकारा मिलता है, घर के एकान्त से मुक्ति मिलती है, और अन्ततः इन्सान बनने और अपने मस्तिष्क एवं प्रतिभाओं को पुरुषों की भाँति ही उपयोग में लाने का अवसर मिलता है। पुरुषों के विषय में तो कुछ हद तक मतामत हो

भी सकते हैं कि आर्थिक विकास उनके लिए अच्छा है या नहीं, लेकिन स्त्रियों के बारे में आर्थिक विकास की वाञ्छनीयता पर तर्क करने का अर्थ इसी विषय पर तर्क करने के समान होगा कि स्त्रियों को भाड़े का पशु बन रहने की स्थिति से छुटकारा पाने और इन्सान बनने का अवसर दिया जाए या नहीं।

आर्थिक विकास मनुष्य को अधिकाधिक मानवतावाद के विलास की गुंजाइश भी देता है। उदाहरण के लिए, गुजारे के निम्नतम स्तर की अर्थ-व्यवस्था में दूसरों की सहायता करने योग्य बहुत ही थोड़ा बच पाता है, और अशक्त लोगों को मरने देने के सिवाय और कोई चारा नहीं होता। बढ़ी उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही मनुष्यों के लिए यह सम्भव होता है कि वे कोढ़ियों पागलों, लंगड़ों, लूलों, अन्धों और मुसीबत के मारों पर ध्यान दे सकें। बीमारों, अक्षमों, दुर्भाग्य के मारों, विधवाओं और अनाथों की देखभाल करने की इच्छा आदिम समाजों की अपेक्षा सभ्य समाजों में ही अधिक नहीं पाई जाती, लेकिन इन समाजों में इस काम के लिए अधिक साधन अवश्य जुटाए जा सकते हैं। अतः इनमें वस्तुतः अधिक मानवतावाद दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों के लिए यह चिन्ता का विषय है, उनका विचार है कि यह समाज के सुजनन के हित में नहीं है कि प्रतियोगिता का सामना न कर सकने वाले लोगों को जिन्दा रखा जाए, और वे समझते हैं कि यदि ऐसे लोगों का बोझ न बना दिया गया तो उन्हें संरक्षण देने का दीर्घकालीन परिणाम यह होगा कि समाज की जीवात्मक शक्ति घट जाएगी। लेकिन ऐसा विचार रखने वाले लोग अभी थोड़े ही हैं।

जिन देशों में साधनों की अपेक्षा राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएं अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं वहाँ आर्थिक विकास का महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि विकास के फलस्वरूप वे साधन जुटाए जा सकते हैं जिनके अभाव में असह्य सामाजिक तनातनी पैदा होने का भय है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन जैसे कुछ देशों में श्रमिक-वर्ग या उनके प्रवक्ता अधिकाधिक वेतनों की माँग कर रहे हैं, और चाहते हैं कि आवास शिक्षा स्वास्थ्य और दूसरी सुविधाओं पर अधिकाधिक खर्च किया जाए। ऐसे समाजों में यदि प्रति-व्यक्ति आय स्थिर रहे तो एक समूह की इच्छा दूसरे समूह से कुछ छीनकर ही पूरी की जा सकती है और इसके फलस्वरूप गृह-कलह होना अवश्यम्भावी है। लोकतन्त्रवाद के इस युग में संसार के अधिकांश देश ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जिसमें यदि प्रति-व्यक्ति उत्पादन में तेजी से वृद्धि न की गई, और इस प्रकार माँगों की आकांक्षा को पूरा करने योग्य साधन न जुटाये गए तो वहाँ गृह-कलह होना अवश्यम्भावी है। आर्थिक विकास का यह पहलू राजमर्मज्ञों पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। यही कारण है कि लोकतन्त्रवादी राजमर्मज्ञ सर्वत्र इस आर्थिक विकास को

बढ़ावा देने की तत्काल आवश्यकता पर एकमत हैं। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि आर्थिक विकास से सदा ही क्षोभ में कमी नहीं आती। यह भी सम्भव है कि इसके परिणामस्वरूप स्थायी सामाजिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत बिगड़ने लगें, ईर्ष्या और लोलुपता बढ़े और वर्ग, जाति या धार्मिक संघर्ष में वृद्धि हो जाए। यह सम्भावना इसी धारणा से सम्बन्धित है कि आर्थिक विकास से अनिवार्यतः सुख में वृद्धि नहीं होती, न इससे अनिवार्यतः राजनीतिक स्वाधीनता में वृद्धि होती है। इससे तानाशाहों को व्यापक संचार-सुविधाओं के जरिए लोगों के दिमागों पर, और सुसंगठित पुलिस के जरिए लोगों के शरीरों पर नियन्त्रण करने का अवसर मिलता है। अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि आर्थिक विकास अनिवार्य रूप से राजनीतिक सम्बन्धों को सुधारता है।

आकांक्षाओं और साधनों के बीच अनुपात के अभाव का दूसरा पहलू हीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति वाले देशों की राजनीतिक प्रवृत्तियों के रूप में देखने को मिलता है। उपनिवेशों के लोग अब स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। स्वाधीन राष्ट्र, जिनकी आबादी तो अधिक है लेकिन प्रति-व्यक्ति आय कम है, अन्तर्राष्ट्रीय संघटनों में अधिक प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं। सही हो या ग़लत, लेकिन ऐसे राष्ट्रों की जनता का ख़याल है कि यदि वे धनी होते, और विशेषकर यदि वे शक्तिशाली सेनाएँ खड़ी करने योग्य धनी होते, तो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी बात का महत्त्व अधिक होता, और उनके राष्ट्र के प्रति और उनकी जीवन-विधि के प्रति दुनिया का आदर-भाव अधिक होता। कुछ राष्ट्रवादी ऐसे हैं जिनकी प्रतिक्रिया आधुनिक संसार से पलायन करने की है, और वे अपने देशवासियों से पुनः जीवन की पुरानी विधियाँ अपनाने का आग्रह करते हैं। लेकिन अधिकांश ऐसे राष्ट्रवादी, जिनके हाथ में इस समय सत्ता है, यह समझते हैं कि द्रुत आर्थिक विकास उनके देश के लिए आवश्यक है। अनेक लोगों का विश्वास है कि धन या आर्थिक विकास की दृष्टि से संसार के देशों के बीच भारी अन्तर होने के कारण ही युद्ध पैदा होते हैं और यदि रहन-सहन के स्तरों में इतना अधिक अन्तर न हो तो संसार में शान्ति स्थापित करने की सम्भावना बढ़ सकती है। यह धारणा बड़ी सन्देहास्पद है, क्योंकि जिन समाजों में तेज़ी से आर्थिक विकास हो रहा है उनमें अपने पड़ोसियों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जो भी हो, युद्ध के कारण इतने अधिक हैं, और आर्थिक बातों से इनका सम्बन्ध इतना परोक्ष है कि शान्ति या युद्ध का हवाला देकर आर्थिक विकास की समस्या पर विचार करना क़तई उपयोगी दिखाई नहीं देता।

कभी-कभी यह विचार प्रकट किया जाता है कि संसार के सभी राष्ट्रों

से अपने रहन सहन के स्तर में निरन्तर वृद्धि करते रहने की आशा भ्रामक है क्योंकि इससे संसार के खनिज और ईंधन के संचित भण्डार शीघ्र ही समाप्त हो जाने का भय है। यह तर्क दो अनिश्चित धारणाओं पर आधारित है। पहली धारणा तो यह है कि एक समय ऐसा आ सकता है जब मनुष्य की प्रतिभा समाप्य साधनों के स्थान पर नयी चीजें ढूंढ निकालने में सफल नहीं हो सकेगी। एटम अणु की प्रकृति के बारे में और एक तत्व के दूसरे तत्व के रूप में बदलने के बारे में हमारे बढ़ते हुए विज्ञान को देखते हुए यह धारणा बड़ी सन्देहजनक मालूम होती है। दूसरी धारणा यह है कि संसार के साधनों पर आगे आने वाली पीढ़ियों का भी उतना ही अधिकार है जितना वर्तमान पीढ़ी का है। प्रश्न यह है कि हम इसीलिए क्यों निर्धन बने रहें कि आगे आने वाली कुछ शताब्दियों में मानव-जाति समाप्त न हो जाए, और वह एकाध शताब्दी और चले ? क्या यह उचित नहीं है कि वर्तमान पीढ़ी उपलब्ध साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करे और बाद में आने वाली शताब्दियाँ अपनी चिन्ता स्वयं करते रहें ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक भी हो तो भी इतनी बात विचारणीय रह जाती है कि खनिज और ईंधन को तेजी से समाप्त करने वाले इस संसार के निर्धनतम नहीं बल्कि सर्वाधिक धनी देश हैं। यदि उपर्युक्त तर्क में सचाई है तो इसका पालन करने के लिए यूरोप या उत्तर अमरीका को अपने रहन-सहन के स्तरों में और अधिक वृद्धि नहीं करनी चाहिए। एशियावासी और अफ्रीकावासी लोगों के लिए इस तर्क का महत्व बहुत कम है क्योंकि वे संचित साधनों का बहुत ही थोड़ा भाग उपयोग में ला रहे हैं।

(ख) अर्जनशील समाज—आर्थिक विकास के जो लाभ ऊपर गिनाये गए हैं वे बिना कोई मूल्य चुकाए उपलब्ध होने से हर व्यक्ति आर्थिक विकास के पक्ष में होता। लेकिन बहुत से लोगों का विचार है कि आर्थिक विकास के लिए जो प्रवृत्तियाँ और संस्थाएँ अपेक्षित हैं वे स्वयं में अवांछनीय हैं। ये लोग स्थिर समाज की प्रचलित प्रवृत्तियों और संस्थाओं को ही बेहतर समझते हैं।

पहली बात तो यह है कि वे मितव्ययिता की आदतों को पसन्द नहीं करते जो आर्थिक विकास की शर्तों में से एक है। अन्य बातें समान रहने पर, विकास उन समाजों में सर्वाधिक तेज होता है जहाँ लोग अपनी आमदनियाँ बढ़ाकर या उत्पादन-लागत कम करके आर्थिक लाभ के अवसरों को खोजने और उनका उपयोग करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। और मितव्ययिता की यह प्रवृत्ति यद्यपि अधिक परिश्रम से बचने की इच्छा और मनोरंजन या आध्यात्मिक चिन्तन के लिए अधिक समय निकालने की इच्छा का भी परिणाम हो सकती है, लेकिन व्यवहार में बहुधा पाया जाता है कि यह प्रवृत्ति [illegible] निश्चित

होती है उन्हीं लोगों के अन्दर स्वयं धन के लिए, या सामाजिक प्रतिष्ठा या शक्ति अर्जित करने के लिए धन कमाने की आकांक्षा होती है। मितव्ययिता अच्छी बात मानी जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह युद्ध को बुरा माने और विधवाओं एवं अनाथों की देख-भाल करे, उसी प्रकार यह भी उसका कर्तव्य है कि वह बरबादी को बुरा समझे, और अपने साधनों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे—वस्तुतः प्रतिभाओं के दृष्टान्त के अनुसार यही होना चाहिए। हर कोई इस बात से सहमत नहीं होता कि हम साधनों की बरबादी या तेजी से गुजरते हुए समय की बरबादी को रोकना अपना परम कर्तव्य मानना चाहिए, लोगों का कहना तो यह है कि मितव्ययिता से स्वाभाविक ऊर्जा और मानवीय सुख पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है, और यह गुण के बजाय दुर्गुण है। वे यह तो मान सकते हैं कि स्वास्थ्य और आराम की दृष्टि से रहन-सहन का जितना निम्नतम स्तर कायम रखना आवश्यक हो उसे प्राप्त करने के लिए मितव्यय या परिश्रम करना मनुष्य का कर्तव्य है (यह भ्रामक संकल्पना है), लेकिन उनका विचार है कि इस स्तर से परे मितव्ययिता के प्रयत्न करने का कोई विशेष लाभ नहीं होता। वे लोग भी, जो मितव्ययिता को अच्छी बात मानते हैं इस तथ्य (यदि यह तथ्य है) पर खेद प्रकट करते हैं कि यह गुण भौतिकवाद के दुर्गुण (यदि यह दुर्गुण है) से घुला-मिला पाया जाता है। हम यह चाह सकते हैं कि बच्चों को उपलब्ध साधनों और अवसरों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना सिखाया जाए (मितव्ययिता का यही तात्पर्य है), और साथ ही उन्हें जितना प्राप्त है उससे अधिक के लिए मुंह फैलाने को न कहा जाए (भौतिकवाद के दुर्गुण से बचने की दृष्टि से)। यदि बच्चों को इस नीति की शिक्षा दी जाए, और वे इस पर चलने लगें तो आर्थिक विकास तो फिर भी होगा; हां, इतना अन्तर आ जाएगा कि निरन्तर बढ़ते हुए रहन-सहन के भौतिक स्तर के रूप में प्रकट न होकर यह स्थिर भौतिक स्तरों पर वर्धमान अवकाश के रूप में व्यक्त होगा, और यदि इस अवकाश के परिणामस्वरूप निरन्तर बढ़ती हुई काहिली के दुर्गुण (यदि काहिली को दुर्गुण मान लिया जाए) से बच्चों की रक्षा करना अपेक्षित हुआ तो उन्हें यह भी सिखाना पड़ता कि वे अपने अवकाश का ऐसे कौनसे तरीकों से उपयोग करें जिनसे न तो काहिली पैदा हो और न आर्थिक पदार्थों एवं सेवाओं का उत्पादन बढ़े। मानव-प्रकृति जैसी है उससे भिन्न मानकर हम अपने तर्क को बहुत अधिक नहीं बढ़ा सकते। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अधिक धन चाहता है, मितोपयोग करने का इच्छुक होता है, और काहिली पसन्द करता है। इनमें से कोई इच्छा अपने-आपमें गुण या दुर्गुण नहीं है। लेकिन अन्य कर्तव्यों, दायित्वों या अधिकारों की उपेक्षा करके यदि

इनमें से किसी एक इच्छा को बहुत अधिक बढ़ावा दिया जाए तो इससे मनुष्य का व्यक्तित्व असन्तुलित हो जाता है और दूसरे लोगों को भी हानि पहुँचती है। कोई समाज जिस प्रकार 'बहुत अधिक भौतिकवादी' बन सकता है उसी प्रकार 'आवश्यकता से कम भौतिकवादी' भी हो सकता है। या इसे हम दूसरी तरह यों कह सकते हैं कि आर्थिक विकास वाञ्छनीय है लेकिन यह हमारे ऊपर है कि हम बहुत अधिक आर्थिक विकास कर लें (उससे भी अधिक जितना आत्मा या समाज के लिए हितकर है) या बहुत ही कम विकास करें।

ठीक यही आक्षेप व्यष्टिवाद के ऊपर भी किया जा सकता है, जो आर्थिक विकास की निन्दा करते समय दूसरे नम्बर पर आता है। ऐसा लगता है कि आर्थिक विकास की सम्भावना उस स्थिति में सर्वाधिक होती है जब व्यक्ति अपने-अपने हितों की और केवल अपने अधिक निकट के रिश्तेदारों के हितों की चिन्ता करते हैं, और इसकी सम्भावना उस स्थिति में अपेक्षाकृत कम होती है जब मनुष्य के सामाजिक दायित्व का दायरा व्यापक होता है। इसी-लिए, कार्य-कारण दोनों ही दृष्टि से आर्थिक विकास होने पर व्यापक परिवार और संयुक्त परिवार-प्रणालियाँ समाप्त हो जाती हैं हैसियत (दासत्व, कृषि-दासत्व, जाति, आयु, परिवार, बिरादरी) पर आधारित सामाजिक प्रणालियों के स्थान पर संविदा और अवसर की समानता पर आधारित प्रणालियाँ आ जाती हैं, ऊँचे दरजे की उदग्र सामाजिक गतिशीलता पैदा हो जाती है, और कबीलों के बन्धनों एवं सामाजिक समूहों के दावों की मान्यता में कमी हो जाती है। यह भी ऐसी समस्या है जिसे तर्क के किसी एक पक्ष को अच्छा और दूसरे को बुरा कहकर नहीं सुलझाया जा सकता। कुछ अधिकार ऐसे हैं जो सभी व्यक्तियों को मिलने चाहिएँ, और सभी सामाजिक दावों से इनकी सुरक्षा की जानी चाहिए, साथ ही हर व्यक्ति किसी समूह या कई समूहों से सम्ब-न्धित होता है, जिनका बने रहना उसके अपने सामाजिक हित के लिए आवश्यक है, और जो तभी बने रह सकते हैं जबकि व्यक्ति समूह के दावों को मान्यता दे और उसकी सत्ता के प्रति निष्ठावान् बना रहे। पिछले पाँच सौ वर्षों में व्यष्टिवाद के विकास की अनेक बुराइयाँ सामने आई हैं लेकिन साथ ही यह बड़ा महत्त्वपूर्ण और स्वाधीनता दिलाने वाला भी सिद्ध हुआ है। अत: आर्थिक विकास को इस आधार पर अवाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता कि यह व्यष्टिवाद से सम्बन्धित है—मानव-सम्बन्धों की अच्छी बातें केवल कबीला-वाद, सामाजिक हैसियत, व्यापक पारिवारिक सम्बन्ध और राजनैतिक सत्ता-वाद ही नहीं हैं।

आर्थिक विकास पर तीसरा आक्षेप तर्क के साथ इसके सम्बन्ध पर आधा-रित है। आर्थिक विकास प्रौद्योगिक उन्नति पर निर्भर करता है, जो उन लोगों

में सबसे अधिक पाई जाती है जिनका दृष्टिकोण प्रकृति और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में तर्कशील होता है। तर्कशील मस्तिष्क को इसलिए संदेह की दृष्टि से देखा जाता है कि या तो इससे धार्मिक अनीश्वरवाद या नास्तिकवाद फैलने का भय रहता है या वह किसी सत्ता के अधीन रहने की प्रवृत्ति के प्रतिकूल माना जाता है। जहाँ तक धार्मिक विश्वास का सम्बन्ध है यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर या देवताओं के प्रति विश्वास में कमी वर्तमान युग के दुर्गुणों के फलस्वरूप आई है या पिछले जमानों में जबकि लोग आम तौर से धर्म पर विश्वास करते थे तब आज की अपेक्षा बुराइयाँ कम थीं। जो भी हो यह सही नहीं है कि तर्कशीलता के महत्त्व को मानना ईश्वर में विश्वास करने के प्रतिकूल है। ईश्वर की सत्ता तर्क के द्वारा न तो सिद्ध ही की जा सकती है और न झूठी ठहराई जा सकती है। अतः इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि अधिक-से अधिक तर्कशील व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले क्यों नहीं हो सकते। तर्क धर्म को नहीं बल्कि सत्ता को नष्ट करता है और जहाँ सत्ता धर्म पर आधारित होती है वहाँ तर्कशील मस्तिष्क धर्म के विरोध में हो जाता है। लेकिन इस अर्थ में तर्कशील मस्तिष्क जितना धर्म का विरोध करता है उतना ही विज्ञान का भी करता है, वस्तुतः यह हर ऐसे प्रयत्न का विरोध करता है जिसका दावा यह हो कि वर्तमान सिद्धान्तों का आमूल पुनरीक्षण नहीं किया जा सकता, या उनकी वैधता को चुनौती केवल नेता ही दे सकते हैं। लेकिन यहाँ भी तर्क के बारे में वही बात ठीक है जो भौतिकवाद और व्यष्टिवाद के बारे में ऊपर कही जा चुकी है, दो विरोधी तत्त्वों में से किसी एक को अच्छा बताकर सचाई नहीं निकाली जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार भौतिकवाद और धर्म दोनों ही वाछनीय हैं, उसी प्रकार तर्क और सत्ता दोनों ही समाज के लिए उपयोगी हैं। व्यवस्थित जीवन के लिए विरोधी सिद्धान्तों में से कुछ को ठुकराकर दूसरों का ही अनुकरण करने के बजाय सबकी अच्छी-अच्छी बातों को अपना लेना श्रेयस्कर होता है।

आर्थिक विकास पर चौथा आक्षेप वे लोग करते हैं जो इसके साथ-साथ बढ़ने वाले उत्पादन के पैमाने को पसन्द नहीं करते। उत्पादन के पैमाने के लाभ शुरू-शुरू में श्रम के विभाजन और मशीन के उपयोग के रूप में देखने में आते हैं। इनके प्रति वे लोग आकृष्ट नहीं होते जिन्हें मशीन की बनी चीज़ें घटिया लगती हैं और जो कुशल कारीगरों के हाथ की बनी चीज़ें ही बेहतर समझते हैं। आर्थिक विकास के फलस्वरूप पुरानी कारीगरी नष्ट हो जाती है और यद्यपि इससे अनेक नये कौशलों, मशीन-कौशल, आदि को जन्म मिलता है (क्योंकि विशेषज्ञता से कौशल के क्षेत्र में बड़ा विस्तार होता है), पर बहुत

ये लोग पुरानी कारीगरी और पुराने उद्योग की बनी हुई चीजें समाप्त हो जाने पर खेद प्रकट करते है और उन्हें नये कौशलो के विकास पर या बड़े पैमाने के उत्पादन के परिणामस्वरूप उपलब्ध बड़ी मात्रा में सस्ती चीजें मिलने पर खुशी नही होती। स्वय विशेषज्ञता के सिद्धान्त पर आक्षेप किया जाता है क्योंकि इससे लोगों को बार-बार एक ही काम करना पड़ता है और यह काम चाहे ढिबरी या कावले कसने का हो या चाकलेटों को डिब्बो में बन्द करने का हो, या विश्वविद्यालय में बार-बार एक ही भाषण देने का हो, या सगीत के आरोहावरोह के अभ्यास का हो, या यान्त्रपुच्छ निकालने का हो, लेकिन अनिवार्यत उकता देने वाला हो जाता है, जब तक कि काम करने वालो को ऐसी आदत न पड जाए कि वे अपने मस्तिष्क पर पूरी तरह जोर दिए बिना ही उसे करने लगे।

बड़े पैमाने का एक और लाभ प्रशासनिक इकाई के आकार में होने वाली वृद्धि है। उदाहरण के लिए व्यवसायो, सरकारो और दूसरे सगठनो की प्रशासनिक इकाइयाँ बढ़ती जाती है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने औजारो के खुद स्वामी नही रह जाते, वे सर्वहारा बन जाते हैं। बड़े पैमाने के सगठन से विचित्र सामाजिक तनातनी पैदा होती है, इस प्रकार के सगठन पदसोपान के आधार पर चलाये जाते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि अनेक लोगो को कुछ शीर्षस्थ व्यक्तियो की आज्ञा में चलना पड़ता है भले ही इस प्रक्रिया को अधिकाधिक लोकतन्त्रात्मक बनाने का प्रयत्न किया जाए, इन सगठनो को काम बाँटने और पारिश्रमिक देने के ऐसे उपाय निकालने पड़ते हैं जो प्रभावशाली भी हो और न्यायपूर्ण भी। हम अभी तक अशान्ति उत्पन्न किए बिना बड़े पैमाने के सगठनो को चलाने की विधि नही जान पाए हैं अत अनेक लोगो का विचार है कि ये सगठन न रहे तभी अच्छा है।

बड़े पैमाने के सगठनो को नापसन्द करने का एक कारण वहाँ लागू किया जाने वाला अनुशासन भी है, नित्यप्रति ये लोग एक ही समय जागते हैं, एक ही समय काम पर पहुँचते है एक ही काम करते है और काम को एक ही समय समाप्त करते है। कुछ लोगो का विचार है कि इससे जीवन यान्त्रिक और उकता देने वाला हो जाता है और मनुष्य एक बड़े पहिये के दाँतो के समान यान्त्रिक जीवन बिताने लगता है। वे चाहते हैं कि मनुष्य समय के साथ इतना बँधकर न रहे और उसे हर दिन अपना काम चुनने की कुछ अधिक आजादी हो, यद्यपि यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नही है कि जो व्यक्ति स्वतन्त्र व्यवसाय के रूप में काम करता है उसे समय का उतना पालन नहीं करना पड़ता, या कि नियमित जीवन अपने-आपमें कोई बुरी बात है।

बड़े पैमाने के सगठन से होने वाले लाभ के फलस्वरूप नगरो का विकास

होता है। यह विशेषकर तब देखने में आता है जब प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही होती है जिससे कृषि-पदार्थों की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं और सेवाओं की मांग अधिक बढ़ जाती है। बड़े नगरों के विरुद्ध आवाज़ उठाने का सम्बन्ध जहाँ तक खेती के धन्धों को प्रश्रय देने से है वहाँ तक यह आवाज़ प्रौद्योगिक उन्नति के विरुद्ध ही समझी जानी चाहिए। बात यह है कि प्रौद्योगिक उन्नति से ही रूस को यह सामर्थ्य प्राप्त होती है कि सारी जनसंख्या के लिए पर्याप्त भोजन केवल पन्द्रह प्रतिशत लोगों को खेती के काम में लगाने से ही पैदा किया जा सकता है। यदि हम उस स्थिति में लौट जाना चाहें जहाँ कृषि-कर्म के लिए ७० प्रतिशत लोगों की आवश्यकता होती थी, तो इसका अर्थ यह है कि या तो हम कृषि-विज्ञान की समस्त उपलब्धियों को भुला दें, या काम के घण्टे सप्ताह में लगभग १० ही रहने दें। कृषि में प्रौद्योगिक उन्नति होने से ही शहरी धन्धे बढ़ते हैं, लेकिन यह बड़े पैमाने के संगठन के लाभों का परिणाम है कि शहरी धन्धे बड़े-बड़े नगरों में केन्द्रित हो जाते हैं। यह क्यों अवांछनीय है यह समझ में नहीं आता। शहर या गाँव में से जहाँ चाहे काम करने का अवसर दिए जाने पर अधिकांश लोग शहर को चुनते हैं—यही कारण है कि गाँव समाप्त होते जाते हैं और शहर बढ़ते जाते हैं, केवल थोड़े-से ही लोग शहर की अपेक्षा गाँव को तरजीह देते हैं और जो लोग शहर को घृणा की दृष्टि से देखते हैं उनमें से अधिकांश वस्तुतः गाँवों से भागने का प्रयत्न करते हैं। यदि आयोजन या नियन्त्रण के बिना ही जल्दीबाज़ी में नगर बसा दिए जाएँ तो वे गन्दे, भद्दे और अस्वास्थ्यकर हो सकते हैं, लेकिन अब ऐसे कोई कारण दिखाई नहीं देते कि नये नगर (या पुराने भी) उतने ही सुन्दर, शानदार, स्वास्थ्यकर और प्रेरक नज़र न आएँ जितने गाँव हो सकते हैं और साथ ही उनमें शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की उन्नति के लिए उनसे भी अधिक व्यापक अवसर उपलब्ध न हों जितने कि कोई गाँव कभी करने की सोच सकता था।

आर्थिक विकास पर अन्तिम आक्षेप यह लगाया जा सकता है कि इससे आय की असमानता बढ़ती है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि कठिन परिश्रम, विवेकपूर्ण काम, कौशल, उत्तरदायित्व और पहल के अनुरूप पारिश्रमिक में अन्तर न रखे जाएँ तो आर्थिक विकास या तो बहुत थोड़ा होगा या बिलकुल नहीं होगा। आर्थिक विकास की अपेक्षित गति को बनाये रखने के लिए आय में जितने अन्तरों की आवश्यकता हो उनसे बहुत अधिक या बहुत कम अन्तर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पाए जा सकते हैं, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता, जैसा कि रूस के शासकों को जल्दी ही पता चल गया, कि बड़ी हद तक आर्थिक विकास आमदनियों में किसी प्रकार का

अन्तर रखे बिना ही किया जा सकता है। आर्थिक विकास के विरुद्ध इस आधार पर किया जाने वाला आक्षेप अब केवल इतने तक ही सीमित रह गया है कि कुछ विशेष स्थानों या समय में आमदनियों में जो अन्तर पाए जाते हैं वे विकास के अपेक्षित स्तर को देखते हुए आवश्यकता से अधिक हैं और दोषपूर्ण सामाजिक संगठन का परिणाम हैं। इस रूप में यह तर्क सामाजिक संस्थानों (सम्पत्ति के उत्तराधिकार, भूमि के स्वामित्व, कराधान, शिक्षा के अवसर आदि) में ऐसे परिवर्तन लाने के पक्ष में दिया गया मालूम होता है जिनसे आर्थिक विकास की गति में कमी किए बगैर ही आय या सम्पत्ति के वितरण को बदला जा सके। लेकिन ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित आय अन्तर स्वीकार्य नहीं होते, भले ही यह निश्चय हो कि अन्तर कम कर देने से विकास की गति मन्द हो जाएगी—उदाहरण के लिए जब विदेशी अध्यापक या मिस्त्री स्थानीय मानदंडों की तुलना में बहुत ऊँचे वेतन दिये बगैर उपलब्ध नहीं किए जा सकते, या जब अग्रगामी विदेशी या देशी उद्यमकर्ता तब तक विकास-कार्य में पहल करने को तैयार नहीं होते जब तक कि उन्हें स्थानीय दृष्टिकोण के अनुसार उचित मानी जाने वाली दर से कहीं अधिक दर पर लाभ न कमाने दिए जाएँ। ऐसे मामलों में आर्थिक कसौटी सप्लाई और माँग की है: उचित अन्तर वे वेतन या लाभ हैं जो किसी परिस्थिति विशेष में कुशल व्यक्तियों की अपेक्षित सप्लाई उपलब्ध करने या उद्यमकर्ताओं से अपेक्षित पहल कराने के लिए निरपेक्ष रूप से आवश्यक हैं। लेकिन इस कसौटी पर जो उचित मालूम दे वही दूसरे आधारों पर या सामाजिक न्याय की कसौटी पर अनुचित ठहराया जा सकता है।

इस विश्लेषण से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह कि आर्थिक विकास पर आक्षेप करते समय इसकी जो हानियाँ गिनाई जाती हैं उनमें से कुछ किसी भी तरह इसके अनिवार्य परिणाम नहीं माने जा सकते—उदाहरण के लिए शहरों का भद्दा रूप या श्रमिक-वर्गों की निर्धनता। दूसरे, इसके विरुद्ध आरोपित बुराइयों में से कुछ दरअसल अपने आपमें बुराइयाँ नहीं हैं—उदाहरण के लिए व्यक्तिवादी तर्कशीलता या नगरों का विकास। मानव जीवन की और बातों की तरह ही इन चीजों में भी अति हो सकती है, लेकिन अपने आपमें ये अपने से विपरीत बातों की अपेक्षा किसी प्रकार कम वांछनीय नहीं है। इसी से निकलने वाला अर्थात् तीसरा निष्कर्ष यह है कि आर्थिक विकास की गति समाज की भलाई को देखते हुए आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है। अनेक अच्छी बातों में से ही आर्थिक विकास भी एक है और इसमें अति की गुंजाइश है। अत्यधिक आर्थिक विकास, अत्यधिक भौतिकवाद, अत्यधिक व्यक्तिवाद, पूँजी का अत्यधिक गतिशीलता, प्रतिस्पर्धा की अत्यधिक असमानता

या कमी ही दूसरी बातों का परिणाम या कारण हो सकता है। समाजों के लिए विकास के वर्तमान स्तर की अपेक्षा अधिक तेज गति से विकास करना सदा ही अच्छा नहीं होता यदि वे गति बढ़ाते हैं तो उन्हें काफी लाभ होता है लेकिन उसके साथ ही सामाजिक या धार्मिक दृष्टि से काफी कीमत भी चुकानी पड़ सकती है और यह हर मामले का अधिक-से-अधिक सावधानी के साथ अध्ययन करके ही निश्चय करना चाहिए कि सम्भावित लाभ सम्भावित हानियों से अधिक हैं या नहीं। आर्थिक विकास से लाभ भी हैं और हानियाँ भी इसीलिए आर्थिक विकास के प्रति इसमें से हर व्यक्ति का दृष्टिकोण उभयवृत्तीय होता है। हम निर्धनता निरक्षरता और रोग के उन्मूलन की माँग करते हैं, लेकिन साथ ही अपनी पसन्द के विश्वासों, आदतों और सामाजिक व्यवस्थाओं से बुरी तरह चिपके रहना चाहते हैं, भले ही ये उस निर्धनता के मुख्य कारण हों जिसके उन्मूलन की हम माँग कर रहे हैं।

(ग) संक्रमण-काल की समस्याएँ—उन देशों का आर्थिक विकास करते समय विशेष समस्याएँ पैदा होती हैं जो पिछली कुछ शताब्दियों से आर्थिक गतिरोध के निम्न-स्तर पर रहते आए हैं। बात यह है कि ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास के लिए विश्वासों, आदतों और संस्थानों का रूप-परिवर्तन करना पड़ता है; और यद्यपि समय पाकर जब नये विश्वास, आदतें या नये संस्थान जड़ जमा चुकते हैं तो एक नया गत्यात्मक सन्तुलन कायम होता है जो हर दृष्टि से पुराने स्थैतिक सामाजिक सन्तुलन से श्रेष्ठ होता है, फिर भी संक्रमण के दौरान अस्थायी किन्तु बड़ी कष्टकर परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं।

इनमें से एक अपेक्षाकृत अधिक सम्भावित परिस्थिति काम के प्रति लोगों की आदतों में परिवर्तन लाने से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी बहुत आदिम देश में ताँबे की खानों का पता चलता है जहाँ सभी लोगों के पास सन्तोष से जीवन व्यतीत करने योग्य उपज देने वाली अपनी-अपनी जमीनें हैं, भले ही उनका स्वास्थ्य, या भौतिक स्थिति, या संस्कृति बड़े नीचे दरजे की हो। हो सकता है वे लोग ताँबे की खानों में काम करना पसन्द न करें, और खानों को लाभप्रद ढंग से खोदने के लिए दी जा सकने वाली अधिकतम मजदूरी पर भी स्वेच्छा से काम करने के लिए तैयार न हों। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि यदि उन्हें खानों में काम करने के लिए विवश किया जाए तो उससे प्राप्त धन से उनके भौतिक कल्याण, स्वास्थ्य, शिक्षा और संस्कृति के स्तर बहुत अधिक ऊँचे किये जा सकते हैं। यह भी मान लीजिए कि यदि शुरू में उन्हें जबरदस्ती काम पर लाया जाए तो कुछ समय बाद उन्हें नये काम में इतनी रुचि हो जाएगी, ऊँचे स्तरों के गुणों का इतना बोध हो

जाएगा, और अपने पिछले जीवन के प्रति इतनी घृणा हो जाएगी कि फिर ज़ोर-ज़बरदस्ती ख़त्म कर देने पर भी वे ख़ुशी से खानों में काम करते रहेंगे। ऐसी परिस्थितियों में अस्थायी रूप से बल का प्रयोग उचित है अथवा नहीं ? यह काल्पनिक उदाहरण केवल काग़ज़ी घोड़ा नहीं है, क्योंकि यह बहुत-कुछ अफ़्रीका के उन भागों में घटी बातों से मिलता-जुलता है जहाँ लोगों को ज़बरदस्ती खानों या बाग़ानों में काम पर लगाया गया है, चाहे व अपने मुखियाओं के ज़रिए मिले आदेशों पर भरती हुए, या इसलिए कि इस प्रयोजन से लगाये गए करों की अदायगी केवल खानों में मज़दूरी कमाकर ही की जा सकती थी, या इसलिए कि उनसे उनकी ज़मीनें छीन ली गईं। उपर्युक्त काल्पनिक उदाहरण की अपेक्षा अफ़्रीका की वास्तविक घटनाएँ इसलिए अधिक जटिल हैं कि वहाँ बल प्रयोग करने वाले लोगों का दृष्टिकोण अफ़्रीकियों की भलाई न होकर स्वयं धन कमाना था। कुछ मामलों में तो अफ़्रीकियों को भौतिक दृष्टि से भी लाभ नहीं पहुँचा है इसके विपरीत, उनके पुराने गाँव आर्थिक दृष्टि से बरबाद हो गए हैं, उनके जीवन का ढंग नष्ट हो गया है, और वे स्वयं भौतिक और धार्मिक दृष्टि से दरिद्र होकर बैरकों, गन्दी बस्तियों और झोंपड़ों वाले शहरों में रहने लगे हैं। इस समस्या पर विचार करते समय हम बराबर इस बात पर ज़ोर देते आए हैं कि अधिकांश जनता की दशा सुधारे बिना भी प्रति-व्यक्ति उत्पादन बढ़ाकर आर्थिक विकास किया जा सकता है, क्योंकि उत्पादन में वृद्धि होने पर केवल कुछ ही शक्तिशाली लोगों के धन में बढ़ोतरी होती है। अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि इस प्रकार का विकास अनैतिक है, और ऐसी आर्थिक नीतियों की निन्दा करेंगे जो अधिकांश लोगों की क़ीमत पर केवल थोड़े ही लोगों को लाभ पहुँचाती हैं, भले ही इनसे उत्पादन में चाहे जितनी वृद्धि हो जाए। वैसे यह बात हमारे विचाराधीन काल्पनिक उदाहरण से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि उसमें हम यह मानकर चले हैं कि विकास के परिणामस्वरूप लोगों के भौतिक और सांस्कृतिक दोनों ही स्तरों में भारी वृद्धि होगी, और समय पाकर ये लोग जीवन के पुराने ढंग की अपेक्षा नये ढंग को स्वयं पसन्द करने लगेंगे। इस उदाहरण के बारे में लोगों की प्रतिक्रिया अलग अलग होती है। कुछ लोग बल-प्रयोग का विरोध [illegible] उचित कहता है कि सन्तत परिणाम चाहे जितने अच्छे हों [illegible] आदमी को अपनी या अपनी सन्तान की भलाई कर [illegible] किया जाना चाहिए। कुछ लोग गुप्त की बात [illegible] जीवन के नये ढंग को पसन्द करने के बावजूद कि [illegible] पहले की इसलिए नहीं मानी जा सकती कि [illegible]

हुई है, पर अवश्य ही उन [illegible]

इससे कोई उल्लेखनीय लाभ नहीं हुआ—यह तर्क सदिग्ध है क्योंकि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि शुद्ध परिवर्तन की उचित कसौटी है। कुछ दूसरे लोगों की प्रतिक्रिया और भी भिन्न है, वे उस बल प्रयोग का समर्थन करते हैं जिससे उन लोगों को भारी लाभ होने की आशा हो जिन पर बल-प्रयोग किया जाता है। जैसे, अमरीका के नीग्रो उस दास-प्रथा की निन्दा करते हैं जिसने उन्हें अमरीका में ला पटका, लेकिन उनमें से अनेक इस बात से दुखी नहीं हैं कि उनके पूर्वज पश्चिम अमरीका के जंगली गांवों में ही नहीं रहने दिये गए। इसी प्रकार ऐसे राजनीतिज्ञ और राजमर्मज्ञ भी सदा मिल जाएंगे जो अन्तत: अपनी जनता की भलाई के लिए उस पर बल-प्रयोग करने में नहीं हिचकेंगे।

बल-प्रयोग की अनुमत सीमाओं का प्रश्न अब बड़ा उग्र हो गया है क्योंकि रूस ने यह दिखा दिया है कि यदि कोई निर्दयी सरकार अपनी आयोजनाओं का विरोध करने वाले लोगों के खिलाफ सख्ती कर सके तो वास्तविक उत्पादन में बड़ी तेज़ी से वृद्धि की जा सकती है। साम्यवादी या दूसरे प्रचारों के जरिए सभी कम विकसित देशों को बताया जा रहा है कि वे द्रुत आर्थिक विकास करना चाहें तो अपनी आज़ादी छोड़ दें। यह कुछ-कुछ भ्रमपूर्ण है। इन देशों को बताया जाता है कि उन्हें केवल अस्थायी रूप से ही अपनी आज़ादी छोड़नी होगी, कि 'सर्वहारा की तानाशाही'—या कोडिल्लो, या सेनाध्यक्ष, या किसी अन्य की तानाशाही—केवल संक्रमणकालीन स्थिति होती है जो बाद में सरकार के जीर्ण होने के साथ समाप्त हो जाती है; लेकिन हमें सन्देह है कि एक बार छोड़ देने पर आज़ादी इतनी सरलतापूर्वक फिर से प्राप्त की जा सकती है। और फिर इस बात की गारण्टी भी तो नहीं है कि इससे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो जाएगा; सम्भव है उत्पादन में तेज़ी से वृद्धि हो, लेकिन तानाशाह उसे आम लोगों के रहन-सहन को ऊंचा करने की अपेक्षा किन्हीं और कामों में लगाने का फ़ैसला कर ले। जो भी हो, यह साफ़ ज़ाहिर है कि आर्थिक विकास के लिए तानाशाही की व्यवस्था दरअसल शर्त नहीं है। बर्मा, गोल्डकोस्ट आदि कम विकसित देशों की लोक-सरकारें, और भारत सरकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें आर्थिक विकास के लिए कम मजदूरी पर लोगों को जुटाने का संकल्प और साहस है, और जनता का त्याग यह भी सम्भव है कि यदि नेता लोकतन्त्रात्मक आधार पर इस लक्ष्य को जाए तो उससे प्राप्त धन से ...लोकतन्त्रात्मक देश भी इतना अनुसरण करके सम्पत्ति के स्तर बहुत अधिक ऊंचे

कि यदि शुरू में उन्हें जबरदस्ती काम परिस्थितियों में करना होता है। तर्क की ओर नये काम में इतनी रुचि हो जाएगी, : अपेक्षा सविदा को मान्यता, सामाजिक

स्थिरता से उदग्र सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन आदि सभी परिवर्तन वर्ग, धर्म, राजनीतिक आज्ञाकारिता, या पारिवारिक बन्धनों के वर्तमान सम्बन्धों को छिन्न भिन्न कर देते है। यदि संक्रमण जोरदार क्रान्ति के जरिए हो तब तो ऐसा होना स्पष्ट ही है, लेकिन इसके बिना भी संक्रमण कष्टकर होता है, क्योंकि इससे हर क्षेत्र में वर्तमान आशाओं और अधिकारों को ठेस पहुँचती है। अनेक लोग इसी कारण आर्थिक विकास का विरोध करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पुराने सम्बन्ध उतने ही अच्छे हैं जितने कि नये हैं या उनसे भी बेहतर हैं—वे पारिवारिक सम्बन्धों की नयी स्वाधीनता, 'आम आदमी' के तथा कथित 'अधिकार', और पुराने सामाजिक सामंजस्य के नाश को पसन्द नहीं करते। दूसरे लोग जिनका विश्वास है कि पुराने सम्बन्ध कोई विशेष सामञ्जस्यपूर्ण नहीं थे, और जो नये सम्बन्धों को पसन्द करते हैं, इस बात पर शंका करते हैं कि परिवर्तन का कोई वास्तविक लाभ होगा अथवा नहीं। स्पष्टतया इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हम अधिकाधिक ज्ञान, अवसर की समानता, बेहतर स्वास्थ्य, दीर्घतर जीवन और आर्थिक विकास के अन्य [illegible] को कितना महत्त्व देते हैं।

इसके अतिरिक्त नैतिक मूल्यों में भी संक्रमण होता है। पु[illegible] जो व्यवहार अच्छे व्यवहार, कर्तव्य और निष्ठा की एक विशिष्ट संहिता [illegible] माना जा सकता जाते हैं। नये समाज की आचार-संहिता इससे भिन्न हो[illegible] पुराने लोगों और एक समाज में अच्छा माना जाता है वह दूसरे में [illegible] प्रति हो जाती हैं—क्यों- है। परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे कर्तव्य और [illegible] मुखिया के स्थान पर मालिक सम्बन्धों के स्थान पर नये लोगों और संस्था[illegible] ग्राहकों के प्रति। धीरे धीरे नयी वृद्ध लोगों के स्थान पर मजदूर संघ के [illegible] और वह पिछली संहिता की भांति ही के प्रति, या परिवार के स्थान पर [illegible] लेकिन पुरानी नैतिकता के छिन्न भिन्न आचार-संहिता की जड़ें जम जाती [illegible] होने के बीच का दौर समुदाय के लिए कठि- सुचारु रूप से काम करने लग[illegible] होने और नयी नैतिकता के [illegible] में इस तरह के संक्रमण विशेष रूप से कष्ट- दाई साबित हो सकता है। हमारे अन्दर [illegible] की सामर्थ्य नहीं कर रहे हैं, क्योंकि समाज की नैतिकता और नये समाज की [illegible] के बार थी। यदि पुराने [illegible] हों और यदि समाज के नैतिक [illegible] के निर्धारक या से अच्छे लोग (विशेषकर पुरोहित अध्यापक और विचारक) परिवर्तन के समर्थक [illegible] से ही नयी नैतिकता का प्रचार करने लगें तो संक्रमण बहुत आसान [illegible] जाता है। लेकिन पहली बात तो यह है कि हमारे अन्दर इस भावना की समझदारी अभी हाल ही में पैदा हुई है कि नैतिक संहितायें सिर

सीमा तक किन्हीं विशेष सामाजिक और आर्थिक स्तरों के साथ सम्बद्ध हैं, या उनके अनुकूल हैं। दूसरे, जो लोग समुदाय के नैतिक स्तर के संरक्षक हैं वे प्रायः पुरानी संहिता की रक्षा करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं, वे परिवर्तन के विरोधी होते हैं और नयी संहिता को अनैतिक मानते हैं और तीसरे, यदि वे नयी संहिता से प्रभावित भी होते हैं तो संक्रमण के दौरान उनकी अधिकार-सत्ता समाप्त हो गई होती है क्योंकि तब पर लोगों का विश्वास घट गया होता है और जिन संस्थाओं और रीतियों के ये लोग अब तक संरक्षक रहे हैं उनमें जनता का विश्वास समाप्त हो गया होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी संहिता विधिपूर्वक या सत्ता के जोर पर लागू नहीं की जाती। वह धीरे-धीरे और थोड़ी थोड़ी करके अपनायी जाती है। फलतः संक्रमण-काल में नये विश्वासों और पुराने विश्वासों की बेमेल खिचड़ी बन जाती है, और लोगों को उस समय बड़ी निराशा और परेशानी होती है जब अपने जाने ठीक समझा जाने वाला कार्य करने पर उन्हें उसके लिए डाँट-डपट या सजा दी जाती है, या उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है।

जब समाज जीवन का एक ढंग छोड़कर दूसरा ढंग अपनाता है तो कष्ट-कर संक्रमण के दौर से गुजरना ही पड़ता है, इससे बचने का एक ही उपाय है कि परिवर्तन किया ही न जाए। लेकिन परिवर्तन रोकना किसी के बस की बात नहीं है, परिवर्तनशीलता मनुष्य की सहज-प्रवृत्ति है। बात यह है कि मनुष्य स्वभाव से जिज्ञासु है, और इसीलिए वह सदा ज्ञान का संचय करता रहता है, जो उसके [illegible] हने के तरीके में परिवर्तन का कारण बनता है। असन्तोष भी उसकी प्रकृति में है, [illegible] के पास जितना है सदा उससे अधिक की अभिलाषा करता है, या इधर-उधर ताक-झाँक करता है, या अपने पड़ोसी की स्थिति या सम्पत्ति को देखकर स्पृहा करता है। उसमें साहस की भावना भी होती है जिसके बल पर वह तरह-तरह के कामों में कूद पड़ता है, और विद्रोही का गुण भी होता है जिसके फलस्वरूप वह सोपाधिक सम्बन्धों को निरन्तर चुनौती देता रहता है। अतः सामाजिक परिवर्तन को रोकने की बात सोचना समय की बरबादी है, और पहले से स्थापित सभी संस्थाओं के नष्ट हो जाने पर दुःख प्रकट करना भी व्यर्थ है। बात यह है कि शेष जीवधारियों से भिन्न मनुष्य की प्रकृति में जो विशेषता है वही सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती रहती है।

फिर भी, यद्यपि हम परिवर्तन को रोक नहीं सकते, पर [illegible] गति को तीव्र या मन्द कर सकते हैं। हम इस बात पर पहले ही जोर दे चुके हैं कि परिवर्तन की गति बहुत तेज भी हो सकती है और बहुत धीमी भी हो सकती है। इस प्रसंग में हमें उत्पादन-वृद्धि की उचित दर पर विचार नहीं करना है बल्कि सामाजिक प्रवृत्तियों और संस्थाओं की एक रचना से दूसरी रचना के

संक्रमण की उचित अवधि पर अपने विचार प्रकट करते हैं। इस मामले में सरलता से सामान्य सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जा सकते संक्रमण के तेजी से होने या धीरे धीरे होने के अपने अपने लाभ हैं।

व्यवहार में हमें मन्दन का पक्ष लेने की कोई गुंजाइश नहीं है। आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव पहले ही हर समाज में—यहाँ तक कि [illegible] में भी—दि दे रहे हैं। इसका श्रेय पोतों साम्राज्यवाद वायुयानों वेतार के तार चलचित्र जगत् और साहित्य को है जिन्होंने पिछले [illegible] वर्षों में संसार के एक भाग को दूसरे भाग से जोड़ दिया है। विशेष रूप से दो ऐसा [illegible] जिनके कारण विकास की गति को मन्द करने की अपेक्षा तीव्र [illegible] अधिक [illegible] हो गया है। एक तो यह है कि आकांक्षाओं में उत्पादन [illegible] अधिक तेजी से वृद्धि हुई है और दूसरी यह है कि जन्म [illegible] भी [illegible] तेजी से गिर रही हैं। [illegible] को देखते हुए

सभी कम विकसित देशों में वर्तमान आकांक्षाएँ [illegible] रही हैं। अधिकांश [illegible] बहुत अधिक हैं और इनके बीच की खाई चौड़ी [illegible] बन रहना [illegible] लोगों को यह विश्वास होता जा रहा है कि [illegible] दूर किया जा सकता है। [illegible] नहीं है और निष्ठाओं में परिवर्तन करने अपने प्रयत्नों से ही किया [illegible] कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि अपेक्षित परिवर्तन है जिनका विश्वास है कि जा सकता है लेकिन ऐसे लोगों की संख्या [illegible] राजनीतिक [illegible] की सत्ता जमींदारों [illegible] पुरोहितों [illegible] सम्भव नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञों की भी समाप्त किये बिना परिवर्तन ना[illegible] उद्देश्य अपने देशवासियों के भौतिक और बड़ी आकांक्षाएँ हैं चाहे [illegible] या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपने देश की सांस्कृतिक स्तरों को उठान [illegible] आकांक्षाओं और उत्पादन के बीच खाई का अधिक स्थिति ऊँची करना हो। [illegible] हो सकता है क्योंकि इसमें ऐसी निराशाएँ जन्म चौड़ा होना बहुत सम्भव [illegible] कुछ भी हो [illegible] हैं। अनेक लोगों का भय है कि लेती हैं जिनसे परि[illegible] [illegible] होगा (इस [illegible] का अब कोई निश्चित [illegible] इसका परिणाम [illegible] कुछ लोगों की धारणा है कि इसका [illegible] में [illegible] रह गया है) [illegible] शासन [illegible] है (इसमें [illegible] पूर्वी देशों का [illegible] शासन [illegible] और [illegible] अमरीका का [illegible] भी शामिल मानना चाहिए)। कुछ लोग ऐसे [illegible] हैं जिन्हें धार्मिक कट्टरपंथियों (मुल्लाओं महासभाइयों रबियों आदि) की सत्ता स्थापित हो जाने की [illegible] सम्भावना दिखाई देती है। इसलिए यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि अनेक कम विकसित देशों के नेता [illegible] में तेजी से वृद्धि करने के उपायों का [illegible] अधिक [illegible] है। [illegible] [illegible] है कि वे आन्तरिक [illegible] उत्पादन [illegible] [illegible] [illegible]

नहीं और उस देश के अन्दर या बाहर से आवश्यक समर्थन मिलेगा या नहीं। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आकांक्षाएँ उत्पादन के स्तर को पीछे छोड़कर आगे नहीं बढ़ जाएँगी। लेकिन जो लोग यह समझते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों या नैतिक आचरण-संहिताओं पर पड़ने वाले प्रभावों को देखते हुए उत्पादन में वृद्धि करना ठीक नहीं है, वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि सामाजिक सम्बन्ध और नैतिक आचरण-संहिताएँ पहले ही बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं और यह कि आकांक्षाएँ पूरी न होने के परिणाम उत्पादन-वृद्धि के परिणामों से भी अधिक भयंकर हो सकते हैं।

जनसंख्या की दुविधा से बचना और भी मुश्किल है। बाहरी प्रभावों से पहले कम विकसित देशों की जनसंख्याएं शायद स्थिर होती हैं, और वर्तमान मानकों को देखते हुए उनकी जन्म और मृत्यु-दरें दोनों ही बड़ी ऊँची होती हैं। यदि एक बार ये देश आधुनिक संसार के सम्पर्क में आ जाते हैं तो स्थानीय दुर्भिक्ष समाप्त हो जाते, और सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सुविधाएँ मिल जाने से उनकी मृत्यु-दर तेज़ी से गिरने लगती है, और दो पीढ़ियों से कम में ही चालीस प्रति-हज़ार से घटकर दस प्रति-हज़ार तक हो सकती है। ऐसी स्थिति में बढ़ती हुई जनसंख्या की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुल उत्पादन में कम से कम एक, दो या तीन प्रतिशत प्रतिवर्ष की बढ़ोतरी करते रहना आवश्यक हो जाता है। साथ ही, यदि काफ़ी भूमि उपलब्ध न हो तो मृत्यु-दर गिरने के साथ-साथ जन्म-दर में भी उतनी ही कमी लाने के उपाय करना आवश्यक होता है। वैसे, यह लगभग निश्चित है कि जनसंख्या के मुकाबले उत्पादन अधिक तेज़ी से बढ़ना चाहिए, क्योंकि अधिकांश लोग परिवार-सीमन अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के उद्देश्य से ही अपनाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुतः उत्पादन-वृद्धि पर रोक लगाने का पक्ष नहीं ले सकते, इसके विपरीत, लगभग हर कम विकसित देश में हालत यह है कि उत्पादन में उचित वृद्धि न हो पाने के कारण ही जनसंख्या की समस्या को ठीक से सुलझाना मुश्किल हो रहा है। एक बार फिर यह कह दें कि जो लोग विकास की गति मन्द रखना चाहते हैं वे अक्सर बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या को भुला देते हैं, और यह भी भूल जाते हैं कि वर्तमान सामाजिक रचनाओं और नैतिक आचार-संहिताओं पर उत्पादन-वृद्धि के परिणाम उतने नहीं कम हानिकारक होते हैं जितने आबादी के आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने पर हो सकते हैं।

पारिभाषिक शब्दावली

(प्रस्तुत अनुवाद में अधिकांशतः भारत सरकार द्वारा अनुमोदित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है।)

हिन्दी-अंग्रेजी

हिन्दी	English
अंकित मूल्य	Face value
अन्तर्युद्ध अवधि	Inter-war period
अन्तर्राष्ट्रीयतावादी	Internationalist
अन्तर्राष्ट्रीय निवेश	International investment
अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक	International Bank for Reconstruction and Development
अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह	International flow
अन्तरिम अवधि	Interim period
अन्तर्गलन	Leaching
अन्तःसरकारी अन्तरण	Inter-governmental transfer
अल्पकालिक धंधा	Part-time occupation
अकुशल	Inefficient
अकुशल मजदूर	Unskilled worker
अगुआ, अग्रगामी	Pioneer
अग्रता	Priority
अचल पूंजी	Fixed capital
अतिरिक्त आमदनी	Perquisites
अतिस्फीति	Hyper-inflation
अधबटाई	Share-cropping or metayer basis
अधिकर	Surtax
अधिग्रहण	Requisition
अधिमान्यता	Preference
अधिशेष	Surplus
अनन्य लाइसेन्स	Exclusive license
अनन्य सौदा	Exclusive dealing
अनुज्ञा	Permit
अनुदार	Conservative
अनुरक्षण	Maintenance
अनुरक्षण व्यय	Maintenance expenditure
अन्योन्य सन्दर्भ	Cross reference
अप्रचलित	Obsolete
अप्रत्यक्ष कराधान	Indirect taxation
अप्रत्यक्ष शासन	Indirect rule
अप्रत्याशित लाभ	Unexpected profit
अभिसमय	Convention
अर्जनशील	Acquisitive
अर्थकर धंधा	Gainful occupation
अर्धकुशल	Semi-skilled
अल्पकाल	Short run
अवकुशलन	Dilution of skills
अवस्फीति	Deflation
अवितरित लाभ	Undistributed profit
अवैयक्तिक	Impersonal
असन्तुलन	Disequilibrium
असीमित देयता	Unlimited liability
अस्थिरता	Instability
आकस्मिक श्रमिक	Casual labour
आन्तरिक मितव्ययिता	Internal economy

आकस्मिक त्वरण Sudden acceleration
आगमन रीति Inductive method
आत्मनिर्भरता Self sufficiency
आदर्शवादी Idealistic
आनुपातिक किराया Proportional rent
आनुवंशिक गठन Genetic composition
आप्रवासन Immigration
आप्रवासी Immigrant
आय सापेक्षता Income elasticity
आयात निर्यात स्थिति Terms of trade
आयु आशा Expectation of life
आयु-रचना Age structure
आयोजन Planning
आयोजित अर्थ व्यवस्था Planned economy
आरोही करधान Progressive taxation
आर्थिक कुशलता Economic efficiency
आर्थिक क्रिया Economic activity
आर्थिक विकास Economic growth
आवर्त Turnover
आवास व्यवस्था Housing
आशावादी Optimist
आस्ति Estate
इमारत उद्योग Building industry
इलाकेबन्दी Zoning
उग्रपंथी Radical
उजरत Piece-rate
उत्तम ऋण-पत्र Gilt edged security
उत्पादकता उत्पादन-क्षमता Productivity
उत्पादन कर Excise tax
उत्प्रवास Emigration
उदग्र गतिशीलता Vertical mobility
उदारतावाद Liberalism
उद्यमकर्ता Entrepreneur
उद्यम-कौशल Entrepreneurial skill
उद्योग मनोविज्ञान Industrial psychologist
औद्योगीकरण Industrialisation
ऋणपात्रता Creditworthiness
उधार संस्था ' Credit Mobilier '
उपजाऊपन Fertility
अनुदान Subsidy
उपनिवेशवादी देश Metropolitan country
औपनिवेशिक विकास निगम Colonial Development Corporation
उपभोक्ता पदार्थ उपभोक्ता वस्तुएँ Consumer goods
उपविभाजन Sub-division
उपसिद्धान्त Corollary
उपकरण Equipment
उस्ताद शिल्पी Master craftsman
ऊर्जा Energy
ऊर्ध्व गतिशीलता Upward mobility
ऋण-परिशोधन Amortization
एकाधिकार Monopoly
एकाधिकारात्मक प्रवृत्ति Monopolistic tendency
एकेश्वरवाद Monotheism
औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था Industrial economy
औद्योगिक क्रान्ति Industrial Revolution
औद्योगिक क्षेत्र Industrial sector
औद्योगिक बस्ती Industrial estate
औद्योगिक वित्त निगम Industrial Finance Corporation
औद्योगिक सलाहकार Industrial consultant
कच्चा माल, कच्चा सामान Raw material
कम विकसित Under developed
कर-भार Tax burden
कराधान Taxation
कराधान की सीमान्त दर Marginal rate of taxation
करापवंचन Tax evasion

हिन्दी	English
करार	Agreement
करारबद्ध	Indentured
कारक	Factor
कार्य एकक	Working unit
कार्यकर पूंजी	Working capital
किफायतशारी	Thrift
किराया नियंत्रण	Rent control
किरायेदारी	Tenancy
कीमत अर्थव्यवस्था	Price economy
कीमत तंत्र	Price mechanism
कीमत भेद	Price discrimination
कीमत संघर्ष	Price war
कुटीर उद्योग	Cottage industry
कुल नियत निवेश	Gross fixed investment
कुलतन्त्र	Autocracy
कुशल	Skilled
कृषि अधिकारी	Agricultural officer
कृषि उधार	Agricultural credit
कृषि कर्म	Husbandry
कृषि दासत्व	Serfdom
कृषि बैंक	Agricultural bank
कृषि विस्तार-सेवा	Agricultural extension service
केन्द्रीय आयोजन	Central planning
केन्द्रीय बैंक	Central bank
कौशल	Skill
क्रमिक विकास	Evolution
खनन	Mining
खरीद कर	Purchase tax
गतिरोध	Stagnation
गतिशीलता	Mobility
गर्भ धारण	Child bearing
गहन	Lien
गहन कृषि	Intensive cultivation
गिरवी दलाल	Pawnbroker
गिरावट	Decline, slump
गुजारा	Subsistence
गुजारे की अर्थ व्यवस्था	Subsistence economy
गुजारे लायक मजदूरी	Bare subsistance wage
गुणक प्रक्रिया	Multiplier process
गुणांक	Coefficient
गोदी	Dock
घटक	Factor
घटक प्रक्रिया	Component process
घट बढ़	Fluctuation
'घर उत्पादन' पद्धति	"Putting out" system
घरेलू दास प्रथा	Domestic slavery
चकबन्दी	Consolidation of holdings
चक्रवर्ती आधार	Revolving basis
चक्रीय घट बढ़	Cyclical variation
चर	Variable
चातुर्य	Manoeuvre
छोटी बचत	Small saving
जननक्षमता	Fertility
जनाधिक्य	Over population
जनाल्पता	Under-population
जन्म दर	Birth rate
जमानत	Security
जल निकास	Drainage
जल संरक्षण	Water conservation
जीवात्मक आनुवंशिकता	Biological inheritance
जीवात्मक क्रमिक विकास	Biological evolution
जुड़ाई	Assembling
जोत	Holding
ज्येष्ठाधिकार	Primogeniture
टिकाऊ	Durable
डाकघर बचत बैंक	Post office savings bank
तरजीह	Preference
तरजीही प्रतिबन्ध	Preferential restriction
तलरूप	Topography
तुरन्त	Prompt

तुलनात्मक लागत — Comparative cost
त्वरण — Acceleration
थोक वितरण — Wholesale distribution
दर्जाबन्दी — Grading
दास-प्रथा — Slavery
दास मुक्ति — Manumission
दीर्घकाल — Long run
दीर्घकालीन उतार-चढ़ाव — Secular swings
दीर्घकालीन गतिरोध — Secular stagnation
दीर्घकालीन विनियोग — Long term investment
दीर्घकालीन वृद्धि — Secular growth
दुर्लभता-वेतन — Scarcity earning
दुर्लभता-लाभ — Scarcity profit
दूरस्थ स्वामित्व — Absentee ownership
दृश्य आयात — Visible import
दृश्य निर्यात — Visible export
देयता — Liability
धनीय — Pecuniary
धातुक — Ore
धारण क्षमता — Carrying capacity
धारणाधिकार — Tenure
धुआँधार स्फीति — Runaway inflation
नजराना — Tribute
नम्य — Flexible
नवीन प्रवर्तन — Innovation
निगमन रीति — Deductive method
निजी — Private
निजी क्षेत्र — Private sector
निजी साहूकार — Private backers
निदेशक — Director
नियन्त्रक कम्पनी — Holding company
नियामक — Regulator
निरूपण पद्धति — Methodology
निर्धारक — Determinant
निर्बाध नीति — Laissez-faire policy
निर्यात-सहायता — Export subsidy
निर्विनिमय अर्थ-व्यवस्था — Closed economy
निवल — Net
निवेश — Investment
निवेश वस्तुएँ — Investment goods
निषेध — Taboo
निष्क्रिय साधन — Idle resources
निष्पादन — Performance
न्यूनव्यय — Hoarding
नैतिक आचरण संहिता — Ethical code
नौकरशाह — Bureaucrat
नौकरशाही — Bureaucracy
न्यायाधिकरण — Tribunal
न्यास — Trust
पण्य — Commodity
पण्य प्रतिभूति — Marketable security
पण्यता — Marketability
पण्यावर्त-कर — Turnover tax
पदसोपान — Hierarchy
पद्धतिवाद — Methodism
परती — Fallow
परिपक्व — Mature
परिपक्व बचत — Mature saving
परिवार-परिसीमन — Family limitation
परिव्यय — Outlay
परिसम्पत्ति — Asset
पर्यवेक्षक — Supervisor
पर्यवेक्षण — Supervision
पर्यावरण — Environment
पशुधन — Livestock
पहल — Initiative
पारी — Shift
पितृ पूजा — Ancestor worship
पितृवंशीय — Patrilineal
पुनरुत्थानवादी — Revivalist
पुनरुत्पादन — Reproduction
पुनरुत्पादन योग्य पूँजी — Reproducible capital
पुनर्निर्माण — Reconstruction

पुनर्निवेश Reinvestment
पुनरस्त्रीकरण Rearmament
पुनःस्थापन Restoration
पूंजी आय अनुपात Capital income ratio
पूंजीकृत क्षेत्र Capitalized sector
पूंजीगत माल Capital goods
पूंजी निर्माण Capital formation
पूंजी निवेश Investment
पूंजी-न्यून उद्योग Capital sparse industry
पूंजी प्रधान उद्योग Capital intensive industry
पूंजी बाजार Capital market
पूंजीवादी उद्यम Capitalist enterprise
पूंजीवादी मालिक Capitalist employer
पूंजीवादी समाज Capitalist society
पूंजी संचय Capital accumulation
पूर्ण रोजगार Full employment
पूर्वधारणा Assumption
पूर्व पूंजीवादी समाज Pre capitalist society
पूर्वाग्रह Prejudice
पौंड पावने Sterling balances
प्रकाश-संश्लेषण Photosynthesis
प्रक्रियाकरण Processing
प्रगतिवादी Progressives
प्रगति विरोधी Non progressives
प्रच्छन्न बेरोजगारी Disguised unemployment
प्रजनन Breeding
प्रबन्धक वर्ग Managerial class
प्रति क्रान्ति Counter revolution
प्रतिक्रियावादी Reactionary
प्रतिनिधान Delegation
प्रतियोगिता Competition
प्रतिरोध Resistance
प्रति व्यक्ति कर Capitation tax
प्रतिष्ठा Prestige
प्रतिष्ठान Establishment
प्रतिसाम्राज्यवादी Anti imperialist
प्रति सुधार Counter-reformation
प्रत्यक्ष करधान Direct taxation
प्रत्यय Concept
प्रदर्शन उपभोग Conspicuous consumption
प्रदर्शन फार्म Demonstration farm
प्रभावी माँग Effective demand
प्रयोज्य आय Disposable income
प्रयोज्य बचत Disposable saving
प्रवसन Migration
प्रवासी श्रमिक Migrant labour
प्रशिक्षण Training
प्राकृतिक एकाधिकार Natural monopoly
प्राकृतिक वास Habitat
प्राक्कलन Estimate
प्राथमिक शिक्षा Primary education
प्राधिकरण, प्राधिकारी Authority
प्रायोजना Project
प्रेक्षक Observer
प्रेरणा Incentive
प्रेरणात्मक मजदूरी प्रणाली Wage incentive system
प्रौद्योगिकी Technology
फसलों का हेर-फेर Rotation of crops
बँधा किराया Fixed rent
बचत Saving
बचत प्रवृत्ति Propensity to save
बचत-संस्था Saving institution
बचत स्तर Level of saving
बदलाव Replacement
बलात् बचत Forced saving
बहुद्देशीय नदी घाटी परियोजना Multi-purpose river valley project
बहुवर्षीय आयोजना Multi year planning

बागान — Plantation
बाजारी सम्बन्ध — Market relationship
बाल मृत्यु-संख्या — Child mortality
बाल श्रमिक — Child labour
बाह्य स्टर्लिंग क्षेत्र — Outer sterling areas
बिक्रीकार — Salesman
बिचौलिया — Intermediary
बुद्धि परीक्षा — Intelligence test
बेकारी बीमा — Unemployment insurance
बेकारी वेतन — Unemployment pay
बेशी — Surplus
बेशी श्रमिक — Surplus labour
बैंक उधार — Bank Credit
भण्डार — Stock
भाईचारा — Kinship
भारी उद्योग — Heavy industry
भुगतान शेष — Balance of payment
भूमि कर — Land tax
भूमि का कटाव — Soil-erosion
भूमिधारण — Tenancy
भूमिधारण की अवधि — Tenure
भूमि रजिस्टर — Lard register
भूमिहीन वर्ग — Landless class
भूस्वामी अभिजात वर्ग — Landed aristocracy
भेदमूलक करारोपण — Discriminatory taxation
भौतिकवादी — Materialistic
मन्दन — Deceleration
मजदूर संघ — Trade Union
मजदूरी-सम्बन्ध — Wage relationship
मताग्रह — Lobbying
मध्यजन — Middleman
मध्यवर्ती खरीदार — Intermediate buyer
मनुष्य-वर्ष — Man year
माँग — Demand
माँग की आय सापेक्षता — Income elasticity of demand
मातृवंशज — Matrilineal
मात्रात्मक सम्बन्ध — Quantitative relationship
मात्रा परक विक्रयक — Quantity discount
मानकीकरण — Standardization
मानवतावादी — Humanitarian
मानव विज्ञान — Anthropology
मानव विज्ञानवादी — Anthropologist
माफी पट्टा — Freehold tenure
मार्शल सहायता — Marshal Aid
मालगुजारी सर्वेक्षण — Cadastral survey
मालिक — Employer
मितव्ययिता — Thrift
मितव्ययता — Economy
मिश्रित खेती — Mixed farming
मुआवजा — Compensation
मुक्त अर्थ-व्यवस्था — Free economy
मुक्त लोग — Free men
मुक्त व्यापार — Free trade
मुद्रा-अवमूल्यन — Devaluation
मुद्रा अधिकारी — Monetary authorities
मुद्रागत आय — Money income
मुद्रागत लागत — Money cost
मुद्रा स्फीति — Inflation
मूल उद्योग — Key industry
मूलतः आवश्यक वस्तुएँ — Primary products
मूल शिक्षा — Fundamental education
मूल्य — Value
मूल्य निरपेक्ष माँग — Inelastic demand
मूल्य-सापेक्ष माँग — Elastic demand
मूल्य ह्रास — Depreciation
मूल्य-ह्रास की दर — Depreciation rate
मृत्यु-कर — Death duty
मृत्यु दर — Death rate

मेहनत बचाने की पद्धति — Labour saving method
मौलिक पितृवंशीय परिवार — Elementary patrilineal family
मौसमी परिवर्तन — Seasonal variation
यतित्व — Asceticism
यथापूर्व स्थिति — Status quo
यांत्रिक इंजीनियरी — Mechanical engineering
रक्षित निधि — Reserve fund
रहन सहन का स्तर — Standard of living
राजकोषीय प्रणाली — Fiscal system
राजतंत्र — Monarchy
राजनीतिक सुरक्षा — Political security
राजमर्मज्ञता — Statesmanship
राजस्व — Revenue
राष्ट्रीय आकांक्षा — National aspiration
राष्ट्रीय आय — National income
राष्ट्रीय उत्पादन — National output
राष्ट्रीयकरण — Nationalisation
रोजगार — Employment
राज्य पूंजीपति — State capitalist
राज्य पूंजीवाद — State capitalism
लाभदायकता — Profitability
लाभ सहभाजन — Profit sharing
लाभांश — Dividend
लोक क्षेत्र — Public sector
लोक निगम — Public corporation
लोक निर्माण — Public works
लोक प्रशासन — Public administration
लोक सेवा — Public service
लोक स्वामित्व — Public ownership
लोकोपयोगी सेवाएं — Public utilities
वणिकवादी — Mercantalist
वनरोपण — Afforestation
वयस्क शिक्षा — Adult education
वर्ग संघर्ष — Class struggle
वर्धमान — Increasing
वर्धमान प्रतिफल — Increasing returns
वस्तु विनिमय — Barter
वांछा — Longing
वाणिज्यिक दास प्रथा — Commercial slavery
वाणिज्यिक फसल — Commercial crop
वाणिज्यिक बिल — Commercial bill
वाणिज्यिक बैंक — Commercial bank
वार्षिक निवल विनियोग — Annual net investment
वास्तविक आय — Real income
वास्तविक परिसंपत्ति — Real asset
वास्तविक मजदूरी — Real wage
वास्तविक मूल्य — Intrinsic value
वास्तविक लागत — Real cost
वास्तविक वृद्धि — Real increase
वास्तविक सामाजिक लागत — Real social cost
विकास बैंक — Development bank
विखंडन — Fragmentation
वितरण — Distribution
वित्त प्रतिष्ठान — Finance house
वित्त संस्थान — Financial Institution
वित्तीय पत्र — Financial 'Paper'
विदेशों के लिए खुली अर्थव्यवस्था — Open economy
विदेशी उधारकर्ता — Foreign borrower
विदेशी विनियोग — Foreign investment
विदेशी मुद्रा — Foreign exchange
विनिमय — Exchange
विनियमन — Regulation
विनिर्माण — Manufacture
विन्यास — Layout
विपणन — Marketing
विरूपण — Distortion
विशिष्टीकरण — Specialization
विस्तार अधिकारी — Extension officers
विस्तार कार्यकर्ता — Extension worker
वेतनभोगी मध्यवर्ग — Salary-earning middle class

वैतनिक काम — Paid job
स्वविवेक नियन्त्रण — Discretionary control
व्यक्ति-कर — Poll tax
व्यक्तिवाद — Individualism
व्यापक परिवार प्रथा — Extended family system
व्यापार-चक्र — Trade cycle
व्यापार-युद्ध — Commercial serve
व्यापार शर्तें — Terms of trade
व्यावसायिक गतिशीलता — Occupational mobility
शहरीकरण — Urbanisation
शासक व अभिजाततन्त्र — Political aristocracy
शागिर्दी — Apprenticeship
शिशु अर्थव्यवस्था — Infant economy
शिशु उद्योग — Infant industry
शिशु-मृत्युसंख्या — Infantile mortality
शिशु-हत्या — Infanticide
शुद्ध किराया — Pure rent
शृंखला भण्डार — Chain store
शोधन निधि — Sinking fund
श्रम का विभाजन — Division of labour
श्रमिक संघवाद — Syndicalism
श्रमिकावर्त — Labour turnover
श्रेणी — Guild
श्रेणी समाजवाद — Guild socialism
संकल्पना — Concept
संक्रमण — Transition
संघात — Impact
संचयी — Cumulative
संचयी अन्तःक्रिया — Cumulative interaction
संचयी वृद्धि — Cumulative growth
संचलन — Circulation
संचार-साधन — Communication
सन्तति-निग्रह — Birth control
सन्दर्भ-टिप्पणी — Bibliography note
सबद्ध उपक्रम — Associate undertaking
सम्भाव्यता — Potentialities
सम्भाव्य उत्पादकता — Potential productivity
संरक्षण — Conservation Protection
संविदा — Contract
संविदा-सम्बन्ध — Contractual relationship
संविधि — Statute
संसक्ति — Cohesion
संस्था — Institution
सम्प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री — Classical economists
सक्रिय संचलन — Active circulation
सचिवीय कम्पनी — Secretarial company
सट्टा — Speculation
सत्तावादी — Authoritarian
सदाशयता — Bonafides
सरकती माप — Sliding scale
समन्वय — Coordination
समरूप समुदाय — Homogeneous community
समान्तर श्रेणी — Arithmetical progression
समाज — Society
समाज सोपान — Social hierarchy
समानतावादी — Equalitarian
समामेलन — Amalgamation
समुद्रपार परिसम्पत्ति — Overseas asset
सरलीकरण — Simplification
सर्वहारा — Proletariat
सर्वहारावाद — Proletarianism
सर्वात्मवाद — Animism
सहकारी — Cooperator
सहकारी साख समिति — Cooperative credit society
सहायक अनुदान — Grant in aid
सांख्यिकीय संयोग — Statistical accident
सांविधिक संस्था — Statutory agency

सांस्कृतिक विरासत Celtural inheritance
सांस्कृतिक संसेचन Cultural furtilisation
सांस्थानिक उधारकर्ता Institutional borrower
सांस्थानिक निवेशकर्ता Institutional investor
सांस्थानिक परिवर्तन *Institutional change*
सांस्थानिक रचना Institutional framework
साझेदार Partner
साधन उत्पादन सारणी Input-output table
सापेक्ष Relative
सामन्तवाद Feudalism
सामन्तवादी अधिकार Teudal rights
सामाजिक गतिशीलता Social mobility
सामाजिक बीमा Social insurance
सामाजिक सुमेल Social harmony
सामाजिक सुरक्षा Social security
सामान्यीकरण Generalisation
सामुदायिक विकास Community development
साम्यवाद Communism
साम्या Fquity
सार्वजनिक शिक्षा Mass education
सावकाश वर्ग Leisure class
साहस Adventure
सीमान्त Margin
सीमान्त अनुपात Marginal ratio
सीमान्त आनुपातिकताएं Marginal proportionalities
सीमान्त व्यय Marginal expenditure
सीमान्त तुष्टि Marginal satisfaction
सीमान्त प्रवृत्ति Marginal propensity
सीमान्त मांग Marginal demand
सीमान्त योजनाएं Marginal schemes
सीमा कर संघ Customs union
सीमित दायिता Limited liability
सुजननशास्त्री Eugenist
सुधार Reformation
सुनाम Goodwill
सूचक *Index*
सूचकांक Index number
स्टाक Stock
स्टाक का आढ़तिया Stock jobber
स्त्री श्रमिक Female labour
स्थगित उपभोग *Postponed consumption*
स्थानापन्न वस्तुएं Substitutes
स्थानीयकरण Localisation
स्थानीय प्राधिकरण, स्थानीय अधिकारी Local authority
स्थायी परिसम्पत्ति Fixed asset
स्थिति संबंध Status relationship
स्थूल परिसम्पत्ति Physical asset
स्वचल नियंत्रण Automatic control
स्वतः प्रबली प्रक्रिया Self-reinforcing process
स्वशोधक Self liquidating
स्वेच्छा बचत Voluntary saving
हदबंदी आन्दोलन Enclosure movement
हरण Texpropriation
हल्का उद्योग Light Industry
हामी भरना Underwriting
हेतुवाद Rationalism
हैसियत Status
होड़ Competition
ह्रासमान प्रतिफल Decreasing returns

अंग्रेजी-हिन्दी

Absentee ownership — दूरवासी स्वामित्व
Acceleration — त्वरण
Acceleration, sudden — आकस्मिक त्वरण
Acquisitive — अन्तराप्य
Adventure — साहस
Afforestation — वनरोपण
Age structure — आयु-रचना
Agreement — करार
Agricultural extension service — कृषि विस्तार सेवा
Agricultural officer — कृषि-अधिकारी
Amalgamation — समामेलन
Amortization — ऋण परिशोधन
Ancestor worship — पितृ-पूजा
Animism — सर्वात्मवाद
Anthropologist — मानव विज्ञानवादी
Anthropology — मानव विज्ञान
Anti-imperialist — प्रतिसाम्राज्यवादी
Apprenticeship — शिक्षुता
Aristocracy, landed — भूस्वामी अभिजात-वर्ग
Aristocracy, political — शासकीय अभिजात-वर्ग
Arithmetical progression — समान्तर श्रेणी
Asceticism — वैराग्य
Assembling — जुड़ाई
Asset — परिसम्पत्ति
Asset, fixed — स्थायी परिसम्पत्ति
Asset, overseas — समुद्रपार परिसम्पत्ति
Asset, physical — स्थूल परिसम्पत्ति
Asset, real — वास्तविक परिसम्पत्ति
Associate undertaking — सम्बद्ध उपक्रम
Assumption — पूर्वधारणा
Authoritarian — सत्तावादी
Authority — प्राधिकारी, प्राधिकरण
Autocracy — कुलीनतन्त्र
Automatic control — स्वतः नियन्त्रण
Balance of payment — भुगतान-शेष
Bank, agricultural — कृषि बैंक
Bank, central — केन्द्रीय बैंक
Bank, commercial — वाणिज्यिक बैंक
Bank, development — विकास बैंक
Bank, post office savings — डाकघर बचत बैंक
Barter — वस्तु विनिमय
Bibliography note — सन्दर्भ-टिप्पणी
Biological evolution — जीवात्मक क्रमिक विकास
Biological inheritance — जननिक आनुवंशिकता
Birth control — सन्तति-निरोध
Bonafides — सदाशयता
Breeding — प्रजनन
Bureaucracy — नौकरशाही
Bureaucrat — नौकरशाह
Cadastral survey — मालगुजारी सर्वेक्षण
Capital, fixed — अचल पूँजी
Capital, reproducible — पुनरुत्पादन योग्य पूँजी
Capital, working — कार्यकर पूँजी
Capital accumulation — पूँजी सञ्चय
Capital formation — पूँजी निर्माण
Capital goods — पूँजीगत माल
Capital income ratio — पूँजी-आय अनुपात
Capitalist employer — पूँजीवादी मालिक
Capitalist enterprise — पूँजीवादी उद्यम
Capital market — पूँजी बाजार
Carrying capacity — धारणक्षमता
Central planning — केन्द्रीय आयोजन

Chain store — शृङ्खला भण्डार
Child-bearing — गर्भ धारण
Circulation — सञ्चलन
Circulation, active — सक्रिय सञ्चलन
Class, landless — भूमिहीन वर्ग
Class, leisure — सावकाश वर्ग
Class, managerial — प्रबन्धक वर्ग
Classical economists — संस्थापक अर्थशास्त्री
Class struggle — वर्ग संघर्ष
Coefficient — गुणांक
Cohesion — संसक्ति
Colonial Development Corporation — औपनिवेशिक विकास निगम
Commercial bill — वाणिज्यिक बिल
Commercial crop — वाणिज्यिक फसल
Commercial sense — व्यापार-बुद्धि
Commodity — पण्य
Communications — संचार साधन
Communism — साम्यवाद
Community development — सामुदायिक विकास
Company, holding — नियन्त्रक कम्पनी
Company, secretarial — सचिवीय कम्पनी
Comparative cost — तुलनात्मक लागत
Compensation — मुआवजा
Competition — प्रतियोगिता, होड़
Component process — घटक प्रक्रिया
Concept — प्रत्यय, संकल्पना
Conservation — संरक्षण
Conservative — अनुदार
Consolidation of holdings — चकबन्दी
Conspicuous consumption — *प्रदर्शन उपभोग*
Consumer goods — उपभोक्ता पदार्थ, उपभोक्ता-वस्तुएँ
Contract — संविदा
Convention — अभिसमय
Co operative credit society — सहकारी उधार समिति
Co operator — सहकारी
Co ordination — समन्वय
Corollary — उपसिद्धान्त
Counter-revolution — प्रतिक्रान्ति
Credit, agricultural — कृषि उधार
Credit, bank — बैंक उधार
'Credit Mobilier' — 'उधार प्रबन्धक'
Creditworthiness — उधारपात्रता
Cross reference — अन्योन्य सन्दर्भ
Cultural fertilisation — सांस्कृतिक संसेचन
Cultural inheritance — सांस्कृतिक विरासत
Cumulative — संचयी
Cumulative growth — संचयी वृद्धि
Cumulative interaction — संचयी अन्तर्क्रिया
Customs Union — सीमाकर-संघ
Cyclical variation — चक्रीय परिवर्तन
Death duty — मृत्यु कर
Deceleration — मन्दन
Decline — गिरावट
Deflation — अवस्फीति
Delegation — प्रतिनिधान
Demand — माँग
Demand, effective — प्रभावी माँग
Demand, elastic — मूल्य-सापेक्ष माँग
Demand, inelastic — मूल्य-निरपेक्ष माँग
Demand, marginal — सीमान्त माँग
Demonstration farm — प्रदर्शन फार्म
Depreciation — मूल्य-ह्रास
Depreciation rate — मूल्य-ह्रास की दर
Determinant — निर्धारक
Devaluation — मुद्रा अवमूल्यन
Dilution of skills — अवकुशलन
Director — निदेशक
Discretionary control — स्वविवेक नियन्त्रण

English	Hindi
Disequilibrium	[illegible]
Distortion	[illegible]
Distribution	[illegible]
Dividend	[illegible]
Division of labour	[illegible]
Dock	[illegible]
Drainage	[illegible]
Durable	[illegible]
Economic activity	[illegible]
Economic efficiency	[illegible]
Economic growth	[illegible]
Economy	[illegible]
Economy, closed	[illegible]
Economy, free	[illegible]
Economy, industrial	[illegible]
Economy, infant	[illegible]
Economy, internal	[illegible]
Economy, open	[illegible]
Economy, planned	[illegible]
Economy, price	[illegible]
Economy, subsistance	[illegible]
Education, adult	[illegible]
Education, fundamental	[illegible]
Education, mass	[illegible]
Education, primary	[illegible]
Elementary patrilineal family	[illegible]
Emigration	[illegible]
Employer	[illegible]
Employment	[illegible]
Employment, full	[illegible]
Enclosure movement	[illegible]
Energy	[illegible]
Entrepreneur	[illegible]
Entrepreneurial skill	[illegible]
Environment	[illegible]
Equalitarian	[illegible]
Equipment	[illegible]
Equity	[illegible]
Establishment	[illegible]
Estate	[illegible]
Estimate	[illegible]
Ethical code	[illegible]
Eugenist	[illegible]
Evolution	[illegible]
Exchange	[illegible]
Exclusive dealing	[illegible]
Exclusive license	[illegible]
Expectation of life	[illegible]
Expropriation	[illegible]
Extended family system	[illegible]
Extension officer	[illegible]
Extension worker	[illegible]
Factor	[illegible]
Fallow	[illegible]
Family limitation	[illegible]
Fertility ratio	[illegible]
Feudalism	[illegible]
Feudal rights	[illegible]
Finance house	[illegible]
Financial institution	[illegible]
Financial 'paper'	[illegible]
Fiscal system	[illegible]
Flexible	[illegible]
Fluctuation	[illegible]
Foreign borrower	[illegible]
Foreign exchange	[illegible]
Fragmentation	[illegible]

Freehold tenure — माफी पट्टा
Free men — मुक्त लोग
Free trade — मुक्त व्यापार
Generalisation — सामान्य निष्कर्ष
Genetic composition — आनुवंशिक गठन
Goodwill — सुनाम
Grading — दर्जाबन्दी
Grant in aid — सहायक अनुदान
Guild — श्रेणी
Guild socialism — श्रेणी समाजवाद
Habitat — प्राकृतिक वास
Hierarchy — पदसोपान
Hoarding — निसंचय
Holding — जोत
Homogeneous community — समरूप समुदाय
Housing — आवास-व्यवस्था
Humanitarian — मानवतावादी
Husbandry — कृषि कर्म
Idealistic — आदर्शवादी
Idle resources — निष्क्रिय साधन
Immigrant — आप्रवासी
Immigration — आप्रवासन
Impact — प्रभाव
Impersonal — अवैयक्तिक
Incentive — प्रेरणा
Income-elasticity — आय सापेक्षता
Income elasticity of demand — मांग की आय-सापेक्षता
Income, disposable — प्रयोज्य आय
Income, real — वास्तविक आय
Increasing — बढ़ता
Indentured — करारबद्ध
Index — सूचक
Index number — सूचकांक
Indirect rule — अप्रत्यक्ष शासन
Individualism — व्यक्तिवाद
Industrial consultant — औद्योगिक सलाहकार
Industrial estate — औद्योगिक बस्ती
Industrial Finance Corporation — औद्योगिक वित्त निगम
Industrialisation — उद्योगीकरण
Industrial psychologist — उद्योग मनोविज्ञानी
Industrial Revolution — औद्योगिक क्रान्ति
Industry, building — इमारत उद्योग
Industry capital intensive — पूंजी प्रधान उद्योग
Industry, capital sparse — पूंजी न्यून उद्योग
Industry, cottage — कुटीर उद्योग
Industry heavy — भारी उद्योग
Industry, infant — शिशु उद्योग
Industry, key — मूल उद्योग
Industry light — हल्का उद्योग
Inefficient — अकुशल
Infanticide — शिशु हत्या
Inflation — मुद्रा स्फीति
Inflation, hyper — अति स्फीति
Inflation, runaway — उद्धावित स्फीति
Initiative — पहल
Innovation — नव प्रक्रिया
Input output table — साधन उत्पादन सारणी
Instability — अस्थायित्व
Institution — संस्थान
Institutional borrower — संस्थानिक उधारकर्ता
Institutional change — संस्थानिक परिवर्तन
Institutional framework — संस्थानिक रचना
Institutional investor — संस्थानिक निवेशकर्ता
Intelligence test — बुद्धि परीक्षण
Intensive cultivation — गहन कृषि
Inter governmental transfers — अन्तरसरकारी अन्तरण

Interim period अन्तरिम अवधि
Intermediary बिचौलिया
Intermediate buyer मध्यवर्ती खरीदार
International Bank for Reconstruction and Development अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक
International flow अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह
Internationalist अन्तर्राष्ट्रीयतावादी
Inter war period अन्तर्युद्ध अवधि
Investment पूंजी निवेश, निवेश
Investment, annual net वार्षिक निवल निवेश
Investment foreign विदेशी निवेश
Investment, gross fixed कुल नियत निवेश
Investment international अन्तर्राष्ट्रीय निवेश
Investment, long term दीर्घकालीन निवेश
Investment goods निवेश वस्तुएं
Kinship भाईचारा
Labour, casual अस्थायी श्रमिक
Labour, child बाल श्रमिक
Labour, female स्त्री श्रमिक
Labour, migrant प्रवासी श्रमिक
Labour saving method मेहनत बचाने की पद्धति
Labour turnover श्रमिकावर्त
Laissez faire policy निर्बाध नीति
Land register भूमि रजिस्टर
Layout विन्यास
Leaching अपक्षालन
Liability देयता
Liability limited सीमित देयता
Liability, unlimited असीमित देयता
Liberalism उदारतावाद
Lien ग्रहण
Livestock पशुधन
Lobbying मताग्रह
Local authority स्थानीय प्राधिकरण, स्थानीय प्राधिकारी
Localisation स्थानीयकरण
Longing वांछा
Long run दीर्घकाल
Maintenance अनुरक्षण
Maintenance expenditure अनुरक्षण व्यय
Manoeuvre चातुर्य
Manufacture विनिर्माण
Manumission दास मुक्ति
Man year मनुष्य-वर्ष
Margin सीमान्त
Marginal expenditures सीमान्त व्यय
Marginal propensity सीमान्त प्रवृत्ति
Marginal proportionalities सीमान्त आनुपातिकताएं
Marginal ratio सीमान्त अनुपात
Marginal satisfaction सीमान्त तुष्टि
Marginal schemes सीमान्त योजनाएं
Marketability पण्यता
Marketing विपणन
Market relationship बाजारी सम्बन्ध
Marshall Aid मार्शल सहायता
Master craftsman उस्ताद शिल्पी
Materialistic भौतिकवादी
Matrilineal मातृवंशीय
Mature परिपक्व
Mechanical engineering यान्त्रिक इंजीनियरी
Mercantalist वणिकवादी
Method deductive निगमन रीति
Method inductive आगमन रीति
Methodism पद्धतिवाद
Methodology निरूपण पद्धति
Metropolitan country उपनिवेशवादी देश

Middleman मध्यजन
Migration प्रवसन
Mining खनन
Mixed farming मिली जुली खेती
Mobility गतिशीलता
Mobility, occupational व्यावसायिक गतिशीलता
Mobility, social सामाजिक गतिशीलता
Mobility, upward ऊर्ध्व गतिशीलता
Mobility, vertical उदग्र गतिशीलता
Monarchy राजतन्त्र
Monetary authorities मुद्रा प्राधिकारी
Money cost मुद्रारूपी लागत
Money income मुद्रारूपी आय
Monopolistic tendency एकाधिकारवादी प्रवृत्ति
Monopoly एकाधिकार
Monotheism एकेश्वरवाद
Mortality, child बाल मृत्यु-संख्या
Mortality, infantile शिशु मृत्युसंख्या
Multiplier process गुणक प्रक्रिया
Multi purpose river valley project बहुमुखी नदी घाटी प्रायोजना
Multi year planning बहुवर्षीय आयोजना
National aspiration राष्ट्रीय आकांक्षा
National income राष्ट्रीय आय
Nationalisation राष्ट्रीयकरण
National output राष्ट्रीय उत्पादन
Natural monopoly प्राकृतिक एकाधिकार
Net निवल
Observer प्रेक्षक
Obsolete अप्रचलित
Occupation, gainful लाभकर धंधा
Occupation, part time [illegible]
Optimist आशावादी
Ore धातुक
Outer sterling areas बाह्य स्टर्लिंग क्षेत्र
Outlay परिव्यय
Paid job वैतनिक काम
Partner साझेदार
Patrilineal पितृवंशीय
Pawnbroker गिरवी दलाल
Pecuniary धनीय
Performance निष्पादन
Permit अनुज्ञा
Perquisites अतिरिक्त आमदनी
Photosynthesis प्रकाश-संश्लेषण
Piece-rate उजरत
Pioneer अगुआ, अग्रगामी
Planning आयोजन
Plantation बागान
Political security राजनीतिक सुरक्षा
Population, over जनाधिक्य
Population, under जनाल्पता
Postponed consumption स्थगित उपभोग
Potentialities सम्भावनाएँ
Potential productivity सम्भाव्य उत्पादकता
Preference अधिमान्यता, तरजीह
Preferential restriction तरजीही प्रतिबंध
Prejudice पूर्वाग्रह
Prestige प्रतिष्ठा
Price discrimination कीमत भेद
Price mechanism कीमत-तन्त्र
Price war कीमत युद्ध
Primary products मूल या प्राथमिक वस्तुएँ
Primogeniture ज्येष्ठाधिकार
Priority अग्रता
Private निजी
Private backers निजी समर्थक

Processing प्रविधि करण
Productivity उत्पादकता, उत्पादनक्षमता
Profit, scarcity दुर्लभता लाभ
Profit, undistributed अवितरित लाभ
Profit, unexpected अप्रत्याशित लाभ
Profitability लाभप्रदता
Profit-sharing लाभ-सहभाजन
Progressives प्रगतिवादी
Progressives, Non- प्रगति विरोधी
project परियोजना
Proletarianism सर्वहारावाद
Proletariat सर्वहारा वर्ग
Prompt तुरन्त
Propensity to save बचत-प्रवृत्ति
Protection संरक्षण
Public administration लोक-प्रशासन
Public corporation लोक-निगम
Public ownership लोक-स्वामित्व
Public service लोक-सेवा
Public utilities लोकोपयोगी सेवाएँ
Public works लोक-निर्माण
'Putting out' system 'घर-उत्पादन' पद्धति
Quantitative relationship मात्रात्मक सम्बन्ध
Quantity discount मात्रात्मक रियायत
Radical उग्रपन्थी
Rate, birth जन्म दर
Rate, death मृत्यु-दर
Rationalism हेतुवाद
Raw material कच्चा माल, कच्चा सामान
Reactionary प्रतिक्रियावादी
Real cost वास्तविक लागत
Real increase वास्तविक वृद्धि
Real social cost वास्तविक सामाजिक लागत

Rearmament पुनर्शस्त्रीकरण
Reconstruction पुनर्निर्माण
Reformation सुधार
Reformation, Counter प्रति सुधार
regulation विनियमन
Regulator नियामक
Reinvestment पुनर्निवेश
Relationship, contractual संविदा-सम्बन्ध
Relationship, status स्थिति-सम्बन्ध
Relationship, wage मजदूरी-सम्बन्ध
Relative सापेक्ष
Rent, fixed बंधा किराया
Rent, proportional आनुपातिक किराया
Rent, pure शुद्ध किराया
Rent control किराया-नियन्त्रण
Replacement बदलाव
Reproduction पुनरुत्पादन
Requisition अधिग्रहण
Reserve रक्षित निधि
Resistance प्रतिरोध
Restoration पुनर्स्थापन
Return, decreasing ह्रासमान प्रतिफल
Return, increasing वर्धमान प्रतिफल
Revenue राजस्व
Revivalist पुनरुत्थानवादी
Revolving basis चक्रवर्ती आधार
Rotation of crops फसलों का हेर फेर
Salary earning middle class वेतनभोगी मध्य वर्ग
Salesman विक्रेता
Saving बचत
Saving, disposable प्रयोज्य बचत
Saving, forced बलात् बचत
Saving, level of बचत-स्तर
Saving, mature परिपक्व बचत
Saving, small छोटी बचत
Saving, voluntary स्वेच्छा बचत